रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण

डा० धीरेन्द्र वर्मा पुस्तक-संग्रह

डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित



राजकमल प्रकाशन
दिल्ली-इलाहाबाद-बम्बई-पटना

मूल्य : १० रुपये
प्रथम संस्करण : १९६०
© १९६०, आनन्दप्रकाश दीक्षित, गोरखपुर
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली-६
मुद्रक : गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली-६

श्रद्धेय आचार्य

डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम', एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,

को

सादर कृताञ्जलि

अनुक्रम

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रंथ मेरे 'काव्य में रस' नामक शोध-प्रबन्ध का एक खण्ड-मात्र है। शोध-प्रबन्ध प्राचीन भारतीय काव्य-समीक्षा-सिद्धान्त 'रस' का पुनः परीक्षण और पुनर्गठन करने के उद्देश्य से संस्कृत, हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती तथा अंग्रेजी के तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन के अनन्तर लिखा गया है। लिखते समय मुख्यतः तीन दृष्टियों से काम लिया गया है : (१) रस-सिद्धान्त के आरम्भ, विकास का इतिहास प्रस्तुत करना और दृश्य तथा श्रव्य से उसका सम्बन्ध दिखाना; (२) उसका स्वरूप समझाते हुए उसके अन्तर्गत उठने वाले प्रश्नों का भारतीय दृष्टि के अनुकूल समाधान करना; तथा (३) प्राचीन एवं नवीन काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों की परीक्षा करके रस-सिद्धान्त की उचित सीमा-रेखाओं में प्रतिष्ठा करना। किन्तु प्रबन्ध के इस प्रकाशित खण्ड में संस्कृत तथा हिन्दी में उपलब्ध सामग्री के आधार पर मूलतः प्रस्तुत विकास का इतिहास, रस-सामग्री का मनोविज्ञान की भूमि पर परीक्षण तथा रसेतर भारतीय काव्य-समीक्षा-सिद्धान्तों के साथ रस-सिद्धान्त का सम्बन्ध आदि कतिपय विषय छोड़ दिये गए हैं। इस ग्रंथ में केवल भारतीय दृष्टि से रस-सिद्धान्त के स्वरूप पर विचार किया गया है। परिणाम-स्वरूप पाश्चात्य मनोविश्लेषण आदि से सम्बन्धित अंशों का शोध-प्रबन्ध में विचार करने पर भी इस ग्रंथ में उन्हें पूर्णतया बचा दिया गया है।

प्रस्तुत रूप में, पहले अध्याय में, विषय-प्रवेश के रूप में, रस-सिद्धान्त के आरम्भकर्त्ता का परिचय; 'रस' शब्द के विविध स्थलीय प्रयोग आदि पर विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में दृश्य काव्य से आरम्भ करके श्रव्य में रस की प्रतिष्ठा एवं रस-सामग्री, विभावादि का शास्त्रीय विवेचन करते हुए कई महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश किया गया है—यथा नवीन आलम्बनों की स्वीकृति, अनुभावों की कार्य-कारणरूपता, हाव तथा अनुभाव में पार्थक्य तथा सात्विकों की भाव-सत्ता और उनको अनुभाव मानने का औचित्य। सात्विक तथा संचारी भावों में जिन विद्वानों ने नवीन भावों का नियोजन किया है, उनके तर्कों की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता पर भी विचार किया गया है। हाव तथा अनुभाव के सम्बन्ध में मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि "इस प्रश्न का एक-मात्र समाधान भानुदत्त का

अनुसरण करते हुए यही हो सकता है कि आलम्बन हो चाहे आश्रय, दोनों में ये चेष्टाएँ अनुभव ही बनकर उपस्थित होती हैं, किन्तु आलम्बन के अनुभाव आश्रय में स्थायी भाव को विशेष रूप से उद्दीप्त करने में सहायक होते हैं, अतएव उस समय यह अनुभाव भी विषय बन जाने से उद्दीपन की श्रेणी में पहुँच जाते हैं। पृथक्ता-बोध के लिए ही दो नामों का सहारा लिया गया है, अन्यथा हम इन्हें 'उद्दीप्त' तथा 'उद्दीपक' अनुभाव कहना ही उपयुक्त समझते हैं।" इसी प्रकार सात्विक भावों के सम्बन्ध में यद्यपि आचार्यों का 'चेष्टा' शब्द का तथा शरीर-विकार के लिए 'विकार' शब्द का प्रयोग उन्हें मानसिक ही सिद्ध करता है, तथापि "व्यावहारिक दृष्टि से इस विचार का तिरस्कार नहीं किया जा सकता कि इन सात्विकों का प्रकटीकरण केवल शरीर की क्रियाओं के द्वारा ही हो पाता है। यद्यपि यह मूल रूप में मन की दशा के ही द्योतक हैं, तथापि बाह्य प्रकटीकरण के रूप में यह अनुभाव ही दिखाई देते हैं।" फिर भी कई शास्त्रीय बाधाओं के कारण मुझे भानुदत्त द्वारा कथित 'जृम्भा' तथा डॉ० राकेश गुप्त द्वारा कथित 'मुख का आरक्त होना' तथा 'नेत्रों का लाल हो जाना' सात्विक स्वीकार्य नहीं जान पड़ते। व्यभिचारी भावों में मुझे स्थायी बन सकने की सामर्थ्य स्वीकार है, साथ ही मेरी धारणा है कि अभी अनेक नये व्यभिचारी भावों को स्वीकृति मिल सकती है, या मिलनी चाहिए। इसी प्रकार स्थायी भावों में भी परम्परानुरोध को त्यागकर नये स्थायी स्वीकार किये जा सकते हैं। इसी अध्याय में यह भी दिखाने की चेष्टा की गई है कि कभी-कभी एक-मात्र भाव का वर्णन भी रसावह हो सकता है, किन्तु पूर्ण रसात्मक तल्लीनता के लिए विभावादि की युगपत् प्रतीति की ही आवश्यकता है। जहाँ केवल विभाव या भाव ही रसावह होते हैं, वहाँ भी अन्य बातों का आक्षेप कर लिया जाता है।

तीसरे अध्याय में रस-निष्पत्ति के भट्ट लोल्लट, आचार्य शंकुक, आचार्य भट्टनायक तथा अभिनवगुप्तपादाचार्य के सिद्धान्तों की विशद आलोचना करने के साथ-साथ पण्डितराज तथा उनके द्वारा कथित अन्यान्य निष्पत्ति सिद्धान्तों की भी आलोचना की गई है। इस अध्याय में इन सभी आचार्यों के सिद्धान्तों के मूलभूत दार्शनिक मतवादों, यथा मीमांसा, न्याय, सांख्य, शैव-दर्शन तथा वेदान्त दर्शन आदि का भी प्रसंगोपयुक्त परिचय देते हुए यह सिद्ध किया गया है कि सभी मत किसी-न-किसी दर्शन की भित्ति पर आधारित होने से विभिन्न दृष्टिकोण उपस्थित करते रहे हैं। सभी की अपनी सीमाएँ हैं, तथापि पूर्ववर्ती प्रत्येक आचार्य ने परवर्ती आचार्य को दृष्टिदान दिया है। इस प्रकार छः खण्डों में विस्तारपूर्वक खण्डन-मण्डन प्रस्तुत करते हुए अन्त में एतद्विषयक विचार-विकास में आचार्यों के दान

का महत्त्व स्वीकार किया गया है।

'निष्पत्ति' से सम्बन्ध रखने वाले 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' का विचार पृथक् रूप से चौथे अध्याय में किया गया है, जिसमें संस्कृत के समस्त आचार्यों के मतों का विवेचन और सार प्रस्तुत करने के साथ ही आधुनिक हिन्दी, मराठी तथा अंग्रेज़ी लेखकों के विचारों का आधार ग्रहण करते हुए प्राचीन आचार्यों के मत को उचित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। अनेक हिन्दी-मराठी-लेखकों के 'साधारणीकरण-सिद्धान्त' पर किये गए आरोपों का खण्डन भी किया गया है। 'साधारणीकरण' के साथ-साथ 'तादात्म्य सिद्धान्त' की, अंग्रेज़ी, हिन्दी तथा मराठी-लेखकों की उक्तियों तथा विवेचन को ध्यान में रखकर, त्रुटिपूर्णता सिद्ध की गई है। शुक्लजी द्वारा कथित 'मध्यम कोटि की रसानुभूति' को उन्हींके शब्दों के आधार पर रसाभास सिद्ध किया गया है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में मेरे निष्कर्ष इस प्रकार हैं :

१. साधारणीकरण रसास्वाद के लिए अनिवार्य स्थिति है, किन्तु वह रसास्वाद करा देने की अनिवार्य शर्त नहीं है। साधारणीकरण के बाद भी रस न आकर बौद्धिक तृप्ति-मात्र हो सकती है, जैसे सन्तों की अन्योक्तियों से होती है।

२. साधारणीकरण का अर्थ समस्त सम्बन्धों का परिहार है, किन्तु केवल इसी रूप में कि सम्बन्धित भाव किसी एक के ही होकर नहीं रह जाते, बल्कि सबके द्वारा ग्राह्य बन जाते हैं। इसमें विभावादि सभी का साधारणीकरण होता है। अतः उसके दो अर्थ हो सकते हैं : (अ) देश-काल-ज्ञान और विशेष सम्बन्धों के ज्ञान की गौणता-सिद्धि, तथा (ब) काव्य-वर्णित भाव का साधारण रूप से सभी सहृदयों के द्वारा अनुभव होना।

३. साधारणीकरण में व्यक्ति-विशिष्टता का पूर्णतया अभाव नहीं होता, बल्कि वह चेतना के किसी ऐसे गहरे स्तर में अवस्थित हो जाती है, जहाँ रह-कर कथा-प्रवाह में बाधक नहीं होती, सहज हो जाती है और अबोधपूर्वक स्मरण आदि की भाँति ही उपस्थित होकर रस की सहायता करती है।

४. साधारणीकरण के आगे तादात्म्य की कल्पना में अनेक कठिनाइयाँ और दोष हैं। वस्तुतः तादात्म्य न मानकर साधारणीकरणजनित घनीभूत एकाग्रता या अखण्ड स्वानुभूति-मात्र ही रस की उपस्थितिकारिणी माननी चाहिए। अखण्ड अनुभूति ही रस है। ज्ञान की ऊपरी सतह को भेदकर काव्य हृदय में अन्तर्निहित रसानुभूति को जगा देता है। रस की 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यता' इसीमें है कि वह बौद्धिक व्यापारों के उपराम के द्वारा हमें अन्तर्मुख बनाता है।

५. कवि के सम्बन्ध में शुक्लजी का मत स्वीकार किया जा सकता है आत्म-प्रसारण ही सुख है, आत्म-विकास है। कवि अपनी अनुभूति को ही दूसरे तक पहुँचाता है और इसलिए वह एक रूप में कवि और दूसरे में सहृदय बना रहता है। कवि वह कर्तृत्व के कारण है, अन्यथा वह भी सहृदय ही है। इसीलिए कहा भी गया है 'कविस्तु सामाजिकतुल्य एव'। कवि और सामाजिक सामाजिक होकर एक ही स्तर, एक ही भावभूमि पर उपस्थित होकर रस-पान करते हैं।

पाँचवें अध्याय में 'रसास्वाद' शीर्षक के अन्तर्गत क्रमशः रसाश्रय, रसास्वाद का अधिकारी, रसास्वाद का स्वरूप और ब्रह्मानन्द-सहोदरता की न्याय-दर्शन, सांख्य-दर्शन, योग-दर्शन, अद्वैत-दर्शन तथा शैव-दर्शन की विशेषताओं के प्रकाश में परीक्षा की गई है। एक-मात्र शैव-सिद्धान्त ही ब्रह्मानन्द-सहोदरता-सिद्धान्त की गुत्थी सुलझा पाता है। यों ब्रह्मानन्द-सहोदर कहकर रस को लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से विलक्षण कहना ही आचार्यों का उद्देश्य जान पड़ता है। योग के सम्बन्ध में कथित मधुमती-भूमिका का विस्तार से विचार करते हुए रस को उसीसे नहीं अपितु विशोका स्थिति से भी असम्बद्ध सिद्ध किया गया है। शुक्लजी के इस विचार से मैं सहमत नहीं हूँ कि रस का सम्बन्ध मनोमय कोश से होता है। रस की विलक्षणता की प्रामाणिकता में मुझे अविश्वास नहीं है। तीसरा प्रश्न करुण रस की आनन्दानुभूति को लेकर किया गया है। संस्कृत ही क्या, सभी साहित्यों में यह एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न रहा है, अतएव अंग्रेज़ी तथा मराठी आदि के साहित्यकारों के मतों पर प्रकाश डालते हुए यह सिद्ध किया गया है कि उस स्थिति को कोई भी आचार्य नितान्त सुखमय नहीं मानता। अभिनव गुप्त की दृष्टि से विचार करके देखें तो हमें अनुभव तो प्रदर्शित भाव का होता है और इसीमें लेखक की सफलता भी है, किन्तु वह अनुभव विघ्न-विनिर्मुक्त होने के कारण अबाध अतः सुखपूर्वक सह्य होने से औपचारिक रूप में सुखमय कहा जाता है। आस्वाद ही रस है और आस्वाद प्रदर्शित भाव का ही होता है। रसास्वाद में उपस्थित होने वाले अभिनव गुप्त-कथित विचार का समर्थन करते हुए मैंने यह स्वीकार किया है कि विघ्न-विनाश के बिना पाण्डित्य तथा सहृदयत्व भी काम न देंगे। रसास्वाद के लिए श्रव्य-काव्य में काव्यालंकरण-सामग्री बहुत उपयोगी सिद्ध होती है।

छठे अध्याय में रसाभास का स्वरूप निश्चित किया गया है। मेरा विचार है कि रसाभास का सिद्धान्त काव्य में नैतिकता का सिद्धान्त स्थिर करता है। विश्वनाथ कविराज तक के संस्कृत के प्रायः सभी मान्य आचार्यों के मतों पर

विचार करते हुए यह दिखाया जा सकता है कि इस दृष्टिकोण में औचित्य है। शास्त्रीय उद्धरणों के प्रकाश में प्राचीन आचार्यों द्वारा रसाभास को भी रस के अन्तर्गत मानकर उसे प्रायः रस ही मान लेने के विचार की समीक्षा करके उनके कथन का समर्थन भी मैंने किया है और रसाभास का अन्य रसों में परिवर्तन मान्य ठहराया है। मेरा विचार है कि रसाभास भी चरित्रोद्घाटन के हेतु काव्य में आवश्यक स्थान का अधिकारी है।

सातवें अध्याय में रसों का भेदोपभेद-सहित वर्णन किया गया है, किन्तु शृंगार जैसे सुविवेचित रसों के निरूपण में पिष्टपेषण बचाने के लिए अति-संक्षिप्तता का आश्रय लेना ही उचित जान पड़ा है। हास्य रस के सम्बन्ध में अंग्रेज़ी में प्रचलित सभी शब्दों पर विचार करते हुए उसके भेद निश्चित किये गए हैं। करुण तथा विप्रलम्भ की पृथक्ता निश्चित की गई है तथा भक्ति एवं वात्सल्य रसों को नौ प्रतिष्ठित रसों के अतिरिक्त प्रतिष्ठित किया गया है। निवेदन है कि मैंने पहली बार वात्सल्य रस को कई भेदों में विभाजित करके वियोग-वात्सल्य के गच्छत्प्रवास, प्रवासस्थित, प्रवासगत तथा करुण वात्सल्य नामक भेदों का निरूपण किया है और सोदाहरण उनकी पुष्टि का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त लौल्य, मृग्य, अक्ष, व्यसन, दुःख, सुख, उदात्त, उद्धत, पारवश्य, कार्पण्य, ब्रीडनक, ब्राह्म, प्रशान्त, माया, प्रक्षोभ, क्रान्ति तथा देश-भक्ति आदि तथाकथित रसों का खण्डन किया है। मूलतः रस को एक मानकर भी औपचारिकता के लिए ११ रसों की स्वीकृति मुझे न्यायोपयुक्त जान पड़ती है। मुझे डॉ० वाटवे एवं काका कालेलकर द्वारा रौद्र एवं बीभत्स रस की उपेक्षा स्वीकार्य नहीं है। डॉ० वाटवे द्वारा प्रस्तावित वीर रस में रौद्र की अन्तर्भूति उचित नहीं। इन विषयों के अतिरिक्त इस अध्याय में रसों की परस्पराश्रयिता, विरोध तथा रसराजत्व पर भी संक्षिप्त विचार प्रकट करते हुए शृंगार को रसराज माना गया है।

अन्तिम अध्याय 'उपसंहार' में नवीन समीक्षा-शैलियों अर्थात् प्रगतिवादी, मनोविश्लेषणवादी, प्रभाववादी, सौंदर्यवादी, अभिव्यंजनावादी आदि की परीक्षा के पश्चात् उन्हें एकांगी घोषित किया गया है और प्रगतिवादी 'सामूहिक भाव' तथा 'साधारणीकरण' की समानता और उसके भेद पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में नयी कविता के सिद्धान्तों और स्वरूप पर दृष्टिपात करते हुए उसके समर्थकों या प्रतिपक्षियों द्वारा उठायी गई आपत्तियों का रस-सिद्धान्त के प्रकाश में खण्डन करते हुए इस सिद्धान्त को पर्याप्त उदार और काव्यात्मा को समझने का प्रधान साधन माना गया है। भारतीयों का यह सिद्धान्त काव्य-शास्त्रीय

सिद्धान्तों में अग्रणी और मानवीय विशेष गुणों की आकलनात्मक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसमें निश्चय ही नवीनता के लिए पर्याप्त अवकाश स्वीकार किया जा सकता है, और उसकी सीमाओं को ध्यान में रखते हुए आज भी इसे काव्य-समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण मानदण्ड मानना उचित होगा।

इस रूप में शोध-प्रबन्ध का यह खण्ड भी यह सिद्ध कर सकेगा कि मैंने भारतीय पक्ष को उसके वास्तविक स्वरूप में रखने का प्रयत्न किया है, तथापि मेरा यह दावा नहीं है कि इस विषय में अब कोई बात कहने को रह ही नहीं गई है। विकासमान साहित्य-क्षेत्र में अन्तिम बात कहने का दावा करना उचित नहीं है—प्रगति पर रोक लगा देना है। यदि भरतमुनि से लेकर आज तक बँधी आने वाली आचार्य-परम्परा पर दृष्टिपात किया जाए तो यह दावा कितना थोथा हो सकता है, इसे जानने में कठिनाई न होगी। फिर भी मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रंथ विचार की नयी दिशाओं अथवा सही मन्तव्यों को सामने लाने में सहायक अवश्य होगा और इसे ही मैं अपनी सफलता मानता हूँ।

इस सम्बन्ध में यह अवश्य सूच्य है कि पुनर्गठन के कारण, सिद्धान्तों की रक्षा करते हुए भी, यत्र-तत्र मूल रूप से परिवर्तन करने की आवश्यकता हुई है और विशेषतः 'साधारणीकरण' सिद्धान्त को कुछ और विस्तृत रूप दे दिया गया है। यह भी कम महत्त्वपूर्ण सूचना न होगी कि इसके प्रकाशन से पूर्व ही एकाध मित्र ने अपने ग्रंथों में मुझे सूचित किये बिना अथवा अपनी कृति में इसका उल्लेख किये बिना ही पाण्डुलिपि से इसकी सामग्री का उपयोग कर लिया है। मैं इसे ग्रन्थ की मान्यता का लक्षण मानता हूँ।

इस कृति की पूर्णता में जिन दिशाओं से तनिक भी मुझे सहयोग मिला है, उन सबका मैं आदर करता हूँ। मैं नहीं समझता कि तुलसी के समान इसे 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' कहकर उनकी उस भावना को किसी प्रकार भी मैं ठेस पहुँचाऊँगा या अपने चिन्तन की अवमानना करूँगा। निश्चय ही मैं अपने पूर्ववर्ती सभी लेखकों के प्रति कृतज्ञ हूँ और उसी आचार्य-पंक्ति में नयी कड़ी जोड़ने वाले इस शोध-प्रबन्ध के निदशक श्रद्धास्पद डॉ० मुन्शीरामजी शर्मा 'सोम', एम०ए०, पी-एच०डी, डी०लिट्० के प्रति श्रद्धा के पुष्प अर्पित करता हूँ। यदि उनके सहज औदार्य और विलक्षण ज्ञान का सहारा न मिला होता, तो यह दीप शायद अदीपित ही रह जाता। प्रसिद्ध मराठी लेखक श्री जोग, गुजराती लेखक श्री डोलरराय रंगीलदास मनकद, प्रसिद आधुनिक शास्त्रीय विचारक डॉ० राघवन, सुहृद्वर प्रा० हेमचन्द्र जोशी, बन्धुवर डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल तथा सहज कृपालु उल्लासमूर्ति प्रा० त्रिलोचन पन्त (काशी विश्वविद्यालय) का

मैं अनेक रूपों में कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने पुस्तकों की सूचना देने, पाण्डुलिपि देखकर सम्मति देने, सुविधापूर्वक दूसरे नगरों में ठहरने और पुस्तकालयों से अध्ययन करने में मेरी अमित सहायता की है। पुस्तकालयों में मैं काशी तथा लखनऊ-विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों के अतिरिक्त कलकत्ता की नेशनल लाइब्रेरी और उनके प्रबन्धकों का आभार स्वीकार करता हूँ और भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना के क्यूरेटर श्री पी० के० गोडे के प्रति नमित हूँ, जिन्होंने मुझे पत्र-पत्रिकाओं की सामग्री टंकित रूप में भेजी और इस रूप में मेरी अभीष्ट सहायता की। अपनी पत्नी श्रीमती कमला दीक्षित, एम०ए० को अनेकमुखी सहायता और साधना के लिए धन्यवाद कैसे दूँ, कृतज्ञता कैसे प्रकट करूँ? और इसे प्रकाश में लाने वाले सुहृद ओंप्रकाशजी तथा देवराजजी के प्रति आभार प्रकट न करूँ तो क्या उचित होगा?

गोरखपुर

आ० प्र० दीक्षित



दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षात् अपां स्तोकोऽभ्यपप्तद् रसेन ।
समिन्द्रियेण पयसाऽहमग्ने, छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥

—अथर्ववेद, ६–१२४–१।

द्युलोक से बृहत् अन्तरिक्ष में होता हुआ तुम्हारे अनुग्रह-रूप जल का एक स्वल्प बिन्दु अपने समस्त रस के साथ मेरे ऊपर गिरा। उसे पाकर, हे परम दयालु देव ! मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे मेरे समस्त सुकृत सफल हो गए। मैं कृतार्थ हो गया। मुझे आत्म-शक्ति, ज्ञान, वेद-मन्त्र तथा यज्ञ सबने कृतकृत्य कर दिया। मैं सबके आनन्दप्रद फल से संयुक्त हो गया।

तुम्हारी करुणा का कण एक।
आज मिला है मुझे भाग्य से, भागे कष्ट अनेक॥
उस प्रकाशमय बृहत् स्वर्ग से अन्तरिक्ष में आया।
जल का बिन्दु रसीला मेरे लिए सघन घन लाया॥
उसकी सरस मधुर वर्षा में मैंने सब-कुछ पाया।
ज्ञान, आत्म-बल, वेद-यज्ञ-फल, सकल सौख्य मनभाया॥
नाथ ! तुम्हारी स्वल्प बूँद से जन्म-जन्म की प्यास बुझी।
मैं सनाथ हो गया, तृप्ति की अब न रही आशा उलझी॥

—'सोम'।

१

विषय-प्रवेश

दैनिक व्यवहार में 'रस' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। जब कोई गन्ने के रस अथवा रसगुल्ले के रस की चर्चा करता है तो वह एक विशेष तरल पदार्थ की ओर संकेत करता है। इसी तरल पदार्थ का संकेत उस समय भी मिला करता है जब शाक के रस की चर्चा की जाती है। इस रस की चर्चा करते हुए मिठास या लुनाई की भिन्नता का भाव नहीं रहता, केवल तरलता का ध्यान रहता है, किन्तु जब षट्रसों का वर्णन किया जाता है तो एक साथ कटु, तिक्त, कषाय, अम्ल, लवण तथा मधुर रसों का ज्ञान होता है।

रस शब्द के विभिन्न अर्थ

वाणी का रस मधुरता का बोधक है। कभी-कभी यही रस नेत्रों से छलककर प्रेम का स्वरूप धारण करता है। अतएव व्यवहार में 'रस छलकना' तथा 'रस भीनना' जैसे प्रीति-भाव के व्यंजक शब्दों का प्रयोग प्रचलित है। कभी इसी रस को 'गोरस' कहकर उससे इन्द्रिय-सुख का बोध कराया जाता है और कभी उसी 'गोरस' से दूध का अर्थ ग्रहण किया जाता है। ब्रजभाषा के कवियों ने 'गोरस' का इन्हीं दोनों अर्थों में प्रचुर प्रयोग किया है। यथा—'गोरस ढूँढत फिरत हो, गोरस चाहत नाहिं' अथवा 'रत्नाकर'जी की पंक्ति—'गोरस के काज लाज बस के बहाइबो' में 'गोरस' शब्द से इन्हीं अर्थों का द्योतन कराया गया है। कभी उसे शब्द, रूप, गन्ध, स्पर्शादि गुणों के साथ प्रतिष्ठित किया जाता है और कभी 'रसरंग', 'रसकेलि' या 'रसरीति' कहकर उससे रति-भाव का अभिव्यञ्जन किया जाता है। कभी रस जब 'रूपरस' हो जाता है तो सौन्दर्य की विशेष चमत्कारक तरलता का विचार उसके साथ जुड़ जाता है। इस 'रूपरस' को प्रेमी पीते हुए नहीं अघाता। 'रत्नाकर'जी ने व्यथिता गोपिकाओं का वर्णन करते हुए इसी 'रूपरस' की चर्चा निम्न पंक्तियों में की है :

रूपरस पीवत अघात ना हुते जो तब,
सोई अब आंस ह्वै उबरि गिरिबो करै। उ०श०।

कभी-कभी यही रस भक्त के लिए राम या कृष्ण-कथा का रस, और बातून के लिए बतरस बनकर कानों में झरा करता है। इस रूप में रस आनन्द का स्वरूप धारण कर लेता है। यह बतरस ही था जिसके लालच में बिहारी की राधिका भी कृष्ण को छकाने के लिए नये-नये प्रयोग करती हैं :

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाय ॥

वैद्यराज रस शब्द का प्रयोग रसायन तथा पारद के अर्थ में करते हैं। कभी इससे वीर्य का अर्थ ग्रहण किया जाता है, और कभी जल का। प्राचीन आचार्य

आयुर्वेद में रस शब्द का व्यवहार

भद्रकाप्य ने इसका प्रयोग जलीय तथा जिह्वेन्द्रियग्राह्य पदार्थ के रूप में किया है। कुमारशिरस् ने इसे पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि में निहित गुण माना है। आत्रेय पुनर्वसु ने षड्रस के अर्थ में इसका प्रयोग करते हुए इसकी योनि जल बताई है। निमि ने षड्रसों के अतिरिक्त क्षार को भी एक रस माना है।[1]

आयुर्वेद में यह भी बताया गया है कि भक्ष्य, चोष्य, लेह्य तथा पेय, इन चार प्रकार के भोजनों के भोग द्वारा लालारस की उत्पत्ति होती है। इस रस को जलरूप, श्वेत, शीतल, मधुर, स्निग्ध और गतिशील बताया गया है। रस शरीर और धातुओं का पुष्टिकर्ता है। रस की न्यूनता ही अजीर्णता का कारण है। इसका वास्तविक स्थान हृदय है, तथापि यह सर्वदेहचर है।[2]

अभिप्राय यह है कि रस शब्द का प्रसंगानुसार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। इन्द्रिय-सम्पर्क का बोधक होकर भी रस में आनन्द अथवा स्वाद का भाव निहित है।

कोष-लेखकों ने इस शब्द के प्रायः उक्त सभी अर्थों को एक स्थान पर संचित करने का प्रयत्न किया है। 'विश्वकोष' में गन्ध, स्वाद, विष, राग, शृंगार,

शब्दकोष में रस शब्द का व्यवहार

द्रव, वीर्य, अम्बु तथा पारद सभी के लिए रस शब्द का प्रयोग किया गया है।[3] अमर-कोषकार ने घी-वर्ग में रूप, गन्ध आदि के साथ रस का वर्णन किया

---

१. दासगुप्त, 'ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलासफी', भाग २, पृ० ३५७।
२. 'शब्दार्थ चिन्तामणि', ४, ७१।
३. रसो गन्ध रसे, स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः।
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये, देह धात्वम्बु पारदे ॥—विश्वकोष

है[1], और उसी वर्ग के अन्तर्गत तिक्तादि षड्रसों का भी उल्लेख किया गया है।[2] वैश्य-वर्ग के अन्तर्गत पारद अर्थ में तथा नानार्थ-वर्ग में शृंगारादि के लिए इसका प्रयोग हुआ है।[3]

प्राचीनता के विचार से रस शब्द का सर्वप्रथम व्यवहार वेदों में हुआ है। 'ऋग्वेद' में रस कभी गौ-क्षीर के लिए, कभी सोमरस के हेतु अथवा कभी रस-युक्तता को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।[4] एक स्थल पर रस को उदक् के पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है।[5] 'अथर्ववेद' में 'रसो गोषुः प्रविष्टो यः' (१४-२-५८) तथा 'रसेन तृप्तो न कुतश्चनो नः' (१०-८-४४) के द्वारा रस का भिन्न अर्थों में प्रयोग मिलता है।

वेदोपनिषद् में रस शब्द का व्यवहार

वेदकाल में रस केवल मधु या सोमरस अथवा दुग्ध का ही अर्थ देता रहा। इनके मूलस्थित स्वाद की भावना का आधार लेकर उपनिषत्काल में यही रस शब्द मुख्यार्थ का बोधक होकर प्राणस्वरूप माना जाने लगा। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में रस को सारभूत तत्त्व कहा गया है।[6]

साहित्यिक क्षेत्र में रस का जो परिणाम स्वीकार किया गया है, उसकी कल्पना वस्तुतः 'तैत्तिरीयोपनिषद्' के आधार पर की गई जान पड़ती है। 'तैत्तिरीय' में ब्रह्म को ही रसरूप ठहराया गया है। वही वास्तविक आनन्द है, क्योंकि अनादिकाल से जन्म-मृत्युरूप घोर दुःख का अनुभव करने वाला यह जीवात्मा इस रसमय परब्रह्म को पाकर ही आनन्दित होता है।[7] 'शतपथ ब्राह्मण' में भी रस शब्द का व्यवहार करते हुए उसे 'मधु' के पर्याय के रूप में 'रसो वै मधु' पंक्ति में प्रस्तुत किया गया है। मधु मधुरता का बोधक है और मधुरता आनन्द का। अतएव, यह विचार भी आगामी विचारकों के बहुत समीप पड़ा।

पूर्व विवेचन से यह स्पष्ट है कि रस शब्द किस प्रकार एक ओर तो स्थूल जगत् की ऐन्द्रियता से सम्बद्ध रहा है और दूसरी ओर वही परब्रह्म के समीपतर

१. रूपं शब्दो गन्ध रस स्पर्शाश्च विषया अमी। अमरकोष, पंक्ति २६१।
२. तिक्तो अम्बलश्च रसाः पुंसि तद्वत्सुषडमी त्रिषु। वही, पंक्ति २६५।
३. शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः। वही, पंक्ति २७८६।
४. जन्मे रसस्य वावृधे। ऋ० १-३७, ५। तथा—स्वादू रसो मधुपेयो वराय। ऋ०६-४४,२१।
५. यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयतेह नः। ऋ०१०-६,२।
६. प्राणो वा अंगानां रसः।—बृहदाण्यकोपनिषद्।
७. रसो वै सः। रसं ह्येवायंलब्दवाऽऽनन्दी भवति। २।७,१।

होता हुआ अलौकिक आनन्द का बोध कराने लगा। तात्पर्य यह कि भौतिक रूप में रस इन्द्रिय-विशेषजन्य आस्वाद का बोधक है और मानसिक रूप में वह सर्वथा अलौकिक, सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय होने के साथ ही आस्वादरूप भी है।

'छान्दोग्य' में रस आठ प्रकार का बताया गया है। यथा, इन चराचर जीवों का रस···आधार···पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है, जल का रस उस पर निर्भर करने वाली औषधियाँ हैं, औषधियों का रस उनसे पोषण पाने वाला मनुष्य-शरीर है, मनुष्य का रस वाणी है, वाणी का रस ऋचा है, ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है।[1] संभव है कि साहित्यिक क्षेत्र में रस के केवल आठ विभेदों की स्वीकृति का आधार भी यही उक्ति हो।

यद्यपि विद्वानों ने 'नाट्यशास्त्र'-प्रणेता भरतमुनि को ही रस की साहित्य-शास्त्रीय चर्चा करने का विशेष श्रेय दिया है, तथापि 'नाट्यशास्त्र' तथा अन्य ग्रंथों से स्पष्ट है कि भारत से पूर्व भी अन्य आचार्यों[2] ने नाट्य आदि के प्रसंग में रस का वर्णन किया होगा। यहाँ इतिहास का विवेचन हमारा लक्ष्य नहीं है, अतएव प्राप्त सामग्री के आधार पर हम केवल भरत के रस-विवेचन से ही विचार आरंभ करेंगे।

साहित्यशास्त्रीय दृष्टिकोण

भरत ने नाट्य को पाँचवाँ वेद कहा है। उसकी सामग्री समस्त वेदों से ग्रहण की गई है। रस को 'अथर्ववेद' से ग्रहण किया गया है। (ना० शा० चौ०, १।१७)। रस ही नाट्य में प्रधान है, अतः उसके बिना कोई नाट्यार्थ प्रवर्तित नहीं हो सकता। (न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते—ना० शा० चौ० १० ७१)। नाट्य के अन्तर्गत आने वाले अभिनय, धर्मी, वृत्ति, प्रवृत्ति आदि को एक साथ रखकर भी उन्होंने रस को ही प्राथमिकता दी है (वही, ६।१०)। उनका विचार है कि रस तथा भावों की उचित व्यवस्था रख सकने वाला व्यक्ति ही नाट्य-रचना में सफल हो सकता है। जो इस व्यवस्था को जानता है, वही उत्तम सिद्धि का अधिकारी है।[3]

१. एषां भूतानाम् पृथिवी रसः। पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रसः। ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाग् रसः। वाच ऋग् रसः। ऋचः साम रसः। साम्न उद्गीथो रसः।······ छा० उ० १।१।२, ३।

२. ब्रह्मा, द्रुहिण, सदाशिव भरत, ब्रह्मभरत, तण्डु, नन्दी या नन्दिकेश्वर, वासुकि, भरतवृद्ध, आदिभरत, शौद्धोदनि, शिलालिन्, कृशाश्व।

३. एवम् रसाश्च भावाश्च व्यवस्था नाटके स्मृताः।
य एवमेतान् जानाति स गच्छेत् सिद्धिमुत्तमाम्॥ वही, अ० ७, श्लो० १२४॥

भरत का विचार है कि नट का कार्य एक कुशल माली के कार्य के समान है। माली उपवन के भिन्न-भिन्न रंगों वाले सुन्दर-सुन्दर पुष्पों को चुनकर एक-दूसरे के साथ अत्यन्त योग्यतापूर्वक गूँथता हुआ उन्हें माला का रूप देता है। नट भी भावों के प्रदर्शन के हेतु अनेक प्रकार के साधनों का उपयोग करता है। विविध अभिनय-भेदों का उपयोग करता है। ऐसा करने से ही उसे रस के सम्पन्न करने में सफलता प्राप्त होती है।[1] कहा जा सकता है कि नाट्य में रस का वही स्थान है जो माला में विविध रंगों तथा सुगन्धि का है। रस नाट्य में सुगन्धि तथा सौन्दर्य का विधायक है।

परवर्ती विवेचक

भरत के परवर्ती काल में रस-निरूपण को विस्तृत और विशदता प्राप्त हुई। इस उपलब्धि में केवल रसवादी लेखकों का ही योग नहीं रहा अथवा केवल नाट्य का विचार करने वाले या केवल साहित्य-सर्जकों की प्रेरणा ही नहीं मिली, अपितु भरत के पश्चात् काव्य-शरीर और आत्मा की कल्पना करने वाले जो अनेकानेक साहित्यिक सम्प्रदाय उपस्थित हुए, दृश्य तथा श्रव्य दोनों प्रकार के काव्य-विचारकों के जो दल उपस्थित हुए अथवा दर्शन-सिद्धान्तों का अनुशीलन करने वाले जो सम्प्रदाय प्रचलित हुए उनसे भी इस विषय में विशेष एवं महत्त्वपूर्ण योग मिला। रस-सिद्धान्त को परोक्ष अथवा अपरोक्ष दोनों रूपों में सभी सम्प्रदायों से जो सहायता मिली है उनमें अलंकारवादियों में भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुय्यक का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। वक्रोक्तिवादी कुन्तक, औचित्यवादी क्षेमेन्द्र तथा ध्वनिवादी आनन्दवर्धन एवं पण्डितराज ने रस-विवेचन की दृष्टि को सुनिर्मल और प्रौढ़ बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। नाट्य-शास्त्रों की रचना करने वाले धनंजय, शारदातनय, शिंगभूपाल तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पुराने विचारों को सुस्पष्टता और सुनियोजन के साथ व्यक्त करने का प्रयत्न करने के साथ-साथ नवीन विचार-सम्पत्ति से रस-शास्त्र को समृद्ध बनाया है। श्रव्य-काव्य को ही उपजीव्य बनाकर शास्त्र लिखने वाले भोज और भानुदत्त आदि ने नई स्थापनाओं से नवीन दृष्टिदान दिया है। भरतसूत्र की व्याख्या करने वाले लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त एवं पण्डित-राज ने अथवा ध्वनि के विरोधी महिमभट्ट महोदय ने भारतीय दर्शनों की मिट्टी लगाकर इस पौधे को प्रवृद्ध होने और विराट् होकर सब पर छा जाने का सामर्थ्य प्रदान किया है और लोक-भूमि का सहारा लेकर भी अलौकिक ब्रह्मानन्द

१. नानाविधैर्यथापुष्पैर्माल्यं ग्रथ्नाति माल्यकृत्।
अंगोपांगरसैर्भावैस्तथा नाट्यं प्रयोजयेत्॥ वही, २६।१०६।

की समानता में उपस्थित होने वाले रस को महनीय और काम्य बना दिया है। इसी प्रकार भगवद्भक्ति के रस में भीगे हुए तरल हृदय गोस्वामी-वर्ग ने प्रेम और माधुर्य के साथ-साथ भक्त के हृदयावेग का पुट देकर रस को सर्वथा एक नवीन पटभूमि प्रदान कर दी है, जिससे रसों की संख्या में विशेष वृद्धि होने का अवसर मिला है। अवश्य ही इस कार्य के लिए श्री जीवगोस्वामी, रूपगोस्वामी तथा मधुसूदन सरस्वती का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। इतना ही नहीं, संगीत-कला ने भी रस-सिद्धान्त को अपनाकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई है और इसीलिए 'संगीतसुधाकर' के रचयिता शारंगदेव का नाम भी रस-विवेचन के साथ भिन्न रूप से जुड़ गया है। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि 'अग्निपुराण' तथा 'विष्णुधर्मोत्तर-पुराण' जैसे पुराणों ने भी संकेत से रस-विवेचन को अपना विषय बनाया है। इस सम्बन्ध में नवीन दृष्टि के लिए भोज के साथ 'अग्निपुराण' का नाम तो कभी नहीं भुलाया जायगा। इनके अतिरिक्त इस दिशा में विश्वनाथ कविराज का योग तो इसलिए महत्त्वपूर्ण है ही कि उन्होंने रसात्मक वाक्य को काव्य की संज्ञा दी, साथ ही आचार्य मम्मट का महत्त्व भी इसलिए स्वीकार किया जाता है कि उन्होंने काव्य के सभी उपकरणों का बहुत सन्तुलित और सरल किन्तु मननीय विवेचन किया और रस के भिन्न पक्षों पर अति संक्षेप में वर्णन करते हुए भी स्पष्ट तथा समुचित वर्णन किया। इन समस्त लेखकों के अतिरिक्त एक बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जिन्होंने सरल रूप में रस-सिद्धान्त को समझाने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की अथवा काव्यांगों का वर्णन करते हुए रस का भी वर्णन किया है। रस-साहित्य-शास्त्र का यह विकास एक दूसरी दिशा में भी हुआ और वह दिशा है नायिका-भेद-निरूपण। शृंगार रस की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए अथवा नाट्य-शास्त्र की रचना करते हुए कुछ विवेचकों ने नायिका-भेद का सविस्तर वर्णन भी किया है और उसके स्वतंत्र ग्रंथ भी रचे गए हैं। भानुदत्त ने जिस प्रकार रसों की संख्या तथा नवीन रसों की उद्भावना के सम्बन्ध में नवीन दृष्टि का परिचय दिया है, उसी प्रकार उन्होंने 'रसमंजरी' लिखकर नायिका-भेद के क्षेत्र में भी पर्याप्त उल्लेखनीय नवीनता को स्थान दिया है। इस प्रकार रस-सिद्धान्त का व्यापक विस्तार दिखाई देता है, जो विवेचकों की संख्या की दृष्टि से तो व्यापक कहा ही जा सकता है साथ ही वाल्मीकि और भरतमुनि-जैसे कवि तथा आचार्यों से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक एक दीर्घकाल तक चली आने-वाली निरन्तर विकासमान और प्रबल धारा के रूप में दिखाई देता है। इस धारा में योग देने वाले सभी लेखकों का उल्लेख एक इतिहास का ही विषय

है। हम यदि और आगे बढ़ें और हिन्दी में होने वाले शास्त्रीय-विकास पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि संस्कृत की उक्त धाराओं के समान ही हिन्दी में भी विपुल साहित्य है जो रीतिकाल के पूर्व से चलकर आज तक के विकास का रोचक और महत्त्वपूर्ण इतिहास प्रस्तुत करता है। यह अवश्य है कि हिन्दी का रीतिकालीन शास्त्र बहुत कुछ लक्ष्य-लक्षण जुटाने में ही लगा रहा और इसलिए संस्कृत के 'काव्यप्रकाश' 'साहित्यदर्पण' अथवा 'रस-तरंगिणी' आदि कतिपय अति-प्रमुख और अपेक्षाकृत सरल एवं सन्तुलित शास्त्र-ग्रन्थों के भावानुवाद, शब्दानुवाद अथवा छायानुवाद में ही शक्ति व्यय की जाती रही तथा पद्यात्मकता के कारण गद्य के अभाव में विवेचन की बारीकियाँ न खुल-खिल सकीं, तथापि आधुनिक काल में इस विषय की ओर पुनः विचारकों ध्यान गया है और नवीन आलोचना-शास्त्र के प्रकाश में विचारकों ने इस विषय पर पुनर्विचार का प्रयत्न किया है। इस काल में भी कुछ ग्रंथ तो अनुवाद अथवा टीका-ग्रंथों के रूप में ही सामने आते हैं, कुछ विकास का इतिहास देकर रह जाते हैं, किन्तु कुछ तुलनात्मक तथा समन्वयात्मक दृष्टि का परिचय देते हैं। इस सम्बन्ध में भी यदि उसका उल्लेख किया जाय तो वह एक इतिहास का रूप ले लेगा, किन्तु प्रमुखता की दृष्टि से कहें तो केशवदास, बनारसीदास, तोषनिधि, चिन्तामणि, मतिराम, कुलपतिमिश्र, देवकवि, सूरतिमिश्र, कुमारमणिभट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, रसलीन, भिखारीदास, उदयनाथ-कवीन्द्र, रूपसाहि, उजियारे, रामकवि, बेनी बंदीजन, रसिकगोविन्द, पद्माकर, बेनीप्रवीन, प्रतापसाहि, नवीन कवि, ग्वालकवि, नन्दराम, शिवदासराय, लेखराज, लछिराम, प्रतापनारायण का रीतिकालीन लेखकों में से विशेष उल्लेख करना ही पड़ेगा और आधुनिक काल में नवीन दृष्टि के प्रवेश के विचार से बाबू गुलाबराय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध, जयशंकर प्रसाद, केशवप्रसाद, चन्द्रबली पाण्डेय, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', रामदहिन मिश्र तथा डा० नगेन्द्र का नाम विशेष रूप से लेना होगा। इनमें भी आचार्य शुक्ल का नाम उनके विचारों की प्रौढ़ता, विचार-शक्ति की समुज्ज्वलता, सन्तुलन की अपूर्व क्षमता तथा मनन-चिन्तन की गहराई और विस्तृति आदि के लिए लेना होगा और यह मानना पड़ेगा कि आचार्य शुक्ल की दिव्य प्रतिभा और समन्वयकारी विवेक-शक्ति ने रस-विचार के क्षेत्र में नवीन उद्भावनाओं और स्थापनाओं के साथ-साथ पुराने विचारों को भी नवीन उदाहरणों की कसौटी पर कसकर रखने का अद्भुत प्रयत्न किया है। शुक्लजी ने शास्त्रीयता को सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों रूपों में बनाये रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य

किया है। साधारणीकरण तथा काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में उनका विवेचन हिन्दी में पहली बार इतनी स्पष्टता से उपस्थित किया गया है। उनकी विशेषता है नवीन उदाहरणों के प्रकाश में इन विषयों का विचार। यह और बात है कि अपनी कुछ विशेष मान्यताओं के कारण शुक्ल जी का मत कहीं-कहीं आचार्य-मार्ग से पृथक् हो गया हो, किन्तु उक्त कारणों से उनका महत्त्व कभी कम न होगा। इसी प्रकार बाबू गुलाबराय ने हिन्दी-साहित्य में पहली बार रसों का मनोविज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया और सूक्ष्म भेदक दृष्टि से अपने ग्रन्थ 'नवरस' में रस-सिद्धान्त का सुविस्तृत वर्णन किया है। उन्हींके इस कार्य को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आगे बढ़ाते हुए वर्तमान लेखक डॉ० राकेश गुप्त ने अपना शोध-प्रबन्ध लिखा है, जो मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का विचार करते हुए उसकी अमनोवैज्ञानिकता का ही प्रतिपादन करता है। ग्रन्थ केवल पाश्चात्य मनोविज्ञान की दृष्टि से लिखा गया है और भारतीय शास्त्रीय दृष्टि की अवहेलना के कारण एकपक्षीय दिखाई देता है। फिर भी इस दिशा में प्रयत्न की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है और नये विचारों का मार्ग खोलता है। हरिऔध जी का 'रस कलस' अपने उदाहरणों, शृंगार रस के साथ-साथ वात्सल्य रस के बहुमुखी विवेचन तथा नायिका-भेद की नवीन उद्भावनाओं और विवेचन की स्पष्टता के लिए उल्लेखनीय ग्रन्थ है। विश्वनाथ जी का महत्त्व शास्त्रीय समीक्षा के व्यावहारिक रूप के कारण अधिक है और चन्द्रबली पाण्डेय तथा केशवप्रसाद जी का महत्व उनके साधारणीकरण तथा 'मधुमती' भूमिका को लेकर लिखे गए लेखों के कारण सदैव बना रहेगा। 'सुधांशु' जी ने अपने ग्रंथों में यत्र-तत्र रस-विवेक का परिचय दिया है, अतः उनका नाम उल्लेखनीय है; किन्तु इस दिशा में हरिऔध तथा आचार्य शुक्ल के बाद महत्त्वपूर्ण तथा विस्तृत कार्य करने वालों में श्री रामदहिन मिश्र एवं डॉ० नगेन्द्र का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। रामदहिन जी ने भारतीय शास्त्रों के मन्थन के परिणाम-स्वरूप एक ओर भारतीयता को बनाये रखा है, दूसरी ओर नवीन विचारों के आलोक में इस विषय का विचार करके भारतीय दृष्टि से उसका मेल बिठाने का प्रयत्न भी किया है, और बड़ी बात यह कि आधुनिक हिन्दी-काव्य से उदाहरण ढूंढकर अपने कथनीय विषय का सरल प्रतिपादन करने में उन्होंने अन्यतम सफलता प्राप्त की है। एक बात अवश्य है कि उन पर मराठी के आधुनिक विचारक डॉ० वाटवे का अत्यधिक प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मनोविज्ञान तथा काव्यानन्द और रस के सम्बन्ध में दिये गए उनके विचार डॉ० वाटवे के प्रतिपादन के पूर्णतया ऋणी

हैं। डॉ० नगेन्द्र में पाश्चात्य तथा भारतीय शास्त्र की प्रज्ञा का सम्मिलन दिखाई पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप उनके चिन्तन और विवेचन में सन्तुलित दृष्टि का विकास हुआ है। अवश्य ही इस सन्तुलन की दृष्टि से शास्त्रीय विवेचकों में वे इस समय सबसे अधिक प्रौढ़ हैं और संस्कृत ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवादों पर लिखी गई उनकी भूमिकाएँ इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कृतियाँ मानी जायँगी। इन कतिपय उल्लेख्य व्यक्तित्वों के अतिरिक्त स्फुट लेख लिखने वालों की एक बड़ी संख्या है, जिससे इस ओर बढ़ती हुई रुचि की सूचना मिलती है, साथ ही यह भी भय होता है कि संस्कृत के अपरिपक्व ज्ञान के आधार पर अथवा चंचु-प्रवेश के पश्चात् ही आचार्य कहलाने या आचार्यों का खण्डनकर्ता बनने की धुन में भी जो बहुत से निबन्ध-लेख सामने आ रहे हैं, वे विपथगामी न बना दें। इस विषय में कुछ वादी तो ऐसे हैं जो पूरे भारतीय साहित्य-शास्त्र को ही एक झमेला मानकर चलते हैं और अध्ययन-मनन-चिन्तन के अभाव में नित नई और अटपटी अपव्याख्याओं द्वारा रस-सिद्धान्त या अन्य भारतीय सिद्धान्तों का तिरस्कार किया करते हैं। इन विचित्र तर्कनाओं से बचाने और भारतीय पक्ष को स्पष्टतया समझाने के लिए हिन्दी में विद्वानों की सजग प्रवृत्ति की आवश्यकता है।

यदि रस-सिद्धान्त के इस विकास-इतिहास पर ध्यान दें और नवीन विचारों का आकलन करते चलें तो हमारे सामने अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका या तो संकेत मात्र करके ही अब तक छोड़ दिया गया है, या जिनमें परस्पर तुलना करके किसी एक पक्ष का सही निर्णय करने का प्रयत्न नहीं किया गया है या फिर यदि यह सब प्रयत्न हुआ भी है तो वह अत्यन्त विवादग्रस्त है और विवेचक-भिन्नता के अनुसार उसके सम्बन्ध में विचार-भिन्नता भी दीख पड़ती है। इन सबका केवल इतिहास ही प्रस्तुत किया जाय तो भी वह विशेष महत्त्वपूर्ण होगा। यदि इन विवेचकों को उपलब्धि की दृष्टि से देखें तो कतिपय विचारणीय प्रश्न इस प्रकार सामने आते हैं जैसे, रससामग्री में विभावादि में से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कौन है, अनुभाव और आश्रय की चेष्टाओं में परस्पर क्या सम्बन्ध है अर्थात् क्या आश्रय की चेष्टाओं को ही अनुभाव कहा जायगा और आलम्बन की चेष्टाएँ किसी और नाम से पुकारी जायँगी? क्या सात्विक भाव भाव कहला सकते हैं अथवा उन्हें अनुभाव कहना चाहिए? क्या विभावादि की जो संख्याएँ निर्धारित कर दी गई हैं वे अन्तिम हैं अथवा उनमें कोई परिवर्तन किया जा सकता है? स्थायी भाव और संचारी भावों के नाम से ख्यात इन भावों की सार्थकता क्या है? क्या सचमुच कुछ भाव स्थायी और कुछ संचारी होते हैं और क्या कारण

है कि इनमें से कुछ स्थायी हैं और कुछ संचारी ? क्या इन दोनों में कभी कोई परस्पर परिवर्तन नहीं किया जा सकता ? भरत ने जो रस-सूत्र कहकर उसे अव्याख्यात छोड़ दिया है उसकी क्या व्याख्या हो सकती है। उसको किसी दार्शनिक सिद्धान्त से नियोजित किया जा सकता है या नहीं ? क्या रस-सूत्र की इन व्याख्याओं तथा अन्य शास्त्रीय बातों से कवि, अभिनेता, मूल पात्र तथा सहृदय के सम्बन्ध में भी कोई प्रकाश मिलता है या नहीं और क्या कवि तथा पाठक की परिस्थितियों में परस्पर किसी साम्य-वैषम्य की सूचना मिलती या मिल सकती है कि नहीं ? क्या रस-सूत्र की व्याख्या में उपस्थित मतों में व्यावहारिक दृष्टिकोण की स्पष्टता है या केवल दार्शनिकता का ही सहारा लिया गया है ? क्या उन व्याख्याओं में से किसी एक को सर्वव्यापी और सार्वकालिक कहा जा सकता है ? क्या साधारणीकरण का सिद्धान्त लोक-जीवन को ध्यान में रखकर चलता है अथवा व्यक्ति-वैचित्र्य से प्रभावित है और व्यक्ति-भेद से कसौटियों का भेद स्वीकार करता है ? क्या साधारणीकरण का अर्थ किसी से तादात्म्य कर लेना है ? क्या रसास्वाद और लौकिक आस्वाद अथवा रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद एक ही हैं और यदि भिन्नता है तो वह किस सीमा तक है ? क्या रसास्वाद की भी किसी दार्शनिक भूमि का पता लगाया जा सकता है ? क्या रसास्वाद के सभी अधिकारी हैं और क्या सभी आबालवृद्धवनिता को एक-सा रस आता है ? क्या करुण, भयानक तथा बीभत्स भी रस हैं और क्या उन्हें आनन्दात्मक कहा जा सकता है ? क्या रस एक ही है अथवा उसके भेद भी किये जा सकते हैं ? यदि रस आस्वाद रूप है तो उसके भेद कैसे ? यदि भेद किये जा सकते हैं तो वे भेद निश्चित हैं अथवा उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन किया जा सकता है ? क्या सभी रस दृश्य तथा श्रव्य काव्य में एक-से प्रदर्शनीय अथवा वर्णनीय हैं ? क्या इन रसों में कोई प्रधान अथवा कोई गौण है ? क्या इनमें भी कोई वर्ग-विभेद किया जा सकता है ? क्या यह एक-दूसरे के सहायक अथवा विरोधी हो सकते हैं ? क्या आधुनिक काव्य की परीक्षा इन रसों के आधार पर की जा सकती है और साहित्य में प्रकट होने वाला हर भाव रसों की निश्चित सीमा में आ सकता है ? क्या इन रसों में किसी प्रकार के परिशोधन की आवश्यकता भी है अथवा यह सभी उपयोगी हैं ? क्या रस-सिद्धान्त का कोई आचार-शास्त्रीय नैतिकतापूर्ण दृष्टिकोण भी है अथवा वह मुक्त-स्वभाव है और काव्य को इस प्रकार की किसी सीमा में नहीं बाँधता ? क्या उन नैतिक मूल्यों को व्यावहारिक और युगानुकूल मानकर उनमें समय-समय पर परिवर्तन किया जा सकता है अथवा नहीं ? तथा आधुनिक प्रचलित समीक्षा-पद्धतियों के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का महत्त्व क्या हो सकता है ? आदि

अनेक प्रश्न इस प्रसंग में उपस्थित होते हैं। इन सब प्रश्नों का समाधान करने के लिए पूरे शास्त्रीय अध्ययन से सज्जित हुए बिना काम नहीं चलाया जा सकता। केवल शास्त्रीय अध्ययन में भी भारतीय पक्ष का अध्ययन ही पर्याप्त नहीं होगा, अपितु पाश्चात्य मतों का अवलोकन-आलोचन भी आवश्यक है। इसी प्रकार भारतीय मतों की परिपक्वता के लिए भी केवल साहित्य-शास्त्र का ज्ञान ही पूरा काम न बना सकेगा, बल्कि उस पर पूरे विचार के लिए भारतीय दर्शन-मतों का अध्ययन भी अपेक्षित है और पाश्चात्य मनोविश्लेषण भी। साथ ही काव्य-रूपों के विकास पर ध्यान रखना भी अनिवार्य है, जिससे बदलते रूपों के आधार पर सिद्धान्त की परीक्षा की जा सके। सारांश यह कि यदि रस-सिद्धान्त के सम्यक् विवेचन का प्रयत्न किया जाय तो उसके केवल भारतीय पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए भी समय, विविध शाखाओं के मनन और चिन्तन तथा अभ्यास की आवश्यकता है। इनमें से एक के भी न्यून होते ही विवेचन का सारा महल धराशायी हो सकता है। एक-मात्र साधारणीकरण को लेकर इतना विवाद उपस्थित है और साहित्य-ग्रंथों में इतना वैचित्र्य उपलब्ध होता है कि प्रत्येक उदाहरण पर विचार करते समय कहीं-न-कहीं भूल हो जाने का भय बना रहता है। इसी प्रकार रस-विवेक में भी इसी प्रकार की कठिनाई उपस्थित होती है। करुण तथा विप्रलम्भ में अथवा शान्त और भक्ति में अन्तर करना प्रायः कठिन हो जाता है। इसी प्रकार एक रस दूसरे का कभी-कभी इस प्रकार सहायक बन जाता है कि उनमें से किसी एक को प्रधान बताना और दूसरे को गौण सिद्ध करना दुष्कर होता है। यही कारण है कि किसी ने करुण में, किसी ने अद्भुत में, किसी ने शान्त में और किसी ने भक्ति में अथवा शृंगार में अन्य रसों का अन्तर्भाव कर लिया है। इन सब जटिलताओं के बीच से मार्ग बनाना और किसी एक निश्चय पर पहुँचना साधारण काम नहीं है। इस दृष्टि से यदि केवल भारतीय पक्ष को ही स्पष्ट कर लिया जाय तो भी बहुत है। यही कारण है कि हमने अपनी सीमाओं और विवेच्य की कठिनाइयों का ध्यान रखकर प्रायः भारतीय पक्ष का ही विवेचन प्रस्तुत किया है।

२

रस-सामग्री

दृश्य, श्रव्य तथा रस

आचार्य आनन्दवर्धन के विचार से साहित्य में रस की अवतारणा करने वाले प्रथम लेखक वाल्मीकि हैं। आदिकवि के शोक की श्लोकमय परिणति में ही रस के तत्त्व निहित हैं। श्रव्य-काव्य से रस का सम्बन्ध उन्हींके समय से स्वीकृत माना जा सकता है। वेदोपनिषद् आदि में 'रस' शब्द के प्रयोग तथा वेद में काव्य-तत्त्वों के दर्शन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आदिकवि के पूर्व मौखिक परम्परा में इसे स्वीकृति मिल चुकी थी और उनके काव्यमें उसे विशेष प्रतिष्ठा मिली। शास्त्र में इसका उल्लेख भरत से पूर्व माना जाता है, किन्तु लिखित प्रमाण के रूप में भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' को ही प्राथमिकता दी जाती है। इस प्रकार प्रयोग की दृष्टि से रस का सम्बन्ध आरम्भ से ही श्रव्य-काव्य से दिखाई देता है और शास्त्र की दृष्टि से उसका विवेचन पहली बार नाट्य-शास्त्र में दृश्य-काव्य के प्रसंग में मिलता है।

दृश्य-काव्य की रसात्मकता के पक्ष में दो तर्क दिये जाते हैं: (१) रस की कल्पना पहले नाट्य के विषय में हुई है। (२) चित्रवत् और प्रत्यक्ष होने के कारण दृश्य-काव्य का प्रभाव अधिक गहरा और स्थायी हो सकता है। ऐसी दशा में सहृदय की तल्लीनता उसकी अनुभूति को रसमय बना देती है। किन्तु किसी लिखित प्रमाण के अभाव में यह कहना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता कि भरत के पूर्ववर्ती किसी आचार्य ने श्रव्य के सम्बन्ध में उसकी कल्पना ही नहीं की। इसी प्रकार यद्यपि वामन ने चित्रवत्ता के कारण दृश्य-काव्य को श्रेष्ठ बताया है और अभिनव गुप्त ने भाषा, वेष, प्रवृत्ति तथा प्रत्यक्षता के कारण दृश्य का अविलम्ब तथा मार्मिक प्रभाव स्वीकार किया है, तथापि इससे श्रव्य-काव्य में उसकी योजना का अभाव प्रमाणित नहीं होता और यह कहा जा सकता है कि नाट्य के अतिरिक्त काव्यों में भी चित्रवत्ता उपस्थित हो जाने पर हम उन्हें रसमय मान सकते हैं। अभिनव ने स्पष्ट रूप से इस बात का मण्डन करते हुए कहा है कि काव्यानुभूति का सम्बन्ध वस्तुतः सहृदय

से है। सहृदय यदि काव्य का अभ्यास किये हुए हैं, उसके कुछ प्राक्तन संस्कार हैं, तो परिमित भावादि के उन्मीलन के द्वारा काव्य के विषय का साक्षात्कार किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में सहृदय पूर्वापर सम्बन्ध को समझकर अमुक स्थान पर अमुक के सम्बन्ध में अमुक बात कही गई है या अमुक इसका वक्ता है अथवा अमुक दृश्य उपस्थित किया गया है, आदि प्रसंगों की कल्पना करके रसास्वाद कर सकता है।[1]

अभिनव के कथन का तात्पर्य वस्तुतः यह है कि दृश्य-काव्य यदि सभी बातों को प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित कर देता है, तो श्रव्य-काव्य में इसी दृश्य की उपस्थिति के लिए सहृदय की कल्पना अपेक्षित है। उस कल्पना का आधार काव्य का अभ्यास आदि कहा जा सकता है। कल्पना के सहारे वह सहृदय कवि के चित्रों का प्रत्यक्षवत् ही आनन्द लेता चलता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसकी यह कल्पना दृश्य-काव्य के सामान्य प्रेक्षक की कल्पना से कुछ विशेष प्रवृद्ध कोटि की हो। श्रव्य-काव्य में चित्रों की उपस्थिति और उनकी प्रभावशालिता के दो-चार उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि यदि चित्रवत्ता ही दृश्य काव्य की श्रेष्ठता और रसमयता का आधार है तो श्रव्य-काव्य भी उससे किसी प्रकार हीन नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि दृश्य-काव्य यदि स्थूल बुद्धि को विशेष सरलतापूर्वक ग्राह्य है तो श्रव्य-काव्य में सूक्ष्म कल्पना अपेक्षित है। अभिप्राय यह कि, दृश्य-काव्य का आधार भौतिक है जबकि श्रव्य-काव्य सूक्ष्म के क्षेत्र में विचरण कराता है। यदि सूक्ष्मता के आधार पर पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार काव्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान स्वीकार कर लिया जाय तो निश्चय ही उसी आधार पर दृश्य-काव्य की अपेक्षा श्रव्य श्रेष्ठ सिद्ध होगा।

श्रव्य-काव्य में कल्पना किस प्रकार चित्र उपस्थित करती है और उसका कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका विचार करने के लिए हम महाकवि कालिदास,

1. किन्तु सम प्राधान्य एव रसास्वादस्योत्कर्षः। तच्च प्रबन्ध एव भवति, वस्तु-वस्तु दशरूपक एव। यदाह वामनः"...सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः चित्रपटवद् विशेषसाफल्यात्।" इति तत्र रसचर्वणया तु प्रबन्धे भाषावेषप्रवृत्यो चित्यादिकल्पनात्। तदुपजीवतेन मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य ईदृगत्र वक्ता ऽस्मिन्नवसरेइत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते। तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिति सहृदयास्तेषा परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अतएव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृदनपेक्षित नाट्यमपि...अ० भा० 1, अ० 6, पृ० 287।

तुलसी, बिहारी, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, प्रसाद तथा निराला आदि संस्कृत और हिन्दी के अनेकानेक प्रतिष्ठित कवियों के उदाहरण ले सकते हैं। कालिदास का 'मेघदूत' उनकी रमणीय कल्पना के सहारे जिन अदृश्य चित्रों को गोचर कराता है वह कितने मार्मिक हैं, इस सम्बन्ध में उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। चित्रकारों ने 'मेघदूत' की उस सजल कल्पना के आधार पर अनेक रम्य चित्र उपस्थित किये हैं। हिन्दी में महादेवी वर्मा की 'यामा' और 'दीपशिखा' इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि उनके गीत चित्रों की भूमिका पर ही निर्मित हैं। इस बात की पुष्टि में पूर्वोक्त कवियों के कतिपय चित्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं। कालिदास का दृश्य-काव्य 'अभिज्ञान शाकुन्तल' ही लीजिए, जिसके छठे अंक में वियोगी दुष्यन्त अपने द्वारा चित्रित शकुन्तला तथा उसकी दोनों सखियों के चित्र में कतिपय त्रुटियों का संकेत करता है और उन त्रुटियों के मार्जन की इच्छा प्रकट करते हुए सर्वथा एक नवीन चित्र की कल्पना करने लगता है। वह चाहता है कि उस चित्र में वह मालिनी सरिता अङ्कित करे जिसके सैकत-तट पर हंस-मिथुन विश्राम कर रहा हो; उसके दोनों पार्श्वों में पावन हिमालय की श्रेणियाँ अङ्कित हों, जिन पर हरिण निःशंक भाव से सुखासीन हों; दूसरी ओर एक वृक्ष अंकित किया जाय जिसकी शाखाओं से वल्कल लटक रहे हों और उसकी छाया में कृष्णमृग के सींग से अपने बाएँ नयन को मृगी खुजला रही हो। कालिदास ने इस सरस कल्पना को मानो प्रत्यक्ष रूप में अंकित ही नहीं किया है, सहृदय के मन को बाँध लेने की शक्ति भी इन चार पंक्तियों में भर दी है :

> **कार्या सैकतलीनहंस मिथुना स्रोतोवहा मालिनी ,**
> **पादास्त ।भितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।**
> **शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः ,**
> **शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम् ।।६, १७।।**

दृश्य-काव्य में श्रव्य-काव्य के द्वारा इस चित्र का उद्‌घाटन यह प्रमाणित करता है कि चित्रों की उपस्थिति के लिए दृश्य-काव्य भी श्रव्य-काव्य का आभारी है। स्वयं भरत ने नाट्य को 'दृश्यं श्रव्यं च यद्‌भवेत्' कहकर दृश्य में श्रव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया है। यह श्रव्य कथानक को आगे बढ़ाने के लिए कथोपकथन के रूप में भी हो सकता है और जहाँ-तहाँ प्रेक्षक को अन्तर्वृत्ति में लीन करने के हेतु इस प्रकार के रम्य चित्रों का आकलन भी उसके अन्तर्गत हो सकता है। बिना इस प्रकार के चित्रों के दृश्य की मर्मस्पर्शिता में पूर्णता नहीं आती।

हिन्दी कवियों में तुलसी का रामवनगमन वर्णन हृदय को किस प्रकार प्रभावित करता आया है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। सलोने राम और गोरे लक्ष्मण के बीच विधुवदनी सीताजी ग्राम-मार्ग से निकली जा रही हैं। उन्हें देख-देखकर ग्राम-नारियाँ विचार करने लगती हैं कि ऐसी सलोनी मूर्ति और ऐसे कोमल कलेवर वाले इन सुकुमार जनों को किसने बनवास दे दिया है। सचमुच वह रानी बिलकुल अज्ञानी ही है जिसने ऐसा किया है। अपने हृदय में उत्पन्न कौतूहल की शान्ति के हेतु वे सीता से प्रश्न कर बैठती हैं—'क्यों मान्ये, यह साँवरी सूरत वाले तुम्हारे कौन हैं ?' सीता, लज्जा की मूर्ति सीता, किस शिष्टता से उस साँवले का परिचय देती हैं, तुलसी ने इसका मोहक चित्र श्रव्य-काव्य की निम्न दो पंक्तियों मात्र में कर दिया है :

सुनि सुन्दर बैन सुधारस साने, सयानी है जानकी जानी भली।
तिरछे करि नैन, दे सैन तिन्हें, समुझाइ कछु, मुसकाइ चली॥

शृङ्गारी कवि बिहारी के प्रेमियों की पारस्परिक रीझ-खीझ का भी एक चित्र अङ्कित करने योग्य है······

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे मौन में करत हैं, नयनन ही सों बात॥

आधुनिक कवि पन्त चित्रमय कल्पनाओं से ही अपने काव्य की सज्जा करते हैं। उनकी रचना 'नौका-विहार' में एक प्रत्यक्ष, किन्तु मुखर चित्र का आकर्षण एक-एक पंक्ति में सजा हुआ है। यथा :

दो बाँहों से दूरस्थ तीर, धारा का कुछ कोमल शरीर।
आलिंगन करने को अधीर।

इसी प्रकार अन्य अनेक कवियों की असंख्य पंक्तियाँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं।

अभिनव गुप्त के गुरु आचार्य भट्टतौत ने श्रव्य-काव्य में प्रत्यक्षवत्ता का गुण स्वीकार किया है और कहा है कि कुशल कवि अपने वर्णन के माध्यम से सहृदय के सम्मुख मानो चित्र ही उपस्थित करता है। अतएव नाट्य की-सी चित्रमयता होने पर काव्य-मात्र में रसोद्घोष असम्भव नहीं है।[1] यह चित्रवत्ता विशेषतः विभावादि के स्पष्ट और सविस्तार वर्णन द्वारा लाई जा सकती है और उन चित्रों का प्रत्यक्षवत् ही उद्घाटन किया जा सकता है।

भट्टतौत का विचार

श्रव्य-काव्य में जहाँ चित्रमयता में दृश्य-काव्य से स्थूल और सूक्ष्म का भेद

१. प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसम्भवः।—अ० भा० १, पृ० २९१।

है वहाँ उसकी एक और भी विशेषता है। दृश्य-काव्य में संगीत एवं वाद्य-यन्त्र का अत्यधिक सहारा लिया जाता है। नृत्य उसका एक विशेष उपकरण है, किन्तु श्रव्य काव्य में जब रणन करते हुए अक्षरों की पायलों की झनकार का मृदुल संगीत श्रोता के कानों में गूँजने लगता है, तब कौन कह सकता है कि उसका हृदय अनन्य भाव से तरंगित नहीं हो उठता ! मुरली का एक-एक स्वन शब्द के माध्यम से जब तैरता हुआ मानस तक उतर जाता है, तब कौन कह सकता है कि भावुक का हृदय अधीर भाव से दलित नहीं हो जाता ! निश्चय ही श्रव्य-काव्य सूक्ष्मता में दृश्य-काव्य से ऊपर है और चित्रवत्ता में उससे कम प्रभावात्मक नहीं है। हाँ उसके लिए अन्तर की आँख चाहिए।

श्रव्य तथा दृश्य के उपकरण : तुलना

दृश्य-काव्य का मार्ग संकलनत्रय की सीमा से घिरा है। वह निश्चय ही निरापद नहीं है। किन्तु, श्रव्य-काव्य उन्मुक्ति का सूचक है, जहाँ लेखक एक-एक साँस, चरण की एक-एक गति, एक-एक घटना का वर्णन करता है, किन्तु कहीं भी उसे संकलनत्रय की बाधा नहीं सताती। पाठक दर्शक की भाँति छूटे हुए दृश्यों की चिन्ता नहीं करता, उसके सामने सब कुछ प्रस्तुत है, केवल उसमें सजगता की आवश्यकता है, कि वह कवि की कल्पना को ग्रहण कर सके।

जहाँ तक मार्मिकता का प्रश्न है, यदि दृश्थ-काव्य के दृश्य प्रेक्षक के मानस-पटल पर सदैव के लिए अंकित हो जाते हैं तो श्रव्य काव्य का मोहक पंक्तियाँ सहृदय की जिह्वा पर अनन्त काल तक रहती हैं। वह उसके मन में सदैव गूँजती रहती हैं। दृश्य-काव्य का आनन्द उस समय तक रहता है, जब तक दृश्य आँखों के सामने रहता है। श्रव्य की पंक्तियाँ मन में सदा के लिए पैठ और बैठ जाती हैं। उन्हें गुनगुनाकर चाहे जब उनका रस लिया जा सकता है। किन्तु दृश्य काव्य में प्रयुक्त दृश्यों का वर्णन उस आस्वाद की दृष्टि से कालान्तर में अक्षम हो जाता है।

मार्मिकता और दृश्य तथा श्रव्य

महिम भट्ट के अनुसार काव्य का उद्देश्य, चाहे वह दृश्य हो अथवा श्रव्य केवल एक ही है : ···आनन्द। विधि-निषेध तथा व्युत्पत्ति या सदाचार एवं उपदेश के अनुसार दोनों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। केवल उपाय-मात्र

१. वर्णनोत्कलिता भोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः।
उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत्स्फुटाः॥ अ० भा०, पृ० २९१।

में भिन्नता पाई जाती है, फलभेद नहीं पाया जाता।[1] अतः श्रव्य में भी रस की कल्पना निराधार नहीं है।

श्रव्य में भी रस की कल्पना को सार्थक मानकर हम कह सकते हैं कि भरतमुनि के द्वारा कथित 'रस-सूत्र' में वर्णित रस-सामग्री का उपयोग दोनों प्रकार के काव्यों के लिए समान ही है। अतः हम अगले अध्यायों में रस का सामान्य रूप में ही विचार करेंगे।

भरतमुनि द्वारा कथित 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र के द्वारा एक ओर जहाँ रस-निष्पत्ति के स्वरूप का संकेत मिलता है, दूसरी ओर उससे रस-निष्पत्ति में सहायक सामग्री का परिचय भी मिलता है। यह रस-सामग्री है: विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव। सूत्र के अतिरिक्त 'नाट्य-शास्त्र' के सातवें अध्याय में पृथक् रूप से वर्णित स्थायी भाव तथा सात्विक भाव भी रस सामग्री के अन्तर्गत ग्रहण किये जाते हैं। इन सबके सामान्य गुणयोग से ही रस-निष्पत्ति संभव बताई गई है।[2] स्थायी भावों को 'रस-सूत्र' में स्थान न देते हुए भी भरत ने छठे अध्याय में उनकी संख्या आदि निर्धारित[3] करने के अतिरिक्त रसत्व-प्राप्ति का प्रधान श्रेय भी उन्हींको दिया है[4] और सातवें अध्याय में भी इसका प्रतिपादन किया है।[5] इस अध्याय में हम पृथक्-पृथक् रूप से क्रमशः विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, व्यभिचारी भाव तथा स्थायी भाव के स्वरूप और रस-निष्पत्ति में उनकी उपयोगिता के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

रस-सामग्री

विभाव

साहित्य-शास्त्र, मुख्यतः रस-शास्त्र, में साधारण लौकिक नामों का त्याग करके नवीन नामों की स्वीकृति की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रवृत्ति का जन्म रस की अलौकिकता के प्रतिपादन के हेतु हुआ है। अतएव लोक में प्रचलित

१. 'व्यक्ति विवेक', पृ० २०
   सामान्येन उभयमपि च तत् शास्त्रवद् विधिनिषेधविषयव्युत्पत्तिफलम्। केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयम् उपाय-मात्र भेदः न फलभेदः।

२. 'नाट्य शास्त्र', चौ०, पृ० ८०।

३. वही, पृ० ६६।

४. वही, पृ० ६६ तथा ७१।

५. वही, पृ० ७१।७३ तथा पृ० ६७। श्लोक ११६-१२०।

विभाव का स्वरूप

हेतु, कारण अथवा निमित्त शब्दों के लिए रस-शास्त्र में पृथक् रूप से 'विभाव' शब्द को ग्रहण किया गया है। शास्त्र में वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनय के सहारे चित्तवृत्तियों का विशेष रूप से विभावन अर्थात् ज्ञापन कराने वाले हेतु, कारण अथवा निमित्त को 'विभाव' कहते हैं। विभावन का अर्थ है विशेष ज्ञान।[1] स्थायी एवं व्यभिचारी चित्तवृत्तियों[2] अथवा रस को निशेष रूप से ज्ञापित कराने के कारण ही इन्हें विभाव कहा जाता है। 'विभावना' का अर्थ केवल ज्ञापन ही नहीं है, बल्कि उसका अर्थ आस्वाद-योग्यता तक पहुँचाना भी है। अतएव कहा गया है कि विभाव वासना-रूप में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से अवस्थित रति आदि स्थायी-भावों को आस्वादयोग्य बनाते हैं।[3]

इन चित्तवृत्ति के उद्बोधक तथा स्थायी भाव को रस आस्वादनीय बनानेवाले कारण-रूप विभावों के दो भेद बताये गये हैं : (१) आलम्बन तथा (२) उद्दीपन।

विभाव-भेद

चित्तवृत्ति-विशेष के विषयभूत विभाव को आलम्बन कहते हैं, अतएव इसे विषय भी कह सकते हैं। निमित्त रूप सामग्री, जिससे जाग्रत भाव अधिकाधिक उद्दीप्त होता है, उद्दीपन विभाव कहलाती है।[4] इनमें भी आलम्बन विभाव के दो भेद होते हैं : (१) विषय तथा (२) आश्रय। रत्यादि भावों के जाग्रत होने में कारण-स्वरूप विभाव ही विषय अथवा आलम्बन विभाव कहलाते हैं, क्योंकि इन्हें ही अवलम्बन करके स्थायी भाव जाग्रत होता है। जिस व्यक्ति में यह स्थायी भाव जाग्रत होते हैं वह उनका आश्रयभूत होने से आश्रय कहलाता

---

१. विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यतेऽनेन वागंगसत्वाभिनय इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमिति अर्थान्तरम्।

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रयाः।

अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥ ना० शा० चौ०, ७।४।

२. वागाद्यभिनयसहिताः स्थायिव्यभिचारिलक्षणाः चित्तवृत्तयो विभाव्यन्ते-विशिष्टतया ज्ञायन्ते—यैः ते विभावाः॥ काव्यानु०, पृ० ८८। तथा—तत्रज्ञेयो विभावस्तु रसज्ञापन कारणम्। र० सु० १।५९।

३. वासनारूपतयातिसूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन् स्थायिनः विभावयन्ति आस्वादयोग्यतां नयन्ति इति विभावाः॥ का० प्र०, टीका, पृ० ८६।

४. यस्याः चित्तवृत्तेः यो विषयः स तस्या आलम्बनम्। निमित्तानि च उद्दीपकानि इति बोध्यम्॥ र० गं०, पृ० ३३।

है ।[1] अभिप्राय यह कि आश्रय, विषय तथा उद्दीपक सामग्री तीनों ही विभाव के अन्तर्गत परिगणित होती हैं, तथापि इनमें से अन्तिम दो ही कारण-स्वरूप होते हैं और पहला उनके द्वारा उद्दीपित भावों का आधार होता है। उदाहरणतः, यदि सीता को पुष्प-वाटिका में प्रातःकालीन वायु का सेवन करते, पुष्पों की सुगन्धि का आनन्द लेते और सखियों से विनोद करते देखकर राम का मन उनकी ओर आकर्षित हो जाता है और उनके मन में प्रेम की लहर दौड़ जाती है तो उस समय सीता आलम्बन, राम आश्रय और वर्णित वातावरण उद्दीपन कहलाएगा, जो राम के हृदय में जाग्रत रति-भाव को उत्कर्ष प्रदान करता है।

आलम्बन विभाव के प्रकार

आलम्बन विभाव ही वास्तविक रसभूमि हैं।[2] यद्यपि रस-भेद के अनुकूल यह भी अनेक प्रकार के होते हैं, किन्तु शृङ्गार रस को ही 'रसराज' स्वीकार कर लेने अथवा उसीको काव्य-विषय बना लेने के परिणाम-स्वरूप हिन्दी के आचार्यों ने संकुचित दृष्टि का परिचय देते हुए केवल शृङ्गार रस के आलम्बनों की ही चर्चा की है। कृपाराम ने कहा है कि जिन्हें रति-पति अवलम्बन करता है, वह आलम्बन कहलाते हैं। यह यौवन, जाति तथा सुरूपतादि गुणों से विभूषित दम्पति ही हो सकते हैं।[3] आचार्य केशव ने 'अतन' के अवलम्ब को ही आलम्बन बताया है।[4] यदि 'अतन' का अर्थ रति-पति लिया जाय, तो केशव की परिभाषा कृपाराम की परिभाषा से भिन्न नहीं रह जाती, किन्तु केशव के टीकाकार सरदार कवीश्वर 'अतन' को सभी रसों का बोधक मानते हैं, केवल शृङ्गार का ही नहीं। तथापि केशव की दृष्टि भी शृङ्गार पर ही टिकी रही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शृङ्गार रस के आलम्बन नायक-नायिका का विशद वर्णन तो प्रायः सभी शास्त्रीय ग्रंथों में उपलब्ध हो जाता है, किन्तु भरत तथा शारदातनय ने पृथक्-पृथक् रसों के आलम्बनों का भी निरूपण किया है। शारदातनय का विचार है कि शृङ्गार रस के आलम्बन मधुर, सुकुमार तथा रूप-यौवन-सम्पन्न तन्वंगी तथा तरुण होते हैं। व्यंग्य, विकृताकार तथा परचेष्टानुकारी व्यक्ति हास्य के,

१. आद्योऽपि द्वेधा—विषयाश्रयभिदात्। यमुद्दिश्य रत्यादिः प्रवर्त्तते सोऽस्य विषयः। आश्रयस्तु तदाधारः। यत्तु तमुद्दीपयति तत् वन-अभ्र-विद्युत्-प्रभृति उद्दीपनम्॥ सा० कौ० पृ० २९।
२. अत्रैवालम्बना भावाः कथ्यन्ते रसभूमयः।—भा० प्र०, पृ० ५।
३. हि० त०, पृ० २।
४. र० प्रि०, पृ० ६८।

त्यागी, सत्य-सम्पन्न, शूरवीर तथा विक्रमशील पुरुष वीर रस के; विचित्र आकृति और वेश, आचार तथा विभ्रम एवं मायालीला-विलासी व्यक्ति अद्भुत रस के; बहुबाहु, बहुमुख, भीमदंष्ट्र तथा क्रूर, उद्धत एवं शठ आदि रौद्र रस के आलम्बन होते हैं। करुण के आलम्बन कृश, विषण्ण, मलिन, रोगी तथा दरिद्र आदि और निन्दित आकृति तथा वेश या आचार वाले या पिशाच आदि बीभत्स रस के आलम्बन होते हैं। इसी प्रकार महारण्य में प्रविष्ट, महान् संग्राम में गये हुए अथवा गुरु तथा राजा के अपराधी लोग भयानक रस के आलम्बन होते हैं।[1]

इन आलम्बनों की कोई सीमा निर्धारित नहीं है। स्वयं नायक-नायिका-भेद वर्णन में आचार्यों ने पर्याप्त कल्पना-प्रयोग से काम लिया है और नवीन-से-नवीन अनेकानेक भेदों की अवतारणा 'हरिऔध' जी तक होती चली आई है। इसी प्रकार अधुनातन काव्य-सामग्री के अध्ययन से सभी रसों के अनेकानेक नवीन आलम्बनों का परिचय प्राप्त हो सकता है। काव्यों में जड़, अमूर्त्त तथा भाव-वाचक आलम्बनों तक की योजना हुई है।

आलम्बन विभावों के समान ही शारदातनय ने प्रत्येक रस के अनुकूल कतिपय विशिष्टताओं के आधार पर उद्दीपन विभावों के आठ भेदों का वर्णन किया है। यथा, १. ललित, २. ललिताभास, ३. स्थिर, ४. चित्र, ५. रूक्ष, ६. खर, ७. निन्दित तथा ८. विकृत। मन को आह्लादित करने वाले तत्तदिन्द्रिय से गोचर होने वाले शृङ्गार रस के उत्कर्षकारक उद्दीपन-विभाव

उद्दीपन विभाव के प्रकार

ललित; हासकारक दृष्ट, श्रुत या स्मृत एवं सूचित विभाव ललिताभास; स्थिरता के प्रदाता एवं वीर रस के उत्कर्षकर्त्ता श्रुत, दृष्ट अथवा स्मृत विभाव स्थिर; हृदय में विचित्रता के अनुभावक और अद्भुत-रस के ऐश्वर्य-विधायक विभाव चित्र; करुण रस के स्थापक रुक्ष या क्लेशदायक और कातरता उत्पन्न करने वाले रौद्र रस के उत्कर्षकर्त्ता विभाव खर कहलाते हैं। जिन्हें देखकर आँखें बन्द कर लेनी पड़ती हैं और जिनकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती वे बीभत्स के उल्लास-कारक विभाव निन्दित एवं इन्द्रिय-स्पर्श मात्र से विकृति-जनक भयानक के विभाव विकृत कहलाते हैं।[2]

इन उद्दीपनों की संख्या नहीं गिनाई जा सकती, तथापि आलम्बनों के समान ही शृङ्गार रस के उद्दीपन विभावों का वर्णन साहित्य-शास्त्र में अवश्य उप-लब्ध होता है। सामान्यतः सखा-सखी, चन्द्र-चन्द्रिका, दूत-दूती, उनके वचन,

१. भा० प्र०, पृ० ५१६।

२. भा० प्र०, पृ० ४१५।

उपवन, षट् ऋतु तथा पुष्प आदि को उनके भेदोपभेद तथा प्रभाव सहित गिनाने में ही समय व्यय किया गया है। इनकी विशेष जानकारी प्रमुख शास्त्रीय ग्रंथों में से किसी से भी हो सकती है। यहाँ ज्ञातव्य यह है कि उद्दीपन के अन्तर्गत मुख्यतः आलम्बन की चेष्टाएँ तथा देश-काल आदि ही आते हैं।[1] इनके क्रमशः चार भेद बताये गये हैं : १. आलम्बन के गुण, २. उसकी चेष्टाएँ, ३. उसका अलंकरण तथा ४. तटस्थ। आलम्बन के गुणों में रूप-यौवन; चेष्टाओं में हाव-भावादि; अलंकरण में नूपुर तथा अंगराग आदि का धारण करना तथा तटस्थ के अन्तर्गत चन्द्र, मलयानिल आदि आते हैं।[2] ध्यान देने से प्रतीत होगा कि इनमें आरम्भ के तीन आलम्बन से अविच्छिन्न हैं और अन्तिम वातावरण अथवा प्रकृति स्वयं है। हिन्दी में पहली बार श्री चिन्तामणि तथा आचार्य केशव ने तटस्थ उद्दीपनों को भी आलम्बनों में ही स्वीकार किया है।[3] इसमें सन्देह नहीं कि काव्य-साहित्य में प्राचीन काल से ही इनको दोनों रूपों में ग्रहण किया जाता रहा है। आधुनिक काल में भी प्रकृति आलम्बन रूप में स्वीकृत हुई है। अन्तर केवल इतना ही है कि जब इसका वर्णन वातावरण-सापेक्ष रूप में होता है तब यह उद्दीपन कहलाने लगते हैं और जब इनका वर्णन निरपेक्ष दृष्टि से केवल इन्हीं का रूप दिखाने के लिए किया जाता है, तब यह आलम्बन का रूप धारण कर लेते हैं। आलम्बन के रूप में यह मूर्त्त चित्र उपस्थित करते हैं और उद्दीपन के रूप में उद्‌बुद्ध भाव को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। इससे कौन इन्कार कर सकता है कि प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र बिम्ब ग्रहण कराने में सहायक सिद्ध होता है। उससे हमें न केवल आनन्द का ही अनुभव होता है, अपितु सृष्टि के प्रसार के साथ हमारी आत्मा का भी प्रसार होता है। अतएव तटस्थ कहे जाने वाले उद्दीपनों को भी आलम्बन के रूप में प्रस्तुत और ग्रहण किया जा सकता है।

उद्दीपनों के सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह देश-काल के

---

१. सा० द०, काणे, पृ० २४।

२. इतरत्कारणजातमुद्दीपन विभावः। स चतुर्विधः। तथा चोक्तं शृंगारतिलके:

आलम्बनगुणश्चैव तच्चेष्टा तदलंकृतिः।
तटस्थश्चेति विज्ञेयश्चतुर्धोद्दीपन क्रमः॥
आलम्बनगुणो रूपयौवनादिरुदाहृतः।
तच्चेष्टा यौवनोद्‌भूत हावभावादिका मताः॥
नूपुरांगदहारादि तदलंकरणं मतम्।
मलयानिल चन्द्राद्यास्तटस्थाः परिकीर्तिताः॥ प्र० रु० यशो०, पृ० १५६।

३. र० प्रि०, पृ० ६६। सरदार कवीश्वर की टीका।

अनुसार प्रभाव डालते हैं। काली आँखें हमारे यहाँ सुन्दर समझी जाती हैं, यूरोप में नहीं। हमारे यहाँ श्यामल केशों का महत्त्व है और यूरोप में सुनहले बालों का। गर्मी में उशीर की शीतलता, नदी का विहार आदि सुखद उद्दीपक माने जाते हैं, किन्तु शीतकाल में यही अपना मोहक प्रभाव छोड़कर हानिकर जान पड़ने लगते हैं। इसी प्रकार एक स्थिति में जो नायिका हमारे हृदय में प्रेम की विकलता उत्पन्न कर देने में समर्थ होती है, वही शोक या विरक्ति की दशा में प्रभाव-शून्य हो जाती है। किसी के शोक में गाया गया करुण गीत भक्ति के प्रवाह में बहकर गाये हुए सम्मोहन राग से भिन्न प्रकार की अनुभूति जाग्रत करता है। अतः कवि को उद्दीपनों की योजना के समय देश-काल तथा स्थिति का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। देश-काल आदि के अनुकूल की गई उद्दीपनों की योजना का प्रभाव अविलम्ब और अखण्ड होगा, अतः काव्य की सफलता के लिए इन पर पूर्ण ध्यान देना चाहिए।

उद्दीपन और देश-काल

अनुभाव तथा हाव

अनुभाव के शाब्दिक और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों में परस्पर भेद है। शाब्दिक अर्थ के अनुकूल अनुभाव शब्द से अभिनयरूप विशेष आंगिक तथा वाचिक ऐसी चेष्टाओं का संकेत मिलता है जो आश्रय के हृदयस्थित भावों के व्यक्त बाह्यरूप होती हैं और सहृदय को उस भाव-विशेष का भावन कराती हैं।[1] भावन करने का अभिप्राय है साक्षात्कार करना अथवा अनुभवगोचर बनाना।[2] इस दृष्टि से कटाक्ष तथा भुजक्षेपादि को अनुभाव माना गया है। किन्तु व्युत्पत्ति के अनुसार ('अनु

अनुभाव का स्वरूप

१. अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्वकृतोऽभिनयः इति अनुभावः।
वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
वागंगोपांगसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥ ना० शा० चौ०, ७।५।

२. (क) अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः।
हेतुकार्यात्मनो सिद्धिस्तयो संव्यवहारतः॥
स्थायिभावान् अनुभावयन्तः सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रस-पोषकारिणः अनुभावाः।—द० रू०, ४।३। तथा—

(ख) स्थायिव्यभिचारिलक्षणं चित्तवृत्तिविशेषं सामाजिकजनोऽनुभवननु-भाव्यते—साक्षात्कार्यते यैस्तैरनुभावैः कटाक्षभुजक्षेपादिभिः।—काव्यानु० पृ० ८८।

पश्चाद् भावः उत्पत्तिः येषाम्' अथवा 'अनु पश्चाद् भावो यस्य सोऽनुभावः') यह स्थायी भाव के जाग्रत होने के पश्चात् उत्पन्न होते हैं, अतः इन्हें कार्य-रूप मानना चाहिए। पहली दृष्टि से यह कारण-रूप होते हैं और दूसरी दृष्टि से कार्य-रूप।[1] यहाँ तक कि रस का अनुभावन कराने की दृष्टि से इन्हें उद्दीपन-विभाव भी कहा जा सकता है।[2]

भरत ने 'वागंगाभिनयेनेह' पंक्ति के द्वारा अनुभाव के वाचिक, आंगिक तथा सात्विक नामक तीन भेदों की ओर संकेत करने के साथ ही 'नाट्यशास्त्र' में भिन्न रसों के अन्तर्गत आने वाले अनुभावों का भी उल्लेख किया है। भानुदत्त ने इनका पृथक् नामकरण करते हुए इन्हें कायिक, मानसिक, आहार्य तथा सात्विक की संज्ञा दी है।[3] सर्वाधिक नवीनता शारदातनय, शिंगभूपाल तथा श्रीमद् रूपगोस्वामी के नामकरण में दिखाई देती है। शारदातनय ने क्रमशः मन आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव तथा बुद्ध्यारम्भानुभाव नाम रखे हैं।[4] और शिंगभूपाल ने मन के स्थान पर चित्तारम्भानुभाव नाम देने के अतिरिक्त शेष सब नामों को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है।[5] श्री रूपगोस्वामी ने अनुभाव के अन्तर्गत अलंकार, उद्भास्वर तथा वाचिक नामक तीन नये नाम स्वीकार किये हैं।[6]

अनुभावों के भेद

१. (क) उद्बुद्धः कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥ सा० द०, काणे, पृ० २४।
(ख) भावानां यानि कार्याणि नाट्यन्ते कुशलैर्नटैः।
अनुभावा हेतवस्ते स्वहेत्वनुभवे यतः॥ सं० र०, ७।१४००।
(ग) स्थायिभावानां यानि कार्यतया प्रसिद्धानि तानि अनुभावशब्देन व्यपदिश्यन्ते। अनु पश्चाद् भावः उत्पत्तिः। येषाम् अनुभावयन्ति इति वा-व्युत्पत्तेः॥ र० गं०, पृ० ३३।
(घ) अनु पश्चाद् भावो यस्य सोऽनुभावः कार्यम्। साहित्यकौमुदी, टीका, पृ० २६।

२. विषयत्वेन् उद्दीपनविभावत्वम्।—र० त०, पृ० ४७।

३. र० त०, पृ० ४६।

४. भा० प्र०, पृ० ६।

५. र० सु०, पृ० ४८।

६. उ० नी०, पृ० २६६।

मानस अनुभावों को मन आरम्भानुभाव तथा कायिक अनुभावों को गात्रा-रम्भानुभाव कहा जाता है। इन दोनों का सम्बन्ध शारदातनय ने स्त्रियों से स्वीकार किया है तथा इनकी अलग-अलग दस-दस संख्या निर्धारित की हैं। मानसानुभाव के अन्तर्गत भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रागल्भ्य, धैर्य तथा औदार्य और गात्रारम्भानुभाव के अन्तर्गत लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित तथा विहृत रखे गए हैं।[1] दोनों लेखकों ने इन दोनों प्रकार के अनु-भावों को सात्विक भी कहा है, किन्तु आचार्यों द्वारा कथित सात्विक भावों से पृथक् रखा है।[2] साहित्यदर्पणकार आदि कुछ लेखकों ने इन्हें नायिकाओं के सात्विक अलंकार मानकर इनके अंगज, अयत्नज तथा स्वाभाविक अलंकार नामक तीन भेद किये हैं। वयःसन्धि के साथ-साथ मुख अथवा शरीर में होने वाले विविध परिवर्तन ही सात्विक अलंकार स्वीकार किए गए हैं। इनमें भाव, हाव तथा हेला तो सीधे-सीधे अंगज अलंकार हैं, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य अयत्नज हैं। गात्रारम्भानुभाव को स्वाभाविक अलंकार भी कहा गया है।

मन तथा मात्रा-रम्भानुभाव

शारदातनय तथा धनंजय ने उक्त गात्रारम्भानुभावों में से शोभा, विलास, माधुर्य, धैर्य, औदार्य तथा ललित को पुरुषों में भी स्वीकार किया है। साथ ही गाम्भीर्य तथा तेज को बढ़ा दिया है। भानुदत्त ने विव्वोक, विच्छित्ति तथा विभ्रम का पौरुषगात्रा-रम्भानुभाव के अन्तर्गत कायिक नाम से उल्लेख किया है। भोज ने 'हेला' तथा 'हाव' को दोनों में स्वीकार किया है और विश्वनाथ अंगज तथा अयत्नज को दोनों में मानते हैं तो हेमचन्द्र समस्त सात्त्विक अलंकारों को दोनों में स्वीकार करते हैं। हमारे विचार से नारी के 'मौग्ध्य' के समानान्तर पुरुष के लिए 'सारल्य' अनुभाव का नाम इस संस्था में और जोड़ लेना उचित होगा।

पौरुषगात्रारम्भा-नुभाव

वाक् द्वारा भाव को प्रकट करने वाले अनुभाव वागारम्भ या वाचिक कहलाते हैं। यह आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश नाम से ११ प्रकार के हैं। चाटूक्ति आलाप है, दुःख-भरे वचन विलाप,

वागारम्भानुभाव

१. भा० प्र०, पृ० ८।१३। र० सु०, पृ० ४८।६५।

२. भा० प्र०, पृ० २०। र० सु०, पृ० ५८।२१५।

व्यर्थ कथन प्रलाप, बार-बार कहना अनुलाप, पूर्वोक्त का अन्यथा-योजन अपलाप, प्रोषित का अपना समाचार भेजना संदेश, प्रस्तुत वस्तु का अन्य अभिधेय से सूचन अति-देश, 'वह यह मैं हूँ' जैसी बात कहना निर्देश, शिक्षा के लिए कुछ कहना उपदेश, एवं 'मैंने कहा' या 'उसने कहा' इस प्रकार का कथन अतिदेश कहलाता है। व्याजपूर्वक आत्माभिलाषकथन व्यपदेश कहलाता है।

बुद्ध्यारम्भानुभाव

बुद्ध्यारम्भानुभाव के अन्तर्गत रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। इनके प्रयोग में बुद्धि-प्रयोग की विशेष आवश्यकता है, अतः इन्हें बुद्ध्यारम्भानुभाव कहा गया है। इन्हें आहार्यानुभाव भी कह सकते हैं।

उद्भास्वरानुभाव

रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में अलंकारों के अन्तर्गत भाव, हाव, हेलादि तथा गात्रारम्भानुभावों के साथ मौग्ध्य तथा चकित नामक दो नवीन अनुभावों की अवतारणा की है तथा वाचिक के अन्तर्गत वागारंभानुभाव गिनाए हैं। उन्होंने नीवीस्रंसन, उत्तरीयस्रंसन, धमिल्लस्रंसन, गात्रमोटन अथवा अंग-भंग पूर्वक काम-प्रदर्शन, जृम्भा तथा घ्राणफुल्लत्व नामक उद्भास्वर अनुभावों का वर्णन करते हुए बताया है कि यह भाव के समान ही जनदेह से सम्बन्ध रखते हैं और इनका अन्तर्भाव मोट्टायित तथा विलास में किया जा सकता है, किन्तु शोभा-विशेष के कारण ही इन्हें पृथक् रूप से कह दिया गया है।[1] हमारा मत है कि ऐसे अनेकानेक भेद करना उचित नहीं, शास्त्र का अध्ययन करने वाला विद्यार्थी इनकी ऊहा भी कर सकता है।

सात्त्विक अलंकार

पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि विद्वानों ने प्रायः अनुभावों के अन्तर्गत स्त्रियों तथा पुरुषों के सात्त्विक अलंकारों की भी गणना कर ली है। सबसे पहले भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में सामान्याभिनय (अध्याय २४) के अन्तर्गत इनका वर्णन किया था। इसी प्रकरण में उन्होंने आलाप, प्रलाप आदि का भी अभिनयात्मक अलंकार के नाम से वर्णन किया है। स्त्रियों के २० सात्त्विक अलंकारों को भरत ने १. अंगज, २. अयत्नज तथा ३. स्वभावज नाम से तीन भागों में विभाजित किया है। बाद में दशरूपक आदि कई ग्रन्थों में इसी विभाजन को स्वीकार किया गया है। अंगज अलंकारों में भाव, हाव तथा हेला, अयत्नज में शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य एवं स्वभावज में लीला आदि को ग्रहण किया गया। परवर्ती लेखकों में से कितनों

१. पृ० ३२०, श्लोक ७०। उ० नी०

ने इनकी संख्या में परिवर्द्धन किया और विभाजन भी नये ढंग से रखा। उदाहरणतः, भोज ने अयत्नज अलंकार तो छोड़ ही दिये, अंगज के अन्तर्गत केवल दो को ही ग्रहण किया। उन्होंने स्वभावजों में क्रीड़ित तथा केलि को जोड़ दिया है। शारदातनय सभी को सात्त्विक मानने के पक्ष में नहीं हैं। वह केवल तीनों अंगज तथा सातों अयत्नज अलंकारों को मानस या सात्त्विक मानते हैं और स्वभावज को शारीर मानते हैं। क्रीड़ित तथा केलि इन्हें भी स्वीकार हैं। भानुदत्त स्वभावजों को 'हाव' नाम देते हैं और उन्हें शारीर (लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम तथा ललित), आन्तर (मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, विहृत) तथा उभय या संकीर्ण (किलकिंचित्) भेदों में बाँटते हैं। शारदातनय तथा शिंगभूपाल बीसों को चित्तज आदि भेदों में बाँटते हैं, यह पहले ही बताया गया है। विद्यानाथ ने शोभा, कान्ति, दीप्ति, औदार्य तथा प्रगल्भता को अस्वीकृत करके कुतूहल, चकित तथा हास नये नाम जोड़ दिये हैं तो विश्वनाथ ने इन तीन नये अलंकारों के साथ मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, केलि को और जोड़कर कुल संख्या २८ कर दी है। रूपगोस्वामी ने भी मौग्ध्य तथा चकित का उल्लेख किया है।

हिन्दी में हावों के नाम से इनका विचार किया जाता रहा है। नन्ददास ने अंगजों में रति को बढ़ा दिया है। केशव ने हेला, मद और बोध को स्वभावजों में ही परिगणित किया है और १३ हावों को नायक-नायिका दोनों से संबद्ध माना है। बिहारीलाल भट्ट ने इनका विभाजन अन्तरंग और बहिरंग नाम से किया है। कुछ लेखकों ने बोधक, मद, आहार्य, तपन, मौग्ध्य और विक्षेप को भी अलंकारों में सम्मिलित कर लिया है। कुछ और लेखकों ने उद्दीपक और आहार्य को भी अलंकार माना है। इस प्रकार हिन्दी में मुख्यतः रति, बोधक, उद्दीपक और आहार्य नये नाम दिखाई देते हैं।

ऊपर दिये गए विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन आचार्यों ने अनुभावों के अन्तर्गत ही अलंकारों की गणना की है और हाव भी अनुभाव में अन्तर्भूत कर लिये हैं। इतना ही नहीं, ये अलंकार स्त्री-पुरुष सभी में माने गए हैं। अतः अलंकार के अन्तर्गत आने के साथ-साथ हाव भी स्त्री-पुरुष दोनों से सम्बन्ध रखने वाले सिद्ध हुए। स्त्री तथा पुरुष एक-दूसरे के आश्रय तथा आलम्बन हैं। अतः इनका दोनों से सम्बन्ध होने का तात्पर्य है आश्रय तथा आलम्बन से सम्बन्ध होना। किन्तु स्व० आचार्य शुक्ल ने 'तुलसीदास की भावुकता' पाठ के अन्तर्गत इनका सम्बन्ध केवल आलम्बन

अनुभाव तथा आश्रय की चेष्टाएँ

से माना है। ऐसा मानकर उन्होंने हावों को अनुभाव के क्षेत्र से अलग कर दिया है :

बहुरि बदन-बिधु अंचल ढाँकी । पिय-तन चितै भौंह करि बाँकी ।।
खंजन मंजु तिरीछै नैननि । निज पति कहैउ तिन्हहिं सिय सैननि ।।

तुलसीदासजी द्वारा वर्णित इस प्रसंग को लेकर शुक्लजी ने विस्तार से जो कुछ कहा है उसे यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा : "सीता में ये चेष्टाएँ अपने साथ राम के सम्बन्ध की भावना द्वारा उत्पन्न दिखाई पड़ती हैं। यदि राम-सीता के परस्पर व्यवहार में ये चेष्टाएँ दिखाई जातीं तो 'संभोग-शृङ्गार' का खुला वर्णन हो जाता।"

"अब प्रश्न यह है कि ये चेष्टाएँ 'अनुभाव' होंगी या विभावान्तर्गत 'हाव'। हिन्दी के लक्षण-ग्रन्थों में 'हाव' प्रायः 'अनुभाव' के अन्तर्गत रखे मिलते हैं। पर यह ठीक नहीं है। 'अनुभाव' के अन्तर्गत केवल आश्रय की चेष्टाएँ ही आ सकती हैं। 'आश्रय' की चेष्टाओं का उद्देश्य किसी भाव की व्यंजना करना होता है। पर 'हावों' का सन्निवेश किसी भाव की व्यंजना कराने के लिए नहीं होता, बल्कि नायिका का मोहक प्रभाव बढ़ाने के लिए, अर्थात् उसकी रमणीयता की वृद्धि के लिए होता है। जिसकी रमणीयता या चित्ताकर्षकता का वर्णन या विधान किया जाता है, वह आलम्बन होता है। अतः 'हाव' नामक चेष्टाएँ आलम्बनगत ही मानी जायँगी और आलम्बनगत होने के कारण उनका स्थान 'विभाव' के अन्तर्गत ठहरता है।"[१]

"लक्षण के अनुसार 'संभोगेच्छा-प्रकाशक भ्रू-नेत्रादि-विकार' ही 'हाव' कहलाते हैं। पर सीताजी के विकार इस प्रकार के नहीं है। वे विकार राम के साथ अपने सम्बन्ध की भावना से उत्पन्न हैं और उनके प्रति प्रेम की व्यंजना करते हैं। इस प्रकार आश्रय की चेष्टाएँ होने के कारण वे विकार अनुभाव ही होंगे।"[२]

शुक्लजी द्वारा प्रतिपादित मत का संक्षेप यह है कि :

१. आश्रय मात्र की चेष्टाएँ ही अनुभाव के अन्तर्गत आती हैं;
२. 'हाव' मोहक प्रभाव अथवा रमणीयता बढ़ाने के लिए होते हैं, अतः उनका सम्बन्ध आलम्बन से है;
३. उक्त प्रसंग में सीता राम के साथ अपने सम्बन्ध की भावना के आधार

१. Agra University Selections in Hindi Prose, 2nd Edition, पृ० ६४।
२. वही, पृ० ६४।

पर वैसा व्यवहार कर रही हैं। अतः राम आलम्बन हैं, सीता आश्रय;

४. सीता आश्रय हैं, अतः उनके ये व्यवहार राम के चित्त में संभोग का भाव नहीं जगाते;

५. यहाँ संभोग-शृङ्गार न होने से सीता के ये व्यवहार उद्दीपक न होकर अनुभाव-मात्र हैं।

इस विषय पर शुक्लजी से मतभेद प्रकट करते हुए स्व० पं० रामदहिन मिश्र का कथन है: "ऐसे स्थानों में इस प्रकार की शंका ही व्यर्थ है। क्योंकि सीताजी की ये चेष्टाएँ राम के उद्देश्य से नहीं, ग्रामीण स्त्रियों के समाधान के लिए की गई हैं। यहाँ नायक-नायिका का शृंगार-वर्णन ही नहीं है।"[१]

" 'हाव' अनुभाव के अन्तर्गत ही है और यही ठीक है। हिन्दी-लक्षण-ग्रन्थों में ही नहीं, संस्कृत के आकर-ग्रन्थों में भी यही बात है। अंगज अलंकारों में 'हाव' की गणना है, और ये अलंकार अनुभाव ही हैं। यौवन के उक्त अट्ठाईस अलंकारों में यह आ जाता है। रस-उद्दीपक आलम्बन की चेष्टाएँ उद्दीपन कहलाती हैं। पर हाव इस प्रकार का नहीं होता, क्योंकि वह कार्य-रूप है, कारण-रूप नहीं है। इससे विभाव के अन्तर्गत 'हाव' की गणना नहीं की जा सकती। यहाँ सीता के आंगिक विकार अनुभाव ही हैं, जिनकी गणना विहृत और औदार्य में की जा सकती है, हाव में नहीं, क्योंकि भ्रू-नेत्रादि का विकार संभोगेच्छा-प्रकाशक नहीं है।"[२]

संक्षेप में मिश्रजी का विचार यह है कि:

१. सीताजी की ये चेष्टाएँ ग्रामीण स्त्रियों के उद्देश्य से प्रकट हुई हैं।

२. यहाँ शृंगार रस का वर्णन नहीं किया गया है। शृंगार रस से यहाँ अभिप्राय संभोगेच्छा को दृष्टि में रखकर ही ग्रहण करना चाहिए;

३. 'हाव' रसोद्दीपक चेष्टा का नाम नहीं है;

४. 'हाव' को अनुभाव ही मानना चाहिए। सीता के विकार अनुभाव ही हैं;

५. इनकी गणना विहृत तथा औदार्य में की जा सकती है।

तुलना करने पर स्पष्ट हो जायगा कि दोनों विद्वानों के मत से यह संभोग का उदाहरण नहीं है। दोनों ही इन आंगिक विकारों को अनुभाव मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि शुक्लजी भानुदत्त का अनुसरण कर रहे हैं और मिश्रजी 'हाव' नामक अकेले नायिकालंकार पर दृष्टि जमाये हुए हैं। यहीं गड़बड़ी है। मिश्रजी इन चेष्टाओं को 'विहृत' तथा 'औदार्य' के अन्तर्गत तो रखते हैं, परन्तु

---

१. का० द०, पृ० ८३।

२. वही।

उन्हें 'हाव' नहीं मानते। भानुदत्त ने लीला-विलासादि को 'हाव' शीर्षक के अन्तर्गत स्वीकार किया है, जिसके अन्तर्गत 'विहृत' तथा 'औदार्य' भी आ जाते हैं। शुक्लजी का अभिप्राय उसी 'हाव' से है, जबकि मिश्रजी 'हाव'-विशेष की ही बात कर रहे हैं। अतः मूल रूप में दोनों ही लेखक हाव को स्वीकार कर रहे हैं। उलझन है तो इतनी ही कि हाव-सामान्य को अनुभाव कहा जाय और उनका सम्बन्ध आश्रय से स्वीकार किया जाय अथवा नहीं? प्रश्न है कि यदि हम उन्हें आश्रय से सम्बन्धित न मानें तो क्या उन्हें आलम्बन से सम्बन्धित मानकर उद्दीपन के रूप में स्वीकार कर सकते हैं? हम समझते हैं इस प्रश्न का एक-मात्र समाधान भानुदत्त का अनुसरण करते हुए यही हो सकता है कि आलम्बन हो चाहे आश्रय, दोनों में ये चेष्टाएँ अनुभाव ही बनकर उपस्थित होती हैं, किन्तु आलम्बन के अनुभाव आश्रय में स्थायी भाव को विशेष रूप से उद्दीप्त करने में सहायक होते हैं, अतएव उस समय ये अनुभाव भी विषय बन जाने से उद्दीपन की श्रेणी में पहुँच जाते हैं। पृथक्ता-बोध के लिए ही दो नामों का सहारा लिया गया है, अन्यथा हम इन्हें 'उद्दीप्त' तथा 'उद्दीपक अनुभाव' ही कहना उपयुक्त समझते हैं। संभवतः, शुक्लजी को भी यही मान्य था।

सात्त्विक भाव

भरत मुनि ने ४६ भावों की परिगणना में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरसाद अथवा स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय नामक आठ भावों को पृथक् रूप से सात्त्विक संज्ञा दी है। उनका कथन है कि समाहित मन से सत्व की निष्पत्ति होती है। मन के समाहित हुए बिना रोमांच आदि स्वाभाविक रूप से उत्पन्न नहीं हो सकते। उदाहरणतः, दुःख तथा सुख की वास्तविकता के बिना रोदन-रूप दुःख तथा हर्ष-रूप सुख कोई प्रकट नहीं कर सकता।[1] 'दशरूपक'[2], 'प्रतापरुद्रीयम्'[3]

स्वरूप-निरूपण

१. ना० शा०, चौ०, पृ० ६५।

२. सत्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।—द० रू०, पृ० १२४। तथा परगतदुःखसहर्षादि भावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्वं।
वही, पृ० १२५।

३. परगतसुखादिभावनामावितान्तःकरणत्वं सत्वम्। ततो भवाः सात्विकाः।
प्र० रु०, पृ० १५६।

तथा 'रसरत्नप्रदीपिका'[1] में भी भरत के इस मत का समर्थन किया गया है। शिंगभूपाल[2] तथा शारदातनय[3] ने यह स्वीकार करते हुए कि सभी भाव सत्वज होते हैं इसलिए सभी को साधारणतः सात्विक कहा जा सकता है, यह स्वीकार कर लिया है कि सात्त्विक कहकर इन आठ भावों को पृथक् कर देने का कारण यही है कि इनका सत्व-मात्र से ही सम्बन्ध होता है। इस सत्व को जहाँ भरत मुनि मन की समाहित अवस्था मानते हैं, वहाँ भोजराज[4] इसे सत्वगुण से सम्बन्धित मानकर इसका प्रयोग सत्वगुणयुक्त मन के लिए करते हैं। उनके विचार से भी सात्त्विक भाव भाव की श्रेणी में ही उपस्थित होते हैं। किन्तु 'शृंगार-प्रकाश' (पृ० ३५४-५, भाग २) में वह सम्पूर्ण ४६ भावों को मनःप्रभव मानकर सबको सात्त्विक कहने लगते हैं। (देखें, 'राघवन प्रबंध', पृ० ४५१) । 'शृंगार-प्रकाश' में भोज ने सात्त्विकों को बाह्य व्यभिचारी भी है। (तत्र आभ्यन्तरा व्यभिचारिषु चिन्तौत्सुक्यावेगवितर्कादयः, बाह्याः स्वेद-रोमांचाश्रुवैवर्ण्यादयः।—उद्धृत न० आवर०, पृ० १५६)। अभिनवगुप्त ने भी इन्हें बाह्य बताया है। (बाह्याश्च वाष्प प्रभृतयः)। अ० भा० प्र० भाग, पृ० ३४३।

सत्वगुण तथा मानसिकता पर ज़ोर देने के अतिरिक्त सत्व के सम्बन्ध में और भी कई प्रकार के विचार प्रकट किये गए हैं। कुमारस्वामी ने अन्य विद्वानों का मत समझाते हुए कहा कि सत्व ऐसी विशिष्ट सामर्थ्य वाला होता है कि वह दूसरे किसी की सहायता के बिना भी रसानुभव करा सकता है। उसीसे सम्बन्ध

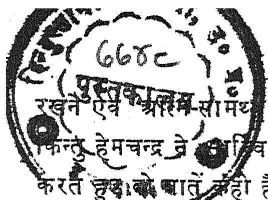
---

१. यद्यपि एते यथा संभवं सर्वेषु रसेषु व्यभिचरन्ति तथापि व्यभिचारित्वमनादृत्य सत्वमात्रसंभवा भवन्ति इति सात्विका इति भिन्नतया गणिताः। तच्च सत्वं परगतदुःखादिभावनायां अत्यन्तानुकूलान्तः करणत्वं मनः प्रभावः। तेन सत्वेन वृत्ताः सात्विकाः।—र० र० प्र०, पृ० १०।

२. सर्वेऽपि सत्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्विकाः।
तथाप्यमीषां सत्वैकमूलत्वात् सात्विकप्रथा ॥ र० सु० १।३१०

३. भावनामपि सर्वेषां यैः स्वसत्ताविभाव्यते।
ते भावाः सत्वजन्मानः सात्विकाः इति दर्शिताः ॥ भा० प्र०, पृ० ३८।
तत्र नीलादयो भावा यद्यपि स्युर्न सात्विकाः।
छत्रिणां गतिवत्तेऽपि तल्लिगत्वेन सात्विकाः ॥ वही, पृ० ६।

४. रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते।
निवृत्तेऽस्य तद्योगात्प्रभवन्तीति सात्विकाः ॥ स० क०, ५।२०।


६६४८ पुस्तकालय

रखने एवं आत्म-सामर्थ्य के कारण इन भावों को सात्त्विक कहा जाता है।[१] किन्तु हेमचन्द्र ने सात्त्विक शब्द के सम्बन्ध में नितान्त नवीन विचार प्रस्तुत करते हुए दो बातें कही हैं। एक तो उन्होंने इनकी तुलना व्यभिचारी भावों से की है और यह बताया है कि ग्लानि, आलस्य, श्रम तथा मूर्च्छा आदि कुछ ऐसे व्यभिचारी हैं जो बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं, जबकि सात्त्विक भाव सदैव आन्तर होते हैं। इसलिए सात्त्विक भाव एक प्रकार से व्यभिचारी भावों से श्रेष्ठ हैं। इनका रसों, विशेषकर शृङ्गार रस, से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि रसों के विभाव ही इनके भी विभाव होते हैं। इन्हें भी अनुभाव ही व्यक्त करते हैं, अतः ये स्वयं अनुभाव नहीं हैं।[२] दूसरे, 'सत्व' शब्द का अर्थ है 'प्राण'। 'स्थायी' प्राण तक पहुँचकर दूसरा रूप धारण कर लेते हैं, जो 'सात्त्विक भाव' कहलाता है।[३] प्राण में पृथ्वी का भाग प्रधान हो जाने पर स्तम्भ, जल प्रधान होने पर अश्रु, तेज प्रधान होने पर स्वेद, तेज के तीव्रता-शून्य होकर प्रधान होने पर वैवर्ण्य, आकाश का भाग प्रधान होने पर प्रलय, वायु के मन्द, मध्य तथा उत्कृष्ट आवेश से क्रमशः रोमांच, कम्प तथा स्वरभंग होता है। शरीर-धर्म स्तम्भादि बाह्य अनुभाव ही इन आन्तरिक स्तम्भादि की व्यंजना करते हैं।[४]

हेमचन्द्र की इस नवीन दृष्टि से जहाँ उनका झुकाव इस बात की ओर दीख पड़ता है कि सात्त्विक भाव आन्तर होते हैं और उन्हें भाव ही कहना चाहिए वहाँ यह भी विदित होता है कि उनके लक्षण अनुभावों से भी मिलते हैं। स्वयं भरत भी इन्हें सात्त्विकाभिनय के अन्तर्गत रखते दिखाई देते हैं और विश्वनाथ कविराज[५],

१. केचित्—भावान्तरनैरपेक्ष्येण रसापरोक्षीकरणतत्वलक्षणोबलविशेषः सत्वम्। तज्जन्याः सात्विका इत्याहुः।—रत्नापणटीका, प्र० रु०, पृ० १६०।

२. ते च प्राणभूमिप्रसरत्यादिसंवेदनवृत्तयो बाह्यजड़रूपभौतिकनेत्रजलादि-विलक्षणाविभावेन रत्यादिगतेनैवातिचर्वणागोचरेणाहृता अनुभावैश्च गम्यमाना भावा भवन्ति।—काव्यानु०, पृ० १४४-५।

३. सीदत्यस्मिन्मन इति व्युत्पत्तेः सत्वगुणोत्कर्षात्साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्वम्, तत्र भवाः सात्विकाः।—वही, पृ० १४४। तथा—रत्यादयश्चित्त-वृत्ति विशेषाः पूर्वं संविद्रूपाः समुल्लसन्ति। तत आभ्यन्तरप्राणान् ते स्वरूपाध्यासेन कलुषयन्ति।—टीका, पृ० १४४।

४. काव्यानु०, पृ० १४५-६।

५. सा० द०, ३।१३४-५।

रामचन्द्र गुणचन्द्र[1] तथा भानुदत्त[2] तीनों ही इन्हें अनुभाव मानते हैं। विश्वनाथ ने सत्त्व को 'स्वात्मविश्राम' अर्थात् रस का प्रकाश माना है। 'सत्व' आन्तर धर्म है और इसीसे सात्त्विक भाव प्रकट होते हैं, अतः ये भी आन्तर धर्म ही हैं। तथापि रस के प्रकाशक होने के कारण ये अनुभाव की श्रेणी में आते हैं, केवल 'गोबलीवर्दन्याय' का सहारा लेकर इनका पृथक् वर्णन किया गया है। भानुदत्त ने हेमचन्द्र के समान ही व्यभिचारी भावों से इनकी तुलना करते हुए कहा है कि जिस प्रकार सात्त्विकों के सम्बन्ध में सुख-दुःखादि की अनुकूलता बताई जाती है, उसी प्रकार निर्वेदादि भी अनुकूलता लक्षण वाले होते हैं। अतएव यदि इन लक्षणों को मानेंगे तो उन्हें भी सात्त्विक ही कहना पड़ेगा। 'सत्व' शब्द प्राणीवाचक है, अतः इसका अर्थ है, 'जीवशरीर'। जीवशरीर के धर्म ही सात्त्विक कहलायँगे। अतएव यह शारीर अथवा बाह्य मात्र हैं, आन्तर नहीं। इसी कारण इन्हें भाव नहीं मानना चाहिए। तथापि नितान्त शारीरिक 'अक्षिमर्दन' आदि से भेद दिखाने के लिए सात्त्विक के लिए 'चेष्टा' और अक्षिमर्दन आदि के लिए 'विकार' शब्द का प्रयोग करते हैं।[3]

१. अनुभावयन्ति परस्थाननवबोधयन्तित्यनुभावाः स्तम्भस्वेदाश्रु-रोमांच-भ्रूक्षेपादयस्तैर्यथासम्भवं सत्तया निश्चयः।—ना० द०, पृ० १६०। तथा—अथवा तत्रानुलिंगनिश्चयात् पश्चाद् भावयन्ति गमयन्ति लिंगिनं रसमित्यनुभावाः स्तम्भादयः।—वही, पृ० १६२।

२. नन्वस्य सात्त्विकत्वं, व्यभिचारित्वं न कुतः, सकलरससाधारण्यादिति चेत्। अत्र केचित् सत्वं नाम परगतदुःखभावनायामत्यन्ताऽनुकूलत्वम्, तेन सत्वेन घृता सात्त्विका इति व्यभिचारित्वमनादृत्य सात्त्विकव्यपदेश इति। तन्न, निर्वेदस्मतिप्रभृतीनामपि सात्त्विकव्यपदेशापत्तेः न च परदुःखभावनायामष्टावैते समुत्पद्यन्त इत्यनुकूल शब्दार्थः। अतएव सात्त्विकत्वमप्येतेषामिति वाच्यम्। निर्वेदादेरपि परदुःखभावनायामप्युत्पत्तेरिति।

अत्रेदं प्रतिभाति—सत्वशब्दस्य प्राणिवाचकत्वादत्र सत्वं जीवशरीरम्। तस्य धर्माः सात्त्विकाः। इत्थं च शारीरभावाःस्तम्भादयः सात्त्विकभावा इत्यभिभिधीयन्ते। स्थायिनो व्यभिचारिणश्च भावा आन्तरतया न शरीरधर्मा इति।—र० त०, पृ० ५७-५८।

३. न चाङ्गाकृष्टिनेत्रमर्दनादीनामपि भावत्वापत्तिः। तेषां भावलक्षणाभावात्। रसानुकूलो विकारो भाव इति हि तल्लक्षणम्। अङ्गाकृष्टादयो हि न विकाराः। किन्तु शरीरचेष्टाः। प्रत्यक्षसिद्धमेतत्। अङ्गाकृष्टिरक्षिमर्दनं च पुरुषैरिच्छया विधीयते परित्यजेत च। जृम्भा च विकारादेव भवति, तन्निवृत्तौ निवर्तते चेति।—र० त०, पृ० ६६।

डॉ० राकेश गुप्त ने सात्त्विकों को भाव मानने का विरोध करते हुए दो आपत्तियाँ की हैं। एक यह कि यदि सात्त्विक भाव आन्तर होते हैं, तो इन्हें अन्य भावों से उत्पन्न या उन पर निर्भर नहीं मानना चाहिए। दूसरे, भरत ने सत्व को मनःप्रभव-मात्र कहा है, उसे उसका धर्म नहीं माना है। अतः इन्हें इन दोनों दृष्टियों से अनुभाव माना जा सकता है। (सा० स्ट० र०, पृ० १५६-५७)

उक्त आपत्तियों में भानुदत्त तथा डॉ० गुप्त की ओर से की गई आपत्तियाँ ही विशेष विचारणीय हैं। इन दोनों में भी भानुदत्त तो सात्त्विकों को भाव भी मानते हैं और अनुभाव भी। भानुदत्त की अनुकूलता-सम्बन्धी आपत्ति का उत्तर तो सीधे-सीधे यह दिया जा सकता है कि व्यभिचारी भावों में श्रम, आलस्य आदि का प्रदर्शन मन के समाहित हुए बिना भी किया जा सकता है। उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो प्रयत्न-साध्य हैं और मन के समाहित हुए बिना प्रदर्शित किये जा सकते हैं, किन्तु सात्त्विक प्रयत्नसाध्य नहीं होते। रोमांच या स्वेदाश्रु आदि को प्रयत्नपूर्वक न तो प्रकट ही किया जा सकता है, और न उन्हें दबाया ही जा सकता है। अतएव इन्हें व्यभिचारी भावों तथा अनुभावों से पृथक् नाम देना ही उचित होगा।

डॉ० गुप्त की प्रथम आपत्ति के सम्बन्ध में, हम समझते हैं, इतना कहना पर्याप्त होगा कि व्यभिचारी भाव भी स्थायी भावों पर आश्रित रहते हैं, फिर भी उन्हें भाव की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार यदि सात्त्विक भी दूसरे भावों पर निर्भर करते हैं तो उन्हें भाव कहने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। 'प्रलय' सात्त्विक को भी स्वयं उन्होंने तो अनुभावों से पृथक् ही रखा है (सा० स्ट० र०, पृ० १५७)। साथ ही समाहित मानसिक दशा की स्वीकृति तथा भोज आदि द्वारा सत्व-गुण की स्वीकृति सत्त्व को धर्म प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। सात्त्विकों का उससे सम्बन्ध मानने पर डॉ० गुप्त की आपत्ति निरर्थक सिद्ध हो जाती है।

इतना होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से इस विचार का तिरस्कार नहीं किया जा सकता कि इन सात्त्विकों का प्रकटीकरण केवल शरीर की क्रियाओं द्वारा ही हो पाता है। यद्यपि ये मूल रूप में मन की दशा के द्योतक हैं, तथापि बाह्य प्रकटीकरण के रूप में ये अनुभाव दिखाई देते हैं। प्रायः सभी आचार्यों ने इसे स्वीकार किया है।

नवीन सात्त्विक

भानुदत्त ने 'जृम्भा' नामक नवीन सात्त्विक की कल्पना की है और डॉ० गुप्त ने 'मुख का आरक्त होना', 'नेत्रों का लाल हो जाना' नामक नवीन सात्त्विकों के नाम और गिनाए

हैं। यहाँ हम उनकी यौक्तिकता के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

अन्य सात्त्विकों से जृम्भा की तुलना करके भानुदत्त ने इसको महत्त्व तो अवश्य प्रदान किया है, परन्तु इसकी परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है। अश्रु के समान ही जँभाई दो प्रकार की हो सकती है—एक वायु-सम्भूत और दूसरी विकार-सम्भूत। उनका विचार है कि यदि इसे अनुभाव माना जाय तो भी सात्त्विक भाव कहने से इसे कोई रोक नहीं सकता, क्योंकि पुलकादि को दोनों के अन्तर्गत रखा जाता है। अतः जृम्भा को भी दोनों माना जा सकता है।[1] किन्तु, हम इससे सहमत नहीं हैं। जृम्भा को हम भावान्तर्गत स्वीकार नहीं कर सकते। क्योंकि सात्त्विकों के समान यह कारण के उपस्थित होते ही या उसके साथ-साथ ही प्रकट नहीं होता। सात्त्विकों की विशेषता है कि विभाव के देखते ही ये आप-से-आप उमड़ पड़ते हैं। सिंह को देखते ही स्तम्भ, स्वेद, वेपथु में से कोई भी एकदम प्रकट हो सकता है। 'जृम्भा' के सम्बन्ध में यह नियम स्वीकार्य नहीं है। यदि इसे सात्त्विक माना जाय, तो इससे पहले निःश्वास, उच्छ्वास, अंग-संकोच तथा उबकाई को भी सात्त्विक भाव मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि किसी दुःखकारक सूचना को पाते ही अथवा स्मरण करते ही निःश्वास तथा उच्छ्वास प्रकट हो जाते हैं और इनका प्रदर्शन भी किया जा सकता है। इसी प्रकार अंग-संकोच किसी भयप्रद विभाव को देखते ही उत्पन्न होता है और उबकाई बीभत्स दृश्य को देखते ही आती है। यदि निःश्वास तथा उच्छ्वास को वायु-परिपोष रूप जृम्भा के ही अन्तर्गत मान लें, अर्थात् यह कहें कि जृम्भा के स्थान पर वायुपरिपोष ही सात्त्विक है और उसके ये तीन भेद हैं, तो फिर स्वेद तथा अश्रु को भी सलिलोद्‌गम शब्द से ही क्यों न प्रकट कर दिया जाय? वस्तुतः आलस्य का द्योतक अनुभाव जृम्भा है। उसे सात्त्विक नहीं मानना चाहिए। एक बात और है, सात्त्विक भावों को व्यक्ति प्रयत्नपूर्वक नष्ट नहीं कर सकता और न उसके प्रकट होने में ही बाधा उपस्थित कर सकता है—ये अबाध हैं, परन्तु 'जृम्भा' अबाध नहीं है। अधिकतर सभ्य समाज में इसे प्रकट करना बुरा और अरुचि का द्योतक समझा जाता है, अतः इससे बचा ही जाता है। इसे दबाया जा सकता है। इष्टवियोग की बात को जो गोपनीय रखना चाहते हैं, वे भी निःश्वास तथा उच्छ्वास को सफलतापूर्वक दबा लेते हैं। अतः इनको भी सात्त्विक नहीं मानना चाहिए। निःश्वासोच्छ्वास को आडम्बर वाला व्यक्ति कृत्रिम रूप में भी प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार उबकाई भी

१. सत्यनुभावत्वे भावत्वविरोधात् पुलकादीनां तथा दृष्टत्वात्।

—र० त०, पृ० ६८।

दबा ली जाती है, अतः वह भी सात्त्विक भावों में नहीं रखी जायगी। अंग-संकोच और अक्षि-मर्दन के विषय में तो भानुदत्त का भी यही विचार है कि इन दोनों पर भाव का लक्षण ('रसानुकूलो विकारो भावः') घटित नहीं होता। अतएव वे भाव न होकर शारीर-चेष्टाएँ मात्र हैं। ये दोनों मनुष्य की स्वेच्छा पर निर्भर हैं। जब चाहते हैं वैसा करते हैं, जब नहीं चाहते नहीं करते।

इसी प्रकार डॉ० गुप्त द्वारा कल्पित पूर्वकथित सात्त्विक वस्तुतः सात्त्विक न होकर उपरिलिखित कारणों से केवल अनुभाव की ही श्रेणी में आते हैं, सात्त्विकों के मुख्य लक्षणों से नहीं मिलते। इस प्रकार भानुदत्त तथा डॉ० गुप्त द्वारा नियोजित नवीन सात्त्विकों की कल्पना कपोल-कल्पना-मात्र सिद्ध होती है।

व्यभिचारी भाव

व्यभिचारी भावों का दूसरा नाम संचारी भाव भी है। व्यभिचारी शब्द में 'वि'+'अभि'+'चर्' उपसर्ग तथा धातु का योग दीख पड़ता है। 'वि' विविधता का, 'अभि' आभिमुख्य का और 'चर्' संचरण का द्योतक है। अतएव वाक्, अंग तथा सत्वादि द्वारा विविध प्रकार के, रसानुकूल संचरण करने वाले भावों को व्यभिचारी अथवा संचारी-भाव कहते हैं।[1]

संचारी या व्यभिचारी भाव का लक्षण

भरत की इस परिभाषा में 'संचरण' शब्द का प्रयोग 'आनयन' अर्थात् 'ले आने' के अर्थ में हुआ है। उन्होंने स्वयं ही 'चरन्ति नयन्तीत्यर्थः' पंक्ति द्वारा इस अर्थ को स्पष्ट कर दिया है। अतएव व्यभिचारी भाव स्थायी भाव के परि-पोषक तथा उन्हें रसावस्था तक पहुँचाने वाले होते हैं। अस्थिरता भी उनका एक विशेष गुण है।[2]

भरत ने कहा है कि 'आनयन' का अर्थ यह न समझना चाहिए कि जिस प्रकार किसी को कन्धे पर रखकर या किसी की बाहु पकड़कर उसे लाया जाता है, वैसे ही संचारी भाव स्थायी भाव को लाते हैं; बल्कि उसका तात्पर्य वस्तुतः यह है कि जिस प्रकार सूर्य दिन को लाता है, उसी प्रकार संचारी भी स्थायी

१. वि अभि इत्येतावुपसर्गों। चर गतौ धातुः। धात्वर्थ वागंगसत्वोपेतान् विवि-धमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। ना० शा०, चौ०, पृ० ८४।

२. दीपयन्तः प्रवर्त्तन्ते ये पुनः स्थायिनं रसम्।
ते तु संचारिणो ज्ञेयास्ते न स्थायित्वमागताः॥

अ० भा० १, अ० ७, पृ० ३७६।

भाव का 'आनयन' करते हैं। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार सूर्योदय के साथ-साथ दिन हो जाता है, उसी प्रकार विभावादि के कारण संचारी के उदय होते ही स्थायी भाव स्वत: प्रकट हो जाते हैं, स्वतः उनका प्रकाश फैल जाता है।[1]

भरत द्वारा कथित 'विविधं आभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः' पंक्ति का एक दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है। कहा जा सकता है कि 'व्यभिचारी' संज्ञा उन भावों को दी जायगी जो विविध प्रकार के रसों की अनुभूति के समय प्रेक्षक के अभिमुख—सम्मुख—प्रस्तुत हो जाते हैं, अर्थात् रसानुभूति के समय प्रेक्षक को इनका प्रत्यक्ष होता है, यद्यपि ये मानसिक स्थिति-मात्र हैं, किन्तु उसकी सूचना स्थित्यनुकूल किये गए वागंगादि अभिनय के प्रदर्शन से मिलती रहती है, अतएव इनका साक्षात्कार होता रहता है।

दशरूपककार ने भरत की परिभाषा को स्वीकार करते हुए जहाँ यह कहा कि विशेष रूप से अभिमुख होकर संचार करने के कारण भाव व्यभिचारी कहे जाते हैं; वहाँ उन्होंने यह भी कहा कि स्थायी भाव तथा संचारी भावों का परस्पर ऐसा सम्बन्ध है, जैसा वारिधि के साथ कल्लोल का सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार तरंगें वारिधि में उठती और निर्मग्न होती रहती हैं, वैसे ही स्थायी भाव रूपी वारिधि में संचारी भाव-रूपी तरंगें उठती और मग्न होती रहती हैं। स्थायी के अनुकूल ही संचारी भावों का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है।[2] अतएव स्थायी ही प्रमुख हैं। संचारी उनके सहायक-मात्र कहे जा सकते हैं। काव्यप्रकाशकार ने तो इन्हें स्पष्टत: स्थायी भाव का सहकारी कहा भी है।[3] विश्वनाथ तथा शिंगभूपाल ने दशरूपक की उक्ति को ही ग्रहण कर लिया है।[4]

---

१. कथं नयन्ति ? उच्यते—यथा सूर्य इदं नक्षत्रममुं वासरं नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते। किं तु लोकप्रसिद्धमेतत्। यथायं सूर्यो नक्षत्रमिदं वा नयतीति एवमेते व्यभिचारिण इत्यवगन्तव्याः।

ना० शा० चौ०, पृ० ८४।

२. विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥ द० रू०, ४।७।

३ कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च। तथा
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।

का० प्रकाश, ४।२७-२८। सू० ४३।

४. सा० द०, ३।१४० तथा र०सु० २।३।

रसार्णवसुधाकर[1] तथा साहित्यकौमुदी[2] के लेखकों ने संचारी भाव को भावों का संचालक, गतिकर्त्ता; और रसप्रदीपकार ने उन्हें स्थायी का उपकारक, गतिकर्त्ता एवं अचिर बताकर भरत के लक्षण की ही पुष्टि की है।[3] हेमचन्द्र द्वारा कथित 'स्थायीधर्मोपजीवनेन' तथा 'स्वधर्मार्पणेन' का तात्पर्य भी स्थायी के प्रति संचारी की उपकारकता तथा तद्गतता ही है।[4] शारदातनय ने भी संचारी को 'अनवस्थित जन्मवाला' तथा स्थायी के अनुकूल माना है और दशरूपक की उक्ति को ज्यों-का-त्यों उद्धृत किया है।

सारांश यह कि संचारी की दो परिभाषाएँ साहित्य-शास्त्रियों के बीच मिला-जुलाकर स्वीकृति पाती रही हैं—एक, भरत की परिभाषा और दूसरी धनंजय की। मूलतः संचारी के तीन ही लक्षण हैं: (१) संचारी भाव स्थायी भाव को दीपित करते हैं, उनके उपकारक हैं। वे स्थायी भाव को रस दशा तक पहुँचाते हैं, इसीसे उन्हें व्यभिचारी कहते हैं। (२) स्थायी के साथ उनका सम्बन्ध वारिधि तथा कल्लोल का-सा है। उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। (३) इसीसे उन्हें अचिर, अनवस्थित जन्म वाला तथा संचारी भी कहते हैं, अर्थात् स्थायी न रह पाना उनका विशेष गुण है।

क्या संचारी भाव का स्थायी भाव के रूप में परिवर्तन संभव है

संचारी को अनवस्थित और अचिर मानते हुए भी प्राचीन आचार्यों ने यह कहा है कि संचारी भाव स्थायी भाव के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं। उनका विचार है कि भाव-मात्र रस-दशा को प्राप्त हो सकते हैं। वर्गीकरण केवल सरलता की दृष्टि से किया जाता है। भरत ने स्वयं 'जुगुप्सा' को संचारी होने में असमर्थ बताकर मानो इस बात को स्वीकार किया है कि उसके अतिरिक्त भाव परिवर्तित हो सकते हैं। भोजराज ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'ग्लानि' आदि भी पर-प्रकर्ष को पहुँच सकते हैं।[5]

---

१. र० सु० २।१-२।

२. संचारयति भावस्य गतिमिति संचारी। विशेषेण आभिमुख्येन स्थायिनं प्रति चरति इति व्यभिचारी। सा० कौ०, ४।७।

३. ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिनं रसमुत्तमम्।
उपकृत्य च गच्छन्ति ते मता व्यभिचारिणः॥ र० प्र०, पृ० १८।

४. विविधं आभिमुख्येन स्थायीधर्मोपजीवनेन स्वधर्मार्पणेन च चरन्तीति व्यभिचारिणः। काव्यानु०, पृ० ८६।

५. ग्लान्यादयोऽपि हि श्रमादिभिः परं प्रकर्षम् आरोप्यन्ते। शृं० प्र०, रा०, पृ० ४५०।

वे हर्षादि में भी विभावादि संयोग को विद्यमान मानते हैं।[1] अतः कभी कोई भाव स्थायी हो जाता है और कभी संचारी। सबको संचारी और सबको स्थायी कहा जा सकता है।[2] भोज ने 'शम' तथा 'गर्व' संचारी के आधार पर 'शान्त' तथा 'उद्धत' रसों की निष्पत्ति मानी है और इस प्रकार इन संचारियों को भी स्थायी भाव बन सकने में समर्थ बताया है। इसी प्रकार वह 'स्नेह' नामक नए संचारी को प्रस्तुत करके 'प्रेयो रस' की सिद्धि भी स्वीकार करते हैं और 'स्नेह' का स्थायी रूप में परिवर्तन मानते हैं। उनके द्वारा कल्पित 'उदात्त रस' में 'मति' संचारी ही स्थायी भाव के रूप में गृहीत हुआ है।[3] भोज से पूर्व रुद्रभट्ट[4] तथा रुद्रट[5] इसी बात का समर्थन कर चुके थे। भट्ट-लोल्लट ने भी व्यभिचारी भावों को परस्पर एक-दूसरे का व्यभिचारी हो सकने में समर्थ मानकर इसी बात की पुष्टि की है[6] और भावों को अनन्त माना है।[7] यहाँ तक कि स्वयं अभिनव गुप्त ने इन सभी भावों को परस्पर परिवर्तनीय माना है।[8]

उदाहरण के लिए निद्रा, सुप्त तथा मद संचारियों को लिया जाय। इन तीनों के सम्बन्ध में निःशंक भाव से कहा जा सकता है कि ये स्थायी के रूप में प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। जहाँ किसी प्रकार की क्रियात्मकता नहीं है, वहाँ स्थायी भाव का समावेश नहीं होता। उक्त अवस्थाएँ विश्रान्ति की अवस्थाएँ हैं, अतः ये केवल संचारी ही हो सकती हैं। इसी प्रकार जिस 'ग्लानि' को

१. **हर्षादिष्वपि विभावानुभावव्यभिचारी संयोगस्य विद्यमानत्वात्। वही।**
२. **रत्यादीनामेकोनपंचाशतोऽपि विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता। वही।**
३. **रतौ संचारिणः सर्वान् गर्वस्नेहौ धृतिं मतिम्।**
स्थास्नूनेवोद्धत प्रेयशान्तोदात्तेषु जानते॥ स० क०, ५।२३।
४. **त्रयस्त्रिंशदिमे भावाः प्रयान्ति च रसस्थितिम्। शृं० ति० १।१४**
५. **निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः। काव्यालंकार**
६. **अन्ये तु...इति व्यभिचारिणामपि च व्यभिचारिणो भवन्ति। यथा निर्वेदस्य चिन्ता, श्रमस्य निर्वेद इत्यादि निरूपयन्ति।**
अ० भा०, भा० १, पृ० ३४५।
७. एतावन्त एव च रसा इत्युक्तं पूर्वम्। तेन आनन्त्येऽपि पार्षदप्रसिद्ध्या एतावतामेव प्रयोज्यत्वमिति यद् भट्टलोल्लटेन निरूपितं तदवलेपेन अपरामृश्येत्यलम्। वही, पृ० २९६।
८. भावानां सर्वेषामेव स्थायित्व संचारित्व-चित्ततत्ताजत्व अनुभावत्वानि योग्यतोपनिपतितानि शब्दार्थबलाकृष्टानि अनुजानाति। वही, पृ० ३३४।

भोजराज स्थायी मानने के लिए तैयार हैं, क्या वह स्थायी हो सकता है ? भरत मुनि के शब्दों में कहें तो उत्तर होगा, 'नहीं' । भरत का कथन है कि यदि हम कहें कि 'अमुक ग्लानि है', तो तुरन्त प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों है ? किन्तु यदि हम कहें कि 'राम उत्साहित है', तो कोई ऐसा प्रश्न नहीं करेगा कि ऐसा क्यों है ? अभिप्राय यह कि प्रथम अवस्था में उसके किसी कारण की अनिवार्यता का संकेत मिलता है, अर्थात् वह अमुक वस्तु को खोजते-खोजते थक गया, पर वह उसे नहीं मिली, अतः वह ग्लानि का अनुभव कर रहा है । दूसरे उदाहरण में इस प्रकार के किसी उत्तर की आवश्यकता नहीं रहती । अथवा यों कहें कि पहली अवस्था से तो वियोग, शृङ्गार, भयानक अथवा शान्त रस की ओर ध्यान जाता है, क्योंकि ग्लानि होगी तो प्रिय के न मिलने से होगी अथवा अपने दुष्कर्मों से होगी। वैसी दशा में उक्त रसों में से किसी एक का ध्यान ही प्रधान हो जाता है, अर्थात् ग्लानि केवल इनकी सहायता-मात्र करती है । स्वयं प्रधान होकर स्थायी रूप धारण नहीं करती । इसी प्रकार निद्रा, सुप्ति तथा मद भी अन्यमुखापेक्षी-मात्र होने से संचारी-मात्र ही रह जाते हैं । रस-दशा को प्राप्त होने के लिए भाव का प्रधान होना आवश्यक है। अप्रधानता उसमें बाधक सिद्ध होती है । अप्रधान होने पर वहाँ मन नहीं टिक सकता।[1] हर्ष के सम्बन्ध में तो भोज ने भी अन्यत्र स्वीकार कर लिया है कि वह संयोग शृङ्गार का सुखात्मक संचारी-मात्र है ।[2] उससे किसी आनन्द रस की कल्पना नहीं करनी चाहिए । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि संचारी का स्थायी रूप में परिवर्तन संभाव्य नहीं है ।

उपरिलिखित उदाहरणों से इस बात की पुष्टि होते हुए भी कि संचारी-स्थायी नहीं हो सकते, साहित्य में ऐसे उदाहरणों को खोजा जा सकता है जिनसे संचारी को स्थायी के रूप में मान्यता दी जा सके और यह कहा जा सके कि कभी-कभी कुछ संचारी भाव अवश्य ही दूसरे संचारी भावों के स्थायी हो जाते हैं । यथा, 'रामचरितमानस' के उस समय के दृश्य की कल्पना कीजिए जब किसी भी राजा के द्वारा धनुष-भंग न होने पर जनकजी ने इस धरा के वीर-विहीन हो जाने की घोषणा कर दी। ऐसे वचन सुनकर रघुवंशी लक्ष्मण के गर्व को ठेस लगी और

---

१. अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति । तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मनि अविश्रान्तित्वात् । अतो अप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे, व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेन अन्यमुखप्रेक्षिणि । तदतिरिक्त स्थाय्येव चर्वणापात्रम् । अ० भा० १, पृ० २८१ ।

२. अत्र कस्याश्चित्—मानवत्याः प्रियदर्शनालम्बनविभावादुत्पन्ने प्रकृष्टरतिप्रभवे प्रहर्षस्थायि—आनन्दरसतामापद्यमाने । शृं० प्र० २, पृ० ३९४ ।

प्रतिक्रियास्वरूप अमर्षपूर्वक उन्होंने जो कुछ कहा उसका वर्णन तुलसी ने निम्न पंक्तियों में किया है, जिनमें गर्व अमर्ष का संचारी होकर आया है :

> भाखे लखन कुटिल भई भौंहें । रदपुट फरकत नयन रिसौंहें ॥
> रघुवंसिन मँह जँह कोउ होई । तेई समाज अस कहहि न कोई ॥

इसी प्रकार निम्न छन्द में जड़ता मोह के संचारी के रूप में आया है :

> दूलह श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं ।
> गावत गीत सबै मिलि सुन्दरि वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ाहीं ॥
> राम को रूप निहारति जानकी कंचन के नग की परछाहीं ।
> याते सबै सुधि भूलि गई कर टेक रही पल टारत नाहीं ॥

इस छन्द में 'पल टारत नाहीं' के द्वारा जड़ता और 'सुधि भूलि गई' के द्वारा मोह संचारी की व्यंजना है । जड़ता मोह संचारी का भी संचारी बन कर आया है, अतः मोह को स्थायी कहा जा सकता है । रघुनाथजी आलम्बन, उनका दूलह रूप उद्दीपन, राम के रूप को निहारना अनुभाव है । यों तो मोह तथा जड़ता दोनों ही रति के संचारी हैं, किन्तु जड़ता का सीधा सम्बन्ध मोह से है । अतः मोह को स्थायी पद प्राप्त होता है । सारांश यह कि व्यभिचारियों में सभी स्थायी रूप में परिवर्तित होने में भले ही समर्थ न हों, किन्तु कुछ अवश्य स्थायी-जैसी प्रधानता ग्रहण कर लेते हैं । उनका सम्बन्ध भी किसी-न-किसी मौलिक स्थायी से बना रहता है । अतः यह शंका न करनी चाहिए कि संचारी स्थायित्व को प्राप्त होकर रस-दशा को भी प्राप्त हो सकते हैं । वे किसी-न-किसी स्थायी पर अवलम्बित रहते ही हैं ।

साधारणतः संचारियों की संख्या तैंतीस मानी गई है, किन्तु यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि उस संख्या की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती ।

संचारियों की संख्या नवीन कल्पनाएँ

स्वीकृत ३३ संचारी क्रमशः इस प्रकार हैं : निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेश, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, सुप्ति, अपस्मार, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, वितर्क, व्याधि, उन्माद, त्रास तथा मरण ।

व्यभिचारी भावों की संख्या में परिवर्तन के बहुत-से प्रयत्न संस्कृत-काल से लेकर आज तक होते रहे हैं । सात्त्विक अलंकार, सात्त्विक भाव, समस्त अनुभाव तथा कामदशाओं तक को व्यभिचारी भाव में परिवर्तनीय मान लिया गया है । भोज ने स्पष्टतः सात्त्विक भावों को बाह्य व्यभिचारी भाव कहा है । (तत्र आभ्यन्तरा व्यभिचारिषु चित्तौत्सुक्यावेगवितर्कादयः बाह्याः स्वेदरोमांचाश्रुवैवर्ण्य-

दयः । शृं० प्र० ११)। उन्होंने अपस्मार एवं मरण को न मानकर उनके स्थान पर ईर्ष्या तथा शम को रखना उचित समझा, परन्तु स० क० में स्नेह तथा धृति को स्वीकार किया। हेमचन्द्र ने दम्भ, उद्वेग, क्षुत, तृष्णा और रामचन्द्र गुणचन्द्र ने]त, तृष्णा, मैत्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, अरति, सन्तोष, क्षमा, मार्दव, आर्जव था दाक्षिण्य आदि को संचारी स्वीकार किया है। 'अग्निपुराण' में निद्रा, सुप्त ा मरण को छोड़ दिया गया है और शम को व्यभिचारी भाव बताते हुए कुल व्यभिचारी भाव बताए हैं (३३९ : २२-३४)। सागरनन्दी त्रास तथा भय को पर्यवाची मानते हैं। उन्होंने त्रास को भयानक का स्थायी भाव माना है। 'सुप्त' छोड़कर उन्होंने एक 'शौच' नामक नए व्यभिचारी भाव का उल्लेख किया है भानुदत्त ने कामदशाओं को व्यभिचारी मानने के साथ ही 'छल' नामक संरी की कल्पना की है। भानुदत्त के अनुसार नायिका के दस स्वभावज अलरों में से मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक तथा विहृत आन्तर विकार के रूप में वे किलकिंचित् उभयात्मक होने के कारण व्यभिचारी भाव माने जायँगे (६३१ पृ०)। कामदशाओं में से अभिलाष, गुणकथन तथा प्रलाप क्रमशः औत्थ, स्मृति तथा उन्माद में अन्तर्भुक्त मान ली गई हैं (५।१०६ पृ०)। वस्तु 'गर्वाभिमान सम्भूतो नादरात्मा विव्वोकः' तथा 'निभृनभूयोदर्शनस्पृहा मोट्टायम्' लक्षणों के अनुसार इन्हें क्रमशः गर्व तथा औत्सुक्य में अन्तर्भुक्त मान ते हैं। विहृत भी औत्सुक्य के अन्तर्गत आता है और किलकिंचित् स्वयमेनेक श्रमाभिलाषादि संचारियों का समाहार है। कुट्टमित संचारी नहीं है। गोस्वामी ने 'हरिभक्ति रसामृत सिंधु' (पृ० २६६) में ३३ व्यभिचारियों के अरिक्त मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैव्य, क्षमा, कुतुक, उत्कंठाविनय, संशय तथा धाष्ट्र्य नामक १३ नवीन व्यभिचारी और गिनाए हैं। पि वहीं उनका अन्तर्भाव भी पुराने व्यभिचारियों में सिद्ध किया है। असूया मात्सर्य, त्रास में उद्वेग, दम्भ अवहित्था में, ईर्ष्या अमर्ष में, विवेक तथा नि मति में, क्लैव्य दैन्य में, कुतुक तथा उत्कण्ठा औत्सुक्य में, विनय लज्जा मेंशय तर्क में, धाष्ट्र्य चपलता में अन्तर्भूत हो सकता है। उन्होंने रसों के अन्तर्गभी इसी प्रकार कतिपय नवीन नाम लिये हैं।

हिन्दमें देवकवि ने संचारियों को शारीर तथा आन्तर नामक भेद में विभक्त क केवल भोज का ही अनुकरण किया है। देव ने उन्हींके समान सात्त्विक ों को शारीरिक और निर्वेद आदि को आन्तर बताया है। वितर्क जैसे संचा के विभेद करने में भी वे मौलिकता प्रदर्शित नहीं कर सके और सीधे-सीधे दत्त-कृत भेदों का उल्लेख करके रह गए हैं। आधुनिक काल में

स्व० आचार्य शुक्ल ने 'तुलसीदास की भावुकता' शीर्षक के अन्तर्गत चकपकाहट, उदासीनता, क्षोभ तथा अनिश्चय को तथा 'रसमीमांसा' के पृष्ठ २१५-२१६ पर आशा, नैराश्य तथा विस्मृति और पृष्ठ २२७ पर अधैर्य तथा संतोष एवं पृष्ठ २२८ पर असन्तोष तथा चपलता को संचारियों में स्वीकार किया है। स्व० श्री रामदहिन मिश्र ने भी 'काव्य दर्पण' में आशा, निराशा, पश्चात्ताप, विश्वास तथा दया-दाक्षिण्य को संचारियों में गिनने का समर्थन किया है। आचार्य शुक्ल ने 'रस मीमांसा' में व्यभिचारी भावों के चार प्रकार निर्धारित किये हैं :

१. सुखात्मक—गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, आशा, मद, सन्तोष, चपलता, मृदुलता, धैर्य।
२. दु:खात्मक—लज्जा, असूया, अमर्ष, अवहित्था, त्रास, विषाद, शंका, चिन्ता, नैराश्य, उग्रता, मोह, आलस्य, उन्माद, असन्तोष, ग्लानि, अपस्मार, मरण तथा व्याधि।
३. उभयात्मक—आवेग, स्मृति, विस्मृति, दैन्य, जड़ता, स्वप्न, चिंचलता।
४. उदासीन—वितर्क, मति, श्रम, निद्रा, विबोध।

इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में उनका कथन है—"सुखात्मक भावों के साथ सुखात्मक संचारी और दु:खात्मक भावों के साथ दु:खात्मक संचारी ऊपर अविरुद्ध होंगे। इसी प्रकार सुखात्मक भाव के साथ दु:खात्मक संचारी और दु:खात्मक के साथ सुखात्मक संचारी विरुद्ध होंगे। उभयात्मक संचारी सुखात्मक भी हो सकते हैं और दु:खात्मक भी; जैसे, आवेग हर्ष में भी हो सकता और भय आदि में भी। भाव के साथ जो विरोध कहा गया है वह जातिगत है अर्थात् सजातीय-विजातीय का विरोध है। इसके अतिरिक्त आश्रयगत और विषयगत विरोध जिस भाव या वेग से होगा वह संचारी हो ही नहीं सकता; जैसे क्रोध के बीच-बीच में आलंबन के प्रति यदि शंका, त्रास या दया आदि मनोविकार प्रकट होते हुए कहे जायँ तो उनसे क्रोध की पुष्टि न होगी। यही बात युद्धोत्साह के बीच त्रास आने से होगी। अतः ये मनोविकार क्रोध और उत्साह के संचारी नहीं हो सकते।" (र० मी० पृ० २१६)। अतः भाव के विषय और प्रवृत्ति से न हटाने वाला मनोविकार ही भाव की पुष्टि करेगा।

इस प्रयत्न के साथ-साथ ही इन संचारियों के पुराने ३३ संचारियों में अन्तर्भाव का प्रयत्न भी किया जाता रहा है। उदाहरणतः, शिंगभूपाल ने भ, स्नेह ईर्ष्या तथा उद्वेग को पुराने संचारियों के अन्तर्गत ही कहीं-न-कहीं रखा है।[१]

१. र० सु०, पृ० १३९।

वह तथा हेमचन्द्र[2] प्रतारणा-रूप दम्भ को अवहित्था संचारी ही मानते हैं। उद्वेग को भी दोनों ही निर्वेद में अन्तर्भूत कर लेते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा विचार इनसे भिन्न है। हम समझते हैं कि दम्भ अवहित्था की अपेक्षा गर्व के अधिक निकट है, क्योंकि दम्भ में लज्जा कारण नहीं होती, किन्तु अवहित्था में होती है। साधारण व्यवहार में दम्भ को गर्व का पर्याय माना ही गया है। इसी प्रकार उद्वेग का अन्तर्भाव त्रास में उपयोगी रहेगा। उद्वेग व्याकुलता का नाम है, जब कि निर्वेद में शान्ति की प्रधानता रहती है, व्याकुलता की नहीं। स्नेह का अन्तर्भाव हर्ष में हो सकता है, क्योंकि दोनों के अनुभाव एक ही प्रकार के बताए गए हैं। ईर्ष्या अमर्ष तथा असूया दोनों के अन्तर्गत आ सकती है। स्वसम्बन्ध के कारण वह अमर्ष के और परविषयता के कारण असूया के अन्तर्गत मानी जानी चाहिए।

हेमचन्द्र ने क्षुत तथा तृष्णा को, जिन्हें रामचन्द्रगुणचन्द्र ने भी संचारी माना है, ग्लानि के अन्तर्गत रखा है। रामचन्द्र द्वारा कथित मैत्री तथा मुदिता को हम हर्ष ही मानते हैं। उपेक्षा गर्व का ही एक रूप है, अतः वह उसीके अन्तर्गत आती है। अरति निर्वेद अथवा ग्लानि के अन्तर्गत प्रसंगानुकूल अनुभावों को देखकर रखी जा सकती है और दया को नवीन संचारी स्वीकार करके मार्दव, आर्जव तथा दाक्षिण्य को उसके अन्तर्गत रखा जा सकता है, क्योंकि ये तीनों ही दया के समान व्यक्ति-विशेष की अन्य लोगों से श्रेष्ठता और उसके हृदय के करुणा-मिश्रित राग को प्रकट करते हैं। यदि उग्रता को संचारी स्वीकार किया जाता है तो दया को, जो वीर रस में काम भी आती है, स्वीकार कर लेने में कोई हानि नहीं है। इसका विस्तार करुण तथा वीर दोनों रसों तक है। इसी प्रकार श्रद्धा को भक्तिरस का संचारी मानना चाहिए। किन्तु हमारा विचार है कि आशा तथा निराशा को क्रमशः चिन्ता तथा विषाद के अन्तर्गत स्वीकार किया जा सकता है। 'प्रसादजी' ने 'कामायनी' में 'बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता' सबको पर्याय ही कहा है। अतएव व्यग्रतापूर्वक आशा होने पर उसे चिन्ता तथा विवेकपूर्वक आशा को मति कह सकते हैं। निराशा कष्टकारक होने के कारण विषाद के लक्षणों से मिलती है। पश्चात्ताप शान्त रस में विशेष कार्य करता है, और अपने किये हुए पर सोच-सोचकर दुखी होना और अपने को हीन मानना ही इसका लक्षण है। अतएव जब यह विरक्ति-उत्पन्न दिखाई देता हो, तब इसे निर्वेद स्थायी का संचारी कहेंगे और जब यह मन में विनम्रता जाग्रत करके केवल अपनी हीनता प्रदर्शित कराता है, तब भक्तिरस का संचारी होगा। विश्वास एक प्रकार से अपनी शक्ति तथा धैर्य का द्योतक होने के कारण धृति

२. काव्यानु०, पृ० १२६।

के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार लक्षणों की समानता के आधार पर मात्सर्य को असूया में और धृष्टता को चपलता में अन्तर्भूत माना जा सकता है, तथापि रौद्र रस में धृष्टता चपलता से भिन्न स्वभाव वाली हो जायगी। वहाँ वह असूया और अमर्ष की सहायक बन जायगी। अतएव इसे अलग ही स्वीकार करना होगा। शुक्लजी द्वारा कथित चकपकाहट को आवेग में, उदासीनता को निर्वेद में और अनिश्चय को शंका में, लक्षणों की समानता के कारण अन्तर्भूत कर सकते हैं। सन्तोष तथा असन्तोष क्रमशः धृति तथा वितर्क के अन्तर्गत समा सकने पर भी भक्तिरस में विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे, अतः स्वीकार्य हैं। इसी प्रकार यद्यपि सरलता बहुत कुछ मौग्ध्य अलंकार के समान है, किन्तु भक्तिरस में प्रभु के सम्मुख अपने हृदय को खोलकर रख देना भी सरलता ही है। अतः इसे भी संचारी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु छल नामक संचारी को हम अवहित्थ से पृथक् नहीं मानते। भानुदत्त के अनुसार गुप्तक्रिया-सम्पादन का नाम ही छल है। इसके अनुभाव, वक्रोक्ति, निरन्तर स्मित तथा देखते रहना है और इसकी उत्पत्ति अपमान, कुचेष्टा अथवा प्रतीप से होती है।[1] अवहित्था लज्जा, भय, पराजय, गौरव, धृष्टता, कुटिलता तथा हर्ष के कारण उदय होती है। अतएव इसके अन्तर्गत छल के सभी विभाव आ जाते हैं। हमारा विचार है कि ऐसे स्थल जहाँ किसी मित्र को छकाना ही उद्देश्य हो और दोनों के बीच प्रेम-व्यवहार में कोई कमी न आती हो वहाँ भी अवहित्था को ही स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ भी मूल में या तो अपना गौरव काम करता है या हर्ष। छल के समस्त लक्षण अवहित्था में मिल जाते हैं।

उक्त विवेचन द्वारा यद्यपि यह प्रमाणित किया जा सकता है कि नवीन संचारियों में प्रायः सभी का किन्हीं-न-किन्हीं पुराने संचारियों में अन्तर्भाव मान लिया जा सकता है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि इस प्रकार संचारियों की सीमा निश्चित कर देना न तो अन्तर्दृष्टि का परिचायक हो सकता है, न रसों की दृष्टि से उपयोगी ही। वस्तुतः प्रत्येक भाव अथवा स्थिति में कुछ-न-कुछ प्रभाव का अन्तर तो बना ही रहता है, एक ही शब्द के अनेक पर्याय भी प्रायः सूक्ष्म अर्थों में पृथक् ही होते हैं। इसी प्रकार उक्त नवीन संचारियों में भी पुराने संचारियों से किसी-न-किसी अंश में अन्तर रह ही जाता है। उदाहरणतः, दया में जो प्रभुत्व है वही मार्दव तथा आर्जव में नहीं है। पहले में स्वभाव का द्योतन होते हुए भी शक्ति या सामर्थ्य का भी बोध होता है और अन्य दो में केवल स्वाभाविक विनम्रता अथवा सज्जनता का पता चलता है। इसी प्रकार आशा में आत्म-विश्वास,

१. र० त०, पृ० ११०–१११।

उत्साह, औत्सुक्य और चिन्ता का मिश्रण होता है, केवल चिन्ता का ही नहीं। निराशा भी दैन्य, मोह, निर्वेद, विषाद तथा ग्लानि में पृथक्-पृथक् रूप धारण कर सकती है। अभिप्राय यह है कि प्रसंगानुसार अभी अनेक नवीन संचारी भावों की कल्पना के लिए मार्ग खुला हुआ है। सूक्ष्मतम विचार के अनुकूल इनकी संख्या में अभिवृद्धि भी हो सकती है; बल्कि हमारा विचार तो यह है कि इनकी कोई सीमा निर्धारित करना हितकर नहीं है। इस प्रकार का प्रयत्न केवल पथ-निर्देश के लिए समझना चाहिए। इन्हें ढूंढ निकालना काव्य-पारखियों के लिए कठिन नहीं है, अतएव हमने उदाहरणों से काम नहीं लिया है।

स्थायी भाव

स्वरूप-निरूपण

हृदय में वासना रूप में संस्थित, अन्य भावों द्वारा किसी प्रकार भी न दबने वाले, प्रधान, विरोधी-अविरोधी भावों को अन्तर्हित करके आत्म-भाव प्राप्त करा सकने वाले, चिरकाल अथवा आप्रबन्ध स्थायी रहने वाले आस्वाद-योग्य मनोभावों को स्थायी भाव कहते हैं।

स्थायी भावों की वासना-रूपता के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने सबसे पहली बार विचार किया है। सभी प्राणियों में विद्यमान इस चित्त-वृत्ति से शून्य तो कोई भी नहीं है। साथ ही यह जन्म से प्राणी में रहती है, क्योंकि संस्कार-रूप है।[1] अभिनव की इस विचार-धारा को परवर्ती शास्त्रों में स्वीकृति मिली। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने अपनी परिभाषा में उन्हींका अनुकरण करते हुए जिस परिभाषा का परिपालन किया, उसकी व्याख्या में वामन झलकीकर ने स्थायी भाव के अतिसूक्ष्म रूप तथा अविच्छिन्न प्रवाह की ओर भी ध्यान आकर्षित किया।[2] स्थायी की प्रधानता का बोध स्वयं भरत मुनि ने करा दिया था। जिस प्रकार मनुष्यों में नृपति तथा शिष्यों में गुरु की प्रतिष्ठा की जाती है, उनकी आज्ञा का पालन किया जाता है, उनकी सेवा की जाती है और सहायता के लिए प्रस्तुत रहा जाता है, उसी प्रकार भावों में स्थायी भाव भी सर्वश्रेष्ठ होते हैं और

१. (अ) जात एव हि जन्तुरियतीभिः संविद्भिः परीतो भवति।

अ० भा०, पृ० २८२।

(ब) न हि एतच्चित्तवृत्ति वासनाशून्यः प्राणी भवति।

वही, पृ० २८२।

(स) वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेन उक्तत्वात्। वही, पृ० २८३।

२. का० प्र०, पृ० ८६।

अन्य भाव उनके साथ प्रजा-नृपति तथा शिष्य-गुरु का सम्बन्ध रखते है।[१] सुराजा के समान प्रतिष्ठित यदि कोई भाव है, तो स्थायी भाव ही है।[२] इसकी प्रधानता का कारण यही है कि यह अपने विरोधी-अविरोधी किसी भी भाव से नष्ट नहीं होता।[३] यह दूसरे को दबा तो लेता है, किन्तु किसी से दबता नहीं।[४] अन्य भाव इसके गुण-स्वरूप होकर ही रह पाते हैं। ये उन्हें अपने में इस प्रकार घुला-मिला लेते हैं, जैसे सिन्धु भिन्न-भिन्न सरिताओं के मधुर जल को अपने में मिलाकर उसे लोना बना लेता है।[५] बड़ी बात यह है कि ये चिरकाल तक चित्त में अवस्थित रहते हैं, रसत्व को प्राप्त होते हैं[६] और आप्रबन्ध रहने के कारण ही इन्हें स्थायी की संज्ञा दी गई है।[७] अविच्छिन्न प्रवाह ही इनकी विशेषता है।[८] अन्य भावों से इनका सम्बन्ध स्रक्-सूत्र सम्बन्ध-जैसा है।[९] यही वास्तविक आनन्द के प्रदाता कहे गए हैं।[१०]

इस प्रकार विचार करने पर साहित्य-शास्त्रों में कथित स्थायी भाव की निम्न विशेषताएँ मानी जा सकती हैं—१. स्थायी भाव जन्म-जात हैं और समस्त प्राणियों में वासनात्मक रूप से इनकी विद्यमानता स्वीकार्य है। २. स्थायी भाव मनोविकारों में सर्वप्रधान होते हैं। सजातीय अथवा विजातीय भाव इन्हें तिरो-हित नहीं कर सकते। ये स्वयं दूसरे भावों को अपने में अन्तर्हित कर लेते हैं, अन्य भावों को अपने वशवर्ती कर लेते हैं। ३. इनमें चिरकाल-स्थायित्व, आ-प्रबन्ध-स्थायित्व अथवा अविच्छिन्नप्रवाहमयता होती है। ४. ये चर्वणा-योग्य हैं, आनन्ददायी हैं।

१. यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्व भावानां भावः स्थायी महानिह॥ ना० शा०, ७।८।
२. सुराजेव विराजेत सः स्थायी भाव उच्यते। सा० कौ०, ४।७।
३. द० रू०, ४।३४। सा० द०, ३।१७४। र० गं०, पृ० ३१।
४. र० त०, पृ० २।
५. आत्मभावं नयत्यन्यान् सः स्थायी लवणाकरः। द० रू०, पृ० ४।३४।
६. चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते संबध्यन्तेऽनुबन्धिभिः।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते॥ स० क०, ५।१६
७. तत्र आप्रबन्धं स्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्। र० गं०, पृ० ३०।
८. अविच्छिन्नप्रवाहाः स्थायिभावाः। का० प्र०, झलकीकर टीका, पृ० ८६
९. स्रक्सूत्रवृत्या भावानामन्येषामनुगामकः।
न तिरोधीयते स्थायीतैरसौ पुष्यते परम्॥ सा० द० टीका, काणे, पृ०
१०. आनन्दांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः। सा० द० ३।१७४।

कुछ विद्वानों ने स्थायी भावों की पूर्वोक्त इन विशेषताओं से प्रायः मिलती-जुलती पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया है। ये अवस्थाएँ क्रमशः (१) आस्वाद्यत्व, (२) उत्कटत्व, (३) सर्वजनसुलभत्व, (४) पुरुषार्थोपयोगित्व, तथा (५) उचित विषय-निष्ठत्व या औचित्य हैं। इनमें से प्रथम तीन मात्र विशेषताएँ क्रमशः पूर्वोक्त चतुर्थ, द्वितीय तथा प्रथम विशेषताओं के नामान्तर हैं। पुरुषार्थोपयोगिता तथा उचित विषय-निष्ठत्व नामक विशेषताएँ काव्य में चित्रित उनके स्वरूप की उपयोगिता पर निर्भर हैं। काव्य को चतुर्वर्ग का साधक मानने के कारण इन्हें भी पुरुषार्थोपयोगी मान लिया गया है। अभिनव गुप्त ने स्पष्ट कहा है—"स्थायिभाव एव तथा चर्वणापात्र मात्र पुरुषार्थ निष्ठाः काश्चित्संविद् इति।" इसी प्रकार इन्हें उत्कट रूप में आस्वाद्य बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनका प्रयोग पूर्ण औचित्य के साथ उपयुक्त आलम्बन के प्रति किया जाय। अनौचित्य उपस्थित होते ही रसाभास आ उपस्थित होता है।

इन पाँचों विशेषताओं का ध्यान रखकर स्थायी भाव को उद्बुद्ध करने की चेष्टा करने पर ही रस-चर्वणा सम्भावित है। जहाँ इनमें से कोई एक विशेषता भी छूटी कि रस-परिपाक में बाधा उपस्थित हुई। उदाहरणतः, यदि सर्वजन-सुलभत्व से ही काम चल जाता तो व्यभिचारी भाव भी रस-परिपाक में पूर्ण समर्थ माने जाते, किन्तु उनमें उत्कटत्व न होने से उन्हें वह महत्त्व नहीं दिया जाता।

स्थायी भावों का संचारित्व

स्थायी भावों का भी संचारी भावों में उसी प्रकार परिवर्तन स्वीकार किया गया है जैसे संचारी भाव स्थायी भावों के रूप में परिणत हो जाते हैं। संचारियों में कई ऐसे हैं जो स्थायी की निम्नकोटि-मात्र कहे जा सकते हैं। भय, शोक तथा क्रोध नामक स्थायी-भावों की ही थोड़ी क्षीण दशा को त्रास, विषाद तथा अमर्ष का नाम दिया जायगा। स्थायी के इस प्रकार के परिवर्तन को प्राचीन आचार्यों द्वारा पूर्ण स्वीकृति मिली है। स्वयं भरत मुनि ने शृंगार में त्रास, आलस्य तथा उग्रतादि संचारियों के प्रयोग का निषेध करने के साथ-साथ जुगुप्सा का भी निषेध किया है।[1] जुगुप्सा स्थायी भाव को संचारियों के साथ मिलाकर रखने का अभिप्राय यही हो सकता है कि उसे संचारित्व प्राप्त हो सकता है। शृंगार में उसका निषेध है। इसी प्रकार अभिनव गुप्त[2],

१. व्यभिचारिणस्त्रासालस्योग्रजुगुप्सावर्जम् ॥ ना० शा० चौ०, पृ० ७३।

२. तत्त्वज्ञानं तु सकलभावान्तरभित्तिस्थानीयं सर्वस्थायिभ्यः सर्वाः रत्यादिका-स्स्थायिचित्तवृत्तीर्व्यभिचारीभावयत् ॥ अ० भा० पृ० ३३६।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र[१], भानुदत्त[२] तथा 'व्यक्ति विवेक' के टीकाकार[३] ने भी इस विचार का समर्थन किया है और बताया है कि हास शृंगार में, रति, हास, करुण तथा शान्त में, भय तथा शोक करुण एवं शृंगार में, क्रोध वीर में, जुगुप्सा भयानक में तथा उत्साह एवं विस्मय सभी रसों में व्यभिचारी का काम करते हैं। अल्लराज का कथन है कि प्रायः भय तथा उत्साह स्थायी भाव व्यभिचारी के रूप में उपस्थित हो जाते हैं और व्यभिचारी भाव मोह, आवेग तथा आलस्य भी मूर्च्छा, संभ्रम तथा तन्द्रा-जैसे भावों को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। यहाँ तक कि सात्त्विक भाव स्वर-भेद से भी गद्गदत्व नामक अन्य भाव उत्पन्न हो जाता है[४]। तात्पर्य यह कि स्थायी भावों का समयानुसार संचारी भावों के रूप में भी परिवर्तन हो जाता है।

स्थायी भावों की संख्या नवीन भावों की कल्पना

भरत ने स्थायी भावों की संख्या आठ तक निर्धारित करते हुए क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय का नाम गिनाया हैं। धीरे-धीरे शान्त-रस की कल्पना के साथ कभी शम और कभी निर्वेद नामक स्थायी भावों की कल्पना भी सामने आई। शान्त को दृश्य-काव्य में असंभाव्य कहकर वर्जित करने की चेष्टा भी चलती रही, किन्तु धीरे-धीरे यह भी रस के रूप में स्वीकृति पा गया और निर्वेद को इसका स्थायी मान लिया गया। इसी प्रकार वत्सल-रस भी कालान्तर में स्वीकृत हुआ और वात्सल्य को स्थायी मान लिया गया। वैष्णव-भक्तों ने भी भक्ति को स्थायी मानकर भक्ति-रस की प्रतिष्ठा की और देव-विषयक रति को इस रूप में प्रस्तुत किया। भोजराज ने तो गर्व स्नेह, धृति तथा मति नामक स्थायी भावों की कल्पना करते हुए क्रमशः उद्धत, प्रेयस्, शान्त तथा उदात्त रसों के विचार को

१. तेनामी—स्थायिनः—रसान्तराणां व्यभिचारिणः अनुभावाश्च भवन्ति, तत्रैषामगन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात् ।। ना० द०, पृ० १७६ ।

२. स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति । हासः शृङ्गारे । रतिः शान्तकरुणहास्येषु । भयशोकौ करुणशृङ्गारयोः । क्रोधो वीरे । जुगुप्सा भयानके । उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ ।। र० त० ५ प०; पृ० ११४ ।

३. स्थायिनामपि व्यभिचारित्वं भवति । यथा रतेर्देवादि विषया, हासस्य शृङ्गारादौ, शोकस्य विप्रलम्भशृङ्गारादौ, भयस्यांभिसारिकादौ, जुगुप्सायाः संसारनिन्दादौ, शयश्चै कोपाभिहतस्य प्रसादोद्गमादौ ।।
व्य० वि० टीका, पृ० ११-१२ ।

४. र० र० प्र०, पृ० २३, ४।७७-७८ ।

आश्रय दिया। इसी प्रकार स्थायी भावों की संख्या में विस्तार होता गया और नवीन-नवीन रसों की उद्भावना होती रही। हिन्दी में भी यह प्रवृत्ति काम करती रही और जैन-कवि बनारसीदास ने अपने 'अर्द्ध-कथानक' नामक आत्म-चरित में शोभा, आनन्द, कोमलता, पुरुषार्थ, चिन्ता, ग्लानि तथा वैराग्य को ही स्थायी भाव मान लिया। मराठी विचारकों में श्री आत्माराम रावजी देशपाण्डे 'अनिल' ने अपने संस्कृत-प्रबन्ध 'प्रक्षोभरसस्थापनम्' में प्रक्षोभ-रस की स्थापना पर बल दिया और अमर्ष को असमर्थ मानते हुए क्षोभ-स्थायी की कल्पना की। इसी प्रकार श्री जावडेकर ने क्रान्ति-स्थायी की नवीन नींव पर क्रान्ति-रस की भित्ति उठाई।[1]

सारांश यह कि संचारी भावों के समान ही स्थायी भावों की संख्या को अधिकाधिक विस्तार देने की चेष्टा होती रही है और दूसरी ओर से यह प्रयत्न भी चलता रहा है कि हम नवीन स्थायी भावों का पुराने आठ या नौ स्थायी भावों में ही किसी-न-किसी प्रकार अन्तर्भाव कर लिया जाय। तथापि इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि यदि प्रयोग और संस्कार-बुद्धि पर ध्यान दिया जाय तो नवीन रसों की तरह नवीन भावों की स्वीकृति के लिए मार्ग निकाला जा सकता है। चाहे जो हो, वात्सल्य तथा भक्ति रसों ने अपना स्थान धीरे-धीरे स्वीकृत करा ही लिया है और उन्हीं के अनुसार स्थायी तथा अन्य भावों में भी परिवर्तन स्वीकार कर लिया गया है।

विभावादि का संयोग और निष्पत्ति

विभावादि का संयोग ही रस है अथवा नहीं?

भरतमुनि का मत

अभिनव गुप्त तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने रस-निष्पत्ति की चर्चा करते हुए कुछ अन्य विद्वानों के इस विचार का भी उल्लेख किया है कि विभाव आदि सम्मिलित रूप में रस हैं, अथवा इनमें से कोई एक विशेष ही रस है। कोई विभाव-मात्र को रस मानता है, कोई अनुभाव-मात्र को; तो कोई व्यभिचारी-मात्र को रस मानता है। कुछ लोग यदि स्थायी भाव को रस मानते हैं, तो अन्य विभाव, अनुभाव तथा संचारी-भाव, इन तीनों के सम्मिलन-मात्र को रस के रूप में प्रतिष्ठा देते हैं।[2]

१. 'आलोचना', वर्ष २, अंक ३।

२. (अ) अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे तु शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम्, एके अनुकार्यं, केचन् सकलमेव समुदायं रसमाहुरित्यलं बहुना॥ 'लोचन', १८६ पृ०।

(ब) विभावादयः त्रयः समुदितारसः इति कतिपये। त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसः, अन्यथा तु त्रयोपि नेति बहवः। भाव्यमानो विभाव एव

दूसरी ओर भरतमुनि तथा कतिपय अन्य विद्वान् रस को पानक-रस के समान एक सम्मिलित प्रभाव के रूप में ग्रहण करते हैं और यह सम्मिलन उनकी दृष्टि में विभावानुभावव्यभिचारीभाव के साथ स्थायी भाव का सम्मिलन ही है। इनमें से अकेले-अकेले वे किसी को रस की प्रतिष्ठा देने के लिए तैयार नहीं हैं। भरत ने स्पष्ट कहा ही है कि जिस प्रकार रसज्ञ अनेक पदार्थों तथा अनेक दाल-शाकादि व्यंजनों से युक्त भात को खाकर उसका आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार विद्वान् भी भावाभिनय से सम्बद्ध स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं। इसीसे उन्हें नाट्यरस कहा जाता है।[1] अथवा जिस प्रकार गुड़ादि वस्तुओं, मसालों, धनिये-पोदीने आदि से चटनी तैयार की जाती है उसी प्रकार बहुविध भावादि से मिश्रित स्थायी भाव भी रस बन जाते हैं।[2] तात्पर्य यह कि जिस प्रकार चटनी आदि में भिन्न-भिन्न पदार्थों का योग रहता है, किन्तु उनमें से प्रत्येक वस्तु का अलग-अलग स्वाद न आकर एक सम्मिलित आस्वाद आता है, जो उन पृथक्-पृथक् वस्तुओं के स्वाद से भिन्न प्रकार का होता है; उसी प्रकार भिन्न भावादि से सम्मिलित स्थायी भाव का एक विशेष प्रकार का प्रभाव उत्पन्न होता है, जो उनमें से प्रत्येक से पृथक् रूप में भिन्न होकर सबसे विलक्षण आस्वाददायी होता है। यही रस है।

साहित्यदर्पणकार का मत

भरत के समान ही विश्वनाथ आदि ने भी रस को प्रपानक-रस के समान विभावादिसंवलित प्रतीति माना है।[3] ये स्पष्ट रूप से उसे समूहालम्बनात्मक स्वीकार करते हैं।[4] मम्मट और पण्डितराज भी इसी पक्ष के समर्थक हैं।

रस इति अन्ये, अनुभावस्तथा इति इतरे। व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमतीत केचित्। र० गं०, पृ० २८।

१. यथा　　बहुद्रव्ययुतैर्व्यजनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुंजाना भुक्तं भुक्तविदो जनाः॥
भावाभिनयसंयुक्ताः स्थायिभावास्ततो सुधाः।
आस्वादयन्तिमनसा तस्मान्नाट्य रसाःस्मृताः॥ ना० शा०, ६।३२–३३।

२. यथा नानाव्यंजनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरोषधिभिश्च षड्रसा निर्वर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनोभावा रसत्वमाप्नुवन्ति। वही, पृ० ७१

३. ततःसंविलितःसर्वे विभावादिः सचेतसाम्। प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्। सा० द०, प० ३।१६।

४. यस्मादेव विभावादिसमूहालम्बनात्मकः। वही, ३।२१।

इतना होते हुए भी जिन विद्वानों ने पृथक् रूप में विभाव आदि को ही रस माना है, उनके क्या विचार हैं, यह महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य विषय है। सबसे

विभाव ही रस है

पहला पक्ष उन लोगों का है, जो विभाव को रस मानते हैं। उनका विचार है कि नट के अभिनय-कौशल के कारण हम बार-बार आलम्बन का ही चिन्तन करने लगते हैं। इसी बार-बार चिन्तन से हमें आनन्द आता है। अतएव विभाव ही रस है। इसीलिए कहा गया है—'भाव्यमानो विभाव एव रसः।'

एक-मात्र विभाव को ही रस मानना युक्तिसंगत नहीं है। कारण यह है कि आलम्बन-विभाव चेतन अथवा जड़ समुदाय में से ही कुछ होगा। ये जड़-

खण्डन

चेतन सभी मनुष्य के भाव के अनुसार समय-समय पर भिन्न रूपावस्था में प्रतीत होने लगते हैं। जब जैसी इच्छा होती है, उनके विषय में व्यक्ति चिन्तन करता है। अर्थात् उनका व्यक्तित्व व्यक्ति-सम्बन्ध पर आधारित है, स्वतंत्र नहीं है। स्वतंत्र व्यक्तित्व वाला न होने के कारण ही कभी विरहिणी को चन्द्रमा काटने और जलाने लगता है, तो कभी उसकी सहानुभूति में कृशकाय हो जाता है; कभी गोपिकाओं के लिए वही कालिन्दी उनके विरह में अत्यन्त 'कारी' प्रतीत होने लगतीं है, मानो उनके साथ वह भी 'विरह-जुर' में चल रही है और कभी वही गोपिकाएँ उसे उपालम्भ देने लगती हैं कि वह व्यर्थ ही क्यों बह रही है। तात्पर्य यह कि व्यक्ति की दृष्टि से आलम्बन का महत्त्व होता है। रस का सम्बन्ध आत्मा से है न कि विभाव के समान किसी बाह्य वस्तु से। बाह्य वस्तु को ही यदि रस मान लिया जाय तो उसे सभी स्थितियों में एक-सा रसात्मक होना चाहिए। उसे देखकर सदैव एक ही भाव का उद्बोधन होना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत एक ही वस्तु, यथा व्याघ्रादि, भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न रस को व्यक्त करने में सहायक होती है। वही कभी भय की उत्पादक है, कभी क्रोध की। यदि आलम्बन मात्र रस होता तो पिंजड़े में पड़ा हुआ शेर भी भयानक रस व्यक्त करता और खुला हुआ शेर भी। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतएव आलम्बन-मात्र रस नहीं है। आलम्बन तो रस का विषय-मात्र है। यदि उसी को रस मान लिया जायगा तो उसके विषय की समस्या फिर सामने आ जायगी। बिना विषय के परिणाम संभव नहीं हैं।

आलम्बन के समान ही अनुभावों को भी रस नहीं कह सकते, क्योंकि अश्रु अथवा स्वेद परिश्रम से भी आ सकता है; धुएँ में खड़े रहने से भी ऐसा हो सकता है और शोक या हर्ष में भी आँसू आते हैं। इसी प्रकार धूप में खड़े रहने

अनुभाव भी रस नहीं है

से भी स्वेद आ सकता है, भय और शारीरिक अस्वस्थता के कारण भी। अतः पूरी परिस्थिति का ज्ञान और सहृदय के भावों से उनका सम्बन्ध हुए बिना अनुभावों को रस नहीं कहा जा सकता।

कुछ विद्वानों का कथन है कि व्यभिचारी भाव विभाव अथवा अनुभाव की भाँति बाह्य नहीं हैं। इनकी स्थिति आन्तर है, अतएव यही रस हैं। पात्र के

व्यभिचारी भाव भी रस नहीं है

भावों को प्रदर्शित कर सकने पर ही रस-प्रतीति संभव होती है। यों अनुकर्त्ता भले ही अनेक प्रकार से अपनी कुशलता प्रकट करके मन रमाने की चेष्टा करे, किन्तु यदि वह उन भावों को व्यक्त नहीं कर पाता तो रस-प्रतीति की संभावना नहीं है। दर्शक इन्हीं भावों का दर्शन करके इनका बार-बार अनुसन्धान करता हुआ आनन्दित होता है। अतः व्यभिचारी ही रस हैं।

इस मत में कई त्रुटियाँ जान पड़ती हैं। स्वरूप के विचार से संचारी भाव क्षणस्थायी माने गए हैं। यदि उन्हें रस मान लिया जायगा तो रस को भी क्षणिक मानना होगा, जो प्रामाणिक नहीं। दूसरे, यह एक-दूसरे से बाधित होते रहते हैं, किन्तु रस को आचार्यों ने अबाधित प्रतीति माना है। उसे निर्विघ्न माना है। इस दृष्टि से भी व्यभिचारी भावों को रस नहीं माना जा सकता। तीसरे, बिना किसी आलम्बन आदि के केवल व्यभिचारी की व्यंजना होना सम्भव नहीं हैं। वर्णित न होते हुए भी उसका संकेत अवश्य मिल जाता है। अतः एक-मात्र व्यभिचारी भावों के वर्णन को रस मानना अनुचित है।

कुछ विद्वानों ने एक नवीन सिद्धान्त बनाया कि विभावानुभावादि में से जहाँ जो चमत्कारक हो वही रस है। जैसे, कभी कहीं सुन्दर तथा सुसज्जित

केवल चमत्कारक भी रस नहीं है

पात्र को देखकर आनन्द आता है, कहीं उसके अनुभाव ही चमत्कारक होते हैं और कहीं उनके भावों का मनोहर प्रकटीकरण सहृदय के मन को मुग्ध करता है। कभी-कभी ऐसा होता है ये तीनों ही अनुत्तम रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, तो किसी भी प्रकार का आनन्द नहीं आता। अतः जहाँ जो चमत्कारक है, वहाँ वही रस है। किसी एक विशेष को रस न कहकर समयानुसार सभी में रस बनने की शक्ति मानी जा सकती है।

हम पहले ही यह सिद्ध कर चुके हैं कि इनमें से पृथक् रूप से कोई भी रस नहीं है। उक्त दृष्टिकोण में केवल इतनी ही नवीनता है कि यहाँ

चमत्कारक को ही रस माना गया है, तथापि रसानुभूति के समान सघनता की अनुभूति इनके द्वारा नहीं होती। अतः यह मत भी निस्सार है।

कुछ विद्वानों ने इन सब के सम्मिलित रूप को ही रस माना है। किन्तु जिस व्यक्ति को आस्वाद होता है उसका इसमें कोई भाग स्वीकार किये बिना उसमें भिन्न वस्तुओं को रस मानना ठीक नहीं। रस का सम्बन्ध सीधे सहृदय से है। अतः उसकी चित्त-वृत्ति की खोज की गई है। उसकी चित्त-वृत्ति ही है जो समयानुकूल उद्बुद्ध हो जाती है। इसी उद्बोध के कारण आनन्द आता है, अतः स्थायी भाव रूप चित्त-वृत्ति ही रस रूप में व्यक्त होती है। किन्तु, यह चित्त-वृत्ति अपने-आप ही व्यक्त नहीं होती, बल्कि इसमें विभावादि का पूरा योग रहता है। सारांश यह है कि रस वस्तुतः समूहालम्बनात्मक है और विभावादि के सहारे स्थायी ही रस-रूप में व्यक्त होता है। 'स्थाय्येव रसः'। किन्तु रस को स्थायी से विलक्षण कहने का कारण यह है कि एक तो यह स्थायी केवल विभावादि के सहारे व्यक्त हो पाता है, निरपेक्ष रूप में नहीं; दूसरे यह शाकादि के रूप में ही नहीं रह जाता, अपितु आनन्दात्मक रूप में उपस्थित होता है।

विभावादि सम्मिलित रूप में भी रस नहीं है

रस को समूहालम्बनात्मक इस कारण माना जाता है कि जहाँ विभावादि में से किसी एक या दो का ही वर्णन होता है, वहाँ शेष का आक्षेप कर लिया जाता है।[1] बिना आक्षेप के बिम्बग्रहण नहीं होता, अतः वैसा करना आवश्यक है। सहृदय से इतनी कल्पना की तो आशा करनी ही चाहिए कि वह स्थिति को समझकर तदनुकूल समस्त विभावादि का संयोजन, उनके न होते हुए भी, कर ले। जिस प्रकार का रस होता है उसीके अनुकूल अन्य भावादि का बोध हो जाता है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, यदि विभाव अथवा अनुभाव मात्र को रस मानें तो असम्भव है, क्योंकि एक ही विभाव, अनुभाव या संचारी भाव अनेक रसों में पाए जा सकते हैं। अतः इन सबके एकत्र संयोग को ही रस

---

१. (अ) सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तथा दोषो न विद्यते ॥ सा० द०, ३।१७।

(ब) एवं च प्रमाणिके मिलितानां व्यंजकत्वे यत्र क्वचिदेकस्मादेवासाधारणाद्रसोद्बोधस्तत्रेतरद्वयमाक्षेपकमनोनानेकान्तिकत्वम्।
र० गं०, पृ० २६।

मानना चाहिए।[1] तात्पर्य यह है कि इनका एक साथ स्थायी भाव से संयोग होने पर ही रस की निष्पत्ति होती है। यही मत उचित है।

---

१. व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्। अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुणभयानकयोः चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीरकरुणभयानकानामिति, पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः।
का० प्र० वा०, पृ० ९५।

३
रस-निष्पत्ति

भट्ट लोल्लट-कृत रस-सूत्र की व्याख्या : उत्पत्तिवाद, आरोपवाद

भरतमुनि के रस-सूत्र के व्याख्याताओं में भट्ट लोल्लट का नाम सर्वप्रथम आता है। विद्वानों ने आपका समय नवीं शती का पूर्वार्द्ध निश्चित किया है। इनका कोई ग्रंथ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका, किन्तु 'अभिनव भारती' में श्री लोल्लट का मत निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है :

'अभिनव भारती' में उद्धृत भट्ट लोल्लट का मत

विभावादि का स्थायी भाव से संयोग हो जाने पर रस-निष्पत्ति होती है। अर्थात् विभाव रस की उत्पत्ति में कारणस्वरूप हैं। स्थायी भाव की विभावादि के कारण उपचित अवस्था का नाम ही रस है। अनुपचित स्थायी भाव से रस की उत्पत्ति संभव नहीं। यह रस मुख्यतः अनुकार्य, अर्थात् रामादि मूल पात्रों में ही होता है, किन्तु उनके रूपादि के अनुसंधानवश यह अनुकर्ता नट में भी विद्यमान होता है।[1]

आचार्य मम्मट ने लोल्लट का मत कुछ दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखा है कि ललनादि आलंबन तथा उद्दीपन विभावों के कारण रति आदि स्थायी भाव

मम्मट द्वारा उल्लिखित आचार्य लोल्लट का मत

उत्पन्न होते हैं। कटाक्षादि अनुभावों के द्वारा वे ही प्रतीतियोग्य हो जाते हैं तथा सहकारी के रूप में काम करने वाले व्यभिचारी भावों द्वारा वही उपचित होकर रस-रूप को प्राप्त होते हैं। मुख्यतः वह रस

---

१. विभावादिभिः संयोगोऽर्थात्स्थायिनः ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्त-वृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्, अपि तु भावानामेव येऽनु-भावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्यात्मकत्वात्, यद्यपि न सहभाविनः स्था-यिना, तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः। तेन स्थाय्येव विभावानुभा-वादिभिरुपचितो रसः स्थायीभावत्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्या रामादौ अनुकार्येऽनुकर्तर्यपि चानुसंधानबलात्। अ० भा०, प्र० भा०, २७२।

अनुकार्य में होता है, किन्तु अनुसन्धानवश वही नट में भी प्रतीयमान होता है।[१]

स्पष्ट है कि काव्यप्रकाशकार द्वारा प्रयुक्त 'प्रतिमान' शब्द ने लोल्लट के 'अभिनव भारती' में उद्धृत सिद्धान्त को दूसरा ही रूप प्रदान कर दिया। गोविंद ठक्कुर ने उसकी व्याख्या में कहा है : "नट में रामादि अनुकार्य की तुल्यता के अनुसंधान के कारण सामाजिक उन्हीं पर रामादि का आरोप कर लेता है। परिणामस्वरूप सामाजिक चमत्कृत होकर आनंद का अनुभव करता है।[२]

गोविंद ठक्कुर का मत

'काव्यप्रकाश' के टीकाकार वामन झलकीकर ने विद्वानों का उल्लेख करते हुए तद्रूपतानुसंधान शब्द का क्रमशः 'अभिमान' अथवा 'आरोप' अर्थ किया है।[३] साथ ही उन्होंने लोल्लट के मत की रज्जु तथा सर्प विषयक असत्य-ज्ञान से तुलना की है और दोनों को समकक्ष माना है।[४]

वामन झलकीकर कृत आरोप की व्याख्या

इस प्रकार की व्याख्याओं के परिणामस्वरूप एक ओर तो लोल्लट के मत को आरोपवाद की संज्ञा देकर उसकी आलोचना की गई और दूसरी ओर 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' को उत्पत्तिवाद के आधार पर समझाया गया है। संयोग शब्द के, लोल्लट के अनुसार तीन अर्थ किये गए : १. उत्पाद्य-उत्पादक भाव संबंध, २. अनुमाप्य-अनुमापक भाव सम्बन्ध, तथा ३. पोष्य-पोषक भाव संबंध। विभाव के कारण स्थायी भाव रति

व्याख्याओं के आधार पर संयोग व निष्पत्ति का लोल्लट कृत अर्थ

---

१. विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः। व्याभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः। 'काव्य प्रकाश', पृ० ८७।

२. नटे तु तुल्यरूपतानुसंधानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः। 'काव्य प्रदीप', पृ० ८८।

३. तद्रूपतानुसंधानात् रामस्येव वेषविशेषवाग्विधायिनी नर्तके तत्कालं रामत्वाभिमानादिति विवरणकाराः रामत्वारोपादिति सारबोधिनीकारोद्योतकारादयः। 'काव्य प्रकाश टीका', पृ ८८।

४. यथा असत्यपि सर्पे सर्पतयावलोकितात् दाम्नोऽपि भीतिरुदेति तथा सीताविषयिणी अनुरागरूपा रामरतिरविद्यमानापि नर्तके नाट्यनैपुण्येन तस्मिन् स्थितेव प्रतीयमाना सहृदयहृदये चमत्कारपर्यन्त्येव रसपदवीमधिरोहतीति। वही, पृ० ८८।

आदि की उत्पत्ति मानी गई है। अतः विभावों का स्थायी भाव से उत्पाद्य-उत्पादक भाव संबंध माना गया। कटाक्षादि अनुभावों के द्वारा उत्पन्न भावों को अनुमान माना गया, अतएव अनुभाव तथा स्थायी भाव के बीच अनुमापक-अनुमाप्य-संबंध माना गया है। व्यभिचारी भाव स्थायी भाव का पोषण करते हैं, अतएव उनके बीच पोषक-पोष्य-भाव-सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

उक्त तीनों सम्बन्धों के आधार पर 'निष्पत्ति' शब्द के भी क्रमशः उत्पत्ति, अनुमिति तथा पुष्टि, ये तीन अर्थ किये गए। विभाव को उत्पादक मानने के कारण रस-निष्पत्ति का अर्थ हुआ रसोत्पत्ति। अनुमापक भावों के सम्बन्ध से उसे अनुमिति कहा गया और पोष्य-पोषक-भाव-सम्बन्ध के आधार पर निष्पत्ति का अर्थ पुष्टि स्वीकार कर लिया गया।

संक्षेप में, रस सूत्र की लोल्लट-कृत व्याख्या का रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया : स्थायी भाव विभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। अनुभाव अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध से उनकी अनुमिति कराते हैं तथा व्यभिचारी भाव पोषक-पोष्य-भाव-सम्बन्ध से उनकी रस-रूप में पुष्टि करते हैं। इस रस की अवस्थिति यद्यपि मूल रूप में अनुकार्य में ही होती है, तथापि अनुकर्त्ता के कौशलपूर्ण अभिनय के कारण प्रेक्षक उसी पर रामादि का आरोप करता है।

भट्ट लोल्लट के मत की आलोचना

लोल्लट के मत के इस रूप के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक पक्षों से आक्षेप किये हैं। नैयायिकों की ओर से लोल्लट के उत्पत्ति-सिद्धान्त का खण्डन न्यायानुमोदित कारण-कार्य सिद्धान्त के आधार पर किया गया है।

नैयायिक रस-विषयक उत्पत्तिवाद को दो कारणों से अस्वीकार करते हैं। उनके कार्य-कारण-सिद्धान्त से इस उत्पत्तिवाद का समर्थन प्राप्त नहीं होता। एक

कार्यकरणवाद और उत्पत्तिवाद

तो इसलिए कि कार्यकारणवाद के अनुसार कारण को कार्य का नियत पूर्ववर्ती माना जाता है, किन्तु रस को विद्वानों ने असंलक्ष्यक्रम घोषित करके मानो इसके विभावादि के पौर्वापर्य सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया है। दूसरे, रस को 'विभावादि जीवितावधि' कहकर मानो यह स्पष्ट कर दिया गया है कि विभाव आदि कारणों के नष्ट होने के साथ ही रस की सत्ता भी समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत व्यावहारिक जगत् में देखा जाता है कि निमित्त कारण का नाश कार्य को प्रभावित नहीं करता। उदाहरणतः, मिट्टी से घट का निर्माण एक कार्य-विशेष है। इस कार्य का निमित्त कारण है कुम्हार। घट बनाने के अनन्तर कुम्भकार यदि मर जाय तो कार्यरूप घट पर

कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः लोल्लट के उत्पत्तिवाद की, नैयायिक की दृष्टि में, सार्थकता सिद्ध नहीं हो पाती।

समानाधिकरण सिद्धान्त द्वारा खण्डन

दूसरे, समानाधिकरण सिद्धान्त के अनुसार जिसमें कार्य उत्पन्न होता है उसी में कारण भी विद्यमान रहना चाहिए, किन्तु भट्टलोल्लट अनुकार्य में रस मानते हुए भी आस्वाद का अधिकारी प्रेक्षक को स्वीकार करते हैं। प्रेक्षक और अनुकार्य सर्वथा पृथक् हैं। ऐसी दशा में कारण को अनुकार्यगत तथा कार्य को प्रेक्षकगत मानने से समानाधिकरण की सिद्धि नहीं होती। इस सम्बन्ध में रज्जु तथा सर्प का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए यह कहना उचित न होगा कि जिस प्रकार उक्त उदाहरण में कारण-रूप रज्जु तथा कार्य-रूप भय-दोनों एक-स्थानवर्ती नहीं हैं उसी प्रकार रसास्वाद में भी कारण तथा कार्य का एक-स्थानवर्ती न होना बाधक नहीं है, क्योंकि रज्जु तथा सर्प के उदाहरण में मनुष्य का अपना विश्वास ही कारण-स्वरूप है और उसीमें अवस्थित है जिसमें भयरूपी कार्य है। विश्वास ही भय का कारण है, रज्जु अथवा सर्प नहीं। रस के सम्बन्ध में इस प्रकार का उदाहरण देना उचित न होगा, क्योंकि भयानक दृश्य को देखकर प्रेक्षक को लौकिक दुःखात्मक भयानुभूति नहीं होती, अपितु आनन्द आता है। अतएव रसास्वाद का सिद्धान्त उक्त मत के अनुकूल नहीं पड़ता।

उपचितावस्था और शंकुक द्वारा खण्डन

लोल्लट के परवर्ती आचार्य शंकुक ने उनके द्वारा प्रतिपादित 'स्थायी भाव की उपचितावस्था' सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाते हुए कहा है कि स्थायी भाव की उपचितावस्था को रस और अनुपचितावस्था को भाव-मात्र मानने पर उसकी मंद, मन्दतर, मन्दतम तथा मध्यस्थादि स्थितियों की अनावश्यक कल्पना करनी होगी तथा रस की भी तीव्रतम, तीव्रतरादि कोटियाँ स्वीकार करनी होंगी। दूसरे, यदि उपचित स्थायी भाव ही रस है तो हास्य के स्मित, अवहसितादि ६ भेदों को किस आधार पर स्वीकार किया जा सकेगा? तीसरे, क्रोध, उत्साह, शोक आदि कुछ स्थायी भाव काल-क्रम से क्षीण, क्षीणतर तथा क्षीणतम होते जाते हैं। उनके उपचित होने की स्थिति ही नहीं आ सकेगी। अतः उनके आधार पर की गई रस-कल्पना भी निर्मूल ही मानी जायगी।[1]

भट्टलोल्लट का मत था कि अनुकर्त्ता पर ही हम वास्तविक अनुकार्य का

---

१. किं च अनुपचितावस्थः स्थायीभावः, उपचितावस्थो रस इत्युच्यमाने एकैकस्य स्थायिनो मन्दतम मन्दतरमन्दमाध्यस्थ्यादि विशेषापेक्षयानन्त्यापत्तिः। एवं

आरोप कर लेते हैं और उसका परिणाम हमारे लिए चमत्कार के रूप में आनन्द-दायी होता है। उसी चमत्कार स्वरूप आस्वाद को हम रस कहते हैं। इस कारण उनके मत को आरोप-वाद कहा जाता है। किन्तु, हम एक वस्तु पर अन्य वस्तु का आरोप तभी कर सकते हैं जब हमें उसके सदृश किसी अन्य वस्तु का ज्ञान होने के साथ-साथ उस वस्तु का स्मरण भी हो। उदाहरणतः, रज्जु को सर्प समझने के लिए पूर्व से ही रज्जु तथा सर्प की समानता का बोध और उसका स्मरण न होने पर आरोप सम्भव नहीं है।

आरोपवाद और उसकी अनुपयुक्तता

इस विचार के प्रकाश में लोल्लट का आरोपवाद खरा नहीं उतरता। लोल्लट ने जिस अनुकार्य में रस माना है, वह पौराणिक, काल्पनिक, ऐतिहासिक अथवा समकालीन कोई भी हो सकता है। ऐतिहासिक, पौराणिक तथा काल्पनिक अनुकार्यों के सम्बन्ध में यह निःशंक भाव से कहा जा सकता है कि प्रेक्षक उनमें से किसी से भी परिचित नहीं होता, वह उन्हें प्रत्यक्ष रूप में देखे हुए नहीं है। समकालीन अनुकार्य को भी सबने देखा ही हो, यह अनिवार्य नहीं है। अतः अनुकार्य से अपरिचित रहकर भी प्रेक्षक किस भाँति उनका आरोप नट पर कर सकता है, इसका उत्तर भट्टलोल्लट नहीं दे सकेंगे।

इस सम्बन्ध में यह कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता कि नट शिक्षाभ्यास-वश इस प्रकार का अभिनय करता है कि उसके द्वारा प्रकट किये गए भाव हमें सर्वथा अनुकार्य के ही प्रतीत होने लगते हैं, क्योंकि भावों का ज्ञान हो जाने पर भी बाह्य रूप के अनुकरण के समान ही उनका अनुकरण सम्भव नहीं होता।

यह कहना भी उचित नहीं जान पड़ता कि प्रेक्षक विभावादि को अपना ही विभावादि समझकर उसीसे आनन्द प्राप्त करता है। बात यह है कि ऐतिहासिक या पौराणिक अनुकार्य हमारे विभाव नहीं हो सकते। राम अथवा हनुमान में जितनी शक्ति है, वे जिस उत्साह और क्षमता के साथ समुद्रोल्लंघन कर सकते हैं, वह हमारे जैसे तुच्छ जीवों के वश की

भट्टनायक द्वारा प्रेक्षक की दृष्टि से अनुकार्य-गत रस का खंडन

रसस्यापि तीव्रतीव्रतरतीव्रतमादिभिरसंख्येत्वं प्रसज्यते। अथोपचय काष्ठां प्राप्त एव रस उच्यते, तर्हि 'स्मितवहसितं विहसितमुपहसितंचापहसितमतिहसितम्' इति षोढात्वं हास्यरसस्य कथं भवेत्।...क्रोधोत्साहरतीनां च निजनिजकारणवलादुद्भूतानामपि कालदशादमर्षस्थैर्य सेवा विपर्ययेऽपचयोऽवलोक्यते। तस्मान्न भावपूर्वकत्वं रसस्य।

'काव्यानु० टिप्पणी', पृ० ६०; तथा अ० भा०, प्र० भा०, पृ० २७२।

बात नहीं। अतएव हम राम या उनके विभावों को अपने विभाव न मान सकेंगे। इसी प्रकार पूज्या होने के कारण हम सीता के प्रति राम की रति के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें अपना विभाव न मान सकेंगे। उनके प्रति हमारी पूज्य-बुद्धि का लोप नहीं हो सकता। ऐसी दशा में वह हमारे रसास्वाद की प्रतिबन्धक होंगी।[1]

करुण दृश्य और आरोप की निस्सारता

इसी प्रकार आरोप-मात्र से दूसरे का दुःख भी सुख या आस्वादनीय दशा में परिवर्तित हो जायगा, यह कल्पना भी अनहोनी है। किसी व्यक्ति का किसी अन्य व्यक्ति पर आरोप करके प्रेक्षक को आनन्द क्यों होगा ? राम, सीता अथवा हरिश्चन्द्र के दुःख का नट पर आरोप कर देने-मात्र से वह दुःख सुख में परिवर्तित हो जायगा, यह विचित्र कल्पना है। व्यावहारिक दृष्टि से वह शोक के रूप में ही रहेगा। अतएव लोल्लट का यह मत व्यवहार्य नहीं कहा जा सकता।

आरोप, रस तथा अनुभूति

आरोपवादी रस के ज्ञान-मात्र से प्रेक्षक में आनन्द की कल्पना करता है। किन्तु, रस आस्वादनीय होने के कारण ज्ञान-लभ्य नहीं, अपितु अनुभूत्यात्मक है। अनुभूति बौद्धिक-ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। ज्ञान बुद्धि का सहारा लेता है और अनुभूति हृदय का कोना ढूंढ़ती है। एक में सत्यासत्य का विवेक जागृत रहता है और दूसरे में हृदय डूब जाता है। वस्तु के ज्ञान से तीन परिणाम हो सकते हैं : एक, हम उसका ज्ञान प्राप्त करके निश्चिन्त हो सकते हैं। दूसरे,हम उसके प्रति तटस्थ होकर उसे देखते रह सकते हैं और तीसरे, यह भी सम्भव है कि हम अन्य व्यक्ति के रति आदि दृश्य को प्रकट रूप में देख-कर विरक्त हो जायँ या नाक-भौंह सिकोड़कर घृणा प्रकट करने लगें। किन्तु, आरोप के ज्ञान-मात्र से रसास्वाद की सम्भावना नहीं है। जिस प्रकार यह जान लेने-मात्र से कि चन्दन शीतल होता है उसकी शीतलता का अनुभव नहीं किया

---

१. भावनोपनीतो रामादिरत्यादिः सामाजिकचिदानन्दाख्य साक्षात्कारविषयो रसः। तथाहि···न तावद्रस उत्पद्यते। उत्पत्तिर्हि रामादिनिष्ठत्वेन नट-निष्ठत्वेन स्वनिष्ठत्वेन वा ? नाद्यः। रामादीनामसन्निहितत्वात्। न द्वितीयः। नटे रत्यादीनामनुपलब्धिबाधात्। नापि तार्तीयीकः। सीतादीनां सामाजिकरतावकारणत्वात् स्वकान्तात्वसंवेदनाभावात्। आराध्यत्वज्ञा-नस्य प्रतिबन्धकत्वाच्च। 'रस प्रदीप', पृ० २६।

जा सकता, अपितु लेप करने पर ही उसका आनन्द लिया जा सकता है, उसी प्रकार हमारे यह समझने से कि राम-सीता में रति है, हमें आनन्द नहीं आ सकता। उसके लिए हमारी स्वयं की अनुभूति आवश्यक है।[1]

यदि यह कहा जाय कि यह ज्ञान अविचारित एवं स्वतःचलित एक विशेष क्रिया द्वारा सम्पन्न हो जाता है, जिसमें विवेक का काम नहीं रहता, तो भी यह कहना पर्याप्त होगा कि आरोप से केवल तत्समान अनुभूति जाग्रत की जा सकती है, दुःखात्मक के स्थान पर सुखात्मक अनुभूति नहीं। ऐसी दशा में यदि रामगत रति के आरोप से आनन्द हो भी तो रावण द्वारा पीड़िता सीता अथवा राम द्वारा निर्वासिता जनक-नन्दिनी की करुण दशा हमें व्यथित ही करेगी, अलौकिक आनन्द नहीं देगी। इस प्रकार की कष्टमय अनुभूति प्रेक्षक को ग्राह्य नहीं है। अतएव आरोप सिद्धान्त की निस्सारता स्वतः प्रकट है।

नट की स्थिति पर विचार

लोल्लट ने अनुकार्य को ही रस का एक-मात्र आश्रय मानकर नट को विचित्र स्थिति में डाल दिया है। वस्तुतः मन का राग ही बाह्याचरण में प्रकट होता है। अतएव जब तक नट के मन में उसी प्रकार की भावानुभूति जाग्रत नहीं होगी, तब तक वह सफल रूप में भावों को व्यक्त करने में असफल ही रहेगा। यदि उसे इस प्रकार की अनुभूति से शून्य मानें तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि नट को ऐसी क्या रुचि है कि वह दूसरों के भावों का द्योतन कराने का प्रयत्न करता रहे। व्यावहारिक दृष्टि से उसे तटस्थ हो जाना चाहिए। राम तथा सीतादि उसके विभाव नहीं है, अतः उसे उनका कोई मोह नहीं है कि वह उनके कृत्यों का प्रदर्शन करने की चेष्टा करता रहे। धन-प्राप्ति के लोभवश अथवा शिक्षा के सहारे कोई किसी अन्य व्यक्ति के भावों के प्रदर्शन में उतनी सचाई से काम नहीं ले सकता है और न अन्य व्यक्ति के भावों का अनुकरण ही संभव है। अतः नट में रस की अस्वीकृति अव्यावहारिक-मात्र ही कही जायगी।

विद्वानों ने भट्टलोल्लट को मीमांसक के रूप में देखा है। किन्तु स्पष्ट रूप से

१. नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः। इति तदपेशलम्। सामाजिकेषु तदभावे तत्र चमत्कारानुभवविरोधात्। न च तज्ज्ञानमेव चमत्कार हेतुः। लौकिकशृंगारादि दर्शनेनापि चमत्कार-प्रसंगात्। न चानुभवादि विज्ञानबलायात आरोपस्तथा न तु साक्षात्कार-मिति वाच्यम्। चन्दनसुखादौ वैपरीत्य दर्शनात्। अन्यथैवोपपत्या तादृश-कल्पनायां मानाभावाच्च। का० प्रदीप०, पृ० ६३।

यह बताने की चेष्टा नहीं की कि मीमांसा-दर्शन के आधार पर उनके मन का स्वरूप कैसा होना चाहिए। मीमांसा वेदवादी दर्शन है

भट्टलोल्लट का पक्ष

और वेद की प्रामाणिकता के लिए वेदातिरिक्त वह किसी बाह्य प्रमाण की खोज में विश्वास नहीं रखता। अतएव, इसे स्वतः प्रामाण्यवाद भी कहा जाता है। मीमांसकों का एक दल अख्यातिवाद का पोषक है। उसका मत है कि किसी वस्तु के ज्ञान का प्रमाण वह वस्तु स्वयं है तथा किसी काल-विशेष में होने वाला किसी वस्तु का बोध उस काल में उस वस्तु का सत्य-ज्ञान ही है। भले ही अन्य किसी समय हमें प्रतीत हो कि अमुक वस्तु वह नहीं है, जो हमने समझी थी। किन्तु, जिस समय उस वस्तु के सम्बन्ध में हमें जो बोध हो रहा है, उस समय किसी विरोध का ज्ञान न होने के कारण, वह ज्ञान ही हमारे लिए सत्य है। उदाहरणतः, रस्सी को पड़ी देखकर उसे सर्प समझने की दशा में दो प्रकार ज्ञान काम करता है। एक है प्रत्यक्ष-ज्ञान, जिसके कारण हम सामने पड़ी हुई किसी लम्बी-टेढ़ी वस्तु को देख रहे हैं। दूसरा है, तत्सदृश सर्प का पूर्वानुभूत स्मृति-ज्ञान। फलस्वरूप उस समय एक सम्मिश्रित ज्ञान होता है और यह विवेक नहीं रहता कि ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं अथवा दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध है। हम एक वस्तु को तत्सदृश कोई अन्य वस्तु समझकर उस पहली वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप कर लेते हैं और उसी का व्यवहार करने लगते हैं, जैसा हमें दूसरी वस्तु के प्रति करना चाहिए। इस अवस्था के लिए, दार्शनिक शब्दावली में, 'संसर्गग्रह' की आवश्यकता नहीं, केवल 'असंसर्गग्रह' ही पर्याप्त है। असंसर्गग्रह, अर्थात् भिन्न तत्त्व के बोध न होने के कारण बोध के लिए तत्कालीन ज्ञान सत्य ही है। मीमांसक की विचार-सरणि में भ्रम की कहीं सत्ता ही नहीं है। यही कारण है कि भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में इसकी चर्चा भी नहीं आई।

इधर डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने एक नवीन तथ्य का उद्घाटन करते हुए यह सिद्ध किया है कि भट्टलोल्लट का उद्देश्य प्रेक्षक की दृष्टि से रसास्वाद का विचार करना नहीं था। उन्होंने तो ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा

डॉ० पाण्डेय का विचार

सिद्धान्त के अनुसार 'अनुसन्धान' शब्द का प्रयोग किया था, उसका अर्थ था 'योजन'। लोल्लट की दृष्टि रंगमंच की व्यावहारिकता पर जमी रही। वह यह अधिक देखते रहे कि विभावादि का रंगमंच पर किस प्रकार प्रदर्शन कर सकते हैं।[1] डॉ० पाण्डेय ने यह भी विश्वास प्रकट किया है कि लोल्लट के दृष्टिकोण की

१. 'कम्परेटिव ऐस्थेटिक्स', भाग १, पृ० २६-३०।

व्यावहारिक सीमा को समझकर ही, संभवत: अभिनव गुप्त ने उनके मत का स्वयं खण्डन नहीं किया। उन्होंने उनका खण्डन शंकुक की ओर से ही दिखाया है।

लोल्लट की विवृत्ति के अभाव में चाहे इस झगड़े में न भी पड़ा जाय कि वह ईश्वरप्रत्यभिज्ञावाद से प्रभावित हुए थे या नहीं, किन्तु इतना अवश्य ही कहा जा सकता है कि उन्होंने रसास्वाद का प्रेक्षक की दृष्टि से विचार नहीं किया। यदि हम स्वीकार कर लें तो लोल्लट का सिद्धान्त बहुत-से तत्सम्बन्धी आक्षेपों से मुक्त हो जाता है और आरोपवाद की कल्पना परवर्ती आचार्यों द्वारा निर्मित हवाई महल के समान निस्सार सिद्ध हो जाती है। हाँ, यह आक्षेप अवश्य किया जा सकेगा कि प्रेक्षक का विचार न रखने से उनका मत एकांगी हो गया है। प्रेक्षक ही रस की वास्तविक आश्रय-भूमि है। इस पक्ष को छोड़ देने से रस-सूत्र की सम्यक् विवृत्ति नहीं हो सकती। फिर भी इतनी बात अवश्य है कि अनुकार्य को ही वास्तविक रसाश्रय मानकर उन्होंने कवि-वर्णित अनुकार्य की ओर संकेत करते हुए कवि-कल्पना को श्रेय देने का प्रयत्न किया है। अनुकार्यगत रस मानने का तात्पर्य यदि इस प्रकार ग्रहण किया जाय तो आपत्ति और भी कम हो जाती है। कवि-कल्पना के अनुसार ही अनुकर्त्ता भाव-प्रदर्शन की चेष्टा करता है और उसीके अनुरूप प्रेक्षक उसे ग्रहण करता हुआ आनन्दित होता है। कवि-वर्णन के आधार पर होने के कारण अनुकर्त्ता के भाव-प्रदर्शन की अस्वाभाविकता और अनुकरण-सिद्धान्तजन्य आपत्ति का निराकरण भी हो जाता है।

आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद

अनुमितिवाद का आधार और उसका स्वरूप

भट्ट लोल्लट के मत का खण्डन करते हुए नैयायिक आचार्य शंकुक ने अनुमितिवाद के नाम से एक नवीन मत का प्रतिपादन किया। इस मत का आधार न्याय-दर्शन का अनुमान-प्रमाण है। 'अभिनव भारती' के आधार पर उनका मत संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :

रस वस्तुतः अनुकार्य, अर्थात् वास्तविक पात्रों में ही होता है। किन्तु प्रेक्षक नट में उसका अनुमान करके प्रसन्न होता है। विभाव कारण-स्वरूप होते हैं, अनुभाव कार्य-रूप तथा व्यभिचारी भाव सहचारी-रूप। इन तीनों का सहारा पाकर वास्तविक अनुकार्यगत स्थायी भाव प्रयत्नपूर्वक अर्जित होता है। किन्तु नट शिक्षाभ्यास तथा चातुर्य के कारण अनुकार्यगत भावों का सफल प्रदर्शन करता है और उसके द्वारा प्रदर्शित कृत्रिम तथा अनुकरण-रूप विभावानुभाव व्यभि-

चारी भावादि को प्रेक्षक मिथ्या न समझकर यह अनुमान करता हुआ कि विभावादि के होने के कारण यहाँ नट में ही रस है, आनन्द-लाभ करता है। काव्य-शिक्षा तथा अभ्यासादि के कारण विभावादि का अनुकरण हो सकता है, किन्तु स्थायी भाव का अनुकरण सम्भव नहीं होता। उसका अनुमान-मात्र किया जा सकता है। उसे प्रत्यक्ष दिखाया अथवा देखा नहीं जाता। हम यह जानते हुए कि ऐसे-ऐसे लक्षण उत्पन्न हों तो अमुक प्रकार का स्थायी भाव होता है, नट-कृत अभिनय से समझते हैं कि नट को वही स्थायी भाव अर्जित हो रहा है। स्थायी भाव की यह अर्जित अवस्था केवल अनुकरण-प्राप्य नहीं है। उसकी विलक्षणता का बोध कराने के लिए ही उसे 'रस' की संज्ञा दे दी जाती है।[1]

शंकुक के अनुसार इस अवस्था में न तो यह बोध होता है कि 'नट ही सुखी है', न यही कि 'राम ही सुखी है'। 'यह राम के समान सुखी है', जैसा बोध भी उस काल में नहीं होता। अतएव न तो इस ज्ञान को मिथ्या ही कहा जा सकता है, न सादृश्य-ज्ञान और न संशय-ज्ञान ही, अपितु उनसे विलक्षण 'चित्रतुरग-न्याय' से प्रेक्षक को यही प्रतीत होता है कि : 'जो सुखी राम है, वह यही है'।[2]

सारांश यह कि अनुकरण तथा चित्रतुरगन्याय-सिद्धान्त से प्रमाणित अनुमान ही शंकुक के मत का आधार है। न्याय-सिद्धान्त के आधार पर उक्त मत को यहाँ विस्तृत रूप में समझने की चेष्टा की जायगी।

पूर्व में देखी गई किसी वस्तु को किसी अन्य समय साक्षात् न देखकर भी

१. हेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जित तया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायीभावो—मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपोऽनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। विभावा हि काव्यबलादनुसन्धेयाः, अनुभावाः, शिक्षातः, व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभवार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपिनानुसन्धेयः। अ० भा०, पृ० २७२

२. न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः, नाप्ययमेव राम इति, न चाप्ययं न सुखीति, नापि रामः स्याद्वा न वायमिति, न चापि तत्सदृश इति। किन्तु (सम्यक्मिथ्यासंशय सादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादिन्यायेन) यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदाह····

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवाय मित्यपि॥
विरुद्धबुद्धि सम्भेदादविवेचित सप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥ अ० भा०, पृ० २७३।

जब हम उससे साहचर्य-सम्बन्ध रखने वाली किसी अन्य वस्तु को देखकर मुख्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब यह प्रमाण अनुमान-प्रमाण कहलाता है। उदाहरणतः हम नित्य ही किसी-न-किसी प्रकार यह देखते हैं कि जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है। इसी पूर्व-ज्ञान के आधार पर किसी दूसरे समय दूर पर्वत पर उठते हुए धूम को देखकर ही हम धूम तथा अग्नि के साहचर्य-सम्बन्ध के स्मरण द्वारा पर्वत पर अग्नि होने का अनुमान कर लेते हैं।

अनुमान-प्रमाण का स्वरूप और यह मत

इस अनुमान-प्रमाण में कारण तथा कार्य के साहचर्य सम्बन्ध का होना एक अनिवार्य प्रतिबन्ध है। जब हम यह देख लेते हैं कि अमुक हेतु का अमुक साध्य से नैत्यिक सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध में कहीं भी व्याघात नहीं देखा जाता, तभी हम अन्य स्थान पर भी हेतु को देखकर साध्य का अनुमान सहज ही कर लेते हैं। इस दैनिक, अनिवार्य तथा अबाधित सम्बन्ध को 'व्याप्ति' अथवा 'व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध' कहा जाता है। इस व्याप्ति-सम्बन्ध के अभाव में अनुमान की सिद्धि नहीं हो सकती। उदाहरणस्वरूप, यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है, किन्तु अग्नि के साथ धूम अवश्य हो, यह कोई नियम नहीं है। प्रत्यक्ष देखा जाता है कि तप्त लौह-पिण्ड में अग्नि तो होती है, किन्तु उसके साथ धूम नहीं होता। अतएव इस विषय में यहाँ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। व्याप्ति न होने के कारण अग्नि को देखकर भी धूम का अनुमान न होगा। अनुमान-प्रमाण में अनिवार्य है व्याप्ति। व्याप्ति-सम्बन्ध के आधार पर 'लिंग' अर्थात् हेतु को देखकर ही साध्य का अनुमान होता है। अतः लिंग के परामर्श-जन्य ज्ञान को ही अनुमान कहते हैं।[1]

अनुमान-क्रिया में तीसरी मुख्य बात है : पक्षधर्मता। पक्ष अनुमान का वह अंग है, जिसके लिए अनुमान की सृष्टि होती है। अनुमान करने के लिए पक्ष में वह हेतु अवश्य होना चाहिए। पर्वत को वह्निमान सिद्ध करने के लिए उस पर्वत में धूम का दर्शन आवश्यक है। यदि धूम ही न होगा तो अनुमान सिद्ध न होगा।

अनुमान तीन प्रकार का होता है : पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् तथा शेषवत् अनुमान में कार्य-कारण का नियत सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। सामान्यतोदृष्ट में कार्य-कारण के नियम-सम्बन्ध का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं होती। पूर्ववत् अनुमान में भविष्यत् कार्य का अनुमान वर्तमान

१. लिंग परामर्शोऽनुमानम्।...'तर्कभाषा'।
परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमिति।...'तर्कसंग्रह'।

कारण से होता है। जैसे, वर्तमान मेघों को देखकर वर्षा का अनुमान करना। शेषवत् में वर्तमान कार्य से विगत कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे, नदी की गंदी तथा वेगवती धारा को देखकर विगत वृष्टि का अनुमान करना। इन दोनों अनुमानों में प्रयुक्त व्याप्ति में साधन-साध्य पद के बीच कारण-कार्य-सम्बन्ध वर्तमान है, किन्तु सामान्यतोदृष्ट में प्रयुक्त-व्याप्ति के साधन-पद तथा साध्य-पद के मध्य कारण-कार्य-सम्बन्ध नहीं रहता। साधना-पद साध्य-पद का न तो कारण है, और न कार्य ही। एक से दूसरे का अनुमान केवल उनके नित्य साहचर्य-सम्बन्ध से माना जाता है। यथा, समय-समय पर देखने से ज्ञात होता है कि चन्द्रमा आकाश में भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहता है। इससे उसकी गति को प्रत्यक्ष न देखकर भी हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि चन्द्रमा गतिशील है। इस प्रकार अनुमान करने का कारण केवल यह है कि अन्यान्य वस्तुओं के स्थान-परिवर्तन के साथ-साथ उनकी गति का भी प्रत्यक्ष होता है। अत: चन्द्रमा को स्थानान्तरित होते देखकर यह अनुमान कर लिया गया कि वह भी गतिशील है।

वाक्यों द्वारा व्यक्त करते समय अनुमान का निम्न क्रम रहता है। सबसे पहले पद का सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया जाता है। जैसे पर्वत अग्निमान है। तदुपरान्त उसका हेतु बतलाया जाता है। जैसे, क्योंकि पर्वत धूमवान् है। अन्त में साध्य के साथ हेतु का अविच्छेद्य सम्बन्ध बताया जाता है। जैसे, जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, जैसे चूल्हे में।

अन्य व्यक्ति को समझाने के लिए अनुमान में 'पंचावयव वाक्य' से काम लिया जाता है। यह वाक्य क्रमश: प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन हैं। जैसे,

१. राम मरणशील है।—प्रतिज्ञा।
२. क्योंकि वह मनुष्य है।—हेतु।
३. सभी मनुष्य मरणशील हैं। जैसे, देवदत्त आदि।—उदाहरण।
४. राम भी मनुष्य है।—उपनय।
५. अत: वह मरणशील है।—निगमन।

प्रतिज्ञा का अर्थ यहाँ किसी विशेष बात का कथन है। हेतु के द्वारा प्रतिज्ञा का कारण स्पष्ट किया जाता है। उदाहरण का अर्थ तो स्पष्ट ही है। उपनय इस बात का द्योतक है कि उक्त उदाहरण प्रस्तुत विषय में घटित होता है। निगमन को निष्कर्ष कहेंगे।

अनुमान के पूर्ववतादि भेदों को दृष्टि में रखकर कहा जा सकता है कि विभा-

वानुभाव तथा संचारियों के द्वारा रस की प्रतीति होती है। यह रस के लिए कारण-स्वरूप हैं। इनको क्रमशः कारण, कार्य तथा सहकारी माना जाय। उदाहरणतया, सीतादि आलम्बन-विभाव तथा उपवन, चन्द्र, चन्द्रिकादि उद्दीपन-विभाव, रति स्थायीभाव के कारण माने जायंगे। भौंह की गति तथा कटाक्षादि उसी रति या अनुराग के कार्य-स्वरूप हैं। एवं लज्जा, हासादि संचारीभाव रति के सहकारी समझे जायँगे। इस प्रकार विभावरूपी कारण के द्वारा रति-रूपी कार्य की सिद्धि होती है। अतएव यह पूर्ववत् अनुमान से भिन्न नहीं है। रति, कार्यसिद्ध किये जाने पर, शेषवत् से भिन्न नहीं है। संचारी का सहकारी रूप होना सामान्यतोदृष्ट का ही उदाहरण है। तात्पर्य यह कि जब कहीं सुन्दर स्वच्छ चन्द्रिका में राम के द्वारा सीता के दर्शन का वर्णन, कटाक्षादि का निरूपण, तथा लज्जा-हासादि का दर्शन होता हो तो हम झट अनुमान करेंगे कि अमुक के हृदय में रति का उद्बोध हुआ है।

अनुमितिवाद और अनुमान-प्रमाण

पंचावयव-वाक्य से इस अनुमिति को यों समझाया जायगा :

१. सीता के हृदय में राम के प्रति रति उत्पन्न हुई।—प्रतिज्ञा।
२. राम को देखकर सीता ने प्रेमपूर्वक दृष्टिपात किया।—हेतु।
३. जिसे राम से रति नहीं वह उनकी ओर उस प्रकार दृष्टिपात नहीं करती। जैसे, मन्थरा।—उदाहरण।
४. सीता विलक्षण कटाक्षादि से युक्त है।—उपनय।
५. अतः सीता राम-विषयक रति से युक्त है।—निगमन।

शंकुक ने रसानुमिति को मिथ्या, संशय एवं सादृश्य-ज्ञान से विलक्षण-रूप का इसलिए बताया है कि मिथ्याज्ञान के सदृश रसानुमिति के समय न तो कोई बाधक-ज्ञान उपस्थित होता है, न संशय-ज्ञान के सदृश इसमें प्रेक्षक या सहृदय को किसी प्रकार का यह संशय ही रहता है कि यह अमुक वस्तु है अथवा अमुक, और न सादृश्य-ज्ञान के सदृश इसमें दो वस्तुओं का पृथक् बोध ही बना रहता है। इसी कारण यह विलक्षण प्रतीति है। हाँ, यह स्वीकार किया जा सकता है कि विभावादि के समाप्त हो जाने पर हमें उसकी अवास्तविकता का ध्यान आ सकता है, किन्तु उससे पूर्व किया गया अनुभव इस प्रकार व्यर्थ नहीं हो जाता।

संशयादि विलक्षण रसानुमिति

शंकुक का विचार है कि यदि इस ज्ञान को कुछ देर के लिए अयथार्थ मान ही लिया जाय, तब भी इसके द्वारा उपलभ्य आनन्दानुभूति में किसी प्रकार

की शंका नहीं की जा सकती। कभी-कभी तो अयथार्थ ज्ञान द्वारा भी वास्तविक प्रभाव उत्पन्न होते हैं। उदाहरणतया पास-पास रखे हुए मणि तथा दीप में से यदि कोई व्यक्ति दीप की लौ को मणि समझकर पकड़ने का प्रयत्न करे तो उसे लौ को पकड़ने पर हाथ जलने से ही अपनी मूर्खता का ज्ञान होगा, लौ को पकड़ने से पूर्व नहीं। इससे पूर्व कि उसका हाथ जले, यह भी संभव है कि प्रभा को पकड़ने का प्रयत्न करते-करते दीप के प्रकाश में उसे मणि ही दिख जाय और वह उसे उठा ले। इसी प्रकार "रामोऽयं सीताविषयक रतिमान्" ज्ञान अयथार्थ हो तब भी वह प्रेक्षक को आनन्दानुभूति कराने में पूर्णतया समर्थ है।[1]

चित्रतुरग न्याय

शंकुक ने चित्रतुरग न्याय का सहारा लेकर रसानुमिति के सम्बन्ध में दो बातें सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। एक तो यह कि जिस प्रकार चित्रांकित अश्व वास्तविक अश्व का अनुकरण-मात्र है, स्वयं वास्तविक अश्व नहीं है, उसी प्रकार शिक्षाभ्यासादि के कारण राम आदि प्रतीत होने वाले नट वस्तुत: राम आदि नहीं, उनके अनुकरण-मात्र हैं। दूसरे, जिस प्रकार चित्रलिखित अश्व को देखकर उसमें वास्तविक अश्व के गुणों का अनुमान करके आनन्द उठाया जाता है, उसी प्रकार राम आदि के अनुकर्ता नटों में भी हम उनकी अनुकरण की सफलता के कारण राम आदि में उत्पन्न रसों का अनुमान करने लगते हैं और उसीसे आनन्दित होते हैं।

विभावादि की कृत्रिमता

शंकुक के मत में वास्तविक त्रुटि कृत्रिम विभावादि के द्वारा रस का अनुमान स्वीकार करने के कारण उपस्थित हुई। प्रश्न यह है कि कृत्रिम विभावादि के द्वारा अनुमान की सिद्धि कैसे हो सकेगी? अनुमान तो वास्तविक विभावादि—लिंग—से ही सिद्ध हो सकता है। अतएव अनुमिति-प्रक्रिया का नाट्य से सम्बन्ध घटित नहीं होता।

शंकुक ने इस आपत्ति की कल्पना करके ही अभिनेता के अभिनय-कौशल के सहारे अनुमान की सिद्धि मानी थी। उन्होंने बताया कि यह ठीक इसी प्रकार होता है, जैसे कहीं दूर पर उठती धूल को देखकर उसे धूम समझकर उस

१. **मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः।**
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थ क्रियां प्रति॥

—अ० भा०, प्र० भा०, पृ० २७३।

स्थान पर अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है।[1] किन्तु, उनका यह तर्क कसौटी पर खरा नहीं उतरता। उनके उदाहरण में धूल, अर्थात् साधन-पद अनुमान-कर्ता से बहुत दूर है। इतनी दूर है कि उसे धूल तथा धूम में अन्तर ही नहीं ज्ञात होता। किन्तु, नाट्य में दर्शक के लिए रंगमंच प्रत्यक्ष और समीप है, जिससे इस प्रकार के अनुमान की आवश्यकता नहीं। यदि धूल भी हमारे उतनी ही समीप हो, तो ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो उसे जानकर भी धूम मान बैठेगा। नाट्य में तो दर्शक पूर्व से ही जानता है कि उसके पात्र वास्तविक नहीं, नट या अवास्तविक-मात्र हैं। जानते हुए भी उसे जो आनन्द आता है, निश्चय ही उसका अनुमानातिरिक्त कोई कारण होना चाहिए।[2]

साक्षात्कार ही चमत्कारपूर्ण होता है, अनुमिति नहीं। यदि अनुमिति भी चमत्कारपूर्ण होती, तो सुखादि का अनुमान कर लेने मात्र से सुख हो जाया करता। किन्तु, ऐसा होता नहीं देखा जाता। साथ ही यह विचार ही संगत प्रतीत नहीं होता कि नट में स्थायीभाव की सत्ता न रहने पर भी केवल उसके अभाव के अनिश्चय के कारण उसका अनुमान करने पर चमत्कार उत्पन्न हो सकता है। वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान ही चमत्कारपूर्ण होता है अभाव का अनिश्चय नहीं।[3]

अनुमिति-जन्य रसास्वाद और व्यावहारिकता

प्रभाकर भट्ट ने विभावादि की व्यावहारिक जगत् से विलक्षणता मानकर यह कहा अवश्य है कि प्रेक्षक का अनुमान विभावादि के आधार पर स्थिर है। व्यावहारिक जगत् में अनुमान केवल कारण पर निर्भर रहता है, जिसके

१. नन्वेवं कृत्रिमाणां तेषां व्याप्त्यभावात्कथमनुमापकत्वमिति चेन्न। उपस्थापकविशेषमहिम्ना रत्यादिकार्यत्वेन ज्ञातेभ्यस्तेभ्योऽनुमानसंभवात्। धूमत्वेन ज्ञाताद् धूलीपटलादग्न्यनुमानवत्। र० प्र०, पृ० २३।

२. नटे स्थायिबोधप्रतिसन्धानेऽपि सामाजिकानां रसोद्बोधनानुमितिपक्षस्यासम्भव इत्यपि बोध्यम्। 'का० प्रदीप', टीका, पृ० ६५।

३. ननु साक्षात्कार एव सचमत्कारः। न त्वनुमित्यादिरपि। अन्यथा सुखादावनुमीयमानेऽपि स स्यात्। न स्यात्। वस्तुसौन्दर्यबलातद्रसनीयत्वेन स्थायिनामन्यानुमेयवैलक्षण्यात्। तथापि स्थायिनां नटे सत्वादबाधावतारेऽनुमितिरेव कथं स्यादिति चेत्। न। अभावनिश्चयाभावात् स्थायितया संभाव्यमानत्वात्। एतदप्यहृदयग्राहि। यतः प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कारम्, नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धमवधार्यान्यथा कल्पने मानाभावः।
'का० प्रदीप', पृ० ६५।

कारण उससे रसास्वाद नहीं होता। विभावादि के संयोग के आधार पर रसास्वाद मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[1] किन्तु विभावादि का प्रेक्षक से सीधा सम्बन्ध न होने पर भी वह उनका रसानुभव न कर सकेगा, यह नहीं कहा जा सकता।[2] इसी प्रकार वस्तु-सौन्दर्य के कारण यथातथा उपस्थित में भी चमत्कार स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि फिर तो शृङ्गारादि पद-मात्र को रख देने से भी चमत्कार उत्पन्न होना चाहिए। किन्तु, शब्द द्वारा कथित रस चमत्कारक न होकर काव्य में दोष गिना गया है और लोक में कितना भी 'रस' 'रस' कहकर चिल्लाया जाय उससे रसास्वाद की सम्भावना उत्पन्न नहीं होती।[3] प्रमुख बात यह है कि यदि अविद्यमान होते हुए भी अनुमान-मात्र से रसनीयता की सिद्धि होती है तो विद्यमान होने पर तो उसकी सिद्धि में किसी प्रकार की शंका होनी ही नहीं चाहिए। किन्तु, लोक में रति आदि को प्रत्यक्ष देखकर ऐसा अनुभव नहीं होता।[4] अतः अनुमान से रसास्वाद मानने में कोई युक्ति नहीं दिखाई देती।

शंकुक के मत में एक त्रुटि यह भी है कि वह न्याय की जिस आधार-भूमि पर पनपा है उसीके विरोध में खड़ा प्रतीत होता है। नैयायिक क्षणिक-

१. न चैवं लोके मुखरागादिनारामादावनुमितस्य रत्यादे रसत्वं स्यादिति वाच्यम्। विभावादित्वेन ज्ञातेभ्य एव तेभ्यो रत्याद्यनुमानोपगमात्। लोके च तत्वानभ्युपगमात्।
तदुक्तम्—नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।
हेतोरलौकिकत्वादत्रैवोत्पद्यते चमत्कार इत्यर्थः॥
र० प्र०, पृ० २३।

२. न चान्तरनुमित्सया पुनः पक्षतासम्भव इति वाच्यम्। रसस्य विगलितवेद्यान्तरतया तदास्वादे मध्ये तदनुदयात्। न च तर्हि नटे तादृशरत्थाद्यनुमित्यनन्तरं सामाजिकात्मनि रस उत्पद्यते इति वाच्यम्। सामाजिके तज्जनकविभावादिसामग्रीविरहात्। अतएव सामाजिकात्मनि रसोऽभिव्यज्यत इत्यपास्तम्। तत्र तदभिव्यंजकविभावादि सामग्री विरहात्।
का० द०, पृ० १४५-६।

३. यदि च वस्तुसौन्दर्यबलात् यथातथाप्युपस्थितो चमत्कारः तदा शृङ्गारादिपदादपि तदुपस्थितौ चमत्कारः स्यात्। वही, पृ० १४५।

४. असतोऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात् तत्र वस्तुसतः कथं न भविष्यति।
अ० भा०, प्र० भाग, पृ० २८४।

क्षणिकवाद एवं अनुमिति

वाद के प्रतिपादक हैं। उनके अनुसार आनन्द की अनुभूति भी क्षणिक होनी चाहिए, किन्तु रसानुभूति को क्षणिक मानने से काव्य की रोचकता में विघ्न उपस्थित होता है। यदि शंकुक रसानुमिति को धारावाहिक स्वीकार करते हैं तो वे अपने मत के विरोध में जा खड़े होते हैं। धूम के द्वारा होने वाले अग्नि-ज्ञान से यह ज्ञान भिन्न प्रकार का है, क्योंकि पर्वत पर अग्नि है या नहीं इस विषय में पहले तो संशय ही रहता है। तदनन्तर इसी संशय का निरास धूम-ज्ञान द्वारा होता है और उसके आधार पर पक्षधर्मता की सिद्धि की जाती है। इस विचार के अनुसार यदि एक बार अनुमिति को पुनः-पुनः सिद्ध होने वाली मानकर उसे क्षणिक स्वीकार करने पर भी यह मानना कि अनुमिति अखण्ड बनी रहेगी, अपने ही सिद्धान्त का विरोध करना है। अनुमिति के खण्डित होते ही वास्तविकता सामने आ जायगी। वास्तव से परिचित होकर भी बार-बार उसके सम्बन्ध में वही सोचना, जिसका खण्डन हो चुका है, व्यावहारिक नहीं है।

इस शंका का समाधान करते हुए शंकुक की ओर से कहा जा सकता है कि धारावाहिकता प्रेक्षक के तन्मयीभाव के कारण रहती है। तन्मयावस्था में ही प्रेक्षक प्रदर्शित रति का अनुसन्धान करता है। उसके सम्बन्ध में बार-बार शंका करके अनुमान नहीं करता। इसी पुनः-पुनः अनुसन्धान का नाम 'चर्वणा' है। दूसरे, नैयायिक जिज्ञासु के हृदय में बार-बार होने वाली अनुमित्सा का विरोध नहीं करता। अतएव पक्ष में साध्य के निश्चय का पुनरनुसन्धान से विरोध नहीं होता।[1]

रसप्रदीपकार ने व्यवहार-बुद्धि का सहारा लेकर शंकुक के इस समाधान की व्यर्थता सिद्ध करते हुए कहा है कि एक तो एक बार वास्तविक ज्ञान उपलब्ध करने पर पुनः अनुमान नहीं किया जाता, दूसरे लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि प्रेक्षक नाट्य देखने के समय "मैं रस का अनुभव कर रहा हूँ", यही कहता है। वह यह नहीं कहता है कि "मैं नाट्य के कारण रस का अनुमान कर रहा हूँ"। अतएव शंकुक का यह कथन कि हमें अनुव्यवसायात्मक ज्ञान

१. अनुमितस्यापि तन्मयीभावापादकघोरूपवासनावशात्पुनः पुनरनुसन्धाने दोषाभावात्। इयमेव ह्यस्मिन्मते चर्वणा। यत्पुनः पुनरनुसन्धानं नाम तेनैव रसस्य चर्वणीयत्वव्यवहारोऽपि। यद्वा लोकेऽनुमितस्य पुनर्नानुमानम्। सिद्धे प्रतिबन्धकत्वात्। काव्यनाट्ययोस्तु सामाजिकानां तन्मयीभावादनुमित्सा तत्कालमेव भवतीति सिषाधयिषयाऽनुमाने न दोषाः।

र० प्र० पृ० २४।

होता है, युक्ति-युक्त नहीं है।[१]

शंकुक ने भी लोल्लट के समान नट में रस स्वीकार नहीं किया है। ऐसा न करने पर इस सिद्धान्त में भी ताटस्थ्य दोष उत्पन्न हो जाता है। विद्वानों की सम्मति है कि नट में रस की कल्पना किये बिना काम नहीं चल सकता। उनका विश्वास है कि नट स्वगत वासनापटुता के कारण काव्यार्थ को प्रत्यक्षवत् प्रदर्शित करता है। बिना वासना के वह ऐसा नहीं कर सकता। यदि उसमें वासना को स्वीकार किया जाता है तो उसके द्वारा रसास्वाद को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।[२]

नट की स्थिति

भट्टलोल्लट के समान ही शंकुक के मत में भी यह त्रुटियाँ परिलक्षित की जा सकती हैं कि भाषानुकरण की अपूर्णता स्थायीभाव की अनुमिति में बाधक सिद्ध होती है तथा अनुकरण-मात्र से न तो शोकात्मक दृश्यों या वर्णनों की आनन्दात्मकता का ही प्रतिपादन हो सकता है और न शंकुक के मत को समानाधिकरण की दृष्टि से ही उचित ठहराया जा सकता है।

अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत ने प्रेक्षक, अनुकर्त्ता तथा आलोचक सभी की दृष्टि से विचार किया है कि अनुकरण केवल वेशभूषादि जड़-पदार्थों का ही हो सकता है, स्थायी आदि आन्तर भावों का नहीं। दूसरी ओर इस बात का भी अनुमोदन किया है कि प्रेक्षक अथवा अनुकर्त्ता के द्वारा अदृष्ट रामादि के भावों का अनुकरण भी अकल्पनीय है। नट को रामानुकारी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिन्हें देखा ही नहीं है उनके सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता—जैसे, एक बार एक व्यक्ति को सुरापान करते और फिर किसी दूसरे को दूध पीते देख उनकी क्रियाओं में समानता देखकर दूसरे को पहले का अनुकरण करता हुआ बताया जाता है।[३]

भट्टतौत द्वारा शंकुक के मत का खण्डन

भट्टतौत सादृश्य के आधार पर रसानुमिति की सिद्धि में विश्वास नहीं रखते। सादृश्यानुमान के लिए भी दो बातों की अपेक्षा है। एक, फल के अनुसार वस्तु का अनुमान और दूसरे, अनुमान-कर्त्ता को सादृश्य का अनुभव। किन्तु, नट द्वारा प्रदर्शित भावनाएँ उसके हृदय में वर्तमान किसी सादृश्य के

१. वयन्तु अनुमीयमानस्य रसत्वे रसं 'साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायानुपपत्तिः। र० प्र०, पृ० २५।

२. ...काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकेऽपि न वार्यते।—र० प्र०, पृ० २३।

३. अ० भा०, प्र० भाग, पृ० २७५।

आधार पर नहीं हैं, न प्रेक्षक ही उनको वैसा स्वीकार करता है। वस्तुतः, वे दीर्घकालीन अभ्यास के कारण ही ऐसी प्रतीत होती हैं। प्रेक्षक भी इस ज्ञान से वंचित नहीं रहता। ऐसी स्थिति में यदि प्रेक्षक नट के प्रदर्शन को मिथ्या मानता है तो मानसिक भावों का सादृश्य-ज्ञान स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि वह उन्हें आन्तर भावों के फल-मात्र मानता है, तो भी वह नट में भावों का अनुमान-मात्र करता है। उदाहरणतया, यदि कोई व्यक्ति यह जानता है कि जिस वस्तु को वह धूम समझ रहा है, वह धूल का गुब्बारा-मात्र है तो वह अग्नि का अनुमान नहीं करता। वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि पर वह अग्नि का ही अनुमान करता है; अन्य का नहीं। अतएव, किसी भी स्थिति में अनुकार तथा अनुमिति दोनों का गठबन्धन नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त, यदि यह भी मान लिया जाय कि रंगशाला में उपस्थित प्रेक्षक को यह विश्वास हो जाता है कि नट-नटी दोनों एक-दूसरे के विभाव हैं, किसी के सदृश-मात्र नहीं, तब भी अनुमान किये जाने वाले भाव वास्तविक ही होंगे, किसी के सदृश भाव नहीं। अतः यह उदाहरण भी संगत नहीं है।[1]

नट को भीम की भूमिका में क्रोध करते देखकर प्रेक्षक यह नहीं कहता कि 'यह भीम क्रोध कर रहा है', बल्कि वह यही कहता है कि 'भीम-सदृश क्रोध कर रहा है।' इस उदाहरण से भी अनुमान तथा अनुकरण का मेल नहीं बैठता। यह स्थिति ऐसी है जैसे 'गो' के सदृश पशु को 'गवय' कहा जाता है। जैसे वहाँ सादृश्य का ही बोध होता है अनुकरण का नहीं, वैसे ही अनुकर्ता के कार्य को देखकर यही कहा जायगा कि वह अनुकार्य के सदृश है, यह नहीं कि वह उसका अनुकरण कर रहा है।[2] इसके विरोध में यदि यह कहें कि 'गव्य' में जान-पूछकर अनुकरण करने की शक्ति वर्तमान नहीं है, किन्तु नट जानकर भी वैसा कर सकता है, तो भी भावानुकरण की असाध्यता तो रहेगी ही।

सादृश्यादि विलक्षणता का खण्डन

उपरिलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भट्टतौत अनुमिति को विलक्षण स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि ज्ञान निश्चित रूप से या तो सत्य होगा अथवा मिथ्या। उसे इन दोनों से विलक्षण बताना भ्रम का प्रसार करना है।[3] चित्रतुरग-न्याय भी सादृश्य-ज्ञान

---

१. अ० भा०, प्र० भाग, पृ० २७४।

२. वही, पृ० २७५।

३. यच्चोक्तं रामोऽयमित्यस्ति प्रतिपत्तिः तदपि यदि तदात्वेतिनिश्चितं तदुत्तरकालमाविबाधकवैधुर्याभावे कथं न तत्त्वज्ञानं स्यात्? बाधकसद्भावे

मात्र ही है। प्रेक्षक चित्रलिखित अश्व को अश्व कहते हुए भी यह जानता रहता है कि यह वास्तविक के सदृश ही है।

डॉ० राकेश ने भट्टतौत से भी आगे बढ़कर चित्रतुरग-न्याय को चारों प्रकार का ज्ञान सिद्ध किया है। वे उसे किसी से भी विलक्षण नहीं कहते। साहश्य तक सीमित रखना भी उन्हें उचित प्रतीत नहीं होता। उनका विचार है कि दर्शक चित्रलिखित अश्व को चित्रलिखित-मात्र ही मानता है और लक्षणा के सहारे, अश्व कहने का उसका तात्पर्य भी यही होता है। अब यदि एक ऐसे व्यक्ति के सामने, जो चित्र की परख से अनभिज्ञ हो, दूर पर सजीव-सा लगने वाला चित्र रखा जाय, तो यदि उसे वास्तविकता का ज्ञान नहीं है तो दो ही परिणाम होंगे कि या तो वह उसे वास्तविक अश्व समझकर मिथ्या-ज्ञान में फँस जायगा अथवा उसे यह संशय बना रहेगा कि यह चित्र है अथवा अश्व है। इसी प्रकार साहश्य-ज्ञान की सत्ता बहुत-कुछ सत्य-ज्ञान के साथ बनी रहती है, क्योंकि दर्शक उसकी समानता को जानता है।[1] अभिप्राय यह है कि अनुमिति के द्वारा जिसे विलक्षण ज्ञान कहा गया है, वह चित्रतुरग-न्याय से सिद्ध नहीं होता।

डॉ० राकेश गुप्त का मत

डॉ० राकेश द्वारा प्रतिपादित मत में दो त्रुटियाँ हैं। उन्होंने जिस उदाहरण को लिया है वह चित्रतुरग से सम्बन्ध रखते हुए भी नाट्य पर घटित नहीं होता। एक तो वे चित्रतुरग के उदाहरण में उस दर्शक की कल्पना करके चले हैं, जो चित्रकलानभिज्ञ है। दूसरे, उन्होंने उस चित्र का उदाहरण लिया है जो दूर रखा है। नाट्य में यह दोनों स्थितियाँ नहीं होतीं।

अनुकार की दृष्टि से अनुकरण की व्यर्थता

प्रेक्षक के समान ही अनुकर्त्ता की भी स्थिति है। न प्रेक्षक को ही दुष्यन्तादि का कोई परिचय साक्षात् रूप में मिला है, न अनुकर्त्ता को। यह भी स्वीकार करना उचित न होगा कि अनुकर्त्ता समकालीन किसी व्यक्ति का ही अनुकरण करता है, क्योंकि उस दशा में भी आन्तर भावों का अनुकरण सम्भव नहीं है। यदि यह भी मान लिया जाय कि वह किसी प्रकार ऐसा कर पाता है तो भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन-से साधन हैं

वा कथं न मिथ्या ज्ञानम्? वास्तवेन च वृत्ते बाधकानुदयेऽपि मिथ्याज्ञान-मेव स्यात्। तेन विरुद्धबुद्धि संभेदादित्यसत्।

अ० भा०, प्र० भाग, पृ० २७५।

१. सा० स्ट० र०, पृ० ४३-४४।

जिनके सहारे उसने ऐसा किया। इसका उत्तर ठीक-ठीक न दिया जा सकेगा। कुशल नट में उस समय अपनी कोई भी भावना नहीं रहनी चाहिए, अन्यथा वह दूसरे का अनुकरण न कर सकेगा। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने भावों के सहारे ही अनुकरण करता है। यदि यह मान ही लिया जाय तब उसके भाव वास्तविक भाव-मात्र होंगे, रस की कोटि तक न पहुँचेंगे और न उन्हें हम अनुकरण ही कह सकेंगे। अतएव केवल यह स्वीकार किया जा सकता है कि अनुकरण बाह्य अनुभावों का होता है, शेष के लिए यह सिद्धान्त व्यर्थ है। यह भी एक समस्या रह जाती है कि नट में शोक न होने पर भी वह शोक का अनुकरण कैसे करेगा ? साथ ही बिना किसी विशेष का अनुकरण माने स्वयं अनुकर्त्ता की बुद्धि में भी उस बात का महत्त्व न होगा। इसे स्वीकार करने पर नट में या तो अनुकार्य-अनुकर्त्ता-सम्बन्ध का एक साथ सन्निवेश मानना होगा या नट को यह बोध रहेगा कि वह अनुकार्य है, अनुकर्त्ता नहीं। इस प्रकार का बोध अभिनय में अवश्य ही बाधक होगा।

इसी प्रकार प्रेक्षक को भी ऐतिहासिकादि पात्रों का साक्षात् ज्ञान न होने से वह यह नहीं सोच सकता कि नट वास्तविक अनुकार्य का अनुकरण कर रहा है। अतः अनुकरण-सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी जा सकती।

इन आपत्तियों के निराकरण का एक-मात्र उपाय इस बात की स्वीकृति है कि अनुकर्त्ता आन्तरभावों का नहीं बाह्य अनुभावों-मात्र का अनुकरण करता है और अपने शिक्षाभ्यासादि के साथ-साथ हृदय-संवाद के बल पर काव्य का उचित स्वर तथा बल के साथ वाचन करते हुए अपनी ओर से यथाशक्ति उस स्थिति में उत्पन्न हो सकने वाले भावों को व्यक्त करता है। इस प्रकार की प्रतीति को अनुकरण नहीं कहा जा सकता। इसमें अनुकर्त्ता की शिक्षा तथा कल्पना का योग स्वीकार किया गया है। इस प्रकार उसकी तटस्थता दूर हो जाती है।

शंकुक भट्टलोल्लट से कुछ आगे ही बढ़े हैं। यद्यपि वे अनुकर्त्ता की स्वानुभूति को बिलकुल भी स्वीकार नहीं करते और न कवि को ही मान्यता देते हैं। किन्तु, चित्रतुरग-न्याय की स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि उन्हें कवि-कल्पना स्वीकार थी। जिस प्रकार कोई भी चित्र बिना चित्रकार की कल्पना के सजीव रूप में उपस्थित नहीं हो सकता, उसी प्रकार बिना कवि-कल्पना के ऐतिहासिक पात्रों में भी प्राण-स्पन्दन नहीं भरा जा सकता। कवि की कल्पना तथा स्मृति का योग तो स्वीकार करना ही होगा। शंकुक की प्रधान त्रुटि यही थी

शंकुक का महत्त्व

कि उन्होंने अनुकर्त्ता की कल्पना और स्मृति को लक्षित नहीं किया। साथ ही प्रेक्षक को भी केवल अनुमान के सहारे छोड़ दिया। यहाँ तक कि उसमें स्वानुभूति की कल्पना भी न की।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

नवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रस-सूत्र के तीसरे व्याख्याता भट्टनायक सामने आए। आचार्य शंकुकादि के मत से असन्तुष्ट रहकर आपने सूत्र की व्याख्या के हेतु नवीन मार्ग का अवलम्बन किया। इनके समय तक ध्वनि-सिद्धान्त प्रचारित हो चुका था। अतएव इन्होंने एक ओर तो भट्टलोल्लट तथा शंकुक के प्रतिपादन का खण्डन करने की चेष्टा की और दूसरी ओर ध्वनि-सिद्धान्त के मूल में कुठाराघात करते हुए 'ध्वनिध्वंस ग्रन्थ' के नाम से प्रसिद्ध 'हृदयदर्पण' अथवा 'सहृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ लिखा।

भट्टलोल्लट तथा शंकुक की व्याख्याओं में दो प्रधान दोष हैं। यदि एक ओर उनकी व्याख्याएँ परगतत्व दोष से दूषित हैं तो दूसरी ओर उन्हें आत्मगतत्व दोष से भी मुक्ति नहीं मिल सकती। दोनों आचार्य रस को अनुकार्यगत मानकर चले हैं। इनके सिद्धान्त से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि दिव्य अथवा आदरणीय पात्रों के प्रति हमारी रति कैसे उत्पन्न हो सकती है। रस को अनुकार्यगत मानने पर नट तथा प्रेक्षक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में यह कल्पना करना कि वह रस को अनुकार्यगत जानकर भी उसका आरोप या अनुमान करने की इच्छा करेगा, व्यर्थ ही है। नट भी परगत भावों के प्रदर्शन में न तो सफल हो सकता है और न उसकी उस ओर रुचि ही होगी। परिणामस्वरूप, नट तथा सामाजिक दोनों ही तटस्थ रहने की चेष्टा करेंगे। यदि थोड़ी देर के लिए यह मान ही लिया जाय कि नट को काव्यानुशीलनादि के कारण अथवा आर्थिक लाभ-लोभ से उस ओर रुचि होगी तो भी सामाजिक को उस दृश्य से किसी प्रकार की रुचि हो, इसका कोई कारण नहीं दीख पड़ता। सामाजिक स्वाभाविक रूप में उस सबसे तटस्थ रहने का ही प्रयत्न करेगा। तटस्थता औदासीन्य का बोधक है। उदासीन व्यक्ति से आस्वाद की आशा भी नहीं की जा सकती। अतः शंकुकादि का मत दोषपूर्ण है।

भट्टलोल्लट तथा शंकुक के दोष

ताटस्थ्य के अतिरिक्त दूसरा दूषण आत्मगतत्व नाम से बताया गया है। आत्मगतत्व का तात्पर्य यह है कि रस की उत्पत्ति सामाजिक में ही मानें तो

यह भी सम्भव नहीं है। रस की निष्पत्ति के हेतु विभावादि की अनिवार्यता में किसी को सन्देह नहीं है। रस को सामाजिकगत मानने पर यदि हम उस दृश्य की कल्पना करें जहाँ जगन्माता सीता अथवा पार्वती का राम अथवा शिव के प्रति प्रेम प्रदर्शित किया गया है, उनके रतिभाव का द्योतन कराया गया है, वहाँ सामाजिक उन्हें अपने विभाव के रूप में कैसे ग्रहण कर सकेगा ? सीतादि रामादि के प्रति विभाव हो सकती हैं, किन्तु सामाजिक के प्रति नहीं हैं। इसके उत्तर में यह कहना उचित न होगा कि सामाजिक को अपनी ही क्रिया का ध्यान आ जायगा, क्योंकि पार्वती आदि के उक्त दृश्यों को देखकर न केवल उन सामाजिकों को रसास्वाद होता है जो विवाहित हैं, अपितु उन्हें भी होता है जो अविवाहित हैं, जिनकी कोई पत्नी कभी न थी, और न है। इसके अतिरिक्त इन सिद्धान्तों से शोकपर्यवसायी नाटकों अथवा काव्यों से आनन्द मिलने के कारण पर कोई प्रकाश न पड़ सका। अतः भट्टनायक को दोनों मतों का खण्डन करना पड़ा। उन्होंने स्वाभिव्यक्ति मानने वाले आनन्दवर्धन के अभिव्यक्ति सिद्धान्त का भी स्पष्ट शब्दों में विरोध किया। इस प्रकार तीनों मतों के विरोध में उन्होंने अपने मत 'भुक्तिवाद' को आरम्भ किया।

भट्टनायक ने उक्त दोषों को दूर करने के लिए जिन उपायों का सहारा लिया है उनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय साधन हैं, तीन शक्तियाँ। आचार्यों ने अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक तीन शब्द-शक्तियाँ स्वीकार की हैं, किन्तु भट्टनायक ने पूर्व-स्वीकृत अभिधा-शक्ति के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक दो नवीन शक्तियों की स्थापना की। अभिधा को उन्होंने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया। इन तीनों शक्तियों में प्रथम है, अभिधा। अभिधा अर्थ-विषयक व्यापार है। किसी काव्य का पाठ करते, उसे सुनते अथवा दृश्य देखते हुए सबसे पहले जिस शक्ति का सहारा सामाजिक को प्राप्त होता है, वह अभिधा ही है। इस शक्ति के सहारे हम काव्य के शब्दार्थ और सम्बन्ध-विशेष को ग्रहण करते हैं। दो व्यक्तियों के बीच वार्तालाप को सुनकर हम तुरन्त अभिधा-शक्ति के सहारे उसका अर्थ ग्रहण करते हुए यह भी समझ जाते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक व्यक्ति से कुछ कह रहा है। काव्य में यह व्यक्ति-बोध एक बाधा उपस्थित करता है, क्योंकि यदि प्रेक्षक या श्रोता शकुन्तला और सीता को उनके इस व्यक्तित्व के साथ जानता है, तो उन्हीं में रस समझकर तटस्थ रह सकता है। अतः भट्टनायक ने व्यक्तित्व-शून्य बोध के लिए भावकत्व-शक्ति की कल्पना की। उन्होंने कहा कि अभिधा से व्यक्ति-विशेष का बोध हो जाने पर भी दृश्य में प्रदर्शित

अभिधा तथा भावकत्व

अथवा वर्णित वेश-भूषा, सुन्दर आकृति, अभिनय-कुशलता आदि अथवा सुन्दर काव्य-पाठ, रुचिकर उक्ति, मोहक शब्द-चयन और पद-विन्यास आदि के कारण धीरे-धीरे प्रेक्षक अथवा पाठक का मन व्यक्ति-विशेष को विस्मृत करने लगता है। जितनी ही यह विस्मृति बढ़ती है, उतना ही वह उस मूर्ति का व्यक्ति-बन्धन-शून्य-रूप में चिन्तन करता जाता है। परिणाम यह होता है कि सामाजिक उस व्यक्ति के हावभावानुभावादि को केवल उसीका नहीं समझता, उन्हें सामान्य रूप में ग्रहण करता है। यही साधारणीकरण कहा जाता है। इस स्थिति की सिद्धि केवल 'भावकत्व-शक्ति' द्वारा ही हो पाती है। यह स्थिति रसास्वाद से पूर्व उसके लिए तैयारी की स्थिति है। इस स्थिति में सामाजिक उस व्यक्ति के नाम, ग्राम, पुत्र-पौत्र, सखा, पितृजन तथा अन्य सम्बन्धों का कोई बोध नहीं कर पाते कि यह वह राम हैं जो अयोध्या के राजकुमार, दशरथ के पुत्र, कौशल्या के जाये और सीता के पति हैं। वह उस समय केवल एक सुन्दर व्यक्ति के रूप में ही सामने आते हैं। सीता भी सीता-विशेष के रूप में न आकर एक सुन्दरी-मात्र के रूप में उपस्थित होती है। अतएव सामाजिक के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता कि वह माता सीता के प्रति रति का अनुभव कैसे करे। सीता उसकी अपनी पत्नी के रूप में भी उपस्थित नहीं होती, क्योंकि वह उन्हें सामान्य रूप में, अर्थात् कान्ता-मात्र के रूप में देखता है। अपने या किसी और के सम्बन्ध की भावना उस समय लुप्त रहती है। अतः सामाजिक के लज्जित होने का प्रश्न भी नहीं रहता और दूसरे से सम्बन्ध समझकर उस ओर से उदासीन होने की आवश्यकता भी नहीं रहती। इस प्रकार भावकत्व-शक्ति और साधारणीकरण-व्यापार के द्वारा ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व दोनों दोषों का निरसन हो जाता है।

भट्टनायक काव्य में एक-मात्र अभिधा-व्यापार को ही समर्थ मानने के विरोधी हैं। उनका कथन है कि अभिधा को ही एक-मात्र समर्थ मानकर चलने से 'तन्त्र' आदि शास्त्र-न्याय तथा श्लेष आदि अलंकारों में कोई भेद न रहेगा। एक पद का केवल एक ही बार उच्चारण करके उसके अनेक अर्थों को व्यक्त करना तन्त्र कहलाता है। इसी प्रकार श्लेष में भी एक शब्द के एक ही बार में भिन्न अर्थों का बोध कराया जाता है। किन्तु, तन्त्र में कोई चमत्कार नहीं, जबकि 'श्लेष' अलंकार के रूप में चमत्कारक माना गया है। श्लेषालंकार का बोध हो जाने पर भी यदि सहृदय-संवेद्यता की कमी है, तो चमत्कार उत्पन्न न होगा। भावकत्व ही एक-मात्र वह शक्ति है जो व्यक्ति

भावकत्व की आवश्यकता

को संवेद्य-हृदय बनाए रहती है। उसीके कारण अभिधा में विलक्षणता आती है और वही रस-आस्वाद के लिए मन को तैयार करती है।

भट्टनायक का विचार है कि यदि भावकत्व ही न हो तो काव्य में वृत्ति-भेद, श्रुतिकटु आदि दोष-वर्जन आदि का भी कोई महत्त्व नहीं है। वृत्तियाँ तो इसी लिए बताई जाती हैं कि उनके रहने पर सहृदय को काव्यार्थ का भावन सुगमता से हो सके। कहीं मधुर, कहीं कठोर और कहीं कोमल शब्दों अथवा अक्षरों का प्रयोग करने के सम्बन्ध में साहित्य-शास्त्रों में जो विधि-विधान निश्चित किये गए हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि अभिधा-मात्र से काव्य में काम नहीं चलाया जा सकता। इसके अतिरिक्त दूसरी किसी ऐसी शक्ति की सहायता अपेक्षित है जो काव्य को सहृदय-हृदय-संवेद्य बना सके, जो उसका भावन सामाजिक के मन में करा सके। ऐसी शक्ति की आवश्यकता का एक अन्य प्रमाण अलंकारों, रीतियों एवं संघटना की स्वीकृति से भी मिलता है। ये सभी रसास्वाद के साधन-स्वरूप हैं। तात्पर्य यह कि अभिधा का महत्त्व केवल अर्थ-ग्रहण करा देने तक है, मन में अर्थ रमा देने के लिए किसी दूसरी शक्ति का ही सहारा लिया जायगा। इस प्रकार की शक्ति का नाम भट्टनायक की दृष्टि में 'भावकत्व' ही होना चाहिए।[1]

भोजकत्व-शक्ति

भट्टनायक के अनुसार काव्य की तीसरी शक्ति है, भोजकत्व। भावकत्व-शक्ति द्वारा साधारणीकरण के अनन्तर यह तीसरी शक्ति अपना काम करती है। सामाजिक इस शक्ति के द्वारा भावकत्व द्वारा भावित रसादि का भोग करता है। यह भोग साधारण, लौकिक भोग नहीं है, वरन् यह परब्रह्मास्वाद के सदृश है और अनुभव तथा स्मृति रूप द्विविध लौकिक ज्ञान से सर्वथा विलक्षण है। किन्तु सतोगुण की प्रधानता के द्वारा चित्त का विस्तारादि होने तक चैतन्यस्वरूप, आनन्दात्मक, परब्रह्मास्वादसहोदर अनुभूतिरूप रस का भोग नहीं हो पाता।[2]

१. तत्राभिधा भागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलंकाराणां को भेदः ? वृत्तिभेदेवैचित्र्यं चाकिंचित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनम् च किमर्थम् ? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः; यद्वशादभिधाविलक्षणैव। 'ध्वन्यालोक लोचन', द्वितीय उद्योत। पृ० १८२-३।

२. अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिज संविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत। अ० भा०, प्र०, पृ० २७७।

इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार रस-सूत्र के 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ वस्तुत: 'भोग' है। उनके लिए विभावादि स्थायी के भोजक हैं और स्थायी भोज्य, जिसका विभावादि के सहारे भोग किया जाता है। अत: विभावादि तथा स्थायी का सम्बन्ध भोज्य-भोजक सम्बन्ध कहा जायगा।

भट्टनायक के मत का दार्शनिक आधार

'सत्वोद्रेक' तथा 'भोग' शब्दों को लेकर इस मत का सम्बन्ध सांख्य-दर्शन से स्थापित किया गया है। सांख्य के अनुसार यह प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और स्वतन्त्र पुरुष भी बुद्धि के फेर में पड़कर इस त्रिगुण से प्रभावित हो जाता है। इसके फलस्वरूप वह नाना रूपों में व्यक्त होता है। ये त्रिगुण संसार की प्रतिष्ठा के लिए विशेष अनुपात में मिलकर चलते हैं। जिस प्रकार तेल, आग और वत्ती तीनों मिलकर प्रदीप के द्वारा प्रकाश करते हैं, उसी प्रकार ये त्रिगुण भी एक-दूसरे की सहायता करते हुए इस शरीर में प्रकाशित होते हैं। इन त्रिगुणों का स्वभाव अलग-अलग निश्चित है। सत्व में प्रीति, रज में अप्रीति तथा तमोगुण में विषादात्मकता है।[1] प्रीतिमय होने के कारण सत्व सुखकर है, रज अप्रीति के कारण दु:खकारक और तम विषादात्मक है। सत्व लघु होने के कारण उच्चता की ओर ले जाता है।

सांख्य इस त्रिगुणात्मक बन्धन तथा त्रयताप से मुक्ति का उपाय खोजता है। उसके अनुसार पुरुष प्रकृति के बन्धन में पड़कर अपने-आपको भूल जाता है और त्रिगुण के कारण ही जब-तब उत्पन्न होने वाले दु:खों को अज्ञानवश अपना ही सुख-दु:ख समझ बैठता है। अतएव इससे मुक्ति का एक-मात्र उपाय है अन्य दो गुणों को विजय करके सत्व की प्रधानता उपलब्ध करना। सत्वोद्रेक के सहारे ही पुरुष बुद्धि-प्रभाव-जनित अनेक बन्धनों का नाश करके अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है और कैवल्य-पद को प्राप्त करता है। यह कैवल्य की स्थिति सांख्य में मैध्यस्थ स्थिति कही गई है और पुरुष को इस अवस्था में साक्षी द्रष्टा-मात्र माना गया है।[2] मध्यस्थ का अर्थ टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने 'उदासीन' बताते हुए उसे सुख-दु:ख से हीन माना है। कैवल्य के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि इस स्थिति में सुख-दु:ख, मोह अर्थात् सत्व, एवं तम में से किसी की

१. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रय जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥ सां० का०।
सत्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति ॥१३॥ वही।

२. सां० का०, १९।

भी सत्ता नहीं रहती। यही मुक्ति की अवस्था है।

इस प्रकार, विचार करने से प्रतीत होता है कि भट्टनायक पर सांख्य दर्शन का प्रभाव पड़ा है और उसीके आधार पर उन्होंने अपने सिद्धान्त की नींव उठाई है। किन्तु सांख्य में जिस भोग को कैवल्य का विरोधी स्वीकार किया है, उसका प्रतिपादन करते हुए भी भट्टनायक ने परब्रह्मास्वादसहोदरता की बात कहकर एक विचित्रता उत्पन्न की है। भट्टनायक ने दोनों को स्वीकार करके सम्भवतः यह प्रदर्शित करना चाहा है कि एक ओर तो यह स्थिति वास्तविक सांसारिक सुख-दुःखादि अनुभवसापेक्ष्य स्थिति से भिन्न है और दूसरी ओर यह साक्षात् ब्रह्मास्वाद न होकर उसके सदृश-मात्र है।

भट्टनायक के मत की आलोचना

प्रस्तुत मत में विद्वानों को सबसे अधिक बात खटकी तो यही कि लक्षणा तथा व्यंजना के रहते हुए भी भट्टनायक ने उनकी उपेक्षा करके साहित्य के क्षेत्र में अपरिचित दो सर्वथा नवीन शक्तियों—भावकत्व तथा भोजकत्व—का प्रतिपादन किया।

लक्षणा तथा व्यंजना के प्रतिपादकों ने भावकत्व-व्यापार को व्यर्थ माना और यह घोषित किया कि उसके स्थान पर लक्षणा से काम लिया जा सकता है।

भावकत्व की अनावश्यकता और लक्षणा की सामर्थ्य

भावकत्व की समानता में 'भाग त्याग लक्षणा' का उदाहरण प्रस्तुत किया गया कि जिस प्रकार 'तत्वमसि' अर्थात् 'वह तू है' वाक्य में 'वह' किसी दूरवर्ती अथवा भूतकालीन वस्तु का बोधक है तथा 'है' वर्तमान का द्योतक है, किन्तु दोनों का वर्तमान ईश्वर का द्योतन कराने के लिए ही प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार काव्य में भी जो काम भावकत्व से होता, वह भागत्यागलक्षणा की महिमा से सम्पन्न हो सकता है।

भट्टनायक पर किये गए इस आक्षेप के सम्बन्ध में कई बातें कही जा सकती हैं। लक्षणा का काम बड़ा कठिन है। उसकी सिद्धि के लिए मुख्यतः तीन बातें

भट्टनायक द्वारा उत्तर

आवश्यक मानी गई हैं:—(१) मुख्य अर्थ की सिद्धि में बाधा (२) मुख्य तथा गौण अर्थ में सम्बन्ध, तथा (३) उसका कोई विशेष प्रयोजन। लक्षणा की सिद्धि एक कठिन व्यापार है। इस कठिन व्यापार को समझने में सभी सामाजिक समर्थ नहीं हो सकते। नाट्य को स्वयं भरत मुनि ने सार्ववर्णिक तथा सर्वोपदेशक माना है, जिसके आधार पर नाट्य के सामाजिकों में सर्वसाधारण, अर्थात् आबालवृद्ध-वनिता तथा अल्पबुद्धि से लेकर कुशाग्रबुद्धि, अज्ञानी और अपढ़ से लेकर ज्ञानवानी

और पठित के साथ-साथ सब वर्णों के व्यक्ति आ जाते हैं। इन सामाजिकों में सभी को एक ही कोटि में नहीं रखा जा सकता। अतः यदि नाट्य को सार्वजनिक बनाना है तो उसे इतने स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करना होगा कि मोटी-से-मोटी समझ का व्यक्ति भी उसे समझ सके। ऐसी दशा में यह कहना पूर्णतया निरर्थक ही है कि प्रेक्षक लक्षणा से उसके अर्थ का ग्रहण करते हुए रस-भोग करेंगे। लक्षणा समझने के लिए कुशाग्र-बुद्धि के अतिरिक्त काव्यानुशीलनाभ्यास की भी आवश्यकता है। इस काव्यानुशीलन को अभिनवगुप्त ने सामाजिक की अनिवार्य योग्यता के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु ऐसा मानकर चलना नाट्य की सार्वजनिकता में बाधक होगा। फिर, इस काव्यानुशीलन में भी कई कोटियाँ हो सकती हैं। एक व्यक्ति दूसरे से अधिक योग्य हो सकता है। अतः लक्षणा का व्यापार सबको एक-सा अर्थ द्योतन न करा सकेगा। दूसरे, लक्षणा का ग्रहण एक क्रम से होता है। उसके लिए अभिधा आवश्यक है और उसका बोध भी उतना ही आवश्यक है। इस प्रकार लक्षणा से भाव समझने में एक क्रमिक विकास का सहारा लेना पड़ जायगा, जिसमें पौर्वापर्य बना रहेगा। काव्यार्थ के भावन तथा भोग में इस प्रकार की कठिनता नहीं होती। वहाँ इस अर्थ से उस अर्थ पर बुद्धि छलांग मारकर नहीं चढ़ती और न तर्क-शक्ति ही काम करती है, वरन् वहाँ तो सहज भाव से काव्यार्थ के समझ में आते-आते सब-कुछ मन में बैठने लगता है और भोग भी स्वतः-चालित क्रिया के समान हो जाता है। भोग में एकाग्रता का संकेत मिलता है, जो लक्षणा के कठिन मार्ग पर चलते ही हवा हो जायगी। ऐसी दशा में लक्षणा के स्थान पर भावकत्व को ही स्वीकार करना श्रेयस्कर होगा। एक बात और, लक्षणा का व्यापार विभावादि के साधारणीकरण तक मान भी लिया जाय तो भी प्रश्न यह है कि स्थायी भाव के साधारणीकरण में लक्षणा किस प्रकार काम दे सकेगी? लक्षणा अभिधा पर आश्रित रहती है, किन्तु अभिधा मानसिक भावों को समझाने में सर्वथा अनुपयोगी है, अतः यहाँ वह किस प्रकार अपना काम सम्पन्न कर सकेगी, इस प्रश्न का उत्तर अभिधावादी लोग न दे सकेंगे। अतः भावकत्व को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होगा।

व्यंजना द्वारा इन शक्तियों का विरोध

व्यंजना-शक्ति को स्वीकार करने वाले विचारकों की ओर से भट्टनायक के विरोध में तर्क प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने कहा कि भट्टनायक स्वयं अभिधा के अतिरिक्त दो शक्तियों को स्वीकार करते हैं। ये शक्तियाँ, नाम से चाहे व्यजनादि से विलक्षण ही प्रतीत हों, किन्तु हैं उन्हीं के

स्वीकृति-मात्र। इन्हें कोई नया नाम देने की आवश्यकता नहीं। व्यंजना नाम से ही काम चल सकता है। स्थायी भावों को प्रस्तुत करने का काम यदि लक्षणा से नहीं हो सकता तो व्यंजना उस काम को बड़ी सफलता से कर सकेगी। स्थायी भावों के प्रस्तुतीकरण के लिए जिस विशेष संघटना की आवश्यकता है, व्यंजना उसे सरलता से कर सकती है। अभिधा तथा लक्षणा द्वारा प्रस्तुत विभावानुभाव के सहारे ही स्थायीभाव का बोध होता है। अभिधा केवल शब्द से सम्बन्धित है, अर्थ से नहीं। स्थायीभाव को समझने के हेतु व्यंजना-व्यापार को मानना आवश्यक है। यदि इस व्यंजना-व्यापार को स्वीकार नहीं किया जायगा तो काव्य में जहाँ काकु आदि से काम लिया गया होगा, उनका अभिधा से अर्थ न ग्रहण होने पर भावकत्व भी काम न कर सकेगा। ऐसी दशा में भट्टनायक की सम्पूर्ण कल्पना हो व्यर्थ हो जायगी।

अभिनवगुप्त ने अभिधा के अतिरिक्त दोनों नवीन शक्तियों का विरोध करते हुए इन्हें पूर्णतया अनावश्यक सिद्ध किया है। उनका विचार है कि केवल इतना कह देने-मात्र से कि मन समस्त सुख-दुःखादि रूप क्लेशों से विमुक्त हो गया है, यह पता लग जाता है कि चित्त में सत्वगुण की प्रधानता छा गई है और वह विश्रान्ति की अवस्था में है। उसीसे यह भी प्रकट हो जाता है कि चित्त में वस्तुओं को साधारणीकृत रूप में देखने की शक्ति आ गई है। अतः जब एक बात कहने मात्र से अन्य सब परिणाम एक साथ प्रकट हो जाते हैं, तब व्यर्थ ही दो नई शक्तियों का जाल बिछाना उचित नहीं। काव्य में यह काम गुण, अलंकार तथा अभिनयादि द्वारा भी सिद्ध हो जाता है। अतः भट्टनायक द्वारा स्वीकृत दोनों शक्तियाँ अनुपयोगी और अप्रामाणिक हैं।

अभिनव की आपत्ति

अभिनवगुप्त को भट्टनायक द्वारा भोग की स्थापना और रस-प्रतीति का विरोध भी उचित न लगा। 'प्रतीति' के दो अर्थ किये जा सकते हैं। यदि उसे अनुमान के रूप में ग्रहण किया जाता है तो प्रतीति को अमान्य ठहराना अनुचित न कहा जायगा। किन्तु प्रतीति को ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त समझा जाय तो उसे अस्वीकार न किया जा सकेगा। कारण यह है कि संसार में प्रतीति के अतिरिक्त भोग नाम की और दूसरी वस्तु है ही क्या, कि उसे प्रतीति से भिन्न बताया जा सके? भोग या 'रसन' भी एक ज्ञान या प्रतीति ही है। केवल उपाय-वैलक्षण्य के कारण नामान्तर उपस्थित

रस-प्रतीति के विरोध का अभिनव-कृत विरोध

करना उचित नहीं कहा जायगा।[1] भोग तो स्थायी भाव का ही होता है। इसकी प्रतीति अथवा चेतना चित्त को अवश्य ही बनी रहेगी। जो वस्तु है ही नहीं, जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसका भोग भी नहीं किया जा सकता। अनुपस्थित वस्तु को किसी भी प्रकार के व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। भोग भी एक व्यवहार है, अतः भोग मानने पर प्रतीति आप-से-आप स्वीकृत हो जाती है, क्योंकि जो वस्तु है उसका ज्ञान होता ही है।

भट्टनायक ने स्थायी भावों की प्रतीति को असम्भव माना था, किन्तु अभिनवगुप्त ने उसके विपरीत स्थायी भावों की प्रतीति में भी विश्वास प्रकट किया। अप्रतीति रहने पर वस्तु व्यवहार्य नहीं होती। अतः भोग-रूप में व्यवहार्य मानने पर उसे प्रतीति वाला मानना ही होगा। यह बात दूसरी है कि प्रतीति को जिस प्रकार कभी प्रत्यक्ष, कभी आनुमानिक, कभी शब्द-जन्य आदि उपाय-वैलक्षण्य के कारण और-और नाम दे दिए जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी प्रतीति को चर्वणा, आस्वाद अथवा भोग आदि नामों से पुकारा जा सकता है।[2] यह व्यवहार ठीक ऐसा ही है, जैसे हम पके हुए चावलों, अर्थात् भात को भी यही कहते हैं कि "भात पक गया है।" वस्तुतः, पके हुए चावल का नाम ही भात है, फिर भात को भी पका हुआ बताना असंगत ही कहा जायगा। किन्तु व्यवहार में ऐसा नित्य कहा जाता है और कोई भी उसका तिरस्कार नहीं करता। अपितु, उपचार द्वारा चावल के पकने का ही भाव ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार 'भोग' कहने से भी उपचार से प्रतीति का भाव ही ग्रहण किया जायगा।[3] लौकिक अनुमानादि

---

१. प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति चेत्। सापि प्रतिपत्तिरेव। केवलमपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यतां दर्शनानुमितिश्रुत्युपमितिप्रतिभानादिनामान्तरवत्। निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यो वा असद्वा रस इति न तृतीया गतिरस्याम्। न चाप्रतीतं वस्त्वस्तिव्यवहारेयोग्यम्। अ० भा०, प्र० भा०, पृ० २७७।

२. सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किं तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिमानकृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु। तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्यालोकोत्तररूपत्वात्।

ध्व० लोचन, पृ० १८७।

३. रसाः प्रतीयन्त इति ओदनं पचतीतिवद्व्यवहारः प्रतीयमान एव हि रसः।

ध्व० लोचन, पृ० १८७।

से विलक्षण प्रतीति होने के कारण ही इसे भोगादि नाम दिये गए हैं। विलक्षणता यही है कि प्रत्यक्षादि कारण कार्य-सम्बन्धादि से प्रतीत होते हैं, किन्तु रस इन नियमों में सीमित न रहकर प्रतीत होता है।[1]

अभिनव ने एक और तर्क देकर रस-प्रतीति को स्वीकार किया है और ध्वनन-व्यापार की प्रतिष्ठा करते हुए भोगीकरण को भी उसीके अन्तर्भूत कर लिया है। उनका विचार है कि अन्यान्य जन्मों में संचित संस्कार अथवा वासना के द्वारा सामाजिक को रामादि जैसे लोकोत्तर चरितों का भी हृदयसंवाद हो जाता है। इसी कारण प्रतीति स्वीकार की जा सकती है। उस प्रतीति का स्वरूप 'रसन' अथवा 'आस्वाद' ही है। व्यंजना की शरण लिये बिना यह रसन सम्भव नहीं होता। व्यंजना ध्वनन-व्यापार है। अतः भोगीकरण-व्यापार भी ध्वननात्मक है, उससे भिन्न और कुछ नहीं।[2]

भट्टनायक का रज तथा तम के पराभव के द्वारा सत्व के उद्रेक से द्रुति, विस्तारादि को मान लेना और सत्व को प्रधान स्वीकार करना इस बात को प्रमाणित करता है कि सत्वादि गुणों के आनुपातिक मिश्रण का प्रभाव स्वीकार किया गया है। यह मिश्रण बहुविध हो सकता है। यदि बहुविध मिश्रण स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है तो भोग में भी तर-तम का भेद स्वीकार करना पड़ जायगा, क्योंकि उसका सम्बन्ध गुण से है। जिस रस को भोग-मात्र कहकर छोड़ दिया गया है, उसकी अनेकानेक प्रणालियाँ स्वीकार करनी होंगी। ऐसा करना सर्वथा अप्रामाणिक होने से तिरस्कार्य है। अतः भट्टनायक का सिद्धान्त इस दृष्टि से भी ठीक नहीं

सत्वादि का अङ्गांगि-भाव और रसभोग की प्रणालियाँ

१ प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। सा च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतया सन्दधाना। एवं काव्ये अन्यशाब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा। वही।

२. रामादिचरितं तु न सर्वस्य हृदयसंवादीति महत्साहसम्। चित्रवासनाविशिष्टत्वाच्चेतसः। यदाह—"तासामनादित्वं आशिषो नित्यत्वात्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्"। इति।—तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यंजनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगंकेकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत्किंचित्।

लोचन, पृ० १८७-८।

बैठता ।[1]

भट्टनायक के मत को सदोष प्रमाणित करते हुए भी उनकी मौलिकता तथा गम्भीर चिन्तन को स्वीकार करना पड़ेगा। उनके द्वारा प्रतिपादित सत्वोद्रेक, विश्रान्ति, साधारणीकरण आदि को आगे चलकर अभिनय गुप्त-जैसे आचार्यों तक ने स्वीकार किया और उनके समान रस को आगे परब्रह्मास्वाद-सहोदर कहने की ऐसी परिपाटी चली कि आज तक चली आ रही है। उन्होंने रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए दृश्य के साथ-साथ श्रव्य-काव्य का भी विचार किया। लोल्लट तथा आचार्य शंकुक ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया था। उनकी ओर से करुण रस के आस्वाद का भी कोई विचार नहीं किया गया था। भट्टनायक ने 'साधारणी करण' सिद्धान्त को उपस्थित करके करुण की आस्वादनीयता को सरलता और सफलतापूर्वक समझा दिया। परब्रह्मास्वाद-सहोदर कहकर रस को जागतिक अनुभव तथा स्मृति आदि से भिन्न बताने का काम भी भट्टनायक की ओर से हुआ। इसके द्वारा रस की सुखदुःखात्मकता से भिन्नता प्रतिपादित करने में सहायता मिली। यद्यपि भट्टनायक ने प्रेक्षक में रति आदि को स्वीकार न किया, तथापि उन्होंने साधारणीकरण के द्वारा रसास्वाद की समस्या को पर्याप्त सफलता से समझाने की चेष्टा की है। भावन-व्यापार, जिसकी आचार्यों ने कोई आवश्यकता नहीं बताई है, में निविड़-निजमोह के संकट के निवारण तथा साधारणीकरण की सिद्धि को महत्त्व देकर भट्टनायक ने वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का ही उद्घाटन करने की चेष्टा की है। साधारणीकरण के द्वारा उन्होंने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि सामाजिक के लिए प्रमुख वस्तु है, कथा वस्तु। पात्रों का व्यक्तित्व, स्थान, कालादि की ओर सामाजिक उतना उन्मुख नहीं रहता, और यदि उनका सम्यक् संघटन हो तो सामाजिक का मन मुक्त भाव से उसका आनन्द लेता है। इसके द्वारा उन्होंने इच्छा-शक्ति का भावात्मक प्रक्रिया में स्थान निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। वे भावन को भावों का गुण-मात्र नहीं मानते। अभिनयादि के कलात्मक प्रयोगों के वैचित्र्य की ओर यह इच्छा धावित होती है। तात्पर्य यह कि भट्टनायक ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है वह भले ही उनकी नवीन सद्भावनाओं और नवीन नामों के

भट्टनायक का महत्त्व

---

१. प्रतीतिरिति तस्य भोगीकरणम्। तच्च द्रभूत्यादिस्वरूपम्। तदस्तु, तथापि न तावन्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावन्त एव रसनात्मानः प्रतीतयो भोगीकरण स्वभावाः। (सत्वादि) गुणानां चांगागिवैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमितिकर्तृ (कात्रि) त्वेनेयत्ता। अ० भा०, प्र० भाग, पृ० २७७।

कारण आचार्यों के बीच त्रुटिपूर्ण माना गया हो, किन्तु यह भी सत्य है कि उक्त सिद्धान्त मौलिक होने के साथ-साथ बहुत अंशों में मनोवैज्ञानिक और स्वीकार्य सिद्ध हुआ है।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

आचार्य भट्टतौत के शिष्य तथा भरत के 'नाट्य-शास्त्र' पर 'अभिनव भारती' तथा 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नामक टीकाओं के विख्यात लेखक आचार्य अभिनवगुप्त रस-सूत्र को शैव-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पर आँकने के कारण नवीन उपपत्तियों के साथ इस क्षेत्र में उतरे। आप रस-सूत्र के चौथे व्याख्याता थे।

अभिनवगुप्त का प्रतिपादन

भट्टनायक ने रसास्वाद के कारणों पर बड़ी योग्यतापूर्वक प्रकाश डालते हुए भी इस बात को अलक्षित ही छोड़ दिया था कि रसास्वादकर्ता प्रेक्षक, पाठक या श्रोता के स्वयं के भावों से भी रसास्वाद में कोई सहायता मिलती है कि नहीं। उन्होंने सारा महत्त्व केवल काव्य-शक्तियों को ही दिया। अभिनव ने उनके मत में इस त्रुटि को लक्षित किया और रस का सीधा सम्बन्ध सामाजिक के भावों से बताया। उन्होंने सामाजिक के हृदय में पूर्व से ही स्थित कतिपय वासनारूप संस्कारों की कल्पना की। रस-परिपोष के लिए सामाजिक में अनादिवासना की आवश्यकता है। यह वासना सबमें होती है। वासना-संवाद ही रस का मुख्य हेतु है।[1] इन्हीं वासनागत संस्कारों को स्थायी भाव कहा जाता है। न्यूनाधिक रूप में यह सभी प्राणियों में जन्म-जात रूप में पाए जाते हैं।[2] किसी में एक भाव प्रधान है तो किसी में कोई दूसरा। यदि एक अत्यधिक क्रोधी है तो अन्य अत्यन्त मृदुल, सरल और करुणापूर्ण चित्त वाला दिखाई देता है। कभी ऐसा भी होता है कि एक ही भाव की विशेष साधना के कारण भी दूसरे भाव गौण और प्रायः लुप्त से प्रतीत होने लगते हैं। कभी-कभी अवस्था-भेद से भी इनमें गौण-प्रधान भाव उत्पन्न होता रहता है। अभिनव को इस विचार की

१. अत एव सर्व सामाजिकानामेकघनतयैव प्रतिपत्तेः सुतरां रस परिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्।

आ० भा०, प्र० भाग, पृ० २७९।

२. जात एव हि जन्तुरियतभिः संविद्भिः परीतो भवति। अ० भा०, पृ० २८२। तथा, न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित्काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना।—वही।

सामग्री वस्तुत: महाकवि कालिदास की निम्न पंक्तियों में मिली :

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि हि जन्मान्तरसौहृदानि ॥ अ० शा०, अं० ५।२

रम्य वस्तु को देखकर अथवा मधुर शब्दों को सुनकर मन में स्थिर भाव तुरन्त जाग उठते और व्यक्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि सामाजिक अपने स्थायी भावों के जाग्रत हो जाने पर ही आनन्द-लाभ करता है।

वासना के रहते हुए भी अभिनवगुप्त ने सहृदय (सामाजिक) के लिए काव्यानुशीलनाभ्यास, लौकिक अनुभव, विमल प्रतिभानशालिहृदय तथा वीतविघ्नता को 'रसास्वाद' के लिए आवश्यक बताया है। इन सबका वर्णन हम 'रसास्वाद' प्रकरण में करेंगे। यहाँ इतना और कथनीय है कि रसास्वाद के लिए इन विघ्नों का अपसारण नितान्त आवश्यक है। जब तक सामाजिक का हृदय वीत-विघ्न स्थिति में न पहुँचेगा, तब तक रसास्वाद की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वस्तुतः रस तो वीतविघ्नप्रतीति ही है।[1] तटस्थता, विषयां-वेशादि के अपसृत हो जाने पर रस साक्षात् हृदय में प्रवेश करता-सा जान पड़ने लगता है।[2]

वीतविघ्न स्थिति में होने वाली शान्ति अपने-आप इतनी चमत्कारपूर्ण होती है कि उसे ही रसन, आस्वाद, भोग, समापत्ति, विश्रान्ति, संबित्ति आदि अनेकानेक पर्यायों से समझाया जाता है। यही चमत्कार अद्भुत भोग-रूप अथवा स्पन्द-रूप होता है।[3] यह दशा न तो लौकिक ही है न मिथ्या ही, न इसे अनिर्वचनीय कह सकते हैं, न लौकिक के तुल्य-मात्र या आरोप-मात्र कहने से ही काम चल सकता है।[4]

विभावादि रसास्वाद में किस प्रकार सहायक होते हैं, वे किस प्रकार विघ्नों के अपसारक कहे जा सकते हैं ? इस सम्बन्ध में विचार करते हुए उन्होंने भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण सिद्धान्त को भी अपनाया। उन्होंने

१. सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः। वही, पृ० २८०।
२. निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। वही। पृ० २७९।
३. भुंजानस्याद्भुतभोगस्पन्दाविष्टस्य च मनःकरणं चमत्कार इति। वही। पृ० २७९।
४. तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी, न मिथ्या, नानिर्वाच्या, न लौकिकतुल्या, न तदारोपादिरूपा। वही पृ० २८०।

चार स्थितियों की कल्पना की। पहली स्थिति में हम रंगमंच पर व्यक्ति-विशेष को ही देखते हैं। हम यह जानते और मानते रहते हैं कि यह नट रामादि की वेशभूषा में है अथवा यह रामादि हैं। यह स्थूलप्रत्यक्ष की स्थिति है। इस प्रकार की स्थिति में हमारी चक्षुरिन्द्रिय सहायक होती हैं। किन्तु रंगमंच पर गीत-वाद्यादि का प्रयोग प्रेक्षक को कुछ दूसरी ही अवस्था में ले जाने लगता है। संगीतादि के प्रभाव से सहृदय की कल्पना धीरे-धीरे उदित होने लगती है और तब व्यक्ति-विशेष अपने व्यक्तित्व को त्यागकर हमारे सम्मुख सामान्य रूप में ही आते हैं। इस स्थिति में व्यक्ति-विशेष का बोध तो नहीं होता, किन्तु द्वैत बना रहता है। सहृदय 'मैं' और 'वह' का भेद जानता रहता है। इसी दूसरी स्थिति के सम्पन्न होने पर व्यक्ति का चित्त उसमें धीरे-धीरे लीन होने लगता है और उसके चित्त में अवस्थित स्थायी भाव फिर तीसरी अवस्था में न तो उसके अपने रहते हैं न किसी अन्य से उनका व्यक्ति-विशिष्ट सम्बन्ध रहता है। विभावादि के व्यक्तित्व-लोप के साथ यह वासनात्मतया स्थित स्थायी भाव साधारणीकृत होकर उद्बुद्ध होने लगते हैं। अब यदि सहृदय का चित्त किसी प्रकार के विघ्न से प्रभावित न हो तो वह इसी साधारणीकृत उद्बुद्ध स्थायी का रसरूप में आनन्द लेने लगता है। यही अन्तिम स्थिति है। अभिनवगुप्त ने 'शाकुन्तल' में आए हुए उस दृश्य को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है जहाँ दुष्यन्त मृग का पीछा करता हुआ दिखाया गया है।[1] इस उदाहरण से एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि अभिनव सहृदय का भी साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। सहृदय अपने भावों का, उन्हें अपने व्यक्तित्व से बाँधकर, अनुभव नहीं करता। दूसरे शब्दों में, उसे उस स्थिति में अपने व्यक्तित्व का बोध तल्लीनता के कारण हो ही नहीं पाता। त्रास के कारण भागते हुए हरिण को देखकर प्रेक्षक का स्थायी भाव-भय जाग्रत हो जाता है। उसे उस समय अपने और पराये का भेद ज्ञान नहीं रहता और वह यह भी भूल जाता है कि यह उसका अपना नहीं हरिण का है अथवा वह उसका

१. तस्य च ग्रीवाभंगाभिराममित्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततद्वाक्योपापात्तकालादिविभागा तावत् प्रतीति-रुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितं, तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थोवा इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःख-सुखादिकृतहानादिबुध्यंतरोदय नियमवत् तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्न प्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्त्त-मानं भयानको रसः। अ० भा०, पृ० २७९।

है या उसके शत्रु या मित्र का है। वह देश-कालादि से असम्बद्ध साधारणीकृत भाव का ही अनुभव करता है। यह साधारणीकृत भाव चमत्कार-रूप, आस्वाद स्वरूप और आनन्दमय होता है। प्रेक्षक के आनन्द का यही कारण है। इस अवस्था में सुख अथवा दुःख का अनुभव न होकर एक विशेष विश्रान्ति का अनुभव होता है, जो आनन्दात्मक है। इसी प्रकार शृंगार रस, संवित् के द्वारा गोचरीभूत साधारणीकृत रति ही है।[1]

अभिनव विभाव का कार्य 'विभावना', अनुभाव का 'अनुभावना' तथा संचारी भावों का काम 'समुपरंजन' मानते हैं। विभावना के द्वारा बीज-भाव अंकुरित होता है, अनुभावना उसी भाव को अनुभव योग्य बना देती है और समुपरंजन के द्वारा वे पूर्णतया प्रकट कर दिए जाते हैं।[2] प्रेक्षक की मानसिक स्थिति इन तीनों से प्रभावित होती रहती है। इसके फलस्वरूप ही वासनारूप से स्थित प्रेक्षक के स्थायी भाव रसरूप में प्रकट अथवा व्यक्त हो जाते हैं। रस अभिव्यक्त होता है। 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' ही है।

अभिनवगुप्त ने भरत के सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' दोनों शब्दों का मूल ऐतिहासिक पात्र तथा सहृदय दोनों की दृष्टि से विचार किया है। नटगत अनुभावादि को देखकर प्रेक्षक को रामादि के भावों की सूचना मिलती है अतएव नट के अनुभावादि राम के स्थायी भाव के सूचक हैं। इस प्रकार उनमें सूच्य-सूचकभाव सम्बन्ध वर्तमान रहता है। प्रेक्षक के दृष्टिकोण से विचार करते हुए उन्होंने बताया है कि 'संशययोग' विघ्न के कारण प्रेक्षक के स्थायी भाव भली प्रकार प्रबुद्ध न होने से उनका आस्वाद नहीं किया जा सकता, किन्तु निर्विघ्न

१. अतएव न तटस्थतया रत्यवगमः न च नियतकारणतया येनार्जनाभिषंगादिसंभावना। न च नियतपरात्मैकगततया। येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता संतानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदो गोचरीभूता रतिः शृङ्गारः।
अ० भा०, पृ० २८६

२. तैरेबोधानकटाक्षवीक्षादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनानुभावनासमुपरंजकत्वमात्रप्राणैः, अतएवालौकिक विभावादिव्यपदेशभाभिः प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनस्थापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाणस्वरूप भेदैर्गुणप्रधानतापर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं संबन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।
अ० भा०, प्र० भाग, पृ० २८४

स्थिति में यही विभावादि उसके स्थायी भाव के अभिव्यंजक होते हैं। उनमें परस्पर अभिव्यंजक-अभिव्यंज्य सम्बन्ध मानना उचित है। इसी प्रकार 'निष्पत्ति' का अर्थ भी काव्यगत सामग्री तथा मूलपात्र के विचार से 'सूचना' तथा रसिक के दृष्टिकोण से उसके भावों की 'अभिव्यक्ति' है।

अभिव्यक्तिवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि

अभिनवगुप्त शैव मतावलम्बी थे। उनका सिद्धान्त इसी मत की भूमि में अंकुरित हुआ है। शैव-सिद्धान्त अद्वैतवादी दर्शन-सिद्धान्त है। वह द्वैत का तिरस्कार करता है। इस सिद्धान्त में परम सत्ता को परम शिव के नाम से पुकारा जाता है। यह सूक्ष्म परमशिव अव्यक्त, असीम तथा अरूप आदि कहा गया है। इसी अव्यक्त में शिव तथा शक्ति के अद्वैत की स्थिति है। उस स्थिति में प्रमाता और प्रमेय, शक्ति और शिव का कोई भी भेद नहीं रहता। परमशिव दोनों होकर भी अखण्ड हैं, उसे दो नहीं कहा जा सकता। यह परमशिव एक स्वतन्त्र शक्ति है। स्वतन्त्र शक्ति कहने का तात्पर्य यह है कि इस व्यक्त जगत् का समस्त प्रसार इसीमें सिमटा हुआ, अव्यक्त स्थिति में रहता है और जब इसकी इच्छा होती है, यह अनेकानेक रूपाकारों में उसे व्यक्त कर दिया करता है। उसकी इच्छा और क्रिया-शक्ति के प्रभाव से यह जगत् व्यक्त हो जाता है। इसी व्यक्त प्रसार के कारण उसे ससीम, 'स' रूप आदि भी कहा जाता है। यह सृष्टि उस परमशिव में इस प्रकार निहित है, जैसे योगी में सृष्टि छिपी रहती है। वह जब इच्छा करता है, अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा उसे व्यक्त कर देता है अथवा जब चाहता है अपने शरीरस्थ कर लेता है। उस परमशिव की इच्छा ही इस भव का मूल कारण है। वही इसमें व्याप्त, किन्तु सीमित होकर व्यक्त हो जाता है। यह उसका वास्तविक रूप नहीं है, अतः शैव इसे 'आभास' मात्र कहना ही उचित समझता है। प्रमाता के लिए यह आभास प्रत्यक्ष व्यवहार के द्वारा सामान्य या जाति रूप में प्रकट होता है। वह इसकी अनुमिति न करके अनेक में प्रत्यक्ष रूप में एक-से लक्षण देखकर उसकी जाति का बोध करता है, 'यत्र यत्र गौः तत्र तत्र गोत्वं' के सहारे नहीं, अपितु प्रत्यक्ष देखकर 'गोत्व' की सिद्धि करता है। आभास-दशा ही 'विकल्प' की दशा कही गई है। शैव परमशिव तथा आभास-दशा के सम्बन्ध को 'मयूराण्ड रस-न्याय' द्वारा समझाते हैं। मयूर में रंगों का वैचित्र्य प्रकट रूप में दिखाई देता है, किन्तु वह रंग मयूराण्ड में ज़र्दी-मात्र में अव्यक्त रूप से रहते हैं। उसी प्रकार परमशिव में यह जगत् भी अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है। यह परमशिव जब तक 'अहमिति' अथवा 'मैं' का ज्ञान रखता है तब तक 'आभास' के प्रसार की आवश्यकता नहीं होती।

यह प्रमाता तथा प्रमेय का अभेद केवल 'मैं' के द्वारा व्यक्त होता है। 'अहं' के इसी प्रत्यवमर्श का नाम है परमशिव की 'विमर्श' दशा। अहं ज्ञान का बोधक है और ज्ञान का सम्बन्ध शक्ति अथवा चित् से है। विमर्श तथा अहं एक स्थिति के द्योतक हैं। विमर्श-दशा चित् या शक्ति से सम्बन्धित है। किन्तु, यह शिव तथा शक्ति के अभेद के बिना सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार शक्ति से सम्बन्ध रखकर भी विमर्श दशा परमशिव के आभास से नहीं, स्वयं उसीके अद्वैत रूप से सम्बन्ध रखती है। अतः यह निर्विकल्प अवस्था से भी सम्बन्धित है। शुद्ध विमर्श की दशा में ही शैव आनन्द को स्वीकार करता है। उस दशा में परमशिव इच्छा-रहित और आत्मस्थ होता है। उसमें केवल चित् तथा आनन्द शेष रहता है। वह इच्छा-रहित है, अतः उस समय विषय अथवा विषय का द्वैतबोध हो ही नहीं सकता। इच्छाशक्तिजनित ज्ञान ही द्वैत का कारण होता है। उसके न रहने पर 'मैं' और 'तुम' के भेद की आवश्यकता ही नहीं रहती। तात्पर्य यह कि यह परमशिव मायाजनित देश-काल की बाधा से सर्वथा स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र होने के कारण ही इस दशा को शैव चमत्कारादि भी कहते हैं। अतएव अभिनवगुप्त ने जहाँ विघ्नविनिर्मुक्ति, संवित्ति, चमत्कार, रसना, आस्वादादि को पर्याप्त माना है[1], वहाँ यदि चमत्कार के स्थान पर 'विमर्श' शब्द का प्रयोग किया जाय तो आस्वादादि विमर्श के ही पर्याय ठहरते हैं। उस आस्वाद को उन्होंने विश्रान्ति समापत्ति तथा विघ्न-विनिर्मुक्ति कहकर परमशिव की इसी स्वतन्त्र अथवा आत्मस्थ दशा की ओर संकेत किया है। इसे ही हम विमर्श कहते हैं।

अभिनव ने इसी आधार पर रस को निर्विघ्न-प्रतीति माना है और स्थायी भावों को हमारे हृदय में पूर्व से ही स्थित स्वीकार किया है। जिस प्रकार स्रष्टा परमशिव की अन्तःव्यापी इच्छा-मात्र से सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार सहृदय के हृदय में स्थायी भाव वासना-रूप में अवस्थित हैं और समय पाकर वही रस-रूप में व्यक्त हो जाते हैं। किन्तु जिस प्रकार परमशिव की इच्छा विघ्न-हीन है, उसी प्रकार रस की अभिव्यक्ति के लिए भी सहृदय का हृदय सात विघ्नों से मुक्त रहना चाहिए, तभी विश्रान्ति अनुभव होगी।

भट्टनायक ने जिस भोग सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया था, वह भी शैव-सिद्धान्त की कसौटी पर खरा न उतरा। शैव मानता है कि भोग सुख, दुःख अथवा उदासीनता के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सत्व, रजस् तथा तमस् का परिणाम

१. "तथा हि—लोके सकलविघ्नविनिर्मुक्ता सवित्तिरेव चमत्कार निर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादिशब्दैरभिधीयते।"

अ० भा०, प्र० भा०, पृ० २८०।

यही है। भोग विषयी तथा विषय के द्वैत का बोधक है। वह विषयी-विशेष की अनुभूति है। किन्तु, अभिनवगुप्त का विचार था कि परब्रह्मास्वादसहोदर कहे जाने वाले रस का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि रसानुभूति ब्रह्मास्वादसहोदर है तो वह गुणातीत होनी चाहिए। गुणातीत होने पर ही उसे व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त कहा जा सकता है। वस्तुतः यह भोग की नहीं बल्कि शैवों की 'परम-भोग' की स्थिति है। इसीसे इसे 'विश्रान्ति' कहा गया है। परमभोग केवल आत्मस्थ अवस्था है। वह निरपेक्ष आनन्द है। भोग भुक्त वस्तु की प्राप्ति-मात्र से शान्त नहीं हो जाता, बल्कि और किसी वस्तु की कामना भोगी के मन में जाग उठती है। भूख के समय भोजन की तीव्राकांक्षा अन्य आकांक्षाओं को दबाए रह सकती है, किन्तु बुभुक्षा की शान्ति होते ही किसी अन्य आकांक्षा से व्यक्ति चंचल हो उठता है। इस प्रकार का तथाकथित आनन्द वस्तुतः आनन्द नहीं है। वास्तविक आनन्द वह है, जब व्यक्ति किसी वस्तु का भोग करते हुए थोड़ी देर के लिए उसी भोग में लीन हो जाय। उसे उस समय विषय का नहीं, केवल स्वानुभूति का ही ज्ञान रहे। यही स्थिति आत्मस्थ स्थिति कही जाती है। काव्य का प्रभाव भी इसी प्रकार का होता है, जिसमें आस्वादयिता अपने सम्बन्धों को भूलकर निर्विघ्नप्रतीति-लाभ करता है। अतः इसे व्यावहारिक भोग न कहकर परमभोग कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

"अभिनवगुप्त ने रस की व्याख्या में आनन्दसिद्धान्त की अभिनेय काव्य वाली परम्परा का पूर्ण उपयोग किया। शिव सूत्रों में लिखा है—**'नर्तक आत्मा प्रेक्षकाणि इन्द्रियाणि'**। इन सूत्रों में अभिनय को दार्शनिक उपमा के रूप में ग्रहण किया गया है। शैवाद्वैतवादियों ने श्रुतियों के आनन्दवाद को नाट्य-गोष्ठियों में प्रचलित रखा था। इसलिए उनके यहाँ रस का साम्प्रदायिक प्रयोग होता था। **विगलितभेदसंस्कारमानन्दरसप्रवाहमयमेव पश्यति**—क्षेमराज। इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है। अभिनवगुप्त ने नाट्य-रसों की व्याख्या में उसी अभेदमय आनन्द रस को पल्लवित किया।"[1]

उक्त उद्धरण में प्रसाद जी एक ओर रस-सिद्धान्त को श्रुतियों पर आधृत बताते हैं, किन्तु दूसरी ओर शैव-सिद्धान्त के अन्तर्गत समरसता-सम्बन्धी विचार से उसका सम्बन्ध घटित करते हैं। यह समरसता क्या है? समरसता जीवात्मा-परमात्मा की वह अवस्था है, जिसमें उनका सम्बन्ध परस्पर दम्पति के सम्बन्ध के समान रहता है और जहाँ जाकर द्वैत भी अमृतोपम लगने लगता है। अर्थात् जिस प्रकार दम्पति एक-दूसरे के लिए सब-कुछ त्याग करते और दूसरे के सुख

१. 'काव्य-कला' और अन्य निबन्ध, पृ० ७५।

में ही सुखी रहते हुए अमृत के समान आनन्द का भोग करते हैं, उसी प्रकार साधारणीकरण अवस्था में पहुँचे हुए स्थायी भाव के द्वारा संवित्विश्रान्ति की स्थिति में सामाजिक को केवल रस का ही आस्वाद होता है। इसी समरसता को शैवागमों में इस प्रकार बताया गया है :

> जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।
> स्त्रियोरिव दम्पत्योः जीवात्मपरमात्मनोः ॥

यहाँ श्रुतियों के सम्बन्ध में एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना उपयोगी होगा। अथर्ववेद में ब्रह्म को अकाम, अमृत, स्वयंभू तथा रस से तृप्त यक्ष कहा गया है, जिसको जान लेने पर मृत्यु का भय नहीं रहता।[1] वहाँ द्वैत का भाव जाता रहता है। केवल एकत्व की अनुभूति होने से मोह, शोक आदि का प्रपंच शान्त हो जाता है[2] और आनन्द-मात्र रह जाता है। इस रस-स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए भटकने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह यक्ष तो हमारी अष्टचक्रा, नवद्वारा, देवपुरी अयोध्या अर्थात् शरीर में ही ज्योतिर्मण्डित हिरण्य-कोश अथवा अपराजिता हिरण्यपुरी में विराजमान रहता है।[3]

कदाचित् अभिनवगुप्त ने रस के सम्बन्ध में विचार करते हुए जिस वासना का उल्लेख किया है, उसके वर्णन द्वारा उन्होंने यह लक्षित कराना चाहा है कि रस यदि ब्रह्मानन्द या उसका सहोदर है तो ब्रह्म तो घट-घट व्यापी है, उसे अपने में ही खोजने से केवल उसका लाभ ही नहीं होता, अपितु उसका आनन्द भी हमें व्याप्त कर लेता है। उसी प्रकार उसका सहोदर भी सहृदय में ही वासित है। ब्रह्मासक्त के समान उसके खोजी को भी तदासक्त होकर ही उसकी अपने में खोज करनी चाहिए। जब उसकी आसक्ति-उत्कृष्ट अवस्था पर पहुँच जाती है, तभी रस अभिव्यक्त हो उठता है।

अभिव्यक्तिवाद भी अन्य मतों के समान आलोचना से न बच सका। उस

---

१. अथ० वे० १०, ८, ४३-४४। का० सौ०, पृ० ६।
२. य० वे० ४०, ७-८। ,, वही।
३. अथ० वे० १०, २, ३१-३३। ,, वही।

> अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
> तस्यां हिरण्ययः कोशः ज्योतिषावृतः ॥
> तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते ।
> तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥
> प्रभ्राजमानां हरिणी यशसा संपरिवृताम् ।
> पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥

पर भी कई प्रकार के आक्षेप किये गए। यथा, यह कहा गया कि रस की अभि-व्यक्ति स्वीकार करने का तात्पर्य था रस की पूर्वस्थिति स्वीकार कर लेना। जो वस्तु पहले से विद्यमान नहीं है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। अतएव रस अभि-व्यक्त होता है, यह कहना उचित नहीं।

आलोचना की पूर्वस्थिति और कार्यकारणवाद

अभिव्यक्तिवाद पर किये गए इस आक्षेप का उत्तर अभिनवगुप्त ने स्वयं दे दिया है। उन्होंने 'लोचन' में "**रसाः प्रतीयन्त इति ओदनं पचतीतिवद्‌व्यवहारः**" पंक्ति के द्वारा इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि रस तो उसी रूप से अभि-व्यक्त होता है, जैसे चावल भात के रूप में आ जाता है। जिस प्रकार चावल को ही पकने पर भात कह दिया जाता है उसी प्रकार स्थायी भाव की भी रस-रूप में अभिव्यक्ति स्वीकार की जाती है। यदि पके चावल को भात मानने में कोई आपत्ति नहीं है, तो रसाभिव्यक्ति-सिद्धान्त पर भी कोई आपत्ति नहीं उठानी चाहिए। इस प्रकार अभिव्यक्त होने वाले रस के सम्बन्ध में किसी तर-तम या कोटि-भेद की कल्पना करना उचित नहीं, क्योंकि यह अभिव्यक्ति विभावादि-संयोग से युगपत्‌रूप में होती है, क्रमशः नहीं।

विभावादि तथा रस में कारण-कार्य-सम्बन्ध को मान लेने पर विभावादि में पौर्वापर्य भी मानना पड़ेगा, किन्तु उनके बीच साहचर्य-सम्बन्ध माना गया है। ऐसी दशा में कार्यकारण पर निर्भर अभिव्यक्ति-वाद को भी स्वीकार न किया जा सकेगा।

कार्य-कारण सम्बन्ध

परन्तु अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार अभिव्यक्तिवाद को प्रस्तुत किया है, उसे स्पष्ट समझने के लिए 'दीपघटन्याय' का सहारा लिया जाता है। उनका कथन है कि जिस प्रकार दीपक अन्धकार में रखे हुए घट को प्रकाशित करने में कारण-स्वरूप है, उसी प्रकार विभावादि और रस का भी सम्बन्ध मानना चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार दीप का प्रकाश होते ही घट उसीके साथ-साथ प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार विभावादि का रस के साथ पौर्वापर्य सम्बन्ध न मान-कर समकालिक सम्बन्ध मानने में कोई हानि नहीं है। इससे कार्य-कारणवाद का आक्षेप निरर्थक हो जाता है।

उक्त उदाहरण के सम्बन्ध में भी आपत्ति की जा सकती है कि दीप तथा घट कितने भी समकालिक हों, तथापि दर्शक को उन दोनों के पृथक्त्व का बोध रहता ही है। इसके विपरीत रस-प्रतीति को स्वय अभिनवगुप्त ही "विभावादि संवलिता प्रतीति" मानते हैं। वह समूहालम्बनात्मक प्रतीति है। इसमें विभा-

वादि का पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं रहता, बल्कि पानक-रस के समान एक-साथ मिलकर, उनके प्रभाव-स्वरूप विचित्र प्रकार का रस आता है। अतः यहाँ दीप तथा घट की-सी पृथक् स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अभिनव-गुप्त के लिए यह आपत्ति बाधक सिद्ध न होकर साधक ही सिद्ध हुई है। उन्होंने इसी विचित्रता के नाते रस को अलौकिक स्वीकार कर लिया है।[1]

अनुमितिवाद का समर्थन करते हुए 'व्यक्ति विवेक' के लेखक महिमभट्ट ने भी अभिव्यक्तिवाद का विरोध किया है। महिम ने अभिव्यक्ति के तीन प्रकारों की कल्पना की है। एक यह कि कारण में ही कार्य को निहित मानकर, समय आने पर उसकी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है। जैसे, दूध से दही की अभिव्यक्ति मानी गई है। दूसरे, कार्य के रहते हुए भी, बिना कारण के दिखाई न देने की स्थिति भी हो सकती है। अर्थात् ऐसा हो सकता है कि घट पूर्व से ही अन्धकार में रखा है, वह वर्तमान है, किन्तु बिना दीप के प्रकाश के वह दीखता नहीं। दीपक के आते ही वह प्रकाशित हो जाता है। तीसरी स्थिति को हम धूम तथा अग्नि के उदाहरण के सहारे समझा सकते हैं। अर्थात् कालान्तर में पुनः किसी पूर्वानुभूत विषय की भी, स्मृति द्वारा पुनः अभि-व्यक्ति हो सकती है। जैसे, धूम से अग्नि की अभिव्यक्ति। इन तीन में से प्रथम दो के लिए ध्वन्यर्थ का प्रयोग करना व्यर्थ है, क्योंकि वैसा मानने पर ध्वन्यर्थ को भी दही के समान प्रत्यक्ष स्वीकार करना पड़ जायगा। धूम तथा अग्नि-सम्बन्ध वाली तीसरी बात अनुमान के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं।[2] यहाँ व्याप्ति-सम्बन्ध का बोध आवश्यक है, अन्यथा इस प्रकार का ज्ञान ही न होगा। यदि व्यापित-सम्बन्ध को तिरस्कृत कर दिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि ध्वन्यर्थ की प्रतीति रूढ़िगत अर्थ से सभी को हो जायगी और व्याप्ति-सम्बन्ध को

अभिव्यक्ति के तीन प्रकार : उनका खण्डन

१. **अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः। क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेद्भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ। पानकादिरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत्। अ० भा०, प्र० भा०, पृ० २८५।**

२. **न चैतल्लक्षणं वाच्ये संगच्छते। तथाहि···सतोऽभिव्यक्तिराद्ययोरर्थयो-र्लक्षणं न तन्प्रतीयमानेष्वेकमपि संस्प्रेष्टुं क्षमते तस्य दध्यादेरिवेन्द्रिय विषय-भावापत्ति प्रसंगात् घटादेरिव वाच्यार्थं सहभावेनेदन्ताप्रतीतिरसम्भवात्। न च स्वरूपासंस्पर्शि लक्षणं भवति तृतीयस्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव संगच्छते, न व्यक्तेः। व्य० वि०, पृ० ७८।**

जानने से कोई बाधा उपस्थित न होगी ।[1] वस्तुतः रस-प्रतीति के सम्बन्ध में धूम तथा अग्नि वाला अनुमिति का उदाहरण ही उचित है । ध्वन्यर्थ की प्रतीति भी समकालिक न होकर परिणामस्वरूप ही है । उसे असंलक्ष्यक्रम कहने का तात्पर्य ही यह है कि प्रतीति के समय भले ही क्रम लक्षित न हो पाता हो, किन्तु उसमें किसी-न-किसी प्रकार का क्रम है अवश्य । यदि ऐसा न होता तो उसे असंलक्ष्य-क्रम न कहकर अक्रममात्र कहना चाहिए था । अतः अभिनव के इस विचार को न तो तर्कसम्मत ही कहा जा सकता है और न वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि के अनुसार समकालीनता की सिद्धि का प्रमाण ही मिलता है । उन दोनों में ही ध्वनित वस्तु और दृश्य अथवा वाच्य में अन्तर बना रहता है । एक-दूसरे में क्रम विद्यमान रहता है । अतः इस विचार से अभिव्यक्ति का रसध्वनि से कोई सम्बन्ध न रहेगा ।[2]

महिमभट्ट द्वारा किये गए इन आक्षेपों का वास्तविक कारण यह है कि उन्होंने अपनी ओर से अभिव्यक्ति की परिभाषा प्रस्तुत की है और उन उदाहरणों को ले लिया है, जिनका अभिव्यक्तिवादी ने उल्लेख तक नहीं किया है ।

अभिनव की ओर से दीप तथा घट का उदाहरण प्रस्तुत किया गया था, महिम द्वारा कथित अन्य उदाहरणों को उन्होंने स्वीकार ही नहीं किया है । अभिनव ने इस प्रकार का उदाहरण वस्तुतः यह बताने के लिए रखा था कि व्यंजित की अनुभूति व्यंजक-निरपेक्ष नहीं होती । अनुभूति के समय दोनों की उपस्थिति बनी रहती है । केवल उसके ज्ञान का आग्रह नहीं रहता । इतनी बात समझने से अभिव्यक्तिवाद पर उठाई गई महिम की आपत्तियों की व्यर्थता स्वतः सिद्ध हो जाती है ।

अभिनवगुप्त का महत्त्व

उपरिलिखित विवेचन से यह प्रकट हो जाता है कि अभिनवगुप्त के अभिव्यक्ति सिद्धान्त के प्रति की गई आपत्तियों की निस्सारता तथा साहित्य के क्षेत्र में उसकी अधुनातन मान्यता इस बात की प्रमाण है कि अभिनवगुप्त का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण है । अभिनवगुप्त के द्वारा दी गई व्याख्या में ही रस-सूत्र

१. न च वाच्यादर्थादर्थान्तर प्रतीतिरविनाभावसम्बन्धस्मरणमन्तरेणैव संभवति, सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसंगात् । नापि सहभावेन्,धूमाग्निप्रतीत्योरिव । तत्प्रतीत्योरपि क्रमभावस्यैव संवेदनादित्यसंभवो लक्षणदोषः । व्य०वि०,पृ०-७६ ।

२. अथ रसाद्यपेक्षया तयोः सहभावेन प्रकाशोभिमत इत्युच्यते, अव्याप्तिस्तर्हि लक्षणदोषः वस्तुमात्रालंकारप्रकाशस्य प्रकाशकासहभावेनाव्याप्तेः । न च रसादिष्वपि विभावादिप्रकाशनसहभावेन प्रकाशनमुपपद्यते । वही, पृ० वही ।

का भाव पूर्णतया खिल सका। शंकुक और अभिनव अथवा भट्टनायक और अभिनव में कई समानताएँ भी पाई जाती हैं, तथापि ये आचार्य अभिनव के समान सूत्र की व्याख्या न कर सके। अभिनवगुप्त ने आगे बढ़कर सामाजिक से रस का सम्बन्ध घटित करके सूत्र को सरल बना दिया है। उनके द्वारा रसिकगत आस्वाद का उचित कारण बता दिया गया। अभिनवगुप्त ने स्थायी को वासनारूप कहकर उसे नित्य स्वीकार कर लिया, किन्तु शंकुक उसे अनुमेय-मात्र ही मानते रहे। शंकुक ने जिस स्थायी भाव को नट में अनुमेय माना, वह उनके अनुसार, वस्तुत: नट में अवस्थित नहीं था। इसके विपरीत अभिनव ने उसे प्रेक्षकगत मानकर अनुभूतिगम्य तथा एक सत्य मान लिया। उनके सामने यह प्रश्न ही न उठ सका कि अन्य के स्थायीभाव से प्रेक्षक को आनन्द क्यों हो ? इस प्रकार वे उस दोष से बच गए, जिससे शंकुक न बच सके। शंकुक के मत में बड़ी उपहसनीय बात यह रह गई कि वे स्थायी भाव के अनुमान-मात्र से आनन्द मानने लगे। उनके लिए स्थायी भाव ही रस रह गया, जबकि अभिनव ने इस बात को स्पष्ट रूप से बता दिया है कि रस स्थायी भाव-मात्र से विलक्षण होता है।...**"स्थायिविलक्षणो रसः"**। तात्पर्य यह कि शंकुक तथा अभिनव के प्रतिपादन में आकाश-पाताल का अन्तर है। दोनों की कोई समता नहीं। शंकुक अंधेरे में टटोलते हुए व्यक्ति के समान हैं; जबकि अभिनव की व्याख्या एक सजग और सुचिन्त व्यक्ति की व्याख्या ज्ञात होती है।

शंकुक के दोषों से बचने का पर्याप्त प्रयत्न करते हुए भट्टनायक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, किन्तु उनके प्रतिपादन में भी कुछ ऐसी बातें रह गईं जिनका परिमार्जन आगे चलकर अभिनवगुप्त द्वारा हुआ। भट्टनायक ने काव्य की तीन शक्तियों की चर्चा तो की, किन्तु प्रेक्षक या पाठक के हृद्गत स्थायी भावों तक उनकी दृष्टि भी न जा सकी। अभिनव ने उन्हें ही वासनारूप से अवस्थित बताकर आस्वाद की समस्या को सुलझा दिया। भट्टनायक ने अभिधा के अतिरिक्त जिन दो शक्तियों का सहारा लिया वे भी आप्त प्रमाणा-भाव के कारण व्यर्थ ही सिद्ध हुईं। भट्टनायक को भोग के लिए उक्त नवीन शक्तियों की आवश्यकता प्रतीत हुई किन्तु अभिनव ने भोग को सुख-दुःखात्मक, अत: तिरस्कार्य मानकर रस को निर्विघ्न परमभोग, विश्रान्ति आदि की कोटि तक पहुँचाया। उन्हें सहृदय के हृदय की वीतविघ्नता एक आवश्यक स्थिति ज्ञात हुई। यह कहा जा चुका है कि भट्टनायक ने भावकत्व के द्वारा वीतविघ्नता तथा साधारणीकरण को स्वीकार किया, किन्तु अभिनव ने भावकत्व के मूलकारण के द्वारा ही इस स्थिति की सिद्धि स्वीकार करके भावकत्व को निरर्थक घोषित

कर दिया। अभिव्यक्ति-मात्र से ही सब काम निकल जाता है। अभिनव ने भोजकत्व-शक्ति का काम भी व्यंजना-व्यापार से ही चलता हुआ बताया है। व्यंजना के द्वारा साधारणीकरण की स्थिति में रसास्वाद अथवा आनन्दानुभूति संभव मान ली गई। क्योंकि सत्वस्थ मन वस्तुओं को साधारणीकृत अवस्था में देखता है और परिणाम-स्वरूप आनन्द के लिए भी तैयार रहता है। इस प्रकार भट्टनायक की शक्तियाँ भी अभिनव के तर्क के सामने परास्त हो गईं और उनका मत भी पिछड़ा रह गया।

अभिनवगुप्त ने वासनागत स्थायी भावों का संकेत करके सामाजिक की कल्पना को रसास्वाद में सहायक सिद्ध किया है। विभावादि की विशेष स्थिति को देखकर सामाजिक के मन में भी तत्समान भाव उद्बुद्ध होने लगते हैं। किन्तु व्यक्तिगत न होने के कारण ही वह कल्पना सुखदुःखातीत होकर केवल अलौकिक आनन्ददायिनी बन जाती है। इस प्रकार वासनागत संस्कार, विघ्न और उसका नाश, साधारणीकरण की व्यापकता, आनन्द-प्राप्ति में विभावादि का योग आदि कई बातों पर अभिनव ने पूर्ण मौलिक ढंग से विचार करके एक नवीन और संगत सिद्धान्त की स्थापना की है।

पंडितराज जगन्नाथ तथा अन्य

रससूत्र की व्याख्याओं में सर्वाधिक मान्यता अभिव्यक्तिवादी दृष्टिकोण को मिली। अभिनव के सिद्धान्त को उनके परवर्ती विद्वानों ने युक्तियुक्त स्वीकार करते हुए उसका ही प्रतिपादन किया। आचार्य मम्मट इस क्षेत्र में सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, जिनके द्वारा अभिव्यक्तिवाद को सम्मान प्राप्त हुआ। रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ ने भी उसीका सहारा लेना उचित समझा। उन्होंने 'रसगंगाधर' में रस-निष्पत्ति विषयक ग्यारह मतों का उल्लेख किया है। जिनमें अभिनवगुप्त का मत सर्वप्रथम रखा गया है। उनके मत को उद्धृत करते हुए पंडितराज ने आचार्य मम्मट की साक्षी भी दी है।

अभिव्यक्तिवाद की पंडितराज द्वारा नवीन व्याख्या

पंडितराज ने अभिनव के मत को प्रस्तुत करने में कुछ नवीनता लाने की चेष्टा की। उन्होंने अभिनव द्वारा कथित वासनाओं को तो उसी रूप में स्वीकार किया ही, किन्तु वेदान्त का सहारा लेकर आत्मा की अज्ञानावृत्त दशा को स्वीकार करने में भी वे पीछे न रहे। उनकी नवीनता इस बात में है कि वे आनन्दरूप आत्मा को अज्ञानोपहित मानकर चले। आत्मा स्वतः प्रकाशमान

तथा आनन्द-रूप है, किन्तु सांसारिक व्यक्ति सहज ही उसके इस स्वरूप को नहीं जान पाता। न जानने का कारण उसका अज्ञान है। संसार का सारा प्रसार उस ब्रह्म की माया है। माया मनुष्य के चित्त के लिए अज्ञान का आवरण है। इस माया की अवास्तविकता को न समझकर व्यक्ति अनेकानेक सुख-दु:ख, क्लेश, मोहादि का अनुभव करता है। इसकी अयथार्थता को जान लेना ही वास्तविक ज्ञान है, विद्या है। इसे न जानकर इसीमें फँसे रहना ही अज्ञान है, अविद्या है।

यह अविद्या ही व्यक्ति को आत्मा का वास्तविक रूप नहीं जानने देती। अत: इस अविद्या को हटाने का उपाय ही कर्तव्य है। इसके हटते ही स्वत: प्रकाशमान आत्मा झलकने लगता है और आनन्द फैल जाता है। इसीलिए पंडितराज ने कहा है कि वासनारूप रति आदि स्थायी भाव, जो एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं, जब स्वत: प्रकाशमान और वास्तव में विद्यमान आत्मानन्द के साथ अनुभव किये जाते हैं, तो रस कहलाने लगते हैं।[1] आत्मानन्द के अनुभव में बाधक अविद्या रूपी आवरण को हटाने के लिए एक अलौकिक क्रिया की अपेक्षा मानी गई है। अज्ञानावरण के दूर हो जाने के परिणामस्वरूप ही अनुभवकर्ता की अल्पज्ञता, अर्थात् किसी का बोध और किसी का अबोध आदि नष्ट हो जाते हैं और सांसारिक भेद-भाव से निवृत्त होकर उसे आत्मानन्द सहित रति आदि स्थायी भावों का अनुभव होने लगता है।

पण्डितराज ने 'व्यक्त' शब्द का तात्पर्य समझाते हुए उसे अज्ञान-रूप आवरण का नष्ट होना बताया है। इस अज्ञान-रूप आवरण के नष्ट होने का अभिप्राय वस्तुत: चैतन्य का विषय होना अथवा उसके द्वारा प्रकाशित होना माना गया है। जैसे, किसी बोरे आदि से ढका हुआ दीपक, उस ढक्कन के हटा देने पर पदार्थों को प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है, इसी प्रकार आत्मा का चैतन्य, विभावादि से मिश्रित रति आदि को प्रकाशित करता और स्वयं प्रकाशित होता है। रति आदि अंत:करण के धर्म हैं और जितने अन्त:करण के धर्म हैं, उन सबको 'साक्षीभास्य' माना गया है। अर्थात् संसार के जितने पदार्थ हैं, उनको आत्मा अन्त:करण से संयुक्त होकर भासित करता है और अन्त:करण के धर्म-प्रेम आदि···उस साक्षात् देखने वाले आत्मा के ही द्वारा प्रकाशित होते हैं?[2]

रति आदि को आत्मा के द्वारा प्रकाश्य मानकर चलना सम्भव कहा जा

१. हि० र० गं०, पृ० ५५।

२. वही, पृ० ५८।

सकता था, वे अन्तःकरण में वासनारूप से स्थिर हैं, उनका आत्म-चैतन्य के द्वारा बोध हो सकता है, किन्तु कठिनाई विभावों के सम्बन्ध में है। विभाव का अस्तित्व अन्तःकरण-बाह्य है। उनको आत्मा किस प्रकार प्रकाशित करेगा ? यह एक प्रश्न है।

एक प्रश्न

इसे पूर्व-पक्ष मानकर पण्डितराज ने इसका समाधान भी किया है। वे दो उदाहरणों से अपनी बात समझाते हैं। एक ओर वे स्वप्न में देखे हुए घोड़े आदि को लेते हैं और दूसरी ओर राँगे में चाँदी की प्रतीति का उदाहरण देते हैं। उनका कहना है कि स्वप्न में दिखाई पड़ने वाले घोड़े आदि वस्तुतः कोई पदार्थ नहीं हैं, वे स्वप्न देखने वाले की कल्पना-मात्र में उद्‌भूत हैं; अतः उनका साक्षिभास्य होना कठिन नहीं। इसी प्रकार हमारी जाग्रत अवस्था में भी इस प्रकार का साक्षिभास्य संभव है। हम जागते हुए भी कभी-कभी राँगे में ही चाँदी की प्रतीति कर बैठते हैं। यह प्रतीति चाँदी पदार्थ-विशेष की नहीं, बल्कि काल्पनिक चाँदी की प्रतीति है। इस काल्पनिक चाँदी की सत्ता केवल आत्मा के प्रकाश में ही दिखाई पड़ सकती है। अतएव उसका साक्षिभास्य सम्भव है। इसी प्रकार दृष्ट विभावादि नहीं, अपितु हमारी कल्पना के परिणामस्वरूप विभावादि का साक्षिभास्य भी हो सकता है। वे भी आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित हो सकते हैं।

साक्षिभास्य स्थिति के सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति यह की गई कि आत्म-चैतन्य के द्वारा अन्तःकरण के धर्म, जैसा बताया गया है, वासना-रूप से उसमें रहते हैं, अर्थात् वे नित्य हैं। इसके विपरीत रस नित्य नहीं कहा जा सकता। अतएंव उसका साक्षिभास्य सम्भव न हो सकेगा।

दूसरी शंका नित्य रस

रस के सम्बन्ध में इस प्रकार की शंका भी पण्डितराज को अमान्य ही प्रतीत हुई। रस की सदैव स्फूर्ति नहीं होती, केवल इसी कारण उसे अनित्य कहना उचित नहीं। रस को विभावादि के सम्बन्ध के कारण ही मान लिया जाता है, क्योंकि यह विभावादि नष्ट और प्रस्तुत होते रहते हैं। दूसरी ओर, अज्ञानरूप आवरण कभी नष्ट हो जाता है और कभी नहीं। जब नष्ट होता है तब रस उत्पन्न होता है और जब अज्ञान का आवरण बना रहता है तो स्वयं रस नष्ट हो जाता है। आवरण के उत्पत्ति-विनाश के आधार पर ही रस की भी उत्पत्ति अथवा उसका विनाश माना जाता है। किन्तु, आवरण के नष्ट होने पर रस के प्रकट होने का स्पष्ट रूप से तात्पर्य यही है कि वह पूर्व से ही स्थायी-भाव के रूप में विद्यमान रहता है, भले ही हमें उसका अनुभव उससे पूर्व न हो।

ऐसी दशा में रस को अनित्य कहना उचित नहीं, साथ ही इस प्रकार साक्षि-भास्य में भी बाधा न होगी। रस को अनित्य मानना वैयाकरणों द्वारा एक ओर अक्षरों को नित्य मानने और दूसरी ओर वर्णों के स्थान-प्रयत्नादि के अनुसार उच्चारण का विचार करके उन्हें अनित्य, नाशवान और उत्पत्तिमान मानने के समान है। वस्तुतः रस नित्य है।

अभिनवगुप्त के अनुसार व्याख्या का जो रूप पण्डितराज ने अपनी ओर से प्रस्तुत किया है, उसमें अलौकिक क्रिया की आवश्यकता समझी गई है।

अलौकिक क्रिया की अनपेक्षितता : दूसरी संभावना

पण्डितराज ने एक दूसरे रूप में रस-निष्पत्ति की समस्या को समझाने की चेष्टा की है, जिसमें इस अलौकिक क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। उनका कथन है कि सहृदय अपनी विशेष योग्यता के कारण अपने सम्मुख प्रस्तुत विभावादि के द्वारा उद्दीप्त अपनी कल्पना के सहारे तुरन्त ही, बिना किसी अलौकिक क्रिया की सहायता के, स्थायी भाव से युक्त स्वरूपानन्द का अनुभव करने लगता है। उसकी चित्तवृत्ति उसीमें तल्लीन हो जाती है।[1] उसकी चित्तवृत्ति को उस समय स्थायी भाव से युक्त आत्मानन्द के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का बोध नहीं रहता। इस प्रकार पंडितराज ने भग्नावरण-चिद्विशिष्ट रत्यादि स्थायी भावों को ही रस माना है।[2] उन्होंने चित्तवृत्ति की तल्लीनता को सविकल्पक समाधि में योगी की चित्तवृत्ति के समान बताया है।[3]

रस का आनन्द अन्य सांसारिक सुखों के समान नहीं है, क्योंकि वे सब सुख अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्य-रूप होते हैं, उनके अनुभव के समय

रस की अलौकिकता तीसरी संभावना

चैतन्य और अन्तःकरण की वृत्तियों का योग रहता हैं। इसके विपरीत यह आनन्द अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यरूप नहीं बल्कि शुद्ध चैतन्यरूप है, क्योंकि इस अनुभव के समय चित्तवृत्ति आनन्दमयी हो जाती है और आनन्द अनवच्छिन्न रहता है। उसका अन्तःकरण की वृत्तियों के द्वारा

१. यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते। र० गं०, पृ० २२।

२. हि० र० गं०, पृ० ६१।

३. वही, पृ० ६०।

अवच्छेद नहीं रहता।[1] इसी कारण पण्डितराज ने आगे चलकर श्रुति का पल्ला पकड़कर रति आदि से युक्त आवरणरहित चैतन्य को ही रस बताया।[2]

इस प्रकार पण्डितराज के द्वारा रस की दो परिभाषाएँ उपस्थित की गईं। एक ओर ज्ञानरूप आत्मा के द्वारा प्रकाशित होने वाले रति आदि को रस की संज्ञा दी गई, और दूसरी ओर रति आदि के विषय में होने वाले ज्ञान को ही रस मान लिया गया। दोनों परिभाषाएँ दो प्रकार की हैं। एक में चैतन्य विशेषण बनकर आया है और दूसरी में वही विशेष्य के रूप में उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार रति आदि भी विशेषण और विशेष्य के अन्तर से उपस्थित की गई हैं। देखने में भेद अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु यह बात भी लक्षित करने योग्य है कि स्थायी भाव तथा चैतन्य, दोनों का साथ रहना आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया है।

दोनों परिभाषाओं में अन्तर

चाहे भग्नावरणचिद्विशिष्ट को रस-चर्वणा माना जाय अथवा अन्तःकरण-वृत्ति की आनन्दरूपता को, दोनों पक्षों में से किसी को भी मानने पर रस की आनन्दस्वरूपता असन्दिग्ध ठहरती है। आनन्दरूपता के विषय में सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि श्रुति में पहले ही इस बात को प्रमाणित कर दिया गया है कि आत्मा रसरूप है ('रसो वै सः'), अथवा रस को प्राप्त करके ही वह आनन्दरूप होता है। (रसंह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति) स्वयं सहृदय भी इसकी आनन्दरूपता के प्रमाण हैं। किन्तु यह रस-चर्वणा आनन्द-रूप होकर भी परब्रह्मास्वाद-रूप समाधि के आनन्दानुभव से विलक्षण प्रकार की है। समाधि का नियम है कि उसमें विषयों का साथ नहीं बना रहता। इसके विपरीत रस-चर्वणा, काव्य के व्यंजना-व्यापार से उत्पन्न होती है और उसमें विभावादि का योग आवश्यक रूप से बना रहता है। बिना विभावादि के संयोग के रस-चर्वणा की स्थिति ही नहीं आती। यह विभावादि लौकिक पदार्थ अथवा विषय ही हैं। विषयों के रहते हुए भी यह उनके प्रभाव से सुख तथा दुःखात्मक न होकर केवल आनन्दरूपात्मक होती है और ब्रह्मास्वाद केवल विषयों से निरासक्त रहकर ही लभ्य होता है। वहाँ सांसारिक पदार्थों की पहुँच नहीं, अन्यथा बाधा उपस्थित हो जाती है। इसी कारण रस-चर्वणा को विलक्षण कहा गया है।

रस-चर्वणा और उसकी विलक्षणता

पण्डितराज ने रस-चर्वणा को शाब्दी अपरोक्षात्मिका माना है। पण्डितराज

१. हि० र० गं०, पृ० ६०-६१।
२. वही, पृ० ६१।

का इसे शाब्दी कहने से तात्पर्य यह था कि यह रस-चर्वणा काव्य-पाठ अथवा श्रवण के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। इसकी सिद्धि में शब्द-व्यापार ही प्रमुख है। किन्तु साथ-ही-साथ इसका स्वरूप कुछ ऐसा है, जो केवल आन्तर आनन्द के रूप में ही अनुभव-गोचर होता है। यह अनुभव एक प्रकार से आत्मानुभव ही है, अतएव इस अनुभव को अपरोक्षात्मिका कहना भी अनुचित नहीं है। इस अनुभव को आत्मानन्द के सदृश मानने का कारण जहाँ इसकी विलक्षणता का द्योतन कराना है; वहाँ उससे अपरोक्षात्मक आनन्द की अनुभूति की भी सिद्धि होती है। जिस प्रकार साधन आत्मानन्द का अपरोक्ष आनन्द अनुभव करता है, उसी प्रकार सहृदय को भी रस का आस्वाद अपरोक्ष रूप में ही होता है। इसीलिए पण्डितराज ने ऐसे प्रत्यक्ष सुख का आलम्बन माना है। उन्होंने वेदान्त के आधार पर इस ज्ञान की तुलना 'तत्त्वमसि' वाक्य के ज्ञान से की है।[1]

रस-चर्वणा शाब्दी अपरोक्षात्मिका है

विद्वानों ने पण्डितराज के सिद्धान्त को वेदान्तभूमि पर अंकुरित एवं पल्लवित माना है। ऐसा मानने का विशेष कारण वस्तुतः आवरण-भंग की स्वीकृति ही है। वेदान्त श्रुतिसम्मत अद्वैतवादी दर्शन है। इस दर्शन की दीक्षा लेने का अधिकार और इसका प्रयोजन, इन सब बातों का निर्देशक इस दर्शन के ग्रन्थों में किया गया है। उन ग्रन्थों का प्रयोजन अज्ञान की निवृत्ति के द्वारा आत्मस्वरूप की प्रतिष्ठा तथा आनन्द की प्राप्ति बताया गया है। इस प्रकार आत्मज्ञानसम्पन्न व्यक्ति शोक को जीत लेता हैं, इसके पार हो जाता है। श्रुति में कहा भी है: **'तरति शोकमात्मवित्'**। श्रुति में ही यह भी बताया गया है कि ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है। दोनों में कोई भेद नहीं रहता। अज्ञात के नष्ट हो जाने पर प्रमाता और प्रमेय का भेद नहीं रहता।[2]

पंडितराज का सिद्धांत और वेदान्त-दर्शन

अधिकार-निर्णय में क्रमशः इस या अन्य-जन्म में प्राप्त अध्ययन, अनेक उपायों द्वारा कलुषहीनता तथा अन्तःकरण की निर्बलता, यही तीन मुख्य शर्तें

१. हि० र० गं०, पृ० ६३।

२. प्रयोजनं तु तदैक्यप्रमेयगताज्ञाननिवृत्तिस्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च तरति शोकमात्मवित् इत्यादि श्रुतेः 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतेश्च।
'वेदान्तसार' खण्ड ४।

हैं।[1] अध्ययन की आवश्यकता संस्कार बनाने के लिए है, विवेक के लिए है। कलुष-हीनता, पाप-पुण्य और मोहादि से मुक्त करके संसार के आकर्षण और सुखादि के अनुभव से निरपेक्ष बनाने के लिए है; और अन्तःकरण की निर्मलता इसलिए आवश्यक है कि बिना वैसा हुए शुद्धचेतन प्रमेय का प्रतिबिम्ब उसमें लक्षित न हो सकेगा। अभिनवगुप्त ने भी सहृदय को जिन लक्षणों से समन्वित माना था वह काव्यानुशीलनाभ्यास तथा मनोमुकुर का निर्मलीकरण ही हैं। इसी से वर्णनीय वस्तु में तन्मय होने की स्थिति सम्भव है। वेदान्त की 'कलुष-हीनता' वस्तुतः अभिनव के 'मनोमुकुर के निर्मलीकरण' में ही आ जाती है। उसे पृथक् रूप से समझाने की आवश्यकता उन्हें न हुई। सम्भवतः अभिनवगुप्त के रसास्वादाधिकारी की योग्यताओं का साम्य वेदान्त के अधिकारी से घटित होते देखकर ही पण्डितराज ने उनके मत को वेदान्तसिद्धान्त के आधार पर समझाने की चेष्टा की। अभिनव ने सहृदय में स्थायी भावों को वासनागत माना था और शकुन्तला नाटक से उदाहरण देकर उन वासनाओं के जन्मान्तर से अर्जित होने का संकेत भी कर दिया था। वेदान्त की उक्त पंक्तियों में भी इस या उस जन्म में अर्जित वेदार्थ का आग्रह जन्मजन्मान्तरार्जित वासनाओं का संकेतक माना जा सकता है।

वेदान्त में चैतन्यरूप 'तुरीय' की प्राप्ति की साधक समाधि के सविकल्पक तथा निर्विकल्पक अथवा संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात नाम से दो भेद बताए गए हैं। निर्विकल्प समाधि में ज्ञातृ-ज्ञानादि विकल्पलय हो जाता है और दो वस्तुएँ तदाकार होकर एक ही प्रतीत होने लगती हैं। चित्तवृत्ति एक ही भाव में लीन हो जाती है। इसकी सिद्धि में चार अन्तराय अथवा विघ्न माने गए हैं। ये क्रमशः लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वाद हैं।[2] इन चार प्रकार के विघ्नों से विरहित होकर जिस समय चित्त निर्वात दीप के समान अचल होकर अखण्ड चैतन्यमात्र में प्रतिष्ठित हो जाता है, तभी निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो पाती है।[3] इस प्रकार

१. अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदांगत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकलमषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तःसाधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता। 'वेदान्तसार', पृष्ठ ३-४।

२. निर्विकल्पकस्य लयविक्षेपकषायरसास्वादलक्षणाश्चत्वारो विघ्नाः सम्भवन्ति। वै०, खण्ड ३२।

३. अनेन विघ्नचतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वातदीपवदचलं सदखण्डचैतन्यमात्रमवतिष्ठते यदा तथा निर्विकल्पकः समाधिरित्युच्यते। वही, खण्ड ३३।

अभिनवगुप्त द्वारा कथित रसास्वाद के विघ्नों के सदृश वेदान्त में भी विघ्नों की उपस्थिति मानी गई है।

वेदान्त के जीवन्मुक्त तथा अभिनवगुप्त के रसास्वादकर्ता सहृदय में भी बड़ा साम्य है। ब्रह्मनिष्ठ ही जीवन्मुक्त होता है। जीव तथा पुरुष के बीच कर्तृत्व भोक्तृत्वरूप से सुखदुःखादि लक्षणों वाली क्लेशरूप, बन्धनमय चित्तवृत्ति से रहित समस्त बन्धनों से मुक्त आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित, ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति ही जीवन्मुक्त होता है। इसके हृदय की ग्रन्थि भिद जाती है, समस्त संशय तथा कर्म नष्ट हो जाते हैं।[1] यह संसार के क्रिया-कलाप को देखकर भी उसमें लिप्त नहीं होता। उसकी स्थिति इन्द्रजाल देखने वाले जैसी है, जो इन्द्रजाल जानकर भी उसे देखता है और फिर भी उसे पारमार्थिक नहीं मानता।[2] ऐसा व्यक्ति ही परम कैवल्य-स्वरूप, आनन्दैकरस, अखिलभेद-प्रतिभास-रहित अखण्ड ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है।[3] इसी प्रकार सकलविघ्नविनिर्मुक्त चित्त वाला सहृदय भी परमानन्दरूप रस का आस्वाद करता है।

सम्भव है वेदान्त के सिद्धान्तों का रसास्वाद तथा सहृदय सम्बन्धी अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से बहुत अधिक साम्य देखकर ही पण्डितराज ने उनके मत की व्याख्या वेदान्त के अनुकूल की हो। पण्डितराज की इस व्याख्या का एक परिणाम यह हुआ कि जहाँ एक ओर **'रसो वै सः'** श्रुति के आधार पर चिदात्मक रस का संकेत किया गया, वहाँ दूसरी ओर दूसरी श्रुति के सहारे वृत्तिरूप रस को भी स्वीकृति मिली।

पण्डितराज ने अपने मत के साथ अन्य मतों का उल्लेख किया है। उसके द्वारा उल्लिखित ग्यारह मतों में कुछ विशेष विचारणीय और पूर्वोल्लिखित मतों से नवीन हैं। इनमें नवीनों के नाम से दिया गया मत निम्न प्रकार है।

अन्य मत

काव्य में कवि के द्वारा और नाटक में नट के द्वारा, जब विभाव आदि प्रकाशित कर दिए जाते हैं, वे उन्हें सहृदयों के सामने उपस्थित कर चुकते हैं,

---

१. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ 'वेदान्त सार', खण्ड ३४।

२. सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति, द्वयं च पश्यन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः, स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः ॥
वही, खण्ड ३५।

३. परमकैवल्यमानन्दैकरसमखिलभेदप्रतिभासरहितमखण्डब्रह्मावतिष्ठते।
वही, खण्ड ३८।

तब हमें व्यंजना-वृत्ति के द्वारा, दुष्यन्त आदि की जो शकुन्तला आदि के विषय में रति थी, उसका ज्ञान होता है···हमारी समझ में यह आता है कि दुष्यन्त आदि का शकुन्तला आदि के साथ प्रेम था। तदनन्तर सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है, जो एक प्रकार का दोष है। इस दोष के प्रभाव से हमारा अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाता है—अर्थात् हम उस दोष के कारण अपने को, मन-ही-मन, दुष्यन्त समझने लगते हैं। तब जैसे अज्ञान से ढके हुए सीप के टुकड़े में चाँदी का टुकड़ा उत्पन्न हो जाता है—हमें सीप के स्थान में चाँदी की प्रतीति होने लगती है। ठीक इसी तरह पूर्वोक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित अपने आत्मा में, शकुन्तला आदि के विषय में, अनिर्वचनीय सत्-असत् से विलक्षण, अतएव जिनके स्वरूप का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता, ऐसी रति आदि चित्त-वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं; अर्थात् हमसे शकुन्तला आदि के साथ व्यवहारतः बिलकुल झूठे प्रेम आदि उत्पन्न हो जाते हैं, और वे चित्तवृत्तियाँ आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती हैं। बस उन्हीं विलक्षण चित्तवृत्तियों का नाम रस है। यह रस एक प्रकार के दोष का कार्य है और उसका नाश होने पर नष्ट हो जाता है, अर्थात् जब तक हमारे अन्दर दोष का प्रभाव रहता है तभी तक हमें उसकी प्रतीति रहती है।[1]

उक्त नवीन विद्वानों ने रस की विलक्षणता प्रतिपादित करते हुए कहा है कि "यद्यपि यह न तो सुखरूप है, न व्यंग्य है और न इसका वर्णन हो सकता है, तथापि इसकी प्रतीति के अनन्तर उत्पन्न होने वाले सुख के साथ जो इसका भेद है, वह हमें प्रतीत नहीं होता, इस कारण हम इसका सुख शब्द से व्यवहार करते हैं। इसी तरह इसके पूर्व व्यंजनावृत्ति के द्वारा, शकुन्तला आदि के विषय में दुष्यन्त आदि की रति आदि का ज्ञान होता है, उसका और इस झूठे प्रेम आदि का भेद विदित नहीं होता, अतः इसे हम व्यंग्य और वर्णन करने योग्य कह देते हैं। अर्थात् हम यह कहने लगते हैं कि यह व्यंजनावृत्ति से प्रकाशित हुआ है और कवि ने इसका वर्णन किया है। इसी प्रकार सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी अनिर्वचनीय ही है, उसके स्वरूप का भी यथार्थ निरूपण नहीं हो सकता।"[2]

दोष की कल्पना का समर्थन और साधारणीकरण का खण्डन करते हुए इन नवीनों ने कहा है कि "जब हम अपने-आपको दुष्यन्त समझ लेते हैं,

१. हि० र० गं०, पृ० ६७-८।
२. वही, पृ० ६८-६९।

तब यह समझते हैं कि यह रति आदि हमारे ही हैं, किसी अन्य व्यक्ति के नहीं, बस इसी का अर्थ यह है कि हमको दुष्यन्तत्व ने आच्छादित कर दिया।" इस तरह मानने से भट्टनायक की जो शंकाएँ हैं कि—'दुष्यन्त आदि के जो रति आदि भाव हैं, उनका तो हमें आस्वादन नहीं हो सकता, अतः वे रस नहीं कहला सकते, क्योंकि उनका शकुन्तला आदि से कोई सम्बन्ध नहीं। यदि दुष्यन्त के साथ अपना अभेद मानें तो वह हो नहीं सकता, क्योंकि हमको 'वह राजा है हम साधारण पुरुष' इत्यादि बाधक-ज्ञान है—इत्यादि "सो सब उड़ गईं और जो कि प्राचीन आचार्यों से विभावादिकों का साधारण होना लिखा है उसका भी बिना किसी दोष की कल्पना किये सिद्ध होना कठिन है, क्योंकि काव्य में जो शकुन्तला आदि का वर्णन है, उसका बोध हमें शकुन्तला, दुष्यन्त की स्त्री आदि के रूप में ही होता है, केवल स्त्री के रूप में नहीं।"[1] तात्पर्य यह कि इनके विचार से साधारणीकरण के स्थान पर दोष की कल्पना करना ही उपयोगी होगा।

इस प्रकार इन नवीन आचार्यों ने एक साथ ही वासना-सिद्धान्त का भी तिरस्कार किया और साधारणीकरण का भी। तथापि उन्हें व्यंजनावृत्ति स्वीकार करनी पड़ी। दोष की कल्पना सर्वथा नवीन रही। परन्तु दोष-कल्पना आरोप-सिद्धान्त पर निर्भर है। यह आरोप स्वतः निस्सार है, अतः यह कल्पना भी निर्मूल है। इसे स्वीकार कर लेने पर रसास्वाद को हीनत्व की ओर ले जाने वाला स्वीकार करना पड़ेगा, ब्रह्मानन्दसहोदर नहीं। वासना का तिरस्कार शास्त्र-सम्मत नहीं है। अभिनवगुप्त के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी इसे स्वीकार किया है। जिनमें इस वासना की स्थिति नहीं है वे प्रेक्षागृह में उपस्थित रहकर भी ऐसे हैं, जैसे प्रेक्षागृह के खम्भे आदि, जिनमें जड़ता के कारण रसोद्रेक की सम्भावना भी नहीं की जा सकती।[2] अतएव वासना तिरस्कार्य नहीं है।

इसी प्रकार रस को सीप में चाँदी के ज्ञान से उदाहृत करना भी उचित नहीं है, क्योंकि सीप में चाँदी के भास के समान ही रस-प्रतीति को भी मान लेने पर उसे उसी प्रकार बाधित भी मानना पड़ेगा। जिस प्रकार सीप में चाँदी का-सा आभास पाकर हम कुछ काल के लिए आनन्दित तो हो सकते हैं, किन्तु क्षण-भर में ही वास्तविकता को जानकर हमारा आनन्द भाग जाता है और अपनी भूल का ज्ञान उसका स्थान ले लेता है, वैसा रस-प्रतीति के सम्बन्ध में

१. हि० र० गं०, पृ० ६९-७०।

२. सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रंगान्तः काष्ठकुड्याश्मसंनिभः॥
सा० द० में धर्मदत्त के नाम से उद्धृत, काणे संस्करण, पृ० ३।

नहीं कहा जा सकता। रसास्वाद के अनन्तर भी कभी किसी को यह कहते हुए नहीं सुना गया और न यह देखा जा सकता है कि सामाजिक स्वीकार करेगा कि वह अभी-अभी जिस रति आदि के उद्‌बोध के कारण रसास्वाद का अनुभव कर रहा था, वह आनन्दानुभव मिथ्या था। ऐसी स्थिति में रस-प्रतीति को सीप में चाँदी के भास के सदृश मानने में कोई युक्ति नहीं है।

पण्डितराज ने अपनी ओर से कुछ शंकाएँ उपस्थित करके उनका उत्तर देने का प्रयत्न भी किया है। पहली शंका प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि रति

कतिपय शंकाएँ और उनके उत्तर

आदि के अनन्तर केवल सुख की उत्पत्ति मानना युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता। वैसा मानने पर कई आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। पहली बात तो यह है कि लोक में रति आदि के अनन्तर सुख तो माना जाता है, किन्तु शोकादि कुछ स्थायी भाव दुःखकारक ही हैं। उनसे सुख कैसे उत्पन्न होगा? यह दोष की कल्पना के द्वारा प्रकट नहीं होता। उक्त स्थिति में तो नायक के समान सहृदय को भी दुःख ही होना चाहिए। किन्तु, रस का सम्बन्ध आनन्द से है, अतः ऐसा मानकर सन्तोष नहीं किया जा सकता। साथ ही यह कहना भी उचित नहीं कि वास्तविक शोक से दुःख उत्पन्न होता है, कल्पित से नहीं तथा काव्य का दुःख कल्पित है, अतः उससे दुःख उत्पन्न होने की कोई बात नहीं। कल्पित दुःख से सुख मानने लगें तो रस्सी को देखकर सर्प का भय उत्पन्न होने पर भी सुख ही मानना पड़ेगा। परन्तु लोक में ऐसा व्यवहार नहीं देखा जाता। साथ ही यदि शंका का समाधान शोक को काल्पनिक कहकर किया जाता है तो रति को भी काल्पनिक मानना पड़ेगा। यह उचित नहीं कि एक स्थायी भाव को हम काल्पनिक कहें और दूसरे को वैसा न मानें। रति को काल्पनिक मानने पर उसके सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि वह वास्तविक सुख के समान सुखकारक नहीं होगी। जिस प्रकार काल्पनिक होने से शोक का प्रभाव विपरीत अवस्था वाला होता है, उसी प्रकार काल्पनिक रति का प्रभाव विपरीत यदि न भी हो तो भी तत्समान तो नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि या तो अनिर्वचनीय रति से भी आनन्द का अनुभव न माना जाय अथवा यह स्वीकार किया जाय कि शोक से दुःख ही उत्पन्न होता है।[1]

१. अतोऽवश्यकल्प्ये दोष विशेषं तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सूपपादा। नन्वैवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनःशोकादेःदुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लाद हेतुत्वम्। प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवो-

उक्त शंकाओं के समाधानकर्त्ताओं की ओर से पण्डितराज ने दो-तीन उत्तर प्रस्तुत किये हैं। एक उत्तर तो साधारणरूप में केवल सहृदय के अनुभव की दुहाईमात्र है। कहा गया है कि जिस प्रकार शृङ्गार-रस-प्रधान काव्यों से आनन्द होता है, उसी प्रकार करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी आनन्द ही उत्पन्न होता है। दूसरी बात यह है कि कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए। अर्थात् जिस प्रकार के कार्य दिखाई देते हैं, उनके कारणों की वैसी ही कल्पना कर ली जाती है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि जिस प्रकार काव्य व्यापार को आनन्दोत्पादक माना जाता है, उसी प्रकार उसे दुःख का अवरोधक भी मान लिया जायगा। यह काव्य-व्यापार ही अलौकिक होता है और उसी के आधार पर दुःख का प्रतिबन्ध हो जाता है।[1] इसके अतिरिक्त शोक की काव्य में सुखात्मकता के सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत करके इस बात को और भी सुलझाया जा सकता है। उस उदाहरण के द्वारा यह भी समझ में आ जायगा कि शोकपर्यवसायी काव्यों की ओर सहृदय तथा कवि की प्रवृत्ति क्यों होती है। जिस तरह चन्दन का लेप करने से शीतलता-जन्य सुख अधिक होता है और उसके सूख जाने पर पपड़ियों के उखड़ने का कष्ट उसकी अपेक्षा कम, इसी प्रकार करुण रसादि में भी वांछनीय वस्तु अधिक है और अवांछनीय कम. इस कारण सहृदय लोग उसमें प्रवृत्त हो सकते हैं।[2] रही यह बात कि यदि करुणादि से सुख होता है, तो उनसे अश्रु-पातादि क्यों होते हैं, इसका उत्तर तो सीधा-सादा-सा यही है कि उस आनन्द का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि अश्रुपातादि होते हैं, क्योंकि करुण में ही नहीं भगवद्भक्ति में भी अश्रुपात होता है। तात्पर्य यह कि करुण रस के विचार से इस मत को दूषणयुक्त नहीं कहना चाहिए।

चित्यात्। न च सत्यस्य शोकादेःदुखजनकत्वं क्लृप्तं न कल्पितस्येति नायकनामेव दुःखम्। न सहृदयस्येति वाच्यम्। रज्जुसर्पादिर्भयकम्पाद्यनुत्पादकतापत्तेः। सहृदये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत्। सत्यम्। र० गं०, पृ० २५-२६।

१. शृंगारप्रधानकाव्येभ्य इव करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तर-काव्यव्यापारस्येवाह्लादप्रयोजकत्वमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्। अथ यद्याह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्धं तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्। स्वस्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति। र० गं०, काव्यमाला, पृ० २९।

२. हि० र० गं०, पृ० ७२।

पण्डितराज ने एक अन्य शंका का उल्लेख भी किया है, जो इस प्रकार है : करुणादि रसों में यदि आनन्द आता है, तो स्वप्न आदि में अथवा सन्निपात आदि में अपनी आत्मा में, शोक आदि युक्त दशरथ आदि के अभेद का आरोप कर लेने पर भी आनन्द ही होना चाहिए।[1] प्रस्तुत शंका का समाधान काव्य में अलौकिक व्यापार को स्वीकार करके किया गया है।

एक अन्य शंका और समाधान

समाधानकर्त्ता का कथन है कि शोकादि भी उस व्यापार के प्रभाव से अलौकिक आनन्ददायी हो जाते हैं। यही कारण है कि काव्य के आस्वाद को लौकिक आस्वाद से भिन्न माना गया है।[2] किन्तु, इस अनिर्वचनीय व्यापार को मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता, क्योंकि व्यंजना-व्यापार के आगे किसी और शक्ति के मानने की आवश्यकता नहीं समझी गई है। व्यंजना के द्वारा ही इस अनिर्वचनीय व्यापार द्वारा घटित होने वाला परिणाम उपस्थित हो सकता है। अतएव इस अनिर्वचनीयता-ख्याति सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं।

पण्डितराज ने निष्पत्ति-सम्बन्धी एक अन्य मत का भी उल्लेख किया है। मत इस प्रकार है : व्यंजना नामक क्रिया और अनिर्वचनीयता ख्याति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थात् न तो रस व्यंग्य है, न उसे अनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है। इसके विपरीत, शकुन्तलादि के सम्बन्ध में रत्यादि युक्त दुष्यन्तादि व्यक्ति के साथ अभेद का मनःकल्पित ज्ञान ही रस है।[3] तात्पर्य यह कि रस एक प्रकार का भ्रम है, क्योंकि इसके द्वारा एक व्यक्ति का झूठे ही दूसरे से अभेद उपस्थित हो जाता है। पूर्वोक्त दोष के प्रभाव से तादात्म्य घटित

एक अन्य मत

१. न च करुणरसादौ स्वात्मनि शोकादिवद्दशरथादितादात्म्यारोपे यद्याह्लादस्तदा स्वप्नादौ संनिपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात्। आनुभविकं च तत्र केवलं दुःखमितीहापि तदेव युक्तमिति वाच्यम्।

र० गं० पृ० २६।

२. अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयःपदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति। वही।

३. परे तु···व्यंजनाव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागुक्त दोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यामभेद बोधो मानसः काव्यार्थभावनाजन्मा विलक्षणविषयताशाली रसः।

वही, पृ० २७।

हो जाता है, जिसका मूल कारण है काव्यगत विषयों के बार-बार अनुसन्धान द्वारा उत्पन्न भ्रम। इस भ्रम का स्वरूप विलक्षण है, क्योंकि शकुन्तला तथा दुष्यन्तादि स्वयं वास्तविक न होकर काव्यगत और काल्पनिक मात्र होते हैं।

शंकाएँ और समाधान

इस मत के विरोध में कई आपत्तियाँ हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यदि मनःकल्पित ज्ञान को ही रस माना जाता है, तो स्वप्न-ज्ञान में भी रस होना चाहिए। दूसरे, यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि जिन रत्यादि को सहृदय में अवस्थित न मानकर केवल मनःकल्पित माना गया है, उन कल्पित मनः-वृत्तियों का अनुभव कैसे सम्भव होगा? तीसरे, भ्रम तो ज्ञानरूप ही है। ज्ञान का आस्वाद कैसा?

काव्य के बार-बार अनुसन्धान का और कोई उद्देश्य नहीं है। मनःकल्पित ज्ञान की रसरूपता प्रकट करने के लिए ही बार-बार अनुसन्धान की बात कही गई है। इसके विपरीत स्वप्न-बोध के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह पुनः-पुनः अनुसन्धेय है। दूसरी बात के उत्तर में केवल इतना कहा जा सकता है कि रस यदि एक भ्रम है तो जिस प्रकार भ्रम में वस्तु की उपस्थिति आवश्यक नहीं है, उसी प्रकार रत्यादि को भी पूर्व से ही वर्तमान रहने की आवश्यकता नहीं है। रही तीसरी बात, उसके सम्बन्ध में समाधानकर्त्ता का कथन है कि वस्तुतः आस्वादन तो रत्यादि का होता है, किन्तु भ्रम के कारण हम स्थायी का आस्वादन न कहकर उसे रसास्वादन कहते हैं।[1]

रस-ज्ञान के तीन प्रकार

रस कहे जाने वाले ज्ञान को लोग तीन प्रकार का मानते हैं। एक यह कि शकुन्तला आदि के विषय में जो रति है, उससे युक्त मैं दुष्यन्त हूँ। दूसरा यह कि शकुन्तला आदि के विषय में जो रति है, उससे युक्त दुष्यन्त मैं हूँ; और तीसरा यह है कि मैं शकुन्तला आदि के विषय में जो रति है उससे, और दुष्यन्तत्व से युक्त हूँ।[2] अतएव एक यह आपत्ति भी है कि अखण्ड रस को तीन प्रकार का मानना होगा, जो सर्वथा अयौक्तिक है। एक साथ इस प्रकार की प्रतीतियाँ रसास्वाद को ही न रहने देंगी।

इस मत के अनुसार रस-सूत्र का अर्थ

उक्त मत के आधार पर रस-निष्पत्ति सूत्र का एक भिन्न अर्थ ग्रहण किया जायगा। सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' शब्द का अर्थ होगा, काव्य में प्रयुक्त विभावादि सामग्री का ज्ञान। 'निष्पत्ति' शब्द का प्रयोग यह लोग विलक्षण मानस प्रत्यक्ष की

१-२. हि० र० गं०, पृ० ७४, ७५।

उत्पत्ति के लिए करते हैं। सारांश यह है कि विभावादि के ज्ञान के अनन्तर सहृदय में विलक्षण मानस-प्रतीति उत्पन्न होती है, जिसके सहारे वह अपने को दुष्यन्तादि से अभिन्न मान लेता है। यही विलक्षण प्रतीति रस है।

इस मत में रस को भ्रमस्वरूप माना गया है। लोल्लट आदि के मत का विचार करते हुए भ्रम द्वारा रस के आस्वाद की कितनी संभावना है, इस पर विचार किया किया जा चुका है। उन स्थलों पर यह प्रमाणित किया जा चुका है कि भ्रम से रसास्वाद की किंचिन्मात्र भी संभावना नहीं है। अयथार्थ ज्ञान की आनन्दमयता में न शास्त्र ही विश्वास प्रकट करते हैं, और न लोक-व्यवहार में ही ऐसा प्रकट होता है। अतः इसकी, अप्रामाणिकता स्वतः सिद्ध होने से यह मत तिरस्कार्य है।

उक्त मत की आलोचना

इस मत के प्रतिपादकों के सम्मुख दूसरा प्रश्न यह भी है कि व्यंजना-व्यापार का तिरस्कार करने पर वह कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा प्रेक्षक, श्रोता अथवा पाठक दुष्यन्त तथा शकुन्तला के बीच रति का बोध कर पाता है और फिर उसके बल से दुष्यन्त से अभेद स्थापित कर लेता है। सपक्षीय विद्वान् इसका एक ही उत्तर दे सकेंगे कि सहृदय दुष्यन्तादि के क्रिया-कलाप से उनके बीच की रति का अनुमान करके उनसे अपना अभेद सम्बन्ध स्थापित करता है, किन्तु ऐसा कहते ही यह मत अनुमितिवाद के समस्त दूषणों से लद जायगा। अनुमितिवाद रस-निष्पत्ति की ग्रन्थि को खोलने में कितना असमर्थ रहा है, यह पहले ही सिद्ध हो चुका है। उसका अनुकरण करने वाला यह मत भी उसीके समान तिरस्करणीय सिद्ध होगा।

इस विवेचन का सारांश यह है कि अभिव्यक्तिवाद के अतिरिक्त निष्पत्ति-सम्बन्धी कोई भी ऐसा मत नहीं है, जो दोषपूर्ण न हो। अभिव्यक्तिवाद ही एक-मात्र समर्थ और सशक्त मत है, जिसके द्वारा रसास्वाद की समस्या पर पहली बार पूर्ण प्रकाश पड़ा है। यही कारण है कि इस मत को सर्वाधिक स्वीकृति और सम्मान मिला। अभिनवगुप्त के मत में एक ओर **'विमलप्रतिभानशालिहृदय'** पंक्ति के द्वारा निर्वैयक्तिक, निष्कलुष हृदय वाले सहृदय की प्रतिभा अथवा कल्पना को सहारा मिला और दूसरी ओर उसके हृदय में स्थित वासनाओं को प्रकाश भी प्राप्त हुआ। इन वासनाओं के सहारे ही सहृदय के रसास्वाद की सारी समस्या सुलझ गई। यही अभिनव की महत्त्वपूर्ण तथा मौलिक सूझ भी है। अन्य मतों में इन सब बातों का उत्तर देने की चेष्टा नहीं की गई थी, अतः वह सभी मत सदोष रहे और उनकी व्याख्याएँ अपूर्ण रह गईं।

४

साधारणीकरण

रस-निष्पत्ति के प्रसंग में आचार्य भट्टनायक के द्वारा संकेतित साधारणीकरण धीरे-धीरे अतिजटिलता और दुर्बोधता की ओर बढ़ता गया है। भट्टनायक

भट्टनायक

का मत, अभिनवगुप्त के शब्दों में, इतना ही था कि अभिधा के बाद दूसरे स्वीकार करने योग्य काव्य-व्यापार 'भावकत्व' से निविड़निजमोह रूपी संकट विभावादि के साधारणीकरण हो जाने के कारण नष्ट हो जाता है और तब रज तथा तम पर अधिकार करके सत्वोद्रेक का प्रकाश फैलने और निज संवित-विश्रान्ति के प्राप्त होने से 'भोजकत्व-शक्ति' के सहारे परब्रह्मास्वाद के समान अनुभव तथा स्मृति आदि से विलक्षण रस का भोग किया जाता है।[1] अर्थात् साधारणीकरण भावकत्व के द्वारा सिद्ध होता है। इसका अभिप्राय है कि विभावादि निविड़-निजमोह से मुक्ति पा जाते हैं। इस प्रकार साधारणीकरण विभावादि का होता है। वामन झलकीकर के अनुसार इसका अभिप्राय यह है कि काव्य में राम या सीता आदि के नाम से हम जिन पात्रों से परिचित होते हैं, वे तथा उनके बीच की रति, सीतात्व तथा रामत्व संबंध को त्यागकर, सामान्य रूप से कामिनीत्व अथवा रतित्व के रूप में ही हमें प्रतीत होती हैं। हम सीता को स्त्री-मात्र और राम को पुरुष-मात्र तथा उनके द्वारा प्रदर्शित रति-स्थायी भाव को सामान्य रति-स्थायी भाव के रूप में ग्रहण करने लगते हैं।[2] इस रूप में विशिष्ट सम्बन्ध का वर्जन ही साधारण या सामान्य हो जाना है।

---

१. तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वेलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविड़निजमोहसंकटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादि विलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद्द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादविधेन भोगेन परं भुज्यते······अ० भा०, प्र० भा०, पृ० २७७।

२. काव्यार्थबोधोत्तरमेव तत्राद्येन भावकत्वव्यापारेण विभावादिरूपसीता

आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वमत का प्रतिपादन करते हुए इस बात को और विस्तार देते हुए कहा है कि वाक्यार्थ-बोध के अनन्तर मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति उत्पन्न होती है, जिसमें देशकालादि-विभाग नहीं रहता। तब मृगआदि विशेष का अभाव हो जाता है और अपारमार्थिक भयकर्ता के कारण 'यह भयभीत है' के समान बोध नहीं होता, अपितु केवल भय रह जाता है। इस प्रकार 'मैं भयभीत हूँ', 'यह भयभीत है' अथवा 'शत्रु, मित्र या मध्यस्थ भयभीत है' के समान सम्बन्ध-विशेष का बोध न होने के कारण सुख-दुःखादिहीन निर्विघ्न प्रतीति होती है, जिससे वह स्थायी भाव आँखों के आगे नाचता-सा जान पड़ता है और उसीकी रस के रूप में प्रतीति होती है।[1] साथ ही उन्होंने कहा कि इस प्रकार के भय से न तो आत्मा तिरस्कृत होती है न विशेष महत्व ही प्राप्त करती है। वस्तुतः अपरिमितता या विततता में ही साधारणीकरण सिद्ध होता है। उदाहरणतः, धूम तथा अग्नि को साथ-साथ देखकर उसे केवल किसी देशकाल से संबंधित न मानकर हम उसे सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक रूप में स्वीकार कर लेते हैं, इसी प्रकार भयादि स्थायी भाव तथा कम्पादि संचारि भाव को व्यक्ति-सम्बन्ध से मुक्त करके सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक रूप दे दिया जाता है। सभी में वासना विद्यमान है, अतएव समस्त सामाजिकों को एक-समान प्रतिपत्ति होने या उनमें वासना-संवाद होने से जिस निर्विघ्न चमत्कार का अनुभव होता है, वही रस कहलाता है।[2]

अभिनव गुप्त

दयो रामसंबंधिनी रतिश्च सीतात्वरामत्वसंबंधांशमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतित्वादिनैवोपस्थाप्यते। 'काव्य प्रकाश', पृ० ९१ टीका।

१. ··· ··वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिका पहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेष रूपत्वाभावद्भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद्भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम्। तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा' इत्यादि प्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादिबुध्यनतरोदयनियमवत् तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्त्तमानं भयानको रसः। अ० भा० १, पृ० २७९।

२. तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विशेषतः उल्लिखितः। एवं परोऽपि। तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्। अपि तु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्न्योः। भयकम्पयोरेव वा तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे

आचार्य अभिनवगुप्त के उक्त मत को आचार्य मम्मट ने और विशदता से रखने का प्रयत्न किया। उन्होंने 'अपरिमित प्रमातृत्व' को तो स्वीकार कर ही लिया, साथ ही यह भी समझाया कि इस अवस्था में न तो

मम्मट तथा वामन किसी विशेष सम्बन्ध को ही स्वीकार किया जाता है और न उसका परिहार ही किया जाता है। अर्थात् न तो यही कहना उचित होगा कि 'यह मेरा या अमुक का है' और न उसे शत्रु का बताने से ही काम चलेगा, क्योंकि पहले से अपना सम्बन्ध न होने के कारण हम उस ओर से उदासीन हो जायँगे और दूसरे में हमारे मन में सर्वथा विरोधी भाव उत्पन्न होने लगेंगे। इस प्रकार रस-सिद्धि न होगी। अतएव उचित यह कहना होगा कि साधारणीकरण-अवस्था में हमें सम्बन्ध-विशेष के स्वीकार का अनिश्चय रहने के साथ-साथ उसके परिहार का भी अनिश्चय बना रहता है। यदि ऐसी अवस्था उत्पन्न न हो और हम कहें कि 'यह किसी का नहीं है' तब तो **'असंबंधिनोऽसत्वम्'** नियम के अनुसार वह आकाश-कुसुमवत् असत् सिद्ध हो जायगा और रसास्वाद की स्थिति का साधक न बन सकेगा। अतएव इन दोनों स्थितियों से विलक्षण केवल 'कामिनीत्व' की प्रतीति को स्वीकार करना ही उचित होगा।[1] अपरिमित हो जाने का भी यही अर्थ है कि उसका सम्बन्ध केवल एक सामाजिक विशेष से नहीं रहता, अपितु अनेक से हो जाता है। इसीलिए इस अवस्था को योगी की निर्विकल्प तथा सविकल्प दोनों स्थितियों से विलक्षण माना गया है।

इस प्रकार भट्टनायक द्वारा कथित विभावादि का साधारणीकरण उन्हीं तक सीमित न रहकर प्रमाता के साधारणीकरण तक पहुँच गया। अभिनवगुप्त ने दोनों के आगे बढ़कर प्रमाता की स्थिति को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति में रखा।

परिपोषिका नटादिसामग्री। यस्यां वस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालप्रमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्धबलादत्यन्तपसरणे स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति। अतएव सर्वसामाजिकानामेकघनतयेव प्रतिपत्तेः सुतरां रसपरिपोषाय। सर्वेषामनादिवासनाचित्रीकृतचेतसां वासनासंवादात्। सा चाविघ्ना संवित्।' वही, पृ० २७६।

१. ······संबंधविशेषस्वीकारस्यानिश्चयः स्वीकर्त्तव्यः। एवं तत्परिहारनियमनिर्णयोऽपि नास्तीत्यंगीकार्यम्। अन्यथा 'नैते कस्यापि' इति संबंधपरिहारनियमनिश्चये 'असंबंधिनो सत्वम्' इति नियमेन अलीकत्वशंकया गगनकुसुमगन्धोपलब्धये प्रवृत्तिवत् रसास्वादप्रवृत्तिरेव न स्यात्। तस्मादुभयावधारणवैलक्षण्येन सामान्यतः 'कामिनीयम्' इति कृत्वा कामिनीत्वादिना प्रतीतैरिति इति विवरणे स्पष्टम्' का० प्रकाश, टीका, पृ० ९२।

यों सामान्यतः यह मत कुछ विचित्र-सा लगता है कि सम्बन्ध छोड़कर भी उनके परिहार का अनिश्चय बना रहे; किन्तु यदि इसे एक जीवन्मुक्त कर्मयोगी की दृष्टि से देखें, तो अवश्य ही इस रहस्य को समझ पायेंगे। हमारा विचार है कि इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में इस दृष्टि का प्रभाव अवश्य पड़ा है। जीवन्मुक्त कर्मयोगी अपने शरीर का असत्यत्व जानते हुए भी उसे स्वयं नष्ट नहीं करता और न उसमें लिप्त ही होता है। वह संसार के क्षुद्र सम्बन्धों का त्याग करता, हुआ भी उन सबके बीच रमता है, वसुधा-मात्र को कुटुम्ब मानता है और उसीके अनुकूल राग-द्वेषहीन होकर आचरण करता है। इसी का नाम है अन्तः-करण की विशुद्धि, जिसके सम्पन्न हो जाने पर ही परमतत्त्व की संप्राप्ति संभव है। इसी प्रकार ब्रह्मानन्द-सहोदर रस का अनुभव भी '**विमलप्रतिभानशालिहृदय**' को ही होता है और जो स्वभावतः निर्मल चित्त नहीं भी हैं, वे भी काव्य-व्यापार और साधारणीकरण के बल से विमलहृदय होकर सहृदय रूप में उपस्थित हो जाते हैं।[1] इसीलिए इसमें उपादान बनने वाली स्मृति को अभिनवगुप्त तार्किक-प्रसिद्ध स्मृति से भिन्न लौकिक सम्बन्धों से विमुक्त मानते हैं।[2]

कालान्तर में आचार्य विश्वनाथ तथा पंडितराज ने इस सिद्धान्त का नये ढंग से विचार किया। विश्वनाथ के कारण संस्कृत से होती हुई एतत्सम्बन्धी धारणाएँ हिन्दी आदि भाषाओंमें भी विचार का विषय बनीं। विश्वनाथ ने आगे बढ़कर कहा कि विभा वादि के साधारणीकरण व्यापार के प्रभाव से प्रमाता भी समुद्र लाँघते हुए हनुमान के साथ अभेद सम्बन्ध स्थापित करके उसी प्रकार का अनुभव प्राप्त करता है। इस प्रकार आश्रय तथा प्रमाता में परस्पर तादात्म्य हो जाता है।[3] पंडितराज इसी बात को ले उड़े

विश्वनाथ तथा पंडितराज

१. (अ) **अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। अ० भा० १, पृ० २७९**

(ब) **निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वनन्तरे संविदं विश्रामयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्व-साहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयीभि ......मयै ......रातोद्यगानविचित्र-मण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरंजनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदय वैमल्यप्राप्त्या सहृदयीक्रियते। वही, पृ० २८१।**

२. वही, पृ० २८०।

३. **व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ॥३।९ सा० द०।**
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ॥ वही, ३।१०।

और उन्होंने घोषणा की कि अन्य विद्वानों का मत है कि व्यंजना नामक क्रिया के और अनिर्वचनीय ख्याति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, अर्थात् न तो रस व्यंग्य होता है न अनिर्वचनीय ही, किन्तु शकुन्तला आदि के विषय में रति आदि से युक्त व्यक्ति के साथ अभेद का मनःकल्पित ज्ञान ही 'रस' है; अर्थात् रस एक प्रकार का भ्रम है जो पूर्वोक्त व्यक्ति से हमें झूठे ही अभिन्न कर डालता है। उसके द्वारा, पूर्वोक्त दोष के प्रभाव से, हमको अपनी आत्मा में दुष्यन्त आदि की तद्रूपता समझ पड़ने लगती है और उसका उत्पन्न करने वाला है काव्यगत पदार्थों का बार-बार अनुसन्धान।[1]

साधारणीकरण तथा तादात्म्य के इस पचड़े में पड़ने से पूर्व अधिक स्पष्टता के लिए हम यहाँ काव्य-शास्त्रों में उद्धृत भिन्न रसों के उद्धरणों पर विचार करना उचित समझते हैं। उनके सहारे इस सिद्धान्त में अधिक स्पष्टता आने की सम्भावना है।

साधारणीकरण के शास्त्रीय उदाहरण

काव्य-शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि आचार्यों ने पक्ष-विपक्ष दोनों की उक्तियों में रस स्वीकार किया है। किसी एक पक्ष का ही रस के लिए उपयोग वह नहीं करते। उदाहरण के लिए, काव्यप्रकाशकार ने राम के शत्रु रावण के पुत्र इन्द्रजित् मेघनाद की 'हनुमन्नाटक' में दी गई उक्ति '**क्षुद्राः संत्रासमेते**...' आदि को वीर रस के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इसी प्रकार हिन्दी-शास्त्र-लेखकों ने हनुमान के द्वारा लंका जला दी जाने पर तुलसीदास द्वारा वर्णित राक्षस-पक्ष के भागने आदि का दृश्य उपस्थित करने वाले छन्द '**लागि लागि आगि**...' को भयानक रस का उदाहरण माना है और रस-तरंगिणीकार भानुदत्त ने '**कुर्वाणे दशभिर्मुखैर्दशमुखे**' श्लोक में देवताओं में दशवदन के कारण उत्पन्न भय के आधार पर भयानक रस को स्वीकार किया है। इन उदाहरणों के समान ही मम्मट ने रौद्र रस के अन्तर्गत अश्वत्थामा की क्रोध-युक्त उक्ति '**कृतमनुमतं दृष्टं वा**...' को रखा है। स्वयं आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में रौद्र रस का विचार करते हुए '**अश्वत्थामजामदग्न्यादयः**' कहकर उनमें भी, जो स्पष्टतः परपक्ष के हैं, रस माना है। आनन्दवर्धन ने भी 'वेणीसंहार' नाटक के '**यो यः शस्त्रं बि भर्ति**'—'इत्यादि श्लोक में अश्वत्थामा की उक्ति में रौद्र रस स्वीकार किया है। परशुरामजी के क्रोध को रौद्र-रस के उदाहरणों में श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने

१. हि० र० गं०, पृ० ७४।

अपनी 'रसमंजरी' और श्री हरिशंकर शर्मा ने 'रस-रत्नाकर' में प्रस्तुत किया है तथा अन्य पुस्तकों में भी इसके उदाहरण उपलब्ध हो सकते हैं। दूसरी ओर 'वेणीसंहार' में भीम का रौद्र-रूप भी रसात्मक अवस्था में वर्णित है। पोद्दारजी ने नरहरिदासकृत 'अवतार-चरित्र' से कुंभकर्ण की उक्ति '**नहिंन ताड़का नरि**···'को रौद्र-रस के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। इसी प्रकार 'साहित्य-दर्पण' की 'विमला टीका' के लेखक पं० शालग्राम शास्त्री ने 'हनुमन्नाटक' के '**त्ययक्वारी ह्ययमेवमे यदरय**···'इत्यादि श्लोक में रावण के क्रोध की व्यंजना का विशद उद्घाटन करते हुए लिखा है "यदि राम सामने होते, युद्धस्थल में यह घटना घटती, राम-रावण-संग्राम होता और रावण के भ्रू-भंग, ओष्ठ-दंशन, बाहु-स्फोटन, आवेग, रोमांच और गर्जन-तर्जन भी इस पद्य में वर्णित होते, तब इससे रौद्र-रस की अभिव्यक्ति हो सकती थी, किन्तु यह सब साधन न होने के कारण केवल क्रोध इसका व्यंग्य है, रौद्र रस नहीं।' (पृ० ७, परिशिष्ट।) अभिप्राय यह कि रावण के विभावादि द्वारा परिपुष्ट क्रोध को भी रौद्र-रस मानने में आचार्यों को कोई आपत्ति नहीं है। उनके यहाँ इस प्रकार का पंक्ति-भेद नहीं है कि हम केवल अमुक या स्वपक्ष के द्वारा प्रकट भाव को रस मानेंगे; और अमुक को चाहे वह कितना भी विभावादि से पुष्ट क्रोध हो, न मानेंगे। वह लोग राम के उचित क्रोध को भी रौद्र-रस का उदाहरण मानने को तैयार हैं और रावण, परशुराम, अश्वत्थामा, कुंभकर्ण, मेघनाद आदि के भावों को भी रौद्र और वीर-रस के परिपाक में समर्थ मानते हैं। इस प्रकार उन्हें विभावादि के अन्तर्गत आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, स्थायी तथा सहृदय सभी का साधारणीकरण स्वीकार है। यदि यह साधारणीकरण न होगा तो विपक्षियों के कारण रस की सृष्टि कैसे मानी जा सकेगी?

इस विषय को और अधिक स्पष्ट रूप में प्रस्तुत करने के लिए हम कतिपय प्रश्न और नवीन उदाहरणों को भी प्रस्तुत करना चाहते हैं। प्रश्न जाति-भेद, वय-भेद, लिंग-भेद, देश-भेद तथा काल-भेद आदि को ध्यान में रखकर यह समझाने के लिए किये जा रहे हैं कि इन भेदों के रहते हुए भी साधारणीकरण किस प्रकार सम्भव मान लिया गया है। पूर्वोक्त उदाहरणों में पक्ष-प्रतिपक्ष का विचार दिखाया जा चुका है और आचार्यों की दृष्टि से बताया जा चुका है कि दोनों के औचित्यपूर्ण कार्यों से रस उपस्थित हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रश्न किये जा सकते हैं कि क्या भिन्न-भिन्न जाति, वय, लिंग, देश आदि के सामाजिकों को एक नाटक को एक साथ देखते या एक काव्य-विशेष

को एक-साथ सुनते हुए एक-सा रस आयगा ?

अर्थात् क्या हम कह सकते हैं कि सोमनाथ के मन्दिर पर चढ़ाई करता हुआ अथवा मूर्ति-भंजन करता हुआ महमूद उस दृश्य को देखने वाले हिन्दू तथा मुसलमान, वीर तथा कायर, बालक तथा वृद्ध को एक-सा प्रभावित करेगा ? क्या प्रह्लाद पर अत्याचार करते हुए हरिण्यकशिपु को देखकर नास्तिक और आस्तिक दोनों को एक ही प्रकार का अनुभव होगा ? क्या गोरों का निरीह भारतीयों पर जलियाँवाला बाग में किया गया अत्याचार देखकर कोई गोरा और भारतीय एक-से प्रभावित होंगे ? क्या जायसी-कृत गोरा-बादल युद्ध-वर्णन से हिन्दुओं और मुसलमानों को वीर-रस की समान अनुभूति होगी ? क्या युद्ध का दृश्य देखकर कायर तथा वीर 'दोनों प्रकार के सामाजिक' वीर रस की अनुभूति करेंगे ? क्या क्रोधित दुष्यन्त के प्रति पुरुष तथा नारी प्रेक्षक समान रूप से अपने भाव का उद्रेक अनुभव करेंगे अथवा नारी शकुन्तला का और पुरुष दुष्यन्त का पक्ष लेंगे ? क्या 'उत्तरराम-चरित' नाटक में राम के द्वारा शूद्र मुनि का हनन देखकर शूद्र तथा ब्राह्मण या क्षत्रिय प्रेक्षक एक-सा अनुभव प्राप्त करेंगे अथवा शूद्र राम के विरोध में और द्विजाति उनके पक्ष में अपने भावों का अनुभव करेंगे ? इसी प्रकार यदि समान कुलशील के दो व्यक्ति आपस में युद्ध कर रहे हों, तो प्रेक्षक कैसा अनुभव करेगा और किसका पक्ष लेगा ? क्या राक्षस-कुल का होने के कारण कुंभकर्ण या मेघनाद कोई भी क्यों न हो हम सभीके प्रति उनके विरोधी भाव प्रकट करेंगे, और इसी प्रकार क्या विभीषण भी हमारे उन्हीं भावों का आलम्बन बन जायगा ? क्या महाभारत-युद्ध में हमें अर्जुन और उनके पक्ष के लोग ही वीर ज्ञात होंगे और हम कर्ण, द्रोणाचार्य, भीष्म आदि को वीर न मानेंगे या उनके भावों से हममें वीर-रस की अनुभूति जाग्रत न होगी ? क्या मुग़ल होने के कारण सन् ५७ के स्वातंत्र्य-संग्राम में भाग लेने वाला बादशाह बहादुरशाह हममें वीर-रस का संचार न करेगा ? क्या झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की वीरता को प्रदर्शित करने वाली फिल्म यूरोपवासियों में वही अनुभूति जाग्रत न करेगी जो वह भारतवासियों में करती है और क्या वे उसे देखने न जायँगे ? क्या प्रसिद्ध उपन्यास 'साइकिल चोर' का नायक अपनी समस्त मजबूरियों के रहते हुए भी हमारे क्रोध और घृणा का ही पात्र बनेगा ? क्या हम उसके प्रति सहानुभूति प्रकट न करेंगे ? क्या श्री मैथिलीशरण गुप्त के द्वारा लिखित काव्य 'सिद्धराज' का नायक सिद्धराज, पूर्व-चरित्र में अत्यन्त उदात्त होते हुए भी विधवा, त्रस्त नारी रानकदे के बच्चों के निर्मम हत्यारे और बलात्कार के लिए उद्यत व्यक्ति

की दशा में भी हमारे क्रोध का पात्र न बनेगा ? क्या उसके उस चरित्र से भी हमें श्रृंगार रस की ही अनुभूति होगी ? क्या यशस्वी तथा निर्मल चरित्र वाला अर्णोराज अपनी समस्त दृढ़ता के रहते हुए भी सिद्धराज के समान ही हमें प्रभावित कर सकेगा ? क्या शत्रु-पक्ष का होने पर भी सिद्धराज की पुत्री का आकर्षण-केन्द्र अर्णोराज, अपने तथा उसके वार्तालाप के द्वारा हममें श्रृंगाररस की अनुभूति न जाग्रत करेगा ?

रसवादी की ओर से यही उत्तर होगा कि जाति, वय, लिंग, देश, काल, रुचि आदि भेद में भी अभेद उपस्थित करने वाले साधारणीकरण सिद्धांत के बल पर सभी सामाजिक एक-सा अनुभव करेंगे।

समाधान

काव्य की अलौकिकता ही कैसे सिद्ध होगी यदि उससे भी इन भेदों को ही प्रश्रय मिला। काव्य-भूमि तो अभेद, एकता और पूर्ण मानवता की श्रेय-भूमि है। वहाँ समस्त प्रेय का समाहार श्रेय में होता है और श्रेय भी प्रेय ही होकर उपस्थित होता है, इसीलिए वह 'कान्तासम्मित' होकर भी 'उपदेशयुज' है। प्रश्नों का समाधान वह चार आधारों पर करता है। इन्हीं चार आधारों पर समस्त रस-सिद्धान्त टिका हुआ है। ये हैं : (१) वासना, (२) सत्वोद्रेक, (३) सहृदय की योग्यता तथा (४) औचित्य। वासना-सिद्धान्त के द्वारा रसवादी यह स्वीकार करता है कि सभी प्राणियों में समान रूप से मूल प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं और सभी उनके बल पर एक भाव-भूमि पर आ सकते हैं। किन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि किसी में कोई प्रवृत्ति कम होती है और कोई अधिक। किसी में कोई प्रवृत्ति नियन्त्रित होती है और किसी में अनियन्त्रित। इस प्रकार एक ही वासना से वासित होकर भी सब भिन्न-भिन्न भूमियों पर संचरित होते हैं। त्रिगुणात्मिक प्रकृति सबको एक-सा बनने से रोकती है, इसीलिए संसार में विरोधी स्वभाव के व्यक्ति मिलते हैं। इस विरोध को मिटाने के लिए ही वह लघु तथा प्रकाशक सत्व की शरण लेता है और उसके उद्रेक में इन सब विरोधों का समाहार मानता है। किसी में यह सत्व स्वाभाविक रूप से प्रधान होता है और किसी में यह अभ्यास द्वारा अर्जित किया जाता है। इसीके लिए सहृदय की योग्यताओं में काव्य का अनुशीलन, अभ्यास आदि बताए जाते हैं। सत्व हमारे हृदय को निर्मल करने के साथ-साथ सामाजिक को औचित्य की भूमि पर ले जाता है। सत्वशील व्यक्ति किसी को अपना शत्रु या मित्र नहीं मानता, अपितु उचित मार्ग का अवलम्बन करने वाले सभी व्यक्तियों के साथ एकरस हो जाता है और कष्ट पाते हुए सभी प्राणियों पर अपनी दया, करुणा

और ममता की वर्षा करता है। मानवीय स्वभाव को भली प्रकार देखें तो कह सकते हैं कि सत्वोद्रेक और साधारणीकरण की यह कथा मानवता की कथा है। मानवता और मानवीय सद्‌गुण में विश्वास करने वाले भारतीय ने यदि काव्य से भी उसी मानवता की सिद्धि की तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी मानवता के आधार पर वह यह मानता है कि वासनाओं के रहते हुए भी यदि व्यक्ति में सत्व का उदय हो जाय तो वह स्वाभाविक रूप से औचित्य का अवलम्बन करता है। फिर भी रसवादी ने जो रसास्वाद में विघ्नों का विचार किया है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसकी दृष्टि से यह छिपा नहीं रह सका है कि पर्याप्त संस्कार के पश्चात् भी कुछ कारण कवि अथवा पाठक की ओर से ऐसे उपस्थित हो सकते हैं, जो पाठक की विशिष्टताओं को उभारकर उसे रसास्वाद में असमर्थ बना दें। सामान्य जीवन में भी देखा जाता है कि कुछ लोग इस मानवता से अप्रभावित रह जाते हैं और पशुता का प्रदर्शन करने में नहीं हिचकते। इसी प्रकार कुछ व्यक्ति ऐसे हो सकते हैं, जो किसी परम्परा अथवा धार्मिक विश्वास आदि के कारण अपनी स्थिति से मुक्त न हो सकें। ऐसे लोगों के लिए भी रसास्वाद का मार्ग बन्द हो जाता है। क्षेमेन्द्र ने इसीलिए वैयाकरणों और दार्शनिकों को रसास्वाद में अक्षम बताया था। अतएव आश्चर्य नहीं कि कुछ विशेष स्थितियों में पाठक रसास्वाद न कर सकें। यह स्थितियाँ पाठक के प्रबल विश्वास के आधार पर उपस्थित होती हैं। उदाहरण के रूप में राम-कथा के परिनिष्ठित रूप में यदि कोई अचानक परिवर्तन करके रावण-पक्ष को अत्यन्त उदात्त और राम-पक्ष को अत्यन्त नीच प्रदर्शित करे, तो निश्चय ही राम के भक्तों को उस कथा से आनन्द आने के स्थान पर चोट ही पहुँचेगी। अतएव ऐसी निश्चित और परम्परया प्रतिष्ठित ऐतिहासिक अथवा विश्वस्त धार्मिक कथाओं में कवि को परिवर्तन करते हुए बहुत सावधान रहने की आवश्यकता बताई गई है। परम सहृदय व्यक्ति भी ऐसे समय पर रसास्वाद में असमर्थ रह सकते हैं। उदाहरण के लिए, आचार्य शुक्ल की सहृदयता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता, किन्तु वह भी 'मेघनाद-वध' को चमत्कार-प्रदर्शन की आकांक्षा से लिखा गया काव्य मानकर उसे महत्त्व नहीं देते। शील तथा प्रकृति की इसी विचित्रता को ध्यान में रखकर भरत ने स्वीकार किया है कि नानाशील तथा प्रकृति के लोगों को भिन्न-भिन्न रसों का आनन्द आता है। यथा शूर बीभत्स, रौद्र तथा वीर रस का; बालक, मूर्ख एवं स्त्रियाँ हास्य का; कामीजन या तरुण शृंगार का; विरागी शान्त का आस्वाद

लेते हैं।[1] भरत का यह कथन केवल इस बात को सामने लाता है कि व्यक्ति-भेद से रसास्वाद में न्यूनाधिकता आ सकती है, इस बात को उपस्थित नहीं करता कि प्रदर्शित भाव के विपरीत उन्हें रस आता है। इस न्यूनाधिकता को तो स्वयं अभिनवगुप्त ने भी स्वीकार किया है[2] और यह भी बताया है कि प्रवृत्तियों का नियन्त्रण तथा अतिरेक दोनों ही पाए जाते हैं। जिन लोगों में किसी तामसी प्रवृत्ति का अतिरेक होता है वे सत्व से नहीं भी प्रभावित होते और अकारण अन्याय रूप में उपस्थित राक्षसादि के क्रोध का भी आस्वाद लेने लगते हैं। उसे भी आस्वाद ही कहना चाहिए, क्योंकि हृदय-संवाद ही आस्वाद कहलाता है।[3] किन्तु यह केवल विशिष्ट लोगों की कथा है, सामान्य वासनाशील अथवा संस्कृत व्यक्तियों की नहीं।

यहाँ रस-सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए एक और बात की ओर ध्यान आकर्षित करना उपयोगी होगा। हमने पूर्व उदाहरणों से यह पुष्ट किया है कि साधारणीकरण का यह अभिप्राय नहीं है कि केवल किसी एक पक्ष के व्यक्ति के कार्य ही हमें प्रभावित करें और दूसरे पक्ष से हम नितान्त विरोधी बने रहें, अथवा जिस पक्ष के प्रति हम पहले से आकर्षित है उसीके प्रति तब भी बने रहें जब उसमें कोई दोष देखें, अपितु साधारणीकरण के द्वारा हमारे लिए सभी साधारणीकृत अवस्था में उपस्थित होते हैं और हम कार्य के औचित्य का अवलम्ब लेकर किसी पक्ष के भाव को आस्वाद रूप में ग्रहण करते हैं। यथा, मेघनाद, परशुराम, कुम्भकर्ण, जयसिंह आदि के उदाहरणों से जान पड़ता है। किन्तु इसका अनुमोदन करते हुए भी हमें इसका विचार सापेक्ष स्थिति में करना चाहिए, क्योंकि यदि हम किसी प्रबन्ध-काव्य में कभी एक व्यक्ति के भाव का रसात्मक अनुभव करेंगे और कभी दूसरे के भाव का, तो हमारे मन पर किसी एक व्यक्तित्व का समग्र रूप में प्रभाव अंकित न हो

१. ना० शा० चौ०, अ० २७, श्लोक ५५–६२।

२. न ह्येतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति। केवलं कस्यचित् काचिदधिका चित्तवृत्तिः काचिदूना, कस्यचिदुचितविषयनियन्त्रिता, कस्यचिदन्यथा। तत्कदाचिदेव पुमर्थोपयोगिनीत्युपदेश्या। तद्विभागकृतश्च उत्तमादिप्रकृत्यादिव्यवहारः। अ० भा० १, पृ० २८२।

३. ननु सामाजिकानाम् तथाभूतराक्षसादिदर्शने कथं क्रोधात्मक आस्वादः। उच्यते ·····हृदयसंवाद आस्वादः। क्रोधे च हृदयसंवादः तामसप्रकृतीनामेव सामाजिकानामिति दानवादिसदृशाः तन्मयीभूताः एवान्यायकारिविषयं क्रोधमास्वादयन्तीति न किंचिदवद्यम्। वही, पृ० ३२४।

सकेगा और स्वविरोधी तत्त्वों के कारण उसकी महत्ता पर पानी फिर जायगा। इसी बात का ध्यान रखकर महाकवि कालिदास ने दुष्यन्त के दोष को हल्का करने के उद्देश्य से दुर्वासा का शाप उपस्थित करा दिया है। 'सिद्धराज' में इस प्रकार की कोई व्यवस्था न होने से इस त्रुटि का मार्जन नहीं हो पाता। इस दृष्टि से कवि जिस पात्र को प्रधान बनाना चाहता है, उसीके किसी गुण-विशेष से रस-विशेष का पोषण कराना चाहता है और उसीके लिए वह समस्त रसों और क्रियाओं को एक ही केन्द्र की ओर पर्यवसित करता है। उसे उत्कर्ष प्रदान करने के लिए वह प्रतिपक्षी के तेज का बखान करके भी प्रधान व्यक्ति में उससे अधिक सद्गुणों को दिखाता है और ऐसी अवस्था में प्रतिपक्षी की प्रबलता में उसकी महानता और भी चमक उठती है। सारांश यह कि प्रतिपक्षी के भाव रस की दशा में पहुँचकर भी इतने क्षीणकालिक बना दिये जाते हैं कि वह प्रधान व्यक्ति के भावों के आधार पर निष्पन्न रस के संचारी-मात्र बनकर रह जाते हैं। उनका दीर्घकालिक या स्थायी प्रभाव नहीं रहता, अन्यथा काव्य का समस्त उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। इसी प्रकार यदि किसी अनौचित्य के कारण उसके भाव रस-दशा को प्राप्त नहीं करते तो भी वह प्रधान रस केसंचारी ही बनकर आते हैं। इसी प्रकार प्रधान व्यक्ति के अनौचित्य-प्रवर्तित भाव भी केवल संचारी बने रह जाते हैं, परिपुष्ट होकर रस-दशा को प्राप्त नहीं होते। स्वयं ध्वन्यालोककार ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि किसी प्रशंसनीय उत्कर्ष प्राप्त नायक के प्रभावातिशय केवर्णन में उसके शत्रुओं का जो करुणा रस होता है, वह विवेकशील प्रेक्षकों को विकल नहीं करता, अपितु आनन्दातिशय का कारण बनता है। अतएव विरोध करने वाले उस करुणा के कुण्ठित-शक्ति होने से कोई दोष नहीं होता।[1] अर्थात् रस तो प्रतिपक्षी के वर्णन में भी है, किन्तु वह मुख्य रस का बाधक नहीं रह गया है। इसी प्रकार यदि मेघनाद की उक्ति अल्पकालिक हो और उसके विरोध में राम की ओजस्विनी उक्ति प्रस्तुत कर दी जाय, तो मेघनाद का वीरत्व राम के वीरत्व को और बढ़ायगा ही।

निष्कर्ष यह है कि साधारणीकरण समस्त विभावादि का होता है, अर्थात् आश्रय, आलम्बन, उद्दीपन, संचारी तथा स्थायी सभी साधारणीकृत अवस्था में उपस्थित हो जाते हैं। इनका साधारणीकरण होने का अभिप्राय यह है कि प्रेक्षक या सहृदय के मन में इनके प्रति सम्बन्ध-स्वीकार अथवा सम्बन्ध-स्वीकार-परिहार का भाव नहीं रहता और आलम्बन तथा आश्रय सामान्य कामिनी अथवा सामान्य पुरुष के रूप में उपस्थित होते हैं। सामान्य कामिनी या सामान्य

१. 'ध्वन्यालोक' हिन्दी, पृ० ३०६।

पुरुष कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि सीता सबकी पत्नी बन जाती हैं और सब उनसे रति प्रकट करते हैं, अपितु उन्हें देखकर सहृदय को पत्नीत्व का ज्ञान होता है, जैसे 'मेघदूत' में मेघ से बात करने वाले विरही यक्ष की बातों को सुनकर सहृदय के लिए मेघ मेघ-मात्र नहीं बना रहता, अथवा सब मेघों के समान वह भी है ऐसा बोध उत्पन्न नहीं करता, बल्कि यह बोध उत्पन्न करता है कि यह दूत है अथवा उसके योग्य है। उसमें दूतत्व की सिद्धि ही हमें काव्य का आनन्द दिला सकती है अन्यथा सामान्य मेघ बनने से क्या लाभ ? इसी प्रकार सीता में समयानुसार पत्नीत्व, भगिनीत्व, वधुत्व आदि की सिद्धि ही उनका साधारणीकरण है। कामिनीत्व शब्द का प्रयोग तो शृंगार रस का ध्यान रखकर कर दिया गया है, अन्य प्रसंगों में अन्य रूपों का आक्षेप पाठक को कर लेना चाहिए। पत्नीत्व धारण करने और सबकी पत्नी बन जाने में अन्तर है। पत्नीत्व का अभिप्राय है, प्रेक्षक या सहृदय-मात्र के मन में उसके आधार पर यह भाव उत्पन्न हो जाना कि पत्नी का रूप ऐसा होता है। पत्नी, वधू, पुत्री आदि के आदर्श-रूप में उपस्थित होना ही सामान्य कामिनीत्व के रूप में उपस्थित होना है। उस समय हम यह नहीं कहते कि राम की पत्नी सीता का रूप ऐसा है, बल्कि यह कहते हैं कि पत्नी का रूप ऐसा होता है और प्रेमिका का रूप ऐसा होता है। इसीलिए आलोचना करते समय भी कहा जाता है 'सीता ने पतिव्रता नारी का रूप उपस्थित किया' अथवा 'लक्ष्मण के चरित्र से भ्रातृत्व की आदर्श स्थापना होती है'। इस संबंधविहीन रूप के कारण ही हमारे मन में भी वही भाव उद्बुद्ध होने लगता है और वह भाव हमारी ही अनुभूति होता है, किसी के सम्बन्ध में नहीं होता। अतएव हम किसी से तादात्म्य नहीं करते, केवल सबको साधारणीकृत रूप में ग्रहण करते हैं। तादात्म्य मानने पर सीता को अपनी पत्नी रूप में देखना होगा और इस प्रकार सीता सबकी पत्नी के रूप में उपस्थित हो जायगी। इसी कारण पण्डितराज ने यहाँ दोष की कल्पना कर ली है। तादात्म्य का पल्ला पकड़ते ही एक और दूषण उपस्थित हो जायगा। वह यह कि सीता-गत राम की रति पुरुषों को तथा राम-गत सीता की रति स्त्रियों को आस्वाद्य होगी और 'सकल-सहृदय-संवादभाजा रति' सर्वथा हवा हो जायगी। वस्तुतः इस सूक्ष्म आध्यात्मिक रहस्य को न समझ पाने के कारण तथा उसे स्थूल व्यावहारिक रूप में उपस्थित करने की कठिनाई के कारण ही 'तादात्म्य' शब्द का व्यवहार किया गया है। साधारणी-करण के इस रूप को समझ लेने से यह भी प्रकट हो जाता है कि स्वयं सहृदय भी साधारणीकृत अवस्था में उपस्थित होता है, वह भी अपने संकुचित मण्डल

से ऊपर उठ आता है। इस कार्य में उसकी सहायता उसकी वासनागत मूल प्रवृत्तियाँ, उन प्रवृत्तियों का संस्कार, सत्वोद्रेक की प्रधानता और औचित्य के प्रति सहज मानवीय आकर्षण करते हैं।

हम समझते हैं कि साधारणीकरण विभावादि का होता है, इस बात का प्रयोजन यह बताना ही है कि आश्रय, आलम्बन, स्थायी तथा संचारी सभी साधारणीकृत रूप में उपस्थित होते हैं। वे देश-काल आदि विशिष्टताओं से मुक्त हो जाते हैं और उन्हींके समान भी अपनी वैयक्तिक सीमाओं से मुक्त होकर समान भाव-भूमि पर अवस्थित होते हैं। ऐसी दशा में यह मानना चाहिए कि राम हों या रावण, सभी का साधारणीकरण होता है। वाक्यार्थ-बोध के अनन्तर नाट्य में गीत-वाद्य, सजावट आदि के द्वारा सहज ही सहृदय का मन पात्रादि को साधारणीकृत अवस्था में देखने लगता है, क्योंकि यह तो वह पहले से जानता ही है कि वह नाट्य देखने आया है, वास्तविक जगत् में रमने नहीं आया है। यही साधारणीकरण की स्थिति है। इसीके पश्चात् सहृदय को ऐसी ध्यानमग्नता का अनुभव होता है कि वह सबसे अलग केवल भाव-विशेष का ही आन्तरिक अनुभव करने लगता है और किसी विघ्न के अभाव में यह अनुभूति ही रस कहलाती है। इस प्रकार हमारा विचार यह है कि साधारणीकरण के लिए कोई विशेष तैयारी करने की आवश्यकता नहीं रहती, वह तो कवि-कर्म से उपस्थित होता है, किन्तु साधारणीकरण होने पर भी यदि सहृदय के संस्कार आदि के कारण कोई विघ्न बना रह गया तो रसास्वाद नहीं हो पायगा। साधारणीकरण रसास्वाद की अनिवार्य शर्त नहीं है, कि उसके होने पर रस अवश्य ही आयगा। उदाहरणतः, मुक्तक काव्यों में भी साधारणीकरण का होना तो संभव है, किन्तु रसात्मक का होना अनिवार्य नहीं है। यथा, निम्न दोहे में 'मैं' शब्द कबीर-विशेष के लिए नहीं सामान्य-ज्ञानी के लिए आया है, परन्तु उस साधारणीकृत रूप के रहते हुए भी यह दोहा रसमय नहीं कहा जा सकता :

बुरा जो देखन में चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजौं आपनो, मुझसा बुरा न कोय॥ कबीर।

अतएव, साधारणीकरण तभी रसात्मक होता है, जब कोई विघ्न उपस्थित न हो गया हो, अथवा जब विभावादि का सम्यक् वर्णन किया गया हो। साधारणीकरण के पश्चात् तन्मयता की उपस्थिति के लिए अन्तराय-शून्यता ही आवश्यक है। इस दृष्टि से देखें तो सहज ही यह कहा जा सकता है कि रावण पर क्रोध करते हुए राम के वर्णन के दृश्य में और राम पर क्रोध करते हुए रावण के

वर्णन के दृश्य में इन पात्रों, अर्थात् विभावादि का साधारणीकरण तो दोनों दशाओं में होता है, किन्तु उनमें से किसी विशेष के प्रति कोई विशेष भावना यदि सहृदय के मन में पहले से हुई तो साधारणीकृत अवस्था भी रसात्मकता को प्राप्त नहीं होती। यदि ऐसा न मानें तो बड़ी गड़बड़ी पड़ती है। जैसे, 'पंचवटी' में राम पर क्रोध करती हुई शूर्पणखा का साधारणीकरण न माना जाय और नाक कटने वाली शूर्पणखा का साधारणीकरण माना जाय तो इस सिद्धान्त में औचित्य कदाचित् ही दिखाया जा सकेगा। अभी-अभी जो शूर्पणखा विशिष्ट बनी हुई है, वह एक ही क्षण में साधारणीकृत कैसे हो जायगी ? जिसे हम अभी तक विशिष्ट शूर्पणखा के रूप में देख रहे हैं, वह नाक कटते ही किस जादू से सामान्य कामिनी हो जायगी ? इसी प्रकार जिस सिद्धराज को हम अभी तक सामान्य रूप में देख रहे हैं, वह रानकदे के प्रति अत्याचार करते ही असाधारण कैसे हो जायगा ? हम तो समझते हैं, इस समस्या का एक-मात्र समाधान यही है कि साधारणीकरण दोनों अवस्थाओं में स्वीकार किया जाय और तदनन्तर विघ्नोपस्थिति के न रहने पर रसास्वाद स्वीकार किया जाय।

इस सम्बन्ध में एक और निवेदन है कि यह कहना महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता कि शील-निरूपण के लिए साधारणीकरण का न होना ही युक्तियुक्त है, अर्थात् रावण को क्रूर दिखाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका साधारणीकरण न हो। हमारा मत है कि इस प्रकार का विभाजन सर्वथा अनुपयुक्त और अयौक्तिक है। शील-निरूपण तो अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकार से होता या हो सकता है। जैसे, राम के अच्छे कार्य देखकर हम उनकी सुशीलता की प्रशंसा करते हैं और रावण का दुष्ट चरित्र देखकर उसे हम दुःशील कहते हैं। सु और कु तो पक्ष-भेद के द्योतक-मात्र हैं, किन्तु हैं वे भी शील के ही पक्ष। अतः दोनों रूप में शील का ही निरूपण मानना चाहिए।

इस स्थिति पर ध्यान दें तो प्रतीत होगा कि यह सहृदय-सामान्य के एक ही भाव-भूमि पर उपस्थित होने का भी विरोधक नहीं है, क्योंकि यदि राम के रूप को देखकर सहृदय-मात्र को एक-सी अनुभूति होती है, तो रावण के चरित्र से भी उसी एक ही प्रकार की अनुभूति उनमें जाग्रत होती है। कौन कहेगा कि रावण का चित्र देखकर सौ सहृदयों में से किसी को उसके प्रति घृणा होती है और किसी को उससे प्रेम। यदि यह स्वीकार किया जा सकता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि तब राम का रूप देखकर भी सहृदय एक ही स्तर पर प्रतिष्ठित न होते होंगे, क्योंकि जो रावण के रूप से उल्लसित होते हैं वे राम के रूप से भला कैसे उल्लसित होंगे ? इस प्रकार साधारणीकरण दोनों पात्रों का

और दोनों अवस्थाओं में होता है और शील-निरूपण में उससे कोई बाधा उपस्थित नहीं होती और न सहृदय-सामान्य को साधारणीकृत अवस्था में लाने में ही दुविधा होती है।

अपनी इस स्थापना के पश्चात् अब हम हिन्दी तथा अन्य देशीय भाषाओं के साधारणीकरण-सम्बन्धी विचारों का विवेचन करना चाहेंगे। हिन्दी में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मत स्व० आचार्य शुक्ल का ही माना जाता है, अतएव उनके मत को प्रस्तुत करते हुए उसी प्रसंग में हम अन्य विचारों को भी उद्धृत करेंगे।

आचार्य शुक्ल तथा अन्य हिन्दी-लेखक और साधारणीकरण

आचार्य शुक्ल ने साधारणीकरण-सम्बन्धी अपने विचार कई लेखों में बिखरे रूप में प्रस्तुत किए हैं, जिनके अध्ययन से प्रतीत होता है कि वे कवि, सहृदय, पात्र और भाव सभी का साधारणीकरण मानते हैं और इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आलम्बन को ही मानते हुए उसीके साधारणीकरण पर कई बार ज़ोर देते हैं। इस प्रसंग में वे कभी-कभी आलम्बनत्व-धर्म के साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं और कभी आलम्बन का साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ तादात्म्य मानते हैं। उनकी यह भी धारणा है कि काव्य में वर्णित पात्र तो सदैव विशेष ही रहता है और कल्पना में भी विशेष आता है, किन्तु वह ऐसे रूप में उपस्थित किया जाता है कि आश्रय के भाव के आलम्बन के समान ही वह सहृदय के भावों का भी आलम्बन हो जाता है, उनमें भी उन्हीं भावों का प्रवेश कराता है, जो भाव आश्रय के उसके प्रति होते हैं। शुक्ल जी की धारणा है कि जहाँ ऐसी स्थिति नहीं आती, वहाँ भी एक प्रकार का साधारणीकरण होता है जिसमें कवि के भाव से हमारा तादात्म्य होता है। ऐसे स्थलों में कवि की दृष्टि शील-निरूपण की ओर रहती है और आश्रय के लिए जो आलम्बन है, वही सहृदय का भी आलंबन नहीं बनता, अपितु आश्रय के के प्रति ही हमारा कोई-न-कोई ऐसा भाव उद्बुद्ध होता है जो उसके प्रति कवि में भी रहा होगा। इस अवस्था में भी एक प्रकार का रस तो आता है, किन्तु वह मध्यमकोटि का होता है। काव्य में इसका भी महत्त्व है, क्योंकि कवि का काम सदैव और सर्वत्र रस-संचार करना ही नहीं होता, यही नहीं होता कि वह विभावादि की योजना करके पूर्ण रस के फेर में ही पड़ा रहे, बल्कि चरित्रों को स्फुट रूप में रखना भी उसीका कार्य होता है और इसके लिए उसे पूर्ण रस का मोह भी त्यागना पड़ता है। सारांश में शुक्ल जी के मत को इसी प्रकार रखा जा सकता है, किन्तु उसे उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करना विशेष उपयोगी

होगा। अतएव आगे हम क्रमशः उनके मत को उद्धृत कर रहे हैं।

शुक्ल जी काव्य में आलम्बन को ही मुख्य मानते हैं।[1] वे यह पूर्णतया स्वीकार करते हैं कि "रसात्मक अनुभूति के दो लक्षण ठहराए गए हैं: (१) अनुभूति-काल में अपने व्यक्तित्व के संबंध की भावना का परिहार और (२) किसी भाव के आलम्बन का सहृदय-मात्र के साथ साधारणीकरण, अर्थात् आलम्बन के प्रति सारे सहृदयों के हृदय में उसी भाव का उदय।"[2] इसीको समझाते हुए उन्होंने कहा है "विभावादिसामान्य रूप में प्रतीत होते हैं, इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि ये आलम्बन मेरे हैं या दूसरे के। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।"[3] अथवा—साधारणी-करण का अभिप्राय यह है कि किसी काव्य में वर्णित आलम्बन केवल भाव की व्यंजना करने वाले पात्र —आश्रय—का ही आलम्बन नहीं रहता, बल्कि पाठक या श्रोता का भी—एक ही नहीं अनेक पाठकों और श्रोताओं का भी आलम्बन हो जाता है। अतः उस आलम्बन के प्रति व्यंजित भाव में पाठकों या श्रोताओं का भी हृदय योग देता हुआ उसी भाव का रसात्मक अनुभव करता है। तात्पर्य यह कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है, अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को हम अपने व्यक्तित्व से संबद्ध रूप में नहीं देखते। अपनी योग-क्षेम-वासना की उपाधि से ग्रस्त हृदय द्वारा ग्रहण नहीं करते, बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा ग्रहण करते हैं। इसीको पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन व निःसंगता (Impersonality & detach-ment) कहते हैं। इसीको चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्दसहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व। अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से संबंध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं है।"[4] इसीलिए "जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रस में पूर्णतया लीन करने की शक्ति उसमें नहीं रहती।"[5]

आलम्बन का साधारणीकरण और आलम्बनत्व-धर्म

१. र० मी०, पृ १५५–५६ तथा ३०२।
२. वही, पृ० २७०।
३. वही, पृ० २६६–६७।
४. वही, पृ० २६६।
५. वही, पृ० २७०।

शुक्लजी आलम्बन के साधारणीकरण को और अधिक स्पष्ट करते हुए कई और प्रश्नों पर विचार करने लगते हैं। ये प्रश्न हैं आलम्बनत्व-धर्म का साधारणीकरण, व्यक्ति-विशेष और सामान्यता, प्रभाव का साधारणीकरण अथवा सत्ता का एवं रस के भिन्न स्तर आदि। ये सभी प्रश्न एक ही केन्द्र, आलम्बन से जुड़े हुए हैं। शुक्लजी, जैसा कि कहा जा चुका है, यह मानते हैं कि आलम्बन का कवि द्वारा प्रस्तुत रूप ऐसा होना चाहिए कि जो भाव आश्रय का उसके प्रति है सहृदय में भी उसीकी अनुभूति जाग्रत हो सके। अतएव आलम्बन के साधारणीकरण का अभिप्राय है उसके स्वरूप का साधारण हो जाना। स्वरूप के इसी साधारणीकरण के कारण शुक्लजी को कहना पड़ा है "इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व-धर्म का होता है।"[1] काव्य में परिस्थिति के अनुकूल आश्रय तथा आलम्बन बदलते हैं, एक बार निश्चित नहीं कर दिए जाते। कभी राम रावण पर क्रोध करते हैं और कभी रावण राम पर, अतएव केवल आलम्बन न कहकर आलम्बनत्व-धर्म का साधारणीकरण मानना अधिक स्पष्टता के लिए उचित ही है।

शुक्लजी की इस स्थापना के परिणामस्वरूप उन्हें अपना विवेचन दूसरी दिशाओं में भी मोड़ देना पड़ा। उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि

सामान्य और विशेष

"साधारणीकरण स्वरूप का होता है, व्यक्ति या वस्तु का नहीं।"[2] अथवा उन्हें कहना पड़ा कि "साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं।"[3]

प्रभाव और व्यक्ति

और इस प्रकार यह समझाने की आवश्यकता हुई कि व्यक्ति के विशेष रहने का उनका अभिप्राय क्या है और साधारणीकरण में उसकी संभावना कहाँ तक की जा सकती है। उन्होंने बताया कि "काव्य का विषय सदा 'विशेष' होता है, 'सामान्य' नहीं। वह 'व्यक्ति' सामने लाता है 'जाति' नहीं।"[4] ऐसा इसलिए कि "अनेक व्यक्तियों के रूप-गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत-सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना, यह सब तर्क और विज्ञान का काम है—निश्चयात्मिका बुद्धि का व्यवसाय है। काव्य का काम है कल्पना में 'बिंब' (images) या मूर्त्त भावना उपस्थित करना, बुद्धि के सामने कोई विचार (concept)

१. र० मी०, पृ० ३१२।
२. वही, पृ० २६८।
३. वही, पृ० २६६।
४. वही, पृ० ३१०।

लाना नहीं । 'बिंब' जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं ।"[1] इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि शुद्ध काव्य की शक्ति सामान्य तथ्य-कथन या सिद्धान्त के रूप में नहीं होती । अतएव "यदि कहा जाय कि 'क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है,' तो यह काव्य की उक्ति न होगी । काव्य की उक्ति तो किसी क्रुद्ध मनुष्य के उग्र वचनों और उन्मत्त चेष्टाओं को कल्पना में उपस्थित कर देगी । कल्पना में जो कुछ उपस्थित होगा वह व्यक्ति या वस्तु-विशेष ही होगा । सामान्य या जाति की तो मूर्त्त भावना हो ही नहीं सकती ।"[2] यही कारण है कि "भारतीय काव्य-दृष्टि भिन्न-भिन्न विशेषों के भीतर से 'सामान्य' के उद्‌घाटन की ओर बराबर रही है । किसी-न-किसी 'सामान्य' के प्रतिनिधि होकर ही 'विशेष' हमारे यहाँ काव्यों में आते रहे हैं ।"[3] इस समस्त विवेचन का सारांश शुक्लजी के अपने ही शब्दों में इस प्रकार दिया जा सकता है : "विभावादि साधारणतया प्रतीत होते हैं, इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि रसानुभूति के समय श्रोता या पाठक के मन में आलम्बन आदि विशेष व्यक्ति या वस्तु की मूर्त्त भावना के रूप में न आकर सामान्यत: व्यक्ति-मात्र या वस्तु-मात्र—जाति—के अर्थ-संकेत के रूप में आते हैं । 'साधारणीकरण' का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है । जिस व्यक्ति-विशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है ।"[4]

शुक्लजी के इस विवेचन को उदाहृत करें तो उनके शब्दों में पुनः कहा जा सकता है कि "जैसे, किसी काव्य में यदि औरंगजेब की घोर निष्ठुरता और क्रूरता पर शिवाजी के भीषण क्रोध की व्यंजना हो तो पाठक का रसात्मक क्रोध औरंगजेब नामक व्यक्ति ही पर होगा, औरंगजेब से अलग किसी आरोपित सामान्य मूर्ति पर नहीं । रौद्र-रस की अनुभूति के समय कल्पना औरंगजेब की ही रहेगी, किसी भी निष्ठुर या क्रूर व्यक्ति की सामान्य और धुंधली भावना नहीं । पाठक या श्रोता के मन में रह-रहकर यही आयगा कि औरंगजेब सामने

१. र० मी०, पृ० ३१० ।
२. वही, पृ० ३१०-३११ ।
३. वही, पृ० ३२२ ।
४. वही, पृ० ३११-३१२ ।

होता तो उसे खूब पीटते।"[१] इसके अतिरिक्त शुक्लजी की यह भी धारणा है कि "कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति-विशेष के स्थान पर कल्पना में उसीके समान धर्मवाली कोई मूर्ति-विशेष आ जाती है। जैसे, यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो श्रृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन-रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसकी कल्पना में आयगी। यदि किसी से प्रेम न हुआ तो सुन्दरी की कोई कल्पित मूर्ति उसके मन में आयगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कल्पित मूर्ति भी विशेष ही होगी —व्यक्ति की ही होगी।"[२]

इससे पूर्व की हम शुक्लजी के मत की समीक्षा प्रस्तुत करें इस सम्बन्ध में अन्य दो एक बातों की ओर ध्यान देना और उपयोगी होगा। शुक्लजी ने

तादात्म्य, मध्यम दशा

आलम्बन पर सारा बल देकर रसानुभूति को कोटियों में विभाजित कर दिया है और यह स्थापना की है कि "साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता या पाठक और आश्रय—भावव्यंजना करने वाला पात्र—के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है, जिसमें आश्रय किसी काव्य या नाटक के पात्र के रूप में आलम्बन-रूप किसी दूसरे पात्र के प्रति किसी भाव की व्यंजना करता है और श्रोता—या पाठक—उसी भाव का रस-रूप में अनुभव करता है। पर रस की एक नीची अवस्था और है, जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रंथों में विवेचन नहीं हुआ है। उसका भी विचार करना चाहिए। किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता या दर्शक के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलम्बन होता है। इस दशा में श्रोता या दर्शक का हृदय उस पात्र के हृदय से अलग रहता है—अर्थात् श्रोता या दर्शक उसी भाव का अनुभव नहीं करता, जिसकी व्यंजना पात्र अपने आलंबन के प्रति करता है, बल्कि व्यंजना करने वाले पात्र के प्रति किसी और ही भाव का अनुभव करता है। यह दशा भी एक प्रकार की रस-दशा ही है—यद्यपि इसमें आश्रय के साथ तादात्म्य और उसके आलम्बन का साधारणीकरण नहीं रहता। जैसे, कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है, तो श्रोता या दर्शक के

१. र० मी०, पृ० २६६-२६७।

२. वही, पृ० ३१२।

मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील-द्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।"[1]

इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए शुक्लजी ने कवि के साथ तादात्म्य की प्रस्थापना करते हुए कहा है, कि "इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संगठित करता है। जो स्वरूप कवि अपनी कल्पना में लाता है, उसके प्रति उसका कुछ-न-कुछ भाव अवश्य रहता है। वह उसके किसी भाव का आलम्बन अवश्य होता है। अतः पात्र का स्वरूप कवि के जिस भाव का आलम्बन रहता है, पाठक या दर्शक के भी उसी भाव का आलम्बन प्रायः हो जाता है। जहाँ कवि किसी वस्तु, जैसे—हिमालय, विंध्याटवी या व्यक्ति का केवल चित्रण करके छोड़ देता है, वहाँ कवि ही आश्रय के रूप में रहता है। उस वस्तु या व्यक्ति का चित्रण वह उसके प्रति कोई भाव रखकर ही करता है। उसीके भाव के साथ पाठक या दर्शक का तादात्म्य होता है, उसीका आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन हो जाता है।"[2]

तादात्म्य और कवि

कवि-कृत योजना का काव्य में महत्त्व है और कवि-कृत योजना के महत्त्व को स्वीकार करने का तात्पर्य है स्वयं कवि के महत्त्व को स्वीकार करना। अतएव शुक्लजी ने उस ओर ध्यान आकर्षित कराते हुए कहा है "विशेष का चित्रण करने में भी 'भाव' के विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह साधारणीकरण हो सकता है।"[3] इसीलिए वह 'आलम्बन का लाया जाना' वाक्यांश का प्रयोग करते हैं। शुक्ल जी कवि के दो रूपों की ओर ध्यान दिलाते हुए कहते हैं—"सच्चा कवि उसी व्यक्ति या वस्तु का स्वरूप कल्पना में लायगा जिसके प्रति उसकी किसी प्रकार की अनुभूति होगी। पात्र द्वारा भाव की व्यंजना करने में कवि के दो रूप होते हैं—सहज और आरोपित। यदि व्यंजित किये जाने वाले भाव का आलम्बन सामान्य है—ऐसा है जो मनुष्य-मात्र के चित्त में वही भाव उत्पन्न कर सकता है—तो समझना चाहिए कि

१. र० मी०, पृ० ३१४।
२. वही, पृ० ३१४।
३. वही, पृ० ९०।

कवि उसे अपने सहज रूप में प्रकट कर रहा है— जैसे रावण के प्रति राम का क्रोध। यदि व्यंजित किया जाने वाला भाव ऐसा नहीं है; तो समझना चाहिए कि वह उसे आरोपित रूप में प्रकट कर रहा है, जैसे राम के प्रति रावण का क्रोध। अरोपित भाव कवि अनुभव नहीं करता, कल्पना द्वारा लाता है। आश्रय की स्थिति में अपने को समझकर आलम्बन के प्रति कवि भी यदि उसी भाव का अनुभव करता है, जिस भाव का आश्रय करता है, तो कवि उस भाव का प्रदर्शन सहज रूप में करता है। यदि कवि का भाव उदासीन है या अनौचित्य-ज्ञान के कारण विरक्त है, तो आश्रय के भाव का प्रदर्शन वह केवल आरोपित या आहार्य रूप में करता है।[१]"

उक्त आरोपित दशा वाली अनुभूति को ही शुक्लजी अन्यत्र मध्यकोटि की रस-दशा कहते हैं, किन्तु उनका वास्तविक अभिप्राय 'रसाभास-भावाभास' की दशा से है, ऐसा स्वयं उनके शब्दों से उस समय प्रकट हो जाता है, जब इस वर्णन के साथ ही वह कहते हैं कि "ऐसे स्थल पर रसाभास या भावाभास ही मानना चाहिए।"[२] वस्तुतः शुक्लजी काव्य के वास्तविक स्वरूप की रक्षा के लिए यह पूर्णतया उपयुक्त समझते हैं कि "कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सर्वत्र पूर्ण रस ही लाया करे।"[३] पूर्ण रस की सिद्धि के लिए वे कवि, वर्णित पात्र तथा सहृदय तीनों हृदयों का समन्वय आवश्यक मानते हुए कहते हैं : "जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहाँ तीन हृदयों का समन्वय चाहिए। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में।"[४] इसकी सिद्धि तभी हो सकती है जब कवि में कवित्व भी हो और सहृदयत्व भी। इसीलिए शुक्लजी का कथन है कि "कवि को 'कलानिपुण' और 'सहृदय' दोनों होना चाहिए। 'कलानिपुण' और 'सहृदयता' दोनों एक ही वस्तु नहीं हैं।"[५] इस साधारणीकरण की वास्तविक सिद्धि के लिए शुक्लजी 'कवि में लोक-हृदय की पहचान' की शक्ति का होना आवश्यक मानते हैं।

आचार्य शुक्ल के इस सिद्धान्त को पूरी तरह देखें तो यह ज्ञात होगा कि वह विभावादि सभी का साधारणीकरण मानकर भी आलम्बन पर बल देने

१. र० मी०, पृ० ६१।
२. वही, पृ० ६१।
३. वही, पृ० ६३।
४. वही, पृ० ६६।
५. वही, पृ० ६६।

शुक्लजी के मत की समीक्षा और हमारा मत

के कारण विचित्र पचड़ों में पड़ गए हैं। इसी कारण तादात्म्य और व्यक्ति-विशिष्टता का प्रश्न उपस्थित हुआ है।

शुक्लजी ने आलम्बन को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि उनके इन सब निष्कर्षों से ध्यान हटकर केवल आलम्बन ही समीक्षक के सम्मुख रह जाता है। इसीलिए पं० रामदहिन मिश्र ने आपत्ति करते हुए कहा है कि "क्या रसोद्बोध में आलम्बन ही आलम्बन है? यदि अनुभाव विपरीत हो तब? शोकातुर व्यक्ति को ताल-लय से मंच पर गाना गाते देख सभी शोकग्रस्त हो सकते हैं? यहाँ तो शोक का आलम्बन सभी का आलम्बन है और उससे साधारणीकरण भी होता है। पर उसके अनुभाव से सभी का साधारणीकरण नहीं हो सकता। अतः केवल आलम्बन का ही नहीं सभी का साधारणीकरण आवश्यक है।"[१] इस आपत्ति में दो बातें अटपटी दिखाई देती हैं। एक तो यह कि शोकातुर व्यक्ति का रूप बिना शोकोपयुक्त अनुभावों के खड़ा ही कैसे होगा, इस बात को ध्यान से निकाल दिया गया है। यदि कोई पात्र मंच पर आँसू भरे, हाथ मसलता, होंठ दबाता, सिसकता, शून्य आँखों से देखता और मलिन दिखाई देगा तभी वह शोकग्रस्त या शोकातुर कहलायगा। यदि वह गाना भी गायगा, जैसा कि सिनेमा में सदा होता है, तो भी उसके अन्य अनुभाव शोक जाग्रत करते रहेंगे और स्वयं उसका गाना भी विषाद से रंजित होगा। यदि वह हँस-हँसकर प्रेम की संयोग-दशा का चित्र गाने में उतारने लगे और उसके अन्य शोकोपयुक्त अनुभाव भी प्रकट न हों तो अवश्य ही उसे भी शोक का आलम्बन नहीं बनाया जा सकेगा। दूसरी बात यह कि शुक्लजी के पूरे सिद्धान्तों पर ध्यान दिया जाता तो केवल आलम्बन के साधारणीकरण को ही शुक्लजी की मान्यता के रूप में उपस्थित न किया जाता। हम दिखा आए हैं कि शुक्लजी आलम्बन को सबमें मुख्य तो मानते हैं, किन्तु अन्यों की अवहेलना नहीं करते बल्कि उनका भी साधारणीकरण मानते हैं। उन्होंने कहा ही है "भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती।"[२] किन्तु शुक्लजी के मत में वास्तविक त्रुटि आई है आश्रय के साथ तादात्म्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण। उस स्थल पर शुक्लजी इस बात का समाधान नहीं कर सकते कि किसी काव्य में चित्रित सीता के प्रति राम के रति-भाव के समय यदि हम राम से तादात्म्य कर बैठेंगे तो सीता को पत्नी रूप

---

१. र० का० द०, पृ० १७१।

२. र० मी०, पृ० २६७।

में ग्रहण करने से कैसे बचे रहेंगे ? राम का सीता के प्रति रति-भाव तो हमारा ही रति-भाव हो जायगा। अर्थात् रामप्रिया विश्वप्रिया बन जायँगी। शुक्लजी ने अपने आदर्शवाद को राम और रावण तक ही सीमित कर दिया, वह क्रोध की व्यंजना करने वाले पात्रों पर ही विशेष ध्यान जमाए रहे और शृंगार से बचने की उनकी प्रयत्नशीलता ने इस स्थिति को उनके सामने से लुप्त कर दिया। शृंगार की चिन्ता भी उन्होंने की तो मुक्तकों के प्रसंग में ही और वहाँ भी कल्पित अथवा निजी प्रेमिका की मूर्ति उपस्थित कर बैठे। जहाँ तक कल्पित मूर्ति का प्रश्न है वह साधारणीकृत मूर्त्ति से इतर नहीं है, क्योंकि अपने-पराये से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु निज प्रेयसी की मूर्त्ति का आ जाना किसी भी प्रकार साधारणीकरण का साधक नहीं हो सकता। इसी प्रकार शुक्लजी द्वारा दिया गया औरंगजेब का उदाहरण भी हमारी दृष्टि में युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। यदि सहृदय को यह अनुभव होने लगा कि 'औरंगजेब होता तो उसे खूब पीटते' तो उसका दृश्य-सम्बन्धी ज्ञान मिथ्या सिद्ध हुए बिना न रहेगा और क्रोध का रसात्मक नहीं लौकिक अनुभव ही होगा। औरंगजेब का नाम-रूप विलुप्त हुए बिना साधारणीकरण की कोई संभावना नहीं है। हमारा यह निश्चित मत है कि रसानुभूति से पूर्व इस व्यक्ति-विशिष्टता का विनाश अवश्य हो जाता है और तब जैसा कि आचार्यों ने कहा है शुद्ध भाव का हमें अनुभव हुआ करता है। रस-दशा तक पहुँचने के लिए जिन स्थितियों से गुजरना पड़ता है, उनका हम पहले ही वर्णन करते हुए बता आए हैं कि पहले-पहल हमें व्यक्ति-विशिष्टता का ज्ञान अवश्य रहता है और यह भी बोध रहता है कि यह भाव अमुक का अमुक के प्रति है, किन्तु इस स्थिति में हम दीर्घकाल तक नहीं रहते और एक स्वाभाविक और अज्ञात क्रम से **'शतपत्रभेदन्याय'** से व्यक्ति-विशिष्टता का लोप होकर केवल भाव प्रतिष्ठित हो जाता है। इस क्रम को हम सूक्ष्मतया नहीं जान पाते, अतएव यह समझाने के लिए भले ही कहा जाय कि व्यक्ति तो विशेष ही रहता है और कल्पना में अमुक मूर्ति उपस्थित होती है, किन्तु वास्तविक बात तो इसके विपरीत ही है, और इतनी ही है कि व्यक्ति-विशिष्टता केवल क्षण-मात्र के लिए रहती है और फिर हम व्यक्ति-सम्बन्ध से शून्य केवल प्रदर्शित भाव की अपने में उद्‌बुद्धावस्था का अनुभव करते हैं। इस दशा में वह केवल हमारा भाव होने के कारण और व्यक्ति-निरपेक्ष रहने के कारण ही साधारणीकृत कहलाता है, किन्तु तादात्म्य कराकर किसी का हम पर आरोप नहीं करा देता। वस्तुतः, विश्वनाथ ने जो तदभेद की बात कही है वह केवल यह समझाने के लिए कि असाधारण कार्यों में भी किस प्रकार सामान्य सहृदय की अनुभूति एक हो सकती

है। वह केवल अनुभूति की सान्द्रता प्रकट करने के लिए ही कही गई जान पड़ती है। अभिनवगुप्त आदि ने जो 'तन्मयीभवन' की बात कही है वह भी तादात्म्य की स्थापना के लिए नहीं कही गई है। वह भी आत्मानुभूति में लीनता को द्योतित कराने के लिए ही है, किसी विशेष के प्रति किसी विशेष भाव की अनुभूति बताने के लिए नहीं।

जहाँ तक कवि का सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध में शुक्लजी का मत निर्विवाद स्वीकार किया जा सकता है। आत्मप्रसारण ही सुख है, आत्म-विकास है। कवि अपनी अनुभूति को ही दूसरे तक पहुँचाता है और इसलिए वह स्वयं एक रूप में कवि और दूसरे में सहृदय बना रहता है। कवि वह केवल कर्तृत्व के कारण कहलाता है, अन्यथा वह भी सहृदय ही है। इसीलिए कहा भी गया है, "**कविस्तु सामाजिकतुल्य एव**"। कवि और सामाजिक, सामाजिक होकर एक ही स्तर, एक ही भावभूमि पर उपस्थित हो रस-पान करते हैं। कवि की सरसता ही सामाजिक की अपनी सरसता को उभारती है। दूसरी ओर यह भी सच है कि जिस प्रकार नीरस व्यक्ति काव्य का आनन्द लेने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार यदि कवि भी नीरस हुआ, तो उसकी रचना भी रसवाहिनी न हो सकेगी। अतएव कवि को कवि बनने के लिए पहले सहृदय बनना होगा और इसीलिए 'लोक-हृदय की पहचान' की आवश्यकता है। फिर भी यह कहना उचित न होगा कि कवि और सहृदय का इस स्थिति पर पहुँचना ही साधारणीकरण है, क्योंकि साधारणीकरण का सम्बन्ध प्रधानतः दृश्यमान विभावादि से है। वे ही हमारे लिए असाधारण अथवा व्यक्ति-वैशिष्ट्ययुक्त रहते हैं और उन्हींसे यह डर है कि हम उनके प्रति या तो आत्मतत्त्व-दोष में फँस जायँगे या परगतत्व-दोष में। यह भी ठीक है कि कवि का भी स्वबन्धन से मुक्त होने के कारण साधारणीकरण होता है और सहृदय का भी, किन्तु वह सहृदय के पक्ष में विभावादि के साधारणीकरण से ही उपस्थित हो पाता है। बिना उनके साधारणीकृत हुए रसास्वाद सम्भव ही नहीं है।

अब प्रश्न रह जाता है नट का, जिसके सम्बन्ध में शुक्लजी ने अपना कोई मत उपस्थित नहीं किया है। नट के सम्बन्ध में 'प्रसाद' जी ने भारतीय विचारों का उल्लेख करते हुए बताया है कि नटों में भी रसानुभूति मानी जाती है और वह उनमें सम्भव है। उनका कथन है कि आस्वाद के आधार पर विवेचना करने में कहा जा सकता है कि आस्वाद तो केवल सामाजिकों को ही होता है। नटों को उसमें क्या? आधुनिक रंगमंच का एक दल कहता है कि "नट को आस्वाद अनुभूति की आवश्यकता नहीं। रंगमंच में हम बाह्य विन्यास (मेक-अप) के द्वारा

गूढ़-से-गूढ़ भावों का अभिनय कर लेते हैं।" यही विवाद भारतीय रंगमंच के प्राचीन संचालकों में भी हुआ था। इसी तरह एक पक्ष कहता था—'**अष्टावेव रसनाट्येष्विति केचिदचूचुदन, तदचारु यतः किंचिन्न रसं स्वदते नटः।**' अर्थात् नट को आस्वाद तो होता ही नहीं, इसलिए शान्त भी क्यों न अभिनयोपयोगी रस माना जाय। यह कहना व्यर्थ है कि '**शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे चेतदसंभवात् अष्टावेव रसाः नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते।**' शम का अभाव नटों में होता है। शान्त का अभिनय असम्भव है। नटों में तो किसी भी आस्वाद का अभाव है, इसलिए शान्त रस भी अभिनीत हो सकता है, इसकी आवश्यकता नहीं कि नट परम शान्त, संयत हो ही। किन्तु साधारणीकरण में रस और आस्वाद की यह कमी मानी नहीं गई। क्योंकि भरत ने कहा है कि :

इन्द्रियार्थश्च मनसा भाव्यते ह्यनुभावितः।
नवेत्तिह्यमनाः किंचिद्विषयं पंचहेतुकम् ॥२४-२८॥

इन्द्रियों के अर्थ को मन से भावना करनी पड़ती है। अनुभावित होना पड़ता है। क्योंकि अन्यमनस्क होने पर विषयों से उसका सम्बन्ध ही छूट जाता है। फिर तो **क्षिप्रं संजातरोमांचा वाष्पेणावृतलोचना। कुर्वीत नर्तकी हर्षप्रीत्या वाक्यैश्च सस्मितैः**' २६-५०। इन रोमांच आदि सात्विक अनुभावों का पूर्ण अभिनय असम्भव है। भरत ने तो और भी स्पष्ट कहा है—'**एवं बुधः परं भाव सोऽस्मीति मनसा स्मरन्। वागंगलीलागतिभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत्।**' ३५-१४। तब यह मान लेना पड़ेगा कि रसानुभूति केवल सामाजिकों में ही नहीं प्रत्युत नटों में भी है। हाँ, रस-विवेचना में भारतीयों ने कवि को भी रस का भागी माना है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं : '**कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नाट्यव्यापारः सैव संवित् परमार्थतो रसः।**' (**अ० भा० ६ अध्याय**)। कवि में साधारणीभूत जो संचित् है, चैतन्य है वही काव्य पुरस्सर होकर नाट्य-व्यापार में नियोजित करता है, वही मूल संवित् परमार्थ में रस है। अब यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि रस-विवेचना में संवित् का साधारणीकरण त्रिवृत् है। कवि, नट और सामाजिक में वह अभेद भाव से एकरस हो जाता है।[1]

इस सम्बन्ध में हमारा एक ही निवेदन और है। वह यह कि कवि, नट और सहृदय तीनों की स्थिति में परस्पर कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। कवि और सहृदय तो उद्देश्य की एकता के कारण स्थिति-विशेष की स्वानुभूति जाग्रत करके साधारणीकृत अवस्था में उपस्थित हो सकते हैं, किन्तु नटों की

१. का० क० अ० नि०, पृ० ८३।

स्थिति इन दोनों में इस बात में भिन्न है कि नट जिस पात्र का अभिनय करता है, अपने को उसी रूप में ढाल लेता है। सहृदय तथा कवि के समान उसकी स्थिति ऐसी नहीं है कि रावण का अभिनय करते हुए भी वह अपने को रावण न समझे। नट की यह विवशता है कि अपने अभिनय की चरम सफलता के हेतु अपनी व्यक्तिगत स्थिति का ध्यान न रखकर और आदर्श की स्थापना से पिंड छुड़ाकर जिस पात्र के स्थान पर उपस्थित होता है, उसके जीवन में पूर्णतया भीगकर ही वह उस भूमिका को सफलता के साथ निबाह सकता है। इस प्रकार रावण का अभिनय करने वाला नट रावण की अनुभूति—काल्पनिक ही सही—को अपने में जाग्रत करता है। वह राम के स्वरूप से आनन्द नहीं लेता, बल्कि अपने अभिनय में दत्तचित्त हो जाता है। उस समय उसका प्रधान कर्त्तव्य होता है मूल पात्र के रूप में अपने को ढालकर उन्हीं भावों को व्यक्त करना, जिन्हें वह करता। यदि शेक्सपियर के नाटक 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस' में शाइलॉक का अभिनय करने वाला पात्र अपने को उसी रूप में उपस्थित न न करके एण्टोनियो के प्रति सहानुभूति का अनुभव करने लगे, तो उसके लिए शाइलॉक की वास्तविक भावनाओं और परिस्थिति-विशेष में उन्हीं आकृतियों का प्रकट करना सम्भव न होगा। इस अवस्था में पहुँचे बिना सहृदय उसके अभिनय से प्रभावित न होंगे, क्रूरता की साक्षात् मूर्ति उपस्थित न हो सकेगी और घटनाओं की तीव्रता तथा प्रभावात्मकता भी नष्ट हो जायगी। इस प्रकार नट या अभिनेता और सहृदय की स्थिति में हमारी दृष्टि में अन्तर होता है। अभिनेता की अपनी सीमाएं हैं, जिन्हें छोड़कर वह व्यक्तिगत स्थिति से तो पार पा जाता है, किन्तु, फिर उसे पात्र-विशेष से बँध जाना पड़ता है। उसे नाटकीय बन्धनों से मुक्ति नहीं मिल सकती और वह इतना स्वतन्त्र नहीं है कि दूसरे पात्र की स्थिति का भी आत्म-विमुक्त होकर आनन्द ले सके।

साधारणीकरण के प्रसंग में डॉ० नगेन्द्र के विचार भी उल्लेखनीय और आलोच्य प्रतीत होते हैं। अतः यहाँ हम उनका भी विचार करने का प्रयत्न करेंगे। डॉ० नगेन्द्र ने साधारणीकरण के प्रसंग में आश्रय, आलम्बन, नायक, कवि आदि का पृथक्-पृथक् रूप से विचार किया है। उनके विचारों पर ध्यान देने से प्रकट होगा कि इन सबके सम्बन्ध में उन्होंने साधारणीकरण को तादात्म्य मानकर ही अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। आश्चर्य का विषय है कि डॉ० नगेन्द्र शुक्लजी के खण्डन में यह कहकर कि केवल विभाव का साधारणीकरण और आश्रय के साथ तादात्म्य भट्टनायक तथा

कुछ अन्य आलोचकों के मत

अभिनवगुप्त को मान्य नहीं है,[1] स्वयं उसी तादात्म्य की सचेष्टतापूर्वक स्थापना कर चले हैं। उनके कुछ वाक्यों से ही यह बात स्पष्ट हो जायगी। जैसे "आप उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे ? अच्छा आश्रय को छोड़िए।" "संस्कृत काव्य का नायक ऐसे गुणों से विभूषित था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था।" "क्या आप उससे—घृणित नायक से—तादात्म्य कर सकेंगे ?" "हम—हमारी अनुभूति—लेखक की अनुभूति—से तादात्म्य स्थापित करते हैं" अथवा "हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायँगे।" आदि वाक्यों में आए 'तादात्म्य' शब्द से नगेन्द्रजी का इशारा स्पष्ट ही इस बात की ओर है कि तादात्म्य और साधारणीकरण नामभेद के अतिरिक्त एक ही चीज हैं। इसी कारण कवि की अनुभूति से तादात्म्य कराते-कराते वह उसका साधारणीकरण भी बताने लगते हैं। उनके मत की यही सबसे बड़ी कमज़ोरी है।

दूसरी कमज़ोरी उनके मत में यह है कि वह सहृदय को साधारणीकृत रूप का भोक्ता-मात्र मानते हैं, उसका साधारणीकरण मानकर नहीं चलते। इन दोनों कारणों से उन्हें यह कहना उचित जान पड़ा कि "साधारणीकरण की संभावना दो की ही हो सकती है, क्योंकि मैं तो साधारणीकृत रूप का भोक्ता हूँ। (१) आश्रय की और (२) आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है ? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है—और स्पष्ट शब्दों में, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझकर रति का अनुभव करते हैं ?"[2] पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि साधारणीकरण किसी सहृदय को अपने को ही राम समझ लेने के लिए नहीं कहता, वह तो दोनों को व्यक्तित्व से बन्धन-मुक्त कराता है। अतएव पाठक न तो प्रिय आश्रय से ही तादात्म्य करता है और न अप्रिय से ही।

जैसा कहा जा चुका है, साधारणीकरण को तादात्म्य का पर्याय मान लेने के कारण डॉ० नगेन्द्र ने नायक के साधारणीकरण का भी तिरस्कार यह कहकर कर दिया है कि नायक तो घृणित व्यक्ति भी हो सकता है, परन्तु हम उससे तादात्म्य न करना चाहेंगे। यदि ऐसा कर सकेंगे तो वह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी।[3] इसी प्रकार तादात्म्य को ही साधारणीकरण मानकर चलने के कारण नगेन्द्र जी ने आलम्बन के साधारणीकरण के सम्बन्ध में

१. री० का० भू०, पृ० ४८।
२. वही, पृ० ४९।
३. वही, पृ० ५०।

यहाँ तक कह दिया है कि "हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की वह आलम्बन-रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है, अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है।"[1] और इस प्रकार उन्होंने यह भुला दिया है कि सहृदय साधारणीकरण के फलस्वरूप किसी दूसरे के भाव को अनुभव नहीं करता अथवा प्रदर्शित व्यक्ति-विशेष को अपना या पराये का कहकर नहीं मानता और जानता, बल्कि सामान्य व्यक्ति-मात्र के रूप में देखता है। हम सीता से प्रेम नहीं करते, मन में केवल निःसंग प्रेम की अनुभूति जाग्रत करते हैं, जिसका किसी दूसरे से सम्बन्ध नहीं होता। केवल इतनी ही बात को ध्यान में रख लिया जाय तो तादात्म्य का पचड़ा ही न उठे। यद्यपि डॉ० नगेन्द्र 'कवि की अनुभूति के साधारणीकरण' का सिद्धान्त प्रस्तुत करके सही मार्ग पर चले हैं, किन्तु फिर 'कवि की अनुभूति से सहृदय की अनुभूति का तादात्म्य' सिद्धान्त उपस्थित करके साधारणीकरण के वास्तविक रूप को विकल कर देते हैं। सहृदय और कवि दोनों में इस अर्थ में कोई अन्तर नहीं है कि दोनों ही अनुभूति-प्रवण सहृदय होते हैं, अतएव कवि का साधारणीकरण भी सहृदय के साधारणीकरण के अन्तर्गत ही सिमट आता है, उसीमें संकेतित मानना चाहिए। और उसके साधारणीकरण का अभिप्राय है स्व-सम्बन्धों और पर-बोध से मुक्ति और भाव का अनन्यमनस्क होकर ग्रहण। किन्तु कवि सहृदय के अतिरिक्त निर्माण-शक्ति और कौशल पर ध्यान रखने वाला व्यक्ति भी होता है, अतएव मात्र कवि का साधारणीकरण कहने का कोई विशेष अभिप्राय सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए 'कवि की अनुभूति' वाक्यांश का प्रयोग उचित है, परन्तु समस्त सहृदयों का समान स्तर पर आ जाना और बात है, और एक की अनुभूति से दूसरे की अनुभूति का तादात्म्य होने का अभिप्राय निश्चय ही कुछ और है। पहली स्थिति में स्वतन्त्रता बनी हुई है और दूसरी में एक का दूसरे में अध्यवसान दिखाई पड़ता है, जो साधारणीकरण के क्षेत्र में काम्य नहीं है। यही 'स्वात्म-विश्रान्ति' अथवा 'स्वान्तःसुख' है कि हम स्वतन्त्र पुरुष होकर अपने ही भाव का आस्वाद लेते हैं। यह सिद्धान्त हमारे द्वारा पहले दिये गए परशुराम, अश्वत्थामा आदि के उदाहरणों के आधार पर निश्चित की गई इस धारणा के विपरीत नहीं है कि हम सभी विभावादि को साधारणीकृत रूप में ग्रहण करते हैं, क्योंकि कवि का कार्य केवल एकपक्षीय विशेषताओं, यथा वीरता आदि को उद्घाटित करना मात्र नहीं है, अपितु पर-पक्ष की वीरता आदि के

१. री० का० भू०, पृ० ५०।

उद्घाटन के द्वारा वह पूर्व-पक्ष की धीर-वीरता को अधिक प्रभावशाली बनाया करता है। अतएव वह कहीं-कहीं दुष्ट चरित्र-मात्र का उद्घाटन करके पर-पक्ष को हीन तो दिखाता ही है, उसीके सहारे पर पूर्व-पक्ष की महानता को भी अंकित कर देता है। पहली पद्धति में वह उचित पर-पक्षीय कार्यों को प्रस्तुत करता हुआ हमारे मन में उसी भाव को जन्म देता है और दूसरी पद्धति के द्वारा वह उसका अनौचित्य प्रकट करके उसके प्रति हमें विमनस्क बनाता है। औचित्य-प्रदर्शन के समय उसकी भावना पर-पक्ष की विरोधिनी ही नहीं रहा करती, अतएव उस अवस्था में हमें रसानुभूति होती है तो आश्चर्य की क्या बात है? फिर भी, जैसा हमने पहले ही कहा है, यह स्थिति दीर्घकाल-स्थायी न होने के कारण संचारी बनकर ही उपस्थित हुआ करती है। इन्हीं दोनों बातों को ध्यान में रखकर हमने अन्वय-व्यतिरेक का उल्लेख किया है। इस प्रकार हमारा सिद्धान्त यह है कि सहृदय, कविगत अनुभूति, समस्त विभावादि सभी का साधारणीकरण होता है और यह अनिवार्य नियम नहीं है कि साधारणीकरण के साथ रसानुभूति हो ही; बल्कि नियम यह है कि साधारणीकरण के उपरान्त यदि किसी प्रकार के अनौचित्य के कारण बाधा उपस्थित न हो गई, तो रसानुभूति होती है, अर्थात् प्रदर्शित भाव की विश्रान्तिपूर्वक सभी सहृदयों में अन्य-निरपेक्ष अनुभूति जागती है, जो आनन्ददायक होती है, क्योंकि विश्रान्ति ही सुख है, अविश्रान्ति ही दुःख। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि हम कान्तात्व का अभिप्राय नारी-मात्र हो जाना ही नहीं मानते, क्योंकि वैसा करने से माता, पुत्री या पत्नी आदि भेद करना असंभव हो जायगा। हम मानते हैं कि कान्तात्व के द्वारा विशेष गुणों की प्रतिष्ठा की जाती है अर्थात् पतिव्रता, कुटिला आदि सामान्य रूपों को उपस्थित किया जाता है। यदि ऐसा न मानें तो, जैसा कह आए हैं, 'मेघदूत' में मेघ को मेघ-सामान्य समझने से हमारा तब तक क्या काम बनेगा जब तक हम उसे दूत-सामान्य के रूप में न देखेंगे? इसी प्रकार 'दिनकर' की कविता, 'हिमालय' को पढ़कर कोई यह प्रश्न करे कि उससे सभी समानरूपेण उत्तुंग पर्वतमालाओं का ध्यान हमें नहीं आता, अतः हम वहाँ साधारणीकरण नहीं मानते, तो हमारा उससे इतना ही निवेदन होगा कि प्रश्न समानरूपेण उत्तुंग पर्वतमालाओं का नहीं, प्रश्न देशरक्षक प्रहरी-सामान्य का है। और इस रूप में सभी समान रूप से प्रभावित हो सकेंगे। इस प्रकार यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि 'हार्डी' के उपन्यासों की वे नारियाँ जो या तो अनेक से प्रेम करती हैं, या अनेक द्वारा प्रेम-पात्री बनती हैं अथवा जो अनेक को धोखा देकर अन्त में एक से बँध जाती हैं, भी साधारणीकरण की उपयुक्त पात्र हैं।

यदि हमारे यहाँ 'सामान्या' की गणना की जा सकती है और उसके सम्बन्ध में काव्य-रचना हो सकती है, तो इन नारियों के प्रति भी वैसे ही भाव क्या जाग्रत न होंगे ? हमारे यहाँ क्या नायक भी धृष्ट नहीं होता ? इस रूप में इन पात्रों का भी अपने यहाँ के उक्त पात्रों के समान ही महत्त्व है और हो सकता है, यह मानने में हानि नहीं। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह कि कभी-कभी साधारणीकरण कुछ विशेष स्तर के लोगों के लिए ही संभव हो पाता है। उदाहरणतः, 'कामायनी' काव्य को लोक-सामान्य भावभूमि पर लाने वाला काव्य कदाचित् ही कोई कह सकता है। सभी पाठक उसके दार्शनिक दृष्टिकोण को समान रूप से ग्रहण नहीं कर सकते। अतः साधारणीकरण के सम्बन्ध में भी एक सीमा-रेखा खींची जा सकती है। वह यह कि समान स्तर के पठित अथवा श्रुत व्यक्ति ही यदि एक भावभूमि पर उपस्थित होते हों तो भी साधारणीकरण ही माना जायगा, यह नहीं कि काव्य के लिए लोक-सामान्य होने की छाप आवश्यक है। विशेषतः श्रव्य-काव्य के सम्बन्ध में यह मार्ग अपनाना ही पड़ेगा, क्योंकि उसके रसास्वाद के लिए दृश्य का सहारा नहीं रहता, सूक्ष्म-बुद्धि, कल्पना, ज्ञान एवं अनुभव-विशालता पर निर्भर रहना पड़ता है। इसी लिए अभिनवगुप्त ने 'येषां काव्यानुशीलन' आदि पंक्तियों में तथा अन्य विचारकों ने अन्यत्र रसास्वादकर्त्ता की योग्यता पर ध्यान दिया है। ज्ञान-विज्ञान की कोई भी धारा हो, सदैव उसके विशेष अधिकारी अलग होते हैं, अतएव इस प्रसंग में भी उस सीमा का पालन करना अहितकर नहीं। सारांश यह कि रसास्वाद के लिए सहृदय जितना कवि का आसरा देखता है उतना ही कवि भी सहृदय की अपेक्षा रखता है। और जहाँ असाधारण और जटिल रूप से विभाव आदि प्रस्तुत किये गए हैं, वहाँ रसास्वाद ही न होगा, अतः साधारणीकरण न हो तो आपत्ति की कोई बात नहीं, जैसे, कूट पदों में। वहाँ रसात्मकता की ओर कौन ध्यान देता है या उसकी आवश्यकता ही कहाँ है ? किन्तु यदि किसी विशेष स्तर के सहृदय के साधारणीकरण की संभावना मानी जाय तो उसमें ही रसास्वाद की संभावना भी मानने में कोई हानि नहीं। बिना साधारणीकरण के रसास्वाद अवश्य ही सम्भव नहीं है।

रसास्वाद की प्रक्रिया का विचार करते हुए मराठी लेखकों ने बहुविधि विचारों का प्रदर्शन किया है। उनमें अधिकांश लोग तादात्म्य के पक्षपाती हैं, किन्तु इस तादात्म्य के भी उन्होंने स्वेच्छाकृत रूपों का ही निर्देश किया है। इस प्रसंग में उनके विचारों का परिचय प्राप्त कर लेना उपयोगी होगा।

मराठी लेखक और तादात्म्य

प्रसिद्ध विद्वान् श्री न० चि० केलकर ने एक बार बड़ौदा में भाषण देते हुए 'सविकल्प समाधि' सिद्धान्त की चर्चा की थी। उनका कहना है कि जब हम काव्य पढ़ते हैं, उस समय हम अपनी भूमिका न छोड़ते हुए भी दूसरे की भूमिका में संक्रमण कर जाते हैं और उस व्यक्ति के अनुभव का आनन्द उठाने लगते हैं। इस प्रकार पर-भूमिका में संक्रमण प्रतिभा के बल पर होता है। केवल अपनी भूमिका में रहते हुए अथवा केवल दूसरे की भूमिका में प्रवेश कर जाने पर, इन दोनों रूपों में ही आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। आनन्द तो आत्मौपम्य बुद्धि के द्वारा होता है और वह तभी होगा जब हम अपनी भूमिका न छोड़ते हुए भी दूसरे की भूमिका में संक्रमण कर जायँ। किसी रस के स्थायी भाव की प्रतीति जब तक अपने भाव के रूप में न होगी, तब तक केवल दूसरे का भाव रहने के कारण रस-प्रतीति सम्भव न होगी। उदाहरणतः, अपनी पुत्री के ससुराल के लिए प्रस्थान करते समय हमारी आँखों से बहने वाले आँसुओं और मुँह से निकलने वाले वचनों का काव्यत्व नहीं होता, वह केवल इसीलिए कि वह आत्म-भूमिका का एक-पक्षीय अनुभव-मात्र होता है, परन्तु 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक के चौथे अंक में कण्व के कन्या-विरह प्रसंग को पढ़कर हमें काव्यत्व का ही आनन्द आता है, प्रत्यक्ष दुःख का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार वाचक जब अपनी भूमिका न छोड़ते हुए मन से दूसरे व्यक्ति की भूमिका में संक्रमण करता है, तो प्रातिभ अनुभव के द्वारा वह दुःख भी रसास्वाद रूप आनन्द हो जाता है।[1]

नरसिंह चिन्तामणि केलकर तथा वा० म० जोशी

रस तथा अलंकार का विचार करते हुए श्री केलकर ने दोनों में केवल स्वरूप-भेद को स्वीकार किया है और कहा है कि रस का स्थायी भाव जीव-सृष्टि पर अधिष्ठित रहता है और अलंकारों का आधार है अचेतन सृष्टि। फिर भी अलंकारों के द्वारा जो आनन्द उपस्थित होता है, उसका कारण है समगुण की एक ही समय में अधिकाधिक प्रतीति। स्त्री की तुलना किसी लता से करते समय जो हमारे सामने लता का सादृश्य अधिक-से-अधिक और एकवारगी उपस्थित हो जाता है, उसीके कारण हमें आनन्द आता है। इस आनन्द से एक प्रकार की तल्लीनता उत्पन्न होती है और आनन्द की उत्कटता समाधि में परिवर्तित हो जाती है। अतएव कहा जा सकता है कि जिसके द्वारा विशुद्ध सविकल्प समाधि उत्पन्न हो, वही वास्तविक अर्थों में वांङ्मय कहलाने योग्य है।[2]

१. 'विचार-सौंदर्य,' पृ० २६।
२. वही, पृ० २७।

केलकर का विचार है कि इस प्रकार पर-भूमिका-संक्रमण के द्वारा पाठक थोड़े-बहुत रूप में संसार को आकलन करने की अपनी महत्त्वाकांक्षा की परिपूर्ति कर पाता, है जिसके कारण उसे आनन्द का अनुभव होता है। यह आनन्द भी सविकल्प समाधि या दूसरे शब्दों में सविकल्प तादात्म्य की प्रगाढ़ता पर निर्भर होता है, अर्थात् जब जितना ही अधिक सविकल्प तादात्म्य सिद्ध होगा तब उसी परिमाण में आनन्द का अनुभव होगा। सांसारिक नियम यह है कि हम किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करके आनन्द लाभ करते हैं अथवा कार्य-कारण भाव की जानकारी से आनन्द आता है अथवा बहुत दिन तक अज्ञात रहने वाली वस्तु का ज्ञान उपलब्ध हो जाने पर आनन्द प्राप्त होता है, जिसे हम विद्यानन्द-मात्र कह सकते हैं। कलाजन्य आनन्द में यों तो इसका भी हाथ रहता है और यह भी उसका एक साधन माना जा सकता है, किन्तु इसे उसका व्यवच्छेदक-विशेष धर्म नहीं माना जा सकता। कलाजन्य आनन्द में तो सविकल्प तादात्म्य का ही महत्त्व है।[1]

केलकर महोदय के इन विचारों के सम्बन्ध में श्री वामन मल्हार जोशी ने विस्तारपूर्वक विचार करते हुए उनके सिद्धान्त का खण्डन किया है और अन्यत्र 'आत्मक्रीड़ा आत्मरति' सिद्धान्त को रसास्वाद का कारण बताया है। जोशीजी की पहली आपत्ति यह है कि पूर्व-विद्वानों ने कवि तथा रसिक के मन का विषय-वस्तु से तादात्म्य स्वीकार किया है; जैसे वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्रसिद्ध पंक्ति[2] में मानो इसी बात का अनुमोदन किया है। उनकी पंक्ति से यह नहीं जान पड़ता है कि कवि मूलभूत भावनाओं का पूर्णतया वशवर्ती नहीं होता और शान्त होने पर पुनः स्मृति तथा कल्पना के सहारे पूर्व-भावनाओं को एक प्रकार से जगाकर, उस शांति सागर में छायात्मक भावना की तरंगों को उत्पन्न करता हुआ काव्य-निर्माण करता है; बल्कि इससे तो यह जान पड़ता है कि कवि एक-बारगी तरंगित हृदय से ही लिखता है, उसके हृदय का उच्छल आवेग ही अरोक काव्य के रूप में उपस्थित होता है। यह उपस्थिति मानो काव्य-विषय से उसकी अत्यधिक एकता का प्रमाण है। इसके विपरीत केलकर महाशय की उपपत्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रसिक के मन से दीख पड़ता है, और कवि के मन का विचार यहाँ गौण जान पड़ता है।[3]

श्री जोशी को यह पूर्णतया स्वीकार है कि काव्य-रचना अथवा काव्य-

---

१. वि० सौ०, पृ० ३०।

२. Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings.

३. वि० सौ०, पृ० २८।

वाचन या श्रवण के समय कवि तथा पाठक विषय से पूर्ण तादात्म्य नहीं करते, यह सही है कि वे अपने-आपको भुला तो देते हैं और यह काम तो वक्ता या कला-कुशल व्यक्ति भी करता है, किन्तु अपने-आपको इस सीमा तक नहीं भुलाया जाता कि जिसे हम पूर्ण तादात्म्य की संज्ञा दे सकें। वस्तुतः यह विस्मृति केवल ऐसी है, जैसे नैतिक क्षेत्र में स्वार्थ भूल जाने की होती है। वहाँ पूर्णतया 'स्व' को नहीं भुलाया जा सकता, बल्कि इसके विपरीत 'आत्म-ज्ञान' अथवा 'आत्म-प्राप्ति' करना ही उस समय का ध्येय होता है। इसी प्रकार रसिक अपने-आपको भूल जाता है और उससे विशिष्ट ब्रह्मानन्द के समान अलौकिक आनन्ददायी स्वानुभव का उत्कर्ष अनुभव होता है। पूर्ण तादात्म्य में तो सबसे बड़ी गड़बड़ी यही है कि वैसा होने पर शोक का दृश्य शोकोरबोधक ही बना रह जायगा। दूसरे का दुःख हमारा दुःख बन जायगा और उससे काव्य का आनन्द-मय प्रभाव हवा हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि हिरण्यकशिपु वेषधारी नट के द्वारा प्रह्लाद पर अत्याचार होते देखकर दर्शक हिरण्यकशिपु का प्राणान्त ही कर देगा, अथवा नृसिंह के द्वारा हिरण्यकशिपु की हत्या होते देख उसके बचाव का प्रयत्न किया जाने लगेगा। ऐसी दशा में सविकल्पत्व को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती, तभी इस प्रकार की स्थिति से बचाव हो सकेगा। वस्तुतः इस प्रकार की मानसिक स्थिति की गणित में आने वाली असम्पत्ति[1] रेखाओं से तुलना की जा सकती है।[2]

तादात्म्य के सम्बन्ध में दूसरी आपत्ति यह भी प्रस्तुत होती है कि यदि हमारे सम्मुख कोई ऐसा चित्र हो, जिसमें गो तथा गो-वत्स का सुन्दर अंकन हो तब वहाँ हमारा तादात्म्य किससे माना जायगा ? गो से अथवा गो-वत्स से ? इसी प्रकार यह भी विचारणीय है कि प्रातःकाल नदी-तट के बहुत-से झाड़ आदि का सुन्दर दृश्य देखकर, वहाँ हम किससे तादात्म्य करेंगे ? दोनों प्रश्नों का अभिप्राय यह है कि जहाँ मनुष्येतर चेतन तथा जड़ प्रकृति का दृश्य वर्णित अथवा प्रदर्शित हो वहाँ पाठक या श्रोता अथवा दर्शक किसके साथ तादात्म्य करेगा ? क्या वह गाय आदि पशुओं से अथवा अचेतन प्रकृति से तादात्म्य कर सकता है, और क्या यह उचित होगा कि मनुष्य इनके साथ तादात्म्य करे ? हो सकता है कि दूसरे प्रश्न का उत्तर यह कहकर दिया जाय कि वहाँ सहृदय सृष्टि-

१. Asymptote is a line which approaches nearer and nearer to some curve but though infinitely extended would never meet it.

२. 'विचार सौन्दर्य,' पृ० २१।

कर्त्ता से तादात्म्य करता है, किन्तु केलकर महोदय के वर्णित सिद्धान्त से उनके इस प्रकार के विचार का कोई संकेत न मिलने के कारण इसे कैसे मान्य ठहराया जा सकता है ? उन्होंने तो सर्वत्र केवल मनुष्यों के ही उदाहरण दिए हैं।"[1] हाँ, अचेतन के सम्बन्ध में उन्होंने अलंकार तथा रस के पूर्वोक्त वर्णन के अन्तर्गत अवश्य लिखा है। किन्तु, इस सम्बन्ध में भी ध्यान देने से पता चलता है कि अलंकार तथा रस के आनन्द की अचेतन तथा चेतन प्रकृति के आधार पर भिन्नता प्रदर्शित नहीं की जा सकती। निर्जन अरण्य अथवा श्मशान के वर्णन से भी रसोत्पत्ति संभव है। इसके विपरीत यह भी नहीं कहा जा सकता कि चेतन पदार्थ की चेतन पदार्थ से ही तुलना करने पर अलंकार उपस्थित नहीं होता। लोग बराबर किसी व्यक्ति की उपमा सिंह आदि से अथवा दूसरे ही किसी मनुष्य से दिया करते हैं और वहाँ भी अलंकार की सिद्धि मानी जाती है। अतएव केलकर महोदय की यह उपपत्ति भी महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ती।[2] यह मान्य हो सकता है कि अलंकारों से इसलिए आनन्द होता है कि उनसे एक ही समय में अनेक पदार्थों का आकलन एक वैचित्र्य उपस्थित कर देता है, किन्तु उसे भी मुख्य या एक-मात्र कारण न मानकर गौण ही माना जा सकता है; क्योंकि रसायन-शास्त्र आदि के अध्ययन के समय भी एक ही काल में अनेक पदार्थों का ज्ञान तो होता है, परन्तु उससे कलात्मक आनन्द की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। सही बात यह होगी कि हम कहें कि उस समय आनन्द की उत्पत्ति का कारण वस्तु का सौंदर्य होता है, अनेक वस्तुओं का संकलन नहीं। काव्यानन्द अनेक कारणों से उत्पन्न होता है और विशिष्ट समय तथा विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उसकी प्रधानता तथा प्रभावशालिता में अन्तर होता रहता है। ऐसे कई कारण ये हो सकते हैं :

१. प्रकृत सुन्दर अथवा कला-निर्मित सुन्दर वस्तु इन्द्रियों के लिए सुखकर होती है।

२. निर्माणकर्त्ता के साथ अपनी समरसता उत्पन्न होने तथा उसकी सामर्थ्य तथा उसके बुद्धि-वैभव, कौशल तथा सहृदयता आदि की प्रतीति होने पर एक प्रकार का आश्चर्य अथवा उसके प्रति आदर की भावना उत्पन्न होती है और उसीसे अलौकिकता की पुष्टि होती है, जिससे आनन्द उत्पन्न होता है।

३. कवि अथवा वक्ता का अनुभव एक हो जाने पर दोनों की समानधर्मिता के कारण अथवा सहृदय से अधिक कवि की सफलता से भी आनन्द उत्पन्न

१. विचार सौन्दर्य, पृ० ३१।

२. वही, पृ० ३२।

होता है। केलकर दूसरे व्यक्ति का अपने समान अनुभव हो जाने से ही आनन्द मानते हैं, किन्तु आत्म-प्रत्यय या आत्माभिमान के कारण भी आनन्द होता है।

४. विचार-साहचर्य के कारण काव्य आदि पढ़कर किसी प्रिय अथवा सुन्दर वस्तु के स्मरण हो जाने से भी आनन्द होता है।

५. विदग्धता के द्वारा आश्चर्य उत्पन्न होता है और अपेक्षा-भंग के कारण आनन्द होता है।

६. हास्य-रस में अपने को दूसरे से श्रेष्ठ समझने से आनन्द होता है।

७. काण्ट के विचार से वस्तु की उदात्तता से अचानक ही एक प्रकार की उसकी सामर्थ्य-जनित भीत्ति उत्पन्न होती है अथवा जब सृष्टि के उपादानों पर अपनी श्रेष्ठता का पता चलता है, तब भी आनन्द होता है।

८. शोक के दृश्यों से उत्पन्न आनन्द का कारण भी उनकी उदात्तता और सत्यता की प्रतिष्ठा है। सामान्य लोक में उसका पता नहीं चला करता; किन्तु प्रतिभावान् चित्रकार, कवि या लेखक अपनी कलाकृति द्वारा उसे दूसरों पर प्रकट कर देते हैं।

इन सब बातों पर ध्यान दें तो मानना पड़ेगा कि वस्तुगत रम्यत्व या उदात्तत्व आदि में भी आनन्ददायकत्व वर्तमान रहता है और उसकी सिद्धि अनेक रूपों में हो सकती है। इस आनन्द का परिणाम सविकल्प समरसता भी होती है, किन्तु एक-मात्र इसे ही आनन्द का कारण मानना एकांगी दृष्टिकोण से काम लेना है।[1] उचित तो यही होगा कि काव्य में किसी एकाध व्यक्ति अथवा सभी व्यक्तियों से तादात्म्य मानने की अपेक्षा किसी से तादात्म्य न मानकर सभी को एक विशिष्ट दृष्टि से देखना स्वीकार कर लिया जाए। इससे वस्तु-स्थिति के अधिक स्पष्ट होने की आशा है।[2]

यदि यह कहा जाय कि कवि या नाटककार से तादात्म्य होने से आनन्द उपस्थित होता है, तो इसे मानने में भी कई कठिनाइयाँ हैं। इस सम्बन्ध में पहले भी बताया जा चुका है। पुनः एक उदाहरण लें तो बात और स्पष्ट हो सकती है। जैसे, किसी मीठे आम को खाने से आम के रस का जिह्वा से तादात्म्य-जन्य आनन्द का सिद्धान्त तो मान्य हो सकता है, किन्तु उसके मिठास, तंतुरहितता आदि गुणों की उपेक्षा करके केवल सविकल्प-जिह्वा-तादात्म्य मानकर काम नहीं चलाया जा सकता। इसी प्रकार विभावादि के स्वरूप को आँखों से ओझल करके केवल कवि और पाठक या इसी प्रकार के किसी तादात्म्य की कल्पना से रसा-

१. वि० सौ०, पृ० ३६-३७।

२. वही, पृ० ३८।

स्वाद का समाधान नहीं किया जा सकता ।[1] इसी प्रकार यदि अचेतन प्रकृति के सम्बन्ध में ईश्वर से तादात्म्य मानें तो इस बात का समाधान करना संभव नहीं जान पड़ता कि ईश्वर न मानने वालों को वहाँ आनन्द क्यों होता है ?[2]

यदि काव्यों पर ध्यान दिया जाय तो तादात्म्य में और भी अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ दिखाई देती हैं। नाटक, काव्य अथवा उपन्यास में रस का अधिष्ठान पात्र नहीं, प्रेक्षक किंवा वाचक का हृदय होता है । लोक में देखा जाता है कि बच्चा जन्मते ही रोता है, किन्तु उसके माँ-बाप हँसते हैं। भीष्म के समान धीरोदात्त व्यक्ति मृत्यु के समय नहीं रोता, किन्तु उसके भक्तजन शोकाकुल हो जाते हैं। इस प्रकार यदि काव्य के पात्र न भी हँसें, बल्कि रोएँ ही तो भी हास्य रस उत्पन्न हो सकता है। स्वयं न रोकर भी वह सहृदय को रुलाने में समर्थ हो सकता है । स्वयं शृंगार की बात न करते हुए भी यह सहृदय में शृंगार रस उत्पन्न कर सकता है । कभी-कभी ऐसा होता है कि नाटक में हीन पात्र उल्टी-सीधी विदग्ध बातें कहते हैं और उससे कुछ लोगों को हँसी आती है । नाटककार तथा कुछ प्रेक्षक उसे उच्चकोटि का विनोद मानते हैं, हास्यरस का साधक समझते हैं। परन्तु रसिकों को ऐसे ग्रन्थकारों तथा प्रेक्षकों से अरुचि पैदा होती है । किसी-किसी नाटक में सच्छील नायिका का चित्रण भी सच्छील स्त्रियों तक को प्रभावित नहीं करता, क्योंकि उसका अभिनय करने वाली नटी ऐसा असभ्य अभिनय करती है कि शृंगार की उत्पत्ति न होकर रसिक को शोकानुभव होने लगता है । इस प्रकार किसी नाटक आदि में हीनता का एक कारण नाटककार तथा श्रोता की असदभिरुचि है। वस्तुतः उन्हें रसोत्पत्ति-विषयक ज्ञान ही नहीं होता । किसी-किसी नाटककार को इतना ज्ञान नहीं होता कि उत्तम ध्वनि-काव्य में शब्दों का सीधा वाच्यार्थ होने पर जैसे उत्तम ध्वन्यर्थ हो सकता है, उसी प्रकार विशिष्ट परिस्थिति में नायक-नायिका का सादा भाषण या अभिनय देखकर प्रेक्षक के हृदय में रसोत्पत्ति हो सकती है । इस प्रकार रसोत्पत्ति के अनेक कारण हैं और सविकल्प समाधि सिद्धान्त की मान्यता में अनेक कठिनाइयाँ हैं। इस समाधि सिद्धान्त से जहाँ अन्य बातें नहीं सुलझ पातीं, वहाँ यह भी नहीं जाना जा सकता कि खल पात्रों, स्त्रियों या पुरुषों के साथ अपना तादात्म्य किस प्रकार घटित होता है और यदि होता है तो वह दोष अपने में किस प्रकार स्थान प्राप्त करता है ।[3] सारांश यह है कि रसास्वाद

१, वि० सौ०, पृ० ४० ।

२. वही, पृ० ७८ ।

३. वही, पृ० ८१ ।

की संभावना के लिए तादात्म्य-मात्र मानने से काम नहीं निकाला जा सकता, अपितु कवि, सहृदय तथा विभावादि सभी पर ध्यान रखना आवश्यक है। कवि तथा सहृदय पर ध्यान रखने का तात्पर्य यह है कि रसास्वाद के स्वरूप को हम तभी समझ और समझा सकते हैं, जब कवि तथा सहृदय की मनोवृत्ति तथा प्रवृत्ति के संस्कार या असंस्कार पर ध्यान देंगे। इन दोनों का संस्कारी और संस्कृत होना आवश्यक है, तभी उदात्त रूप में काव्य का रूप उपस्थित हो सकेगा और उससे उसी प्रकार की सिद्धि सम्भव होगी। इसी प्रकार सहृदय के उदात्त चित्त होने पर ही उसे ऐसे उदात्त स्थलों का रस आ सकेगा। इसीलिए हमारे यहाँ दोनों की योग्यताओं पर ध्यान दिया गया है। इन दोनों के अतिरिक्त विभावादि का भी कम महत्त्व नहीं है। वही कवि तथा सहृदय के बीच की योजक कड़ी हैं। उनका जैसा रूप होगा, उसीके अनुकूल रस की सिद्धि-असिद्धि सम्भव या असम्भव होगी। इन सब बातों का समाधान केवल तादात्म्य मान लेने से ही नहीं होता, अतएव जैसा जोशीजी ने संकेत किया है सामान्य रूप से ही सबको देखना चाहिए, अथवा दूसरे शब्दों में साधारणी-करण ही रसास्वाद का उपस्थितिकर्त्ता है और तादात्म्य से उसका परिवर्तन सम्भव नहीं है। इसीलिए हमारे आचार्यों ने भी सविकल्प या निर्विकल्प समाधि से रसास्वाद को भिन्न माना है।

हमारे यहाँ आचार्य मम्मट, कविराज विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि मान्य आचार्यों ने रस को परब्रह्मास्वाद सदृश मानकर भी उसे समाज से भिन्न बताया है। आचार्य मम्मट स्पष्ट कहते हैं कि विभाव आदि के परामर्श के कारण रस निर्विकल्पक नहीं कहा जा सकता। साथ ही स्व-सम्वेदन सिद्ध होने के कारण उसे सविकल्पक भी नहीं कह सकते।[1] इसी प्रकार कविराज विश्वनाथ का कथन है कि रस को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं कह सकते, क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान में सम्बन्ध का भान नहीं होता और रस में विभाव आदि का परामर्श, अर्थात् विशिष्ट-वैशिष्ट्य-सम्बन्ध प्रतिभासित होता है। दूसरे, निर्विकल्पक ज्ञान निष्प्रकारक होता है। इसमें किसी धर्म का प्रकारता रूप से भान नहीं होता, परन्तु रस परमानन्दमय है, अतः उसमें आनन्दमयत्व प्रकारता से भासित होना है, इसलिए निर्विकल्पक ज्ञान रस का ग्राहक नहीं है। इसी प्रकार रस को सविकल्पक ज्ञान से सम्वेद्य भी नहीं मान सकते, क्योंकि सविकल्पक

---

१. तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्।
नापि सविकल्पं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्।
'काव्य प्रकाश', झलकीकर, पृ० ९५।

ज्ञान के विषयभूत सभी घटपटादि, शब्द के द्वारा प्रकाशित किये जा सकते हैं, परन्तु रस में 'अभिलाष संसर्ग' अर्थात् वचन-प्रयोग की योग्यता नहीं, वह अनिर्वचनीय है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ भी उसे पहले समाधि के समान चित्त-वृत्ति उत्पन्न करने वाला मानकर पुनः समाधि से उसकी विलक्षणता प्रतिपादित करते हैं।[2] वस्तुतः समाधि और काव्य के आनन्द में परस्पर कुछ साम्य भी है और कुछ वैषम्य भी। साम्य की दृष्टि से देखें तो दोनों को ही आनन्दस्वरूप और सुखात्मक माना गया है। काव्य का आनन्द दुःखमय दृश्यों में भी सुख की अवतारणा कर देता है। इस प्रकार का विश्वास अनेक लेखकों ने प्रकट किया है। दोनों ही दशाओं में चिन्मयत्व बना रहता है। अर्थात् दोनों में एक चैतन्य की धारणा बनी रहती है। यह चैतन्य मूलतः आनन्द-रूप और प्रकाशक होता है। इसी चैतन्य का ध्यान करके पण्डितराज ने अपने 'आवरण' भंग,[3] सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस आवरण-भंग के द्वारा काव्य-पाठक को भी अखंड प्रकाश का अनुभव होता है जो मानसिक प्रकाशरूप है और समाधिलीन व्यक्ति को भी सुख होता है, अथवा अखंड प्रकाश का अनुभव होता है, जो आनन्दमय है। फिर भी समाधि में काव्यानन्द से यह अन्तर है कि समाधि वस्तुतः निर्विकल्पक ही मानी जाती है; जबकि काव्यानन्द के समय भी विभावादि की सत्ता का लोप नहीं होता। समाधि में आनन्द साक्षात्कार स्वरूप होता है, स्वतः स्फूर्त होता है, किन्तु काव्यानन्द में शब्द, अभिनय आदि उसके माध्यम बनकर उपस्थित होते हैं। इसके अतिरिक्त काव्य का आनन्द नित्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी प्रतीति केवल विभावादि के रहने के समय तक ही हो पाती है। समाधि-सुख अखंड और नित्य होता है। इस वैषम्य के कारण ही केलकर महोदय ने 'सविकल्पक-समाधि' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और इसके द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया है कि वही वाङ्मय

१. न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते।
तथा मिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च॥ सा० द० ३।२४॥
कविकल्पकसंवेद्यः
सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनप्रयोगयोग्यता। न तु रसस्य तथा।
साक्षात्कारतया न च।
परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात्॥ सा द० ३।२५॥

२. समाधाविव योगिनः चित्तवृत्तिरुपजायते; र० गं०, पृ० २२ तथा
इयं च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा; र० गं०, पृ० २३

३. भग्नावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्थायी भावो रसः। र० गं०, पृ० २३।

अधिक उत्कृष्ट कहलायगा, जिसके अध्ययन से हमारे मन में अधिक-से-अधिक इस प्रकार की कल्पना जाग्रत होगी और हम अपनी भूमिका न छोड़ते हुए भी अधिकाधिक दूसरे की भूमिका में प्रवेश करते जायँगे। केलकर महोदय के इस प्रतिपादन के विरोध में प्रो० जोग की यह आपत्ति उचित जान पड़ती है कि विकल्प के रहते हुए अधिक-से-अधिक दूसरे की भूमिका में प्रवेश करके समाधिस्थ हो जाना सम्भव नहीं है।[1] प्रो० जोग ने कहा है कि समाधि शब्द के द्वारा यदि तन्मयता, तल्लीनता या एकाग्रता का अर्थ ग्रहण किया जाता है, तो ठीक है, स्वयं राजशेखर ने मन की एकाग्रता को अथवा सामाहित चित्त को समाधि कहा भी है।[2] किन्तु इस सम्बन्ध में मुख्य आपत्ति यही है कि समाधि शब्द का प्रयोग कुछ अलौकिक स्थिति के लिए हुआ था। काव्य के सम्बन्ध में उसका प्रयोग भ्रमजनक हो सकता है। काव्यानन्द में ज्ञानानन्द का मिश्रण भी रहा करता है और उससे मन व्यग्र होता है। काव्यानन्द सहृदय की मर्यादित ग्रहण-शक्ति या धारणा-शक्ति पर आधारित होता है, अतएव उसमें सहृदय के अनुकूल भिन्नता भी आ सकती है।[3]

सविकल्प-समाधि-सिद्धान्त की त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए श्री दत्तात्रेय केशव केलकर ने 'स्वायत्त तादात्म्य' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका

द० के० केलकर

कथन है कि कल्पना के द्वारा भिन्न वस्तुओं से तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है, किन्तु यह तदात्म्य कितने अंश में और कितने काल तक रहे यह अपने वश की बात है। लौकिक व्यवहार, दिवा-स्वप्न, निशा-स्वप्न सभी में कल्पना-शक्ति की आवश्यकता रहती है, किन्तु काव्यगत कल्पना इन सभी से भिन्न है। लौकिक व्यवहार में कल्पना-शक्ति नियति का बन्धन है। काव्य-निर्मिति-काल में कल्पना-शक्ति पर कवि का अधिकार रहता है और आस्वाद-काल में विभिन्न पात्रों से होने वाला तादात्म्य- अनुभव काल्पनिक-मात्र है, इस बात की विस्मृति रसिक को नहीं होती। इस रूप में यह तादात्म्य मर्यादित या स्वायत्त होता है। सुशिक्षित मनुष्य अपनी कल्पना-शक्ति पर इतना अधिकार रखता है कि अनुकूल संवेदना पाकर वह भड़क न उठे। स्वायत्त तादात्म्य के अनुसार काव्यगत करुण रस ठंड के दिनों में हाथ सेंकने के समान सुखोष्ण अनुभवदायी-मात्र रह जाता है और उससे दुःखोत्पत्ति की कल्पना की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है।

१. सौं० आणि आ०, पृ० १६९।
२. वही, पृ० १७०।
३. वही, पृ० १७०।

भिन्न काल में भिन्न-भिन्न पात्रों से तद्रूप होना अशक्य न होने पर भी काव्य-पाठ के समय सभी पात्रों से तद्रूप होना सम्भव नहीं है। वस्तुतः नीच पात्रों से तादात्म्य सिद्ध होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उनके प्रतिस्पर्धी उच्च पात्रों से तादात्म्य हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप नीच पात्रों के प्रति पाठक में तिरस्कार आदि का संचार हो सकता है। उसीसे रसोत्पत्ति की पुष्टि होती है। हास्य का यही नियम है। हास्यास्पद पात्रों से तादात्म्य न होकर उनका उपहास करने वाले कवि से तादात्म्य होता है। अभिप्राय यह है कि किस पात्र से तादात्म्य हो, यह पाठक के अधीन है। अतएव इस सिद्धान्त को 'स्वायत्त तादात्म्य' कहना चाहिए।[1]

प्रो० जोग द्वारा खंडन

स्वायत्त तादात्म्य के स्वरूप का खंडन करते हुए प्रो० जोग ने कहा है कि उत्तम काव्य के परिणामस्वरूप पाठक विवश भाव से कवि के पीछे चलने लगता है। उस अवस्था में उसका अपने ऊपर अधिकार नहीं रह जाता। वह ऐसे काव्य के पठन या श्रवण के समय चाहे भी तो भी अपने मनोनुकूल कार्य नहीं कर पाता, बल्कि एक सहज स्थिति में कवि के भाव के पीछे उसका मन दौड़ने लगता है। ऐसी दशा में तादात्म्य को स्वायत्त विशेषण के साथ रखने से काम नहीं चल सकता। यदि हम इस 'स्वायत्त तादात्म्य' सिद्धान्त को स्वीकार करें तो दूसरे शब्दों में हमें कवि की योग्यता में कोई त्रुटि माननी पड़ेगी। कवि की सफलता तो इसी बात में है कि वह प्रत्येक पाठक को अपने भाव के पीछे ले चले। इसके अतिरिक्त यदि हम शोकान्त नाटकों पर विचार करें तो भी 'स्वायत्त तादात्म्य सिद्धान्त' युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता, क्योंकि ऐसे नाटकों में हम यह जानते हुए भी कि नायक के साथ हमारा तादात्म्य नहीं हो रहा है, हम करुणा विगलित होकर अश्रुपात करने लगते हैं। यह अश्रुपात भी विवश भाव से ही होता है। उस अवस्था में हम जान-बूझकर आँसू नहीं बहाते अथवा रोकने का प्रयत्न करें तो भी नहीं कर पाते। इन दोनों दशाओं का ध्यान रखते हुए विचार करें तो स्वायत्तता की सिद्धि में बाधा जान पड़ती है। ऐसा कहा जा सकता है कि यदि कोई पाठक पहले से ही यह प्रतिज्ञा करके बैठे कि वह अमुक स्थिति उत्पन्न ही नहीं होने देगा, तब भी देखा जाता है कि पाठक वैसे स्थलों पर अपने-आपको नहीं रोक पाता। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार स्वायत्तता को स्वीकार करना उचित नहीं। वस्तुतः एकाग्रता से ही तादात्म्य हो सकता है, यदि पाठक अपने सम्बन्ध में कुछ भावनाएँ बनाए रखेगा तो तादात्म्य की सिद्धि

१. 'काव्यालोचन', पृ० १७९–१८१।

सम्भव नहीं ।[1]

खल पात्रों के विषय में केलकर महोदय का यह मत भी स्वीकार करने योग्य नहीं जान पड़ता कि इन पात्रों से तादात्म्य करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । कम-से-कम खल दर्शक तो ऐसा अनुभव कर ही सकते हैं । साथ ही जैसा प्रो० जोग ने कहा है, पाठक या दर्शक अपनी कल्पना के सहारे उन पात्रों के भावों का भी आनन्द ग्रहण कर सकता है । श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर के सिद्धान्त में इस कल्पना-व्यापार का संकेत अवश्य मिल जाता है । एक प्रकार के पात्रों को पूर्णतया नियम-मुक्त कर देना नियम या सिद्धान्त की व्याप्ति में बाधक अवश्य माना जायगा, अतएव उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता । यह तादात्म्य सिद्धान्त इस दृष्टि से भी त्रुटिपूर्ण जान पड़ेगा कि इसके द्वारा वर्ग, आयु अथवा सिद्धान्त-सम्बन्धी भेद के रहते हुए तादात्म्य की सिद्धि किस प्रकार होगी इस विषय में कोई निर्णायक मत नहीं मिलता । अभिप्राय यह है कि इस सिद्धान्त के द्वारा यह प्रकट नहीं हो पाता कि स्त्री-पात्रों से पुरुष-दर्शक या पाठक का और पुरुषों से स्त्री-दर्शक और पाठक का तादात्म्य किस प्रकार होगा अथवा प्राचीन सिद्धान्तवादी एवं अध्यात्मवादी नायक से आज के तरुण कहाँ तक तादात्म्य का अनुभव कर सकेंगे ? ऐसा जान पड़ता है कि भट्टलोल्लट आदि के समान यह सिद्धान्त भी मूलतः 'भ्रान्ति' पर ही आधारित है । ऐसी दशा में इसे स्वीकार करने का अर्थ पुनः उसी स्थिति में पहुँच जाना होगा, जिससे वैचारिक विकास में योग न मिल सकेगा ।[2]

तादात्म्य-सिद्धान्त की त्रुटियों को देखते हुए कुछ विद्वानों ने ताटस्थ्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । स्वयं श्री जोग ने 'काव्यालोचन' की समीक्षा में 'लोकशिक्षण' पत्रिका में 'सहानुभूतिपूर्वक ताटस्थ्य सिद्धान्त प्रस्तावित किया है । जैसा डॉ० वाटवे ने स्वीकार किया है, इस सिद्धान्त के द्वारा उन्होंने तादात्म्य जन्य अतिरेक, स्वायत्तगत यान्त्रिकता एवं समाधि-सम्बन्धी गूढ़ता का नियन्त्रण करके एक सन्तुलन लाने की चेष्टा की है ।[3] तादात्म्य में जिस प्रकार एक की दशा का दूसरे की दशा के साथ विलय हो जाता है, अथवा समाधि के नाम पर जो एक रहस्यात्मकता का आरोप-सा जान पड़ने लगता है, उससे बचाते हुए यह सिद्धान्त एक ओर पाठक को पात्र के प्रति सहानुभूतिपूर्ण सिद्ध करता

ताटस्थ्य-सिद्धान्त

१. सौं० आणि आ०, पृ० १७५ ।

२. वही, पृ० १७६–१७८ ।

३. र० वि०, पृ० १८२ ।

और दूसरी ओर आत्म-व्यक्तित्व का विलय होने से भी रोकता है। इसके द्वारा हम प्रत्येक पात्र के कार्यों का आनन्द लें सकते हैं। किन्तु हमारा विचार है कि सहानुभूति स्वयं ताटस्थ्य का ही एक रूप है। वह न तो तादात्म्य की भाँति दो को एक कर देती है और न तटस्थता के समान नितान्त भिन्न ही रहने देती है, तथापि सहानुभूति व्यक्त करने वाला व्यक्ति किसी के दुःख-सुख को दुःख-सुख के रूप में ही ग्रहण कर पाता है, उन्हें सुख-मात्र बनाकर ग्रहण नहीं करता। तटस्थ रहते हुए ऐसा होना और भी असम्भव है। कम-से-कम बीभत्स-रस के प्रसंग में इस 'सहानुभूतिपूर्वक ताटस्थ्य' सिद्धान्त की सिद्धि किसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने से होगी, यह नहीं बताया जा सकता। इस रूप में यह सिद्धान्त भी सदोष ही है।

श्री माधवराव पटवर्धन ने कुतूहल-पूर्ति सिद्धान्त के आधार पर 'जिज्ञासु-ताटस्थ्य' सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि मनुष्य में नवीन-नवीन वस्तुओं की सहज-प्रवृत्ति विद्यमान होती है। जैसे हीइस कुतूहल की पूर्ति होती है, वैसे ही आनन्द आता है। मनुष्य में इसी प्रकार नित-नवीन वासना के उभार की परितृप्ति वाङ्मय द्वारा होती रहती है।[1] इस प्रकार वाङ्मय-जनित आनन्द के मूल में यही कुतूहल-पूर्ति काम करती जान पड़ती है। इस कुतूहल-प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम जिज्ञासु-भाव है। अतएव पटवर्धन महाशय ने तटस्थ रहकर केवल जिज्ञासा-शान्ति के कारण उत्पन्न होने वाले आनन्द के आधार पर अपने सिद्धान्त का नामकरण किया है, किन्तु हमारे विचार से उनके इस सिद्धान्त में अनुभूति-तत्त्व का तिरस्कार और वैज्ञानिक के समान ज्ञान का आश्रय-मात्र ग्रहण कर लिया गया है। साहित्यिक आनन्द को अनुभूति-शून्य दशा में नहीं देखा जा सकता। यह एक स्वीकृत धारणा है कि साहित्य के पठन-पाठन से हमारे अन्दर सुप्त रहने वाली वासनात्मक प्रवृत्तियाँ जाग्रत होती हैं। पटवर्धन महाशय के सिद्धान्त से उनकी सिद्धि का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। केवल वैज्ञानिक की कुतूहल-वृत्ति हमें वैचारिक गवेषणाओं में अवश्य भटका सकती है, अनुभूति की सान्द्रता में नहीं रमा सकती। इस दृष्टि से इस सिद्धान्त का मूल्य भी कदाचित् अन्य सिद्धान्तों से बढ़कर नहीं है। इन्हींके समान प्रो० य० र० आगाशे का 'ज्ञान-पिपासा'[2] सिद्धान्त भी अमान्य ठहरता है।

इस सम्बन्ध में काका कालेलकर का 'अनासक्त तन्मयता' सिद्धान्त भी अवश्य ही उल्लेखनीय सिद्धान्त है। उनका कथन है कि "बहुत-से विनोदप्रिय लोग

१. र० वि०, पृ० १८५।
२. वही, पृ० १८६।

फजीहत का तटस्थ भाव से आनन्द ले-लेकर वर्णन करते हैं और बिना किसी पक्षपात के अपने संस्मरण लिखते हैं। जहाँ इन्द्रियासक्ति, विलासलोलुपता और अहंकार है, वहाँ हमें यह समझना चाहिए कि न तटस्थता होती है, न तन्मयता। सुख तन्मयता में नहीं है। आनन्द का अनुभव तो अनासक्त तन्मयता से लिया जा सकता है। ऐसी तन्मयता या तल्लीनता का नाम ही आनन्द है। इसमें अहंता या ममता के लिए अवकाश नहीं रहता।"[1] इसके उदाहरणस्वरूप उन्होंने बिच्छू के काटने का एक स्वानुभूत उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "अब दर्द यहाँ तक पहुँचा, अब यहाँ तक; इस प्रकार ज्यों-ज्यों तटस्थ भाव से मैं उसका निरीक्षण करता गया, त्यों-त्यों पीड़ा सह्य होती गई। इतना ही नहीं उस पीड़ा में कुछ मज़ा भी आने लगा और अन्त में नींद आने में कठिनाई न हुई।"

काका साहब का उक्त सिद्धान्त सर्वापेक्षा अधिक युक्तिसंगत तथा साधारणीकरण सिद्धान्त के अनुकूल है। सविकल्प समाधि में जिस प्रकार की यान्त्रिकता, गूढ़ता और रहस्यात्मकता आ गई थी, उसका यहाँ पता भी नहीं है। 'समाधि' शब्द के स्थान पर प्रो० जोग ने 'तन्मयता' शब्द को पहले ही अधिक उचित स्वीकार किया है। साथ ही 'अनासक्त' कहने से जिस सहज-ग्रहण का भाव द्योतित होता है और साधारण का संकेत मिलता है, वह 'सविकल्प' पारिभाषिक शब्द के द्वारा स्पष्ट नहीं होता। सविकल्प में बोध की भावना अधिक है और अनासक्त में अनुभव की ज्ञप्ति अधिक। इसी प्रकार प्रो० जोग के 'सहानुभूतिपूर्वक ताटस्थ्य' सिद्धान्त की त्रुटियों से भी काका साहब का मत शून्य ज्ञात होता है, क्योंकि इस दशा में बीभत्स-रस सम्बन्धी पूर्वोक्त आपत्ति यहाँ उपस्थित नहीं होती। अनासक्त विशेषण के साथ प्रयुक्त होने से तन्मयता शब्द का अर्थ तादात्म्य से नितान्त भिन्न और एकाग्रता का निकटवर्ती सिद्ध हो जाता है, जिसके सम्बन्ध में कदाचित् ही कोई आपत्ति उठाई जा सके। एकाग्रता अखण्ड अनुभूति की द्योतक है और अखण्ड अनुभूति ही आनन्द है। साधारणीकरण के समान ही इस सिद्धान्त में भी काका साहब ने अहंकार और ममता से मुक्त हो जाने की बात कही है। इस रूप में यह सिद्धान्त साधारणीकरण की शब्दान्तर-व्याख्या-मात्र माना जा सकता है। हाँ साधारणीकरण के अन्तर्गत जिस प्रकार विभावादि सभी का साधारणीकरण बताकर उसे अंगोपांग के प्रसंग में समझाया गया है और उसे वैज्ञानिक रूप देने की चेष्टा की गई है, वैसी प्रक्रिया समझाने का बोझ यहाँ नहीं उठाया गया है।

काका साहब के इस मत को स्वीकार करते हुए भी मराठी विद्वानों के दो-

१. 'साहित्य-शिक्षा', पृ० ३६।

एक अन्य मतों का उल्लेख आवश्यक है। इन मतों में पहले हम डॉ० वाटवे द्वारा उपस्थापित 'आहार्य ज्ञानावस्था' सिद्धान्त लेते हैं। इस सिद्धान्त के द्वारा डॉ० वाटवे ने सविकल्प-समाधि-सिद्धान्त के अप्रचलन से बचकर साधारणतया स्पष्ट तथा प्रचलित नाम रखने का प्रयत्न किया है। आहार्य का अर्थ है 'भेद-ज्ञान'। डॉ० वाटवे का कथन है कि अभेद हो जाने पर तो दुःख दुःख ही रह जायगा, अतएव आहार्य-सिद्धान्त स्वीकरणीय है। इसके द्वारा अति-तादात्म्य से होने वाली विवशता समाप्त हो जाती है।[1] डॉ० वाटवे ने इस प्रसंग में पूर्णतया व्यक्ति-वैचित्र्य का विचार करके यह निश्चय किया है कि मनुष्य के अन्दर सुप्त वासनाओं के बल से ही बालक, वृद्ध आदि सभी स्थलों और दृश्यों का आनन्द लेते हैं। रसिक अपनी अनुभूति के आधार पर सांसारिक वस्तु या व्यक्ति के प्रति प्रेम या द्वेष का भावना-संघ बनाए रहता है। काव्य में तत्सदृश पात्रों को देखकर उसका दुःख-सुख बँट जाता है। इसी कल्पना की सहायता से उत्पन्न स्थिति को तादात्म्य कहते हैं;[2] किन्तु इसमें भेद-ज्ञान रहता है, अतएव उसे आहार्य ज्ञानावस्था कहना उचित है। डॉ० वाटवे का मत है कि विसंवादी पात्रों से यह तादात्म्य नहीं हो पाता। ऐसे स्थलों पर कल्पना-साम्य से होने वाले आनन्द को तन्मयता कहना ठीक नहीं। उसे एकाग्रता कहा जा सकता है।[3] इस रूप में यह सिद्धान्त भी सविकल्प समाधि का परिशोधित रूप है और ताटस्थ्य के साथ-साथ एकाग्रता को स्वीकार करता है। किन्तु डॉ० वाटवे ने जो आपत्ति सविकल्प-समाधि शब्द के प्रयोग पर की है, हमारी दृष्टि में वही आपत्ति इस पर भी हो सकती है। आहार्य शब्द के द्वारा भेद-ज्ञान का संकेत करके हम उसे तटस्थता से भी अधिक तीव्र बना देते हैं। अनासक्त शब्द में जो प्रवृत्त रहते हुए तटस्थ रहने का भाव समा जाता है, वह आहार्य शब्द के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। साथ ही ज्ञानावस्था शब्द के द्वारा अनुभूति को ठेस-सी पहुँचती है और हम अनुभूति-स्थिति से अलग होकर वैचारिक स्थिति में पहुँचते से मालूम होते हैं। दूसरे, डॉ० वाटवे की ओर से जो संवादी पात्रों से तादात्म्य मान लेने का-सा संकेत मिलता है, जिसे विसंवादी पात्रों के पक्ष में वे स्वीकार्य नहीं मानते, उससे भी यह मत व्यापकता खो बैठता है। इस दशा में इसे स्वीकार करना कठिन है।

तादात्म्य और ताटस्थ्य-सम्बन्धी उक्त मतों के अतिरिक्त मराठी विचारकों

१. र० वि०, पृ० १८७–१८८।
२. वही, पृ० १९०–१९२।
३. वही, पृ० १९२।

ने दो सिद्धान्त और प्रस्तुत किये हैं, किन्तु वे साधारणीकरण से इस रूप में सम्बन्धित नहीं हैं, जैसे तादात्म्य या ताटस्थ्य का सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। तादात्म्य का संकेत तो आचार्य विश्वनाथ से मिला और प्रभाकर[1] ने भी उसीका प्रतिपादन किया था, किन्तु वह साधारणीकरण के प्रसंग में किया गया था, जबकि पुनःप्रत्यय तथा प्रत्यभिज्ञा नामक दोनों सिद्धान्त काव्यानन्द से अधिक सम्बन्धित हैं। यह आनन्द का कारण तो अवश्य बताते हैं, परन्तु उसकी प्रक्रिया नहीं ढूँढते। अतएव यहाँ हम इनका थोड़ा वर्णन करना उचित समझते हैं।

पुनःप्रत्यय और प्रत्यभिज्ञा

प्रो० जोग ने अपनी पुस्तक 'सौन्दर्यशोध आणि आनन्दबोध' के एक अध्याय में इन दोनों का परिचय देते हुए इनकी त्रुटियों का संकेत किया है। प्रो० जोग की धारणा है कि कालिदास ने 'शाकुंतल नाटक' के ५वें अंक के द्वितीय श्लोक **'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्'** इत्यादि में जो पर्युत्सुक अथवा उत्कण्ठ होने का कारण वासनोत्थान बताया है, वह तो ठीक है, किन्तु जिस रम्य अथवा मधुर दृश्य अथवा शब्द को उन्होंने इसका माध्यम माना है, वह बहुत उचित नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि किसी भी परिस्थिति में व्यक्ति इस प्रकार के मधुर शब्द सुनकर अथवा रम्य दृश्य देखकर उत्कण्ठ हो ही जाता हो। मुख्यतः इसका प्रभाव करुण प्रसंगों में अधिक होता है या हो सकता है। स्वय दुष्यन्त को ऐसा अनुभव हर समय न होगा। इस दृष्टि से यह मीमांसा अपूर्ण तो है, किन्तु इससे दो आधुनिक सिद्धान्तों को बल अवश्य मिलता है।

प्रो० फड़के तथा प्रो० कृ० पा० कुलकर्णी के द्वारा प्रतिपादित क्रमशः पुनःप्रत्यय तथा प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्तों में परस्पर बहुत-कुछ साम्य तथा अन्तर है। साम्य इस बात में कि दोनों ही पूर्व-घटित अथवा पूर्वपरिचित के सम्बन्ध में विचार करते हैं और अन्तर इस बात में कि पुनःप्रत्यय में अनुभूति-पक्ष की अधिकता है तो प्रत्यभिज्ञा में ज्ञानानन्द की अधिकता। पुनःप्रत्यय में पूर्वघटित का पुनः अनुभव किया जाता है और प्रत्यभिज्ञा में पूर्व-श्रुत, दृष्ट अथवा अनुभूत के सदृश ही कालान्तर में ज्ञान होने पर उसे पहचानना होता है। इस प्रकार प्रो० फडके का सिद्धान्त ललितानन्द के लिए अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

१. तेन च रामादिरत्यादिभिः सह सामाजिक रत्यादीनामभेदाध्यवसानम्। तेन च रामादिरत्यादीनां सामाजिकं प्रति बाह्यत्वेन मानससाक्षात्काराख्य-भोगानुपपत्तिरित्यपास्तम्। र० प्र०, पृ० २६–२७।

प्रो० फड़के का विचार है कि मनुष्य-मात्र में रहने वाला विवेक और विकार, उसकी सौन्दर्य के प्रति रुचि, निर्मित के प्रति उसकी इच्छा के परिमाण के अनुकूल ही सांसारिक सुख-दुःख का अनुभव हुआ करता है। मनुष्य को रुचि के अनुकूल इसका पुनः अनुभव करने की इच्छा होती है। एक बार पढ़ी हुई बात को वह पुनः पढ़ना चाहता है। एक बार जिससे किसी स्थल पर मिल चुका है, उससे उसी स्थल पर फिर मिलने की इच्छा होती है। ललित वाङ्मय इसी इच्छा की परिपूर्ति करता है। उसमें अपने ही समान पात्रों का पुनःप्रत्यय हुआ करता है और इस दशा को हम 'आत्म-प्रत्यय' भी कह सकते हैं। ललित वाङ्मय का यही फल सर्वमान्य है।

प्रो० फड़के की इस धारणा में अव्याप्ति-दोष दिखाते हुए प्रो० जोग ने कहा है कि करुणा या दुःखद प्रसंग को व्यक्ति बार-बार सामने लाना नहीं चाहता, यह बात दूसरी है कि ऐसे प्रसंगों से उसे अपने पूर्वानुभव के सादृश्य के कारण ज्ञान हो जाता है। व्यक्ति पुनः पत्नी-शोक का दुःख अनुभव नहीं करता, उसका सादृश्य ज्ञान भले ही प्राप्त करता है। ऐसी दशा में प्रत्यय के स्थान पर प्रत्यभिज्ञा ही होती है। इस प्रकार मनुष्य में नवीनता के प्रति आकर्षित होने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है, जिसके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि एक-मात्र पूर्वानुभूत ही उसे आनन्द देता है। अतएव पुनः प्रत्यय को एक व्यापक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, इतना माना जा सकता है कि साहित्य में सहज मानवीय व्यक्तित्व या व्यक्तिगत अनुभव ही प्रकट होते हैं और उन्हींके सहारे आनन्द आता है। सम्भवतः पुनःप्रत्यय के द्वारा प्रो० फड़के यही कहना भी चाहते हैं।

प्रो० कुलकर्णी काव्यानन्द का कारण प्रत्यभिज्ञा जाग्रति मानते हैं। उनकी धारणा है कि हम अपने जीवन में जिन चित्र-विचित्र अनुभवों को पहले अनुभव कर चुके हैं, उन्हींकी कवि के कल्पना-कौशल से पुनः जाग्रति हो जाती है और उसीसे हमें काव्य का आनन्द आता है। उस समय हमारी धारणा होती है। **"सोऽहम् सोऽहम् सोऽयम् मे सन्निकटवर्ती, सेयम् संवित् ममैव, सा पुनः अनुभूतिः ममैव, अयं ममैव विकारः"** किन्तु उनके इसके सिद्धान्त में कई त्रुटियाँ जान पड़ती हैं। पहली बात तो यह है कि उन्होंने प्रत्यभिज्ञा को ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त न करके जाग्रति शब्द के द्वारा सुप्त मनोविकारों की जाग्रति के अर्थ में प्रयुक्त किया है और उसीमें अनुभूति का अन्तर्भाव कर लेने की चेष्टा की है। वस्तुतः जाग्रति प्रत्यभिज्ञा की नहीं होती, बल्कि प्रत्यभिज्ञा ही मनोविकारों को जगाती है। प्रत्यभिज्ञा उसका कारण है। वे संवित्ति और अनुभूति

दोनों को मिलाकर रखते हैं, परन्तु दोनों में ज्ञान और प्रत्यय का-सा भेद है। एक का क्षेत्र भावना का है और दूसरे का अनुभव का। केवल संवित्ति से काव्य का आनन्द नहीं उठाया जा सकता, काव्य-शास्त्र का भले ही उठाया जा सकता है। वस्तुतः संस्कृत उद्धरण से ऐसा प्रकट होता है कि कुलकर्णी महाशय प्रकारान्तर से तादात्म्य-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार 'सोऽहम्' के अतिरिक्त अन्य अंशों के पुनःप्रत्यय और प्रत्यभिज्ञा की स्वीकृति भी प्रकट होती है। इस प्रकार उनका यह सिद्धान्त एक ओर तो सभी सिद्धान्ता का मिश्रण प्रतीत होता है, साथ ही दूसरी ओर यह अपूर्ण भी है, क्योंकि यह केवल पूर्वानुभवों तक सीमित है, जब कि काव्य अथवा कला में व्यक्ति-विशेष द्वारा अनुभूत बातों के अतिरिक्त का भी वर्णन किया जाता है। उन अनुभूत विषयों और स्थितियों आदि की प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं है। तथापि उनसे सहृदय को आनन्द आता है। इसका समाधान इस सिद्धान्त के द्वारा नहीं किया जा सकता। इस दशा में यह दोनों ही सिद्धान्त अपूर्ण और अंशतः सत्य हैं। इसके अतिरिक्त ये केवल आनन्द के कारण पर प्रकाश डालते हैं, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य का विचार नहीं करते।

आचार्य शुक्ल द्वारा कथित तादात्म्य-सिद्धान्त न केवल विश्वनाथ तथा प्रभाकर-जैसे भारतीय विद्वानों द्वारा समर्थित है, अपितु पाश्चात्य लेखक भी तादात्म्य को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करते हैं।

पाश्चात्य विद्वान् और तादात्म्य

अंग्रेजी में 'सिम्पैथी' तथा 'एपैथी' इन दो शब्दों के द्वारा क्रमशः सहानुभूति एवं समानुभूति या भाव-तादात्म्य का द्योतन कराया जाता है। दोनों में मात्रा का अन्तर है। समानुभूति में प्रायः द्वैत, ज्ञाता और ज्ञेय का भाव नष्ट हो जाता है और सहानुभूति में बना रहता है। यहाँ कुछ विद्वानों के मत दिए जाते हैं :

डाउने नामक विद्वान् ने 'एपैथी' को मानस योगदान या Einpihulung कहा है और रसानुभूति के मानस योगदान सिद्धान्त को सीधे-सीधे भाव-तादात्म्य अथवा 'आईडेंटीफिकेशन' की संज्ञा दी है। इस भाव-तादात्म्य के दो भेद करते हुए उन्होंने कहा है कि उसके 'बहिर्जगत् की अन्तर्मुख स्थिति' तथा 'अन्तर्जगत् का बहिर्मुखी विकास' नामक दो भेद हैं। इनमें प्रथम को अंग्रेज़ी में 'इंट्रोजेक्टिव फेज़' तथा दूसरे को 'प्रोजेक्टिव फेज़' कहा जाता है। इनमें से प्रथम के अन्तर्गत तादात्म्य की वह स्थिति आती है, जिसमें व्यष्टि समष्टि में लुप्त हो जाती है अथवा आश्रय रूप परमात्मा से ज्ञाता का अभेद सम्बन्ध स्थापित हो

जाता है।[1]

डाउने महोदय का कथन है कि कला का फल तादात्म्य है, जिसका तात्पर्य है स्वयं को उपन्यासादि का नायक समझना। किन्तु, वास्तविक रसानुभूति पूर्वोक्त अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख स्थितियों से भी आगे बढ़कर उद्बुद्ध अनुभवों की पूर्ण समीकरण की अवस्था है।[2] उन्होंने श्री मुलर फ्रीनफेल्स के अनुसार तीन प्रकार की अनुभूति का उल्लेख किया है, जो क्रमशः परमानन्ददायी स्वसत्ता-विलीनीकरण, दूसरे का अपने पर आरोप करके अनुभव करने तथा तटस्थ रहकर अनुभव करने की स्थितियाँ हैं। प्रथम स्थिति के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत है कि इसमें विषय तथा विषयी की सत्ता में अभेद स्थापित हो जाता है। यह पूर्ण अहं-विलीनता की स्थिति है।[3] प्रायः काल तथा स्थानादि का ज्ञान

१. The Introjective Phase of Identification includes all that is commonly spoken of as 'Identification', the mergence of self with the crowd or group, the feeling of unity with the hero or God.—'Creative Imagination,' Self & Art.

२. Moreover, while the response to art may be that of the participant (identification in the narrower and popular meaning of the term, when, for example, the reader feels himself to be the hero of drama or novel) the truly aesthetic response does not stop there. It goes beyond introjection and projection to a final assimilation of the projected experiences, a complex integration.—'Creative Imagination,' Self & Art.

३. First of all, the Ecstatic, for whom all self-consciousness is merged in the perfect unity of subject and object that occurs under conditions of intense enjoyment. There is such an identification with the objects perceived that the 'I' seems utterly lost. One becomes that which he is enjoying. —Ibid.

(B) often, for the Ecstatic, with loss of self, both time and space orientation lapses. He passes into the trance of the mystic and may lose consciousness

भी लुप्त हो जाता है और विभावादि को भूलकर समाधि की-सी दशा उत्पन्न हो जाती है। डाउने महोदय का यह वर्णन भारतीय मत के कितने निकट है, यह स्पष्ट ही है।

प्रसिद्ध विद्वान् ऐशले ड्यूक्स ने भी इस बात से सहमति प्रकट की है कि सहृदय विभावादि को भूलकर नाटक में ऐसा तल्लीन हो जाता है कि उसे आत्मानुभव ही समझ बैठता है।[१] यह स्थिति विवेक-जनित नहीं होती। एक स्वाभाविक क्रिया से ही ऐसा हो जाता है।

विख्यात मनोविज्ञानवेत्ता श्री वुडवर्थ भी तादात्म्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि : "उपन्यास पढ़ते समय आप संभवत: उसके नायक या नायिका के साथ एकात्म हो जा सकते हैं और इस स्थिति में आप नायक के कठिनाई में पड़ने पर दु:खी होते हैं और संकट से उसके बाहर आ जाने पर आप हर्षित हो उठते हैं। इसको सहानुभूति कहेंगे, क्योंकि आप लेखक द्वारा छापे के अक्षरों में चित्रित हर्ष या शोक की अभिव्यक्तियों की अनुकृति करने के बजाय स्वयं को

---

even of the art stimulus.—Ibid.

(C) There is, secondly, the Partcipator, (der Mitspieler) who takes upon himself another self, who can sink himself in another personality, play many roles.—Ibid.

(D) There is, thirdly, the attitude of the spectator who retains his own personality—in art enjoyment he is the spectator, the onlooker (der Zuschaur). Such an attitude may be found very notably in the Critic, whose enjoyment never swamps his capacity to estimate the value of a work in terms of his own criteria; but it may also occur in the most artistic of spectators who maintain a godlike detachment in the face of conflicting emotions, which interplay as colours upon an extended canvas.—Ibid.

१. The spectator of a play is always absorbed in the drama first of all. He ignores the procenium arch or frame of the picture that is presented to him, and he regards the action as a personal experience in which he is himself taking part.—'Drama', Page 168.

नायक या नायिका की परिस्थितियों में रखकर अनुभव करते हैं।"[1]

इस सम्बन्ध में श्री ए० ई० मेण्डर ने लिखा है कि समानुभूति पाठक अथवा दर्शक की वह मानसिक दशा है जिसमें थोड़ी देर के लिए वह वैयक्तिक आत्म-चेतना विस्मृत करके किसी पात्र के साथ तादात्म्य कर लेता है।[2] इसी प्रकार श्री टाल्सटाय ने तो कवि, पाठक सभी के साधारणीकरण और कवि-पाठक के तादात्म्य को स्वीकार किया है।[3] सारांश यह है कि तादात्म्य का सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में पाश्चात्य तथा पौरस्त्य, प्राचीन तथा नवीन सभी पण्डितों को स्वीकार है। आगे हम मराठी लेखकों का विचार भी प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

कतिपय आपत्तियाँ और उनका खंडन

डॉ० राकेश गुप्त ने साधारणीकरण सिद्धान्त की कई त्रुटियाँ दिखाने का प्रयत्न किया है। भावकत्व के द्वारा ताटस्थ्य दोष का निरास उन्हें स्वीकार नहीं है। उनकी आपत्ति है कि पात्र और उसकी मनःस्थिति प्रेक्षक के व्यक्तित्व तथा उसकी मनःस्थिति से सदैव भिन्न रहती है। प्रेक्षक शकुन्तला को यदि विशेष रूप में न देखेगा तो भी उसे कम-से-कम सुन्दरी तो समझेगा ही। साथ ही दुष्यन्त बनने वाले पात्र को एक आदर्श धीरोदात्त नायक के रूप में समझेगा, किन्तु उन्हें अपने व्यक्तित्व का एक अंग कभी नहीं

१. 'साइकॉलोजी', हिन्दी अनुवाद, पृ० २०५।

२. "Empathy connotes the state of the reader or the spectator who has lost for a while his personal self consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen." गुलाबराय द्वारा 'सिद्धांत और अध्ययन' पृ० ५२ पर उद्धृत।

३. The chief peculiarity of this feeling is that the recipient of a truly artistic impression is so united to the artist that he feels as if the work were his own and not some one else's—as if what he had long been wishing to express. A real work of art destroys in the consciousness of the recipient the separation between himself and all whose minds receive this work of art.—'What is Art,' p. 228.

समझेगा।[1] किन्तु सुन्दरी मात्र समझने से एक दूसरी गड़बड़ी की संभावना है। वह यह है कि यदि हम सागरिका और वासवदत्ता दोनों को सुन्दरी रूप में ही ग्रहण करेंगे और उन्हें पृथक् व्यक्तित्व के रूप में न जानेंगे तो दोनों में काव्य-पाठ अथवा नाट्य-दर्शन के समय क्या अन्तर रह जायगा ?[2]

डॉ० गुप्त की इन दोनों आपत्तियों के सम्बन्ध में अब तक के हमारे विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही जायगा कि साधारणीकरण व्यापार सहृदय को इस प्रकार की अनुभूति का समर्थन नहीं करता कि कोई पात्र उसीका अंग है, हाँ केवल सुन्दरी रूप में उपस्थिति अवश्य साधारणीकरण को काम्य है। सुन्दरी मात्र बन जाने से गुप्तजी को जिस गड़बड़ी का सन्देह है, उसे स्वीकार करते हुए भी हम इस दोष का निराकरण निम्न रूप में संभव मानते हैं। वह यह कि व्यक्ति-भेद और भावानुभूति ये दोनों ही दो स्तर की चीज़ें हैं। जब व्यक्ति-भेद प्रधान रहता है, तब भावानुभूति गौण हो जाती है और जब भावानुभूति मुख्य हो जाती है तो व्यक्ति-भेद गौण हो जाता है। अर्थात् नाट्य-दर्शन के पूर्व व्यक्ति-भेद अवश्य बना रहता है और बीच में भी वह अपना काम करता है, किन्तु वह स्वयं अवचेतन में स्थान ग्रहण करता चला जाता है और दृश्य-व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ भावानुभूति तीव्रतर होती जाती है। व्यक्तित्व की ऐसी सहज जानकारी हमें होती है कि उसका पता नहीं चलता, उससे हम ठिठक और अटक नहीं जाते। यदि चित्रपट का ही उदाहरण लें तो यों समझना होगा कि प्रेक्षक प्रेक्षागृह में पहुँचने से पूर्व तो यही सोचता है कि अमुक चित्र में अमुक अभिनेत्री नरगिस, मीनाकुमारी, वैजयन्तीमाला या कामिनीकौशल अभिनय कर रही है, और निःस्संदेह चित्रपट देखने का एक मुख्य कारण इन्हें देखना भी है, परन्तु कुछ देर बाद पट पर इनके चित्र देखते रहने पर भी कथावस्तु के प्रवाह में हम ऐसे लीन होते हैं कि हमें यह विचार करने की आवश्यकता नहीं होती कि यह अमुक अभिनेत्री है। हम समझते हैं डॉ० गुप्त को इस सत्य को स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होगी, क्योंकि उन्हें कदाचित् यह स्वीकार न होगा कि चित्रपट देखते समय वह कथागत पात्रों और उनके व्यवहारों को न जानकर केवल वैजयन्तीमाला नाम्नी विशेष अभिनेत्री को ही देखते रहते हैं। यदि वे यह स्वीकार कर सकते हैं कि चित्रपट के अभिनेताओं को पूर्वतः जानते-पहचानते हुए भी और पट पर उनका नाम देखकर भी कथा-प्रवाह में उन्हें उनकी विशिष्टता का बोध नहीं रहता, तो निश्चय ही उन्हें यह भी स्वीकार करना होगा कि काव्य-मात्र में व्यक्ति-बोध गौण हो जाता है और कथा-प्रवाह-जनित

१. व २. सा० स्ट० र०, पृ० ५१।

आनन्द में बाधा उपस्थित नहीं करता। इसी प्रकार सागरिका तथा वासवदत्ता का भेद-ज्ञान रहते हुए भी भाव की प्रधानता के द्वारा इनका साधारणीकरण मान्य होना चाहिए।

डॉ० गुप्त की तीसरी आपत्ति यह है कि देश-काल के ज्ञान के विनाश की संभाव्यता विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि यदि शकुन्तला को फ्राक पहने और दुष्यन्त को सूट डाले दिखाया जाय तो उससे अभिनय का उपहास ही होगा।[1]

डॉ० गुप्त की यह आपत्ति अभिनवगुप्त द्वारा दिये गए मृग-भय के उदाहरण में प्रयुक्त **'देशकालाद्यनालिंगित'** वाक्यांश को लक्ष्य करके की गई है। हम इसे समझाने के लिए दो उदाहरण ले लें। 'रामचरितमानस' में अनेक स्थलों के अनेक दृश्य और अनेक प्रसंग हैं। निश्चय ही अयोध्या के राम, वनमार्ग के सीता-लक्ष्मण-सहित राम, चित्रकूट के राम और लंकापुरी के राम के चित्र और व्यवहार में परस्पर अन्तर है। यदि हम इस सब अन्तर का ज्ञान न रखें, यदि हम राम की परिस्थितियों पर दृष्टिपात न करें, तो कथाकार का उद्देश्य ही परास्त हो जायगा। परिवर्तित परिस्थितियों में अनुकूलतया परिवर्तित राम के भाव हमारे मन में कोई संवेदना ही न जाग्रत कर सकेंगे। इसी प्रकार यदि हम शाकुंतल नाटक में ऋषि-कुमारों से **'आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः'** सुनकर भी आश्रम का ज्ञान न करें और यह न समझें कि आश्रममृग मारना निषिद्ध है, तो इस सारी योजना का परिणाम ही क्या होगा? अतएव यह कहना कि देश-काल का ज्ञान नहीं होता, उचित नहीं जान पड़ता। तथापि उक्त पंक्ति में जो देश-काल से अनालिंगित होने की चर्चा की गई है, उसका उद्देश्य केवल यह बताना है कि भावानुभूति की चरम सीमा पर हमें केवल भाव की ही अनुभूति होती है और उपकरणस्वरूप देश-काल आदि यदि अनुकूल हुए तो वह अनुभूति अबाध होती है। देशकालादि तो वातावरण का सर्जन करते हैं, अतः उनके महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता और इसलिए शकुन्तला को फ्राक या दुष्यन्त को सूट नहीं पहनाया जा सकता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेक्षक या पाठक केवल उस देश-काल से ही उलझा रह जाता है। अनुकूल होने पर देश-काल उसी तरह सहायक किन्तु गौण रह जाता है, जैसे पहले उदाहरणों में वासवदत्ता और सागरिका की विशिष्टता बनी रहकर भी बाधक नहीं होती, साधक ही सिद्ध होती है। यदि ऐसा न होता तो एक देश का व्यक्ति दूसरे देश के साहित्य का आनन्द ही न ले सकता। यह भी सच है कि ऐसे भी पाठक होते हैं, परन्तु उनकी संख्या और योग्यता दोनों नगण्य हैं। इसीलिए हमारे यहाँ सहृदय

१. सा० स्ट० र०, पृ० ५४।

के साथ यह शर्त रख दी गई है कि वह काव्यानुशीलन किये हुए हो, अर्थात् काव्य-व्यवहार का ज्ञाता हो। यदि इस प्रकार देश काल बाधक हुआ करता तो भिन्न देश की बात ही क्या है, एक ही देश के भिन्न प्रदेशों और भिन्न कालों के व्यक्ति एक-दूसरे के काव्य का आनन्द न ले पाते। हार्डी अपनी आंचलिकता के लिए प्रसिद्ध हैं, परन्तु देश-विदेश में उनका जितना सम्मान है उससे क्या यह प्रमाणित नहीं होता कि देश-काल का साधारणीकरण होता है, उसे गौणता मिलती है ? सबसे बढ़कर उदाहरण यह है कि प्रेक्षागृह में बैठे रहकर भी हम चित्र देखते हुए अपनी स्थिति को भूल जाते हैं, यह भूल जाते हैं कि हमारी बगल में कौन बैठा हुआ है। उसी प्रकार चित्र में दृश्य देखते हुए भी हमारा मन बरबस भाव-विशेष से भर जाता है। हम बराबर यह सोचते नहीं रहते कि हम प्रेक्षागृह में उपस्थित हैं। किन्तु यदि कुर्सी में कहीं उभरी हुई कील से हमारा कोई अंग चोट खा जाय, तो हम कितने भी रसमग्न क्यों न हों अपनी सही स्थिति को जान जायँगे और बचने का उपाय पहले करेंगे। इसी प्रकार यदि हम चित्र में अनुकूल देश-काल का दृश्य देखेंगे, तो हमें भाव की निर्विघ्न प्रतीति होगी और वह देश-काल उसकी तीव्रानुभूति का एक उपकरण बन जायगा, किन्तु प्रतिकूल उपस्थिति होने पर वैसी प्रतीति न होगी। तीव्र अनुभूति की दशा में उपकरण-स्वरूप देश-काल की गौणता का नाम ही, हमारे विचार से, देश-कालादि से अनालिंगित होना है, पूर्णतया उनके ज्ञान का विनाश होना नहीं। यह स्थिति ऐसी ही है जैसी वासना रूप में हमारे हृदय में अनेक भावों की स्थिति रहती है, जिनमें से विशिष्ट समय पर विशेष भाव ही व्यक्त होते हैं, शेष दबे रहते हैं, विनष्ट नहीं हो जाते। देश-काल का ज्ञान भी इसी प्रकार अव्यक्त रहता है।

इसी प्रकार यदि भावों की प्रमुखता पर ध्यान रखा जाय तो इस प्रकार की आपत्तियाँ भी व्यर्थ हो जाती हैं कि "काव्य में प्रयुक्त अलंकरण अथवा अभिनयोपयुक्त उपकरण आदि वस्तु या व्यक्ति का बिम्ब ग्रहण कराते हुए उसके व्यक्तित्व को उभारते ही हैं, उसका साधारणीकरण नहीं करते।"[१] अथवा "साधारणीकृत विभावों के प्रति भावोद्बोध होगा ही नहीं, अपितु उनका बौद्धिक-ज्ञान-मात्र रह जायगा।"[२] हमें यह स्वीकार है कि अलंकरण आदि से व्यक्तित्व उभार पाता है, यदि ऐसा न होता तो पात्रों को अपने मुँह को रँगना न पड़ता, दाढ़ी और मूँछ लगाने या उतारने न पड़ते और वेश-भूषा का ध्यान

१. सा० स्ट० र०, पृ० ५६।
२. वही, पृ० ६५।

रखना न पड़ता। उसके द्वारा निश्चय ही पात्र-विशेष को सामने लाया जाता है, किन्तु विशेष होते हुए भी वह किसी जाति-विशेष का प्रतिनिधि होता है। उदाहरणतः, राम को वीर-वेश में देखकर क्षण-भर के लिए हम उन्हें वीर राम के रूप में अवश्य पहचानते हैं, किन्तु बाद में सहज ही हमारे सामने केवल वीर व्यक्ति रह जाता है और रावण से कई बातों में विशिष्ट होने के कारण वह हमें उससे अधिक आकर्षित करता है। हम दोनों में भेद तो करते हैं, परन्तु वह भेद एक वीर तथा आदर्श व्यक्ति से एक वीर किन्तु कुटिल और अनादर्श व्यक्ति का होता है। कुछ समय के लिए राम-मात्र और रावण-मात्र का भेद नहीं रह जाता।

इन आपत्तियों से भी अधिक उपहासास्पद आपत्ति यह जान पड़ती है कि "क्योंकि सहृदय इस बात से परिचित होता है कि भाव उसके अपने ही उठ रहे हैं, अतएव साधारणीकरण की आवश्यकता ही नहीं है।"[1] पहली बात तो यह है कि सहृदय के भाव यों अकारण ही नहीं उद्बुद्ध होते, बल्कि विभावों की उपस्थिति उसके लिए अत्यावश्यक होती है। हम बिना विभावों के केवल यह सोचकर कि हमें क्रोध करना है, क्योंकि क्रोध हममें है, क्रोध उद्बुद्ध नहीं कर सकते। फिर यदि विभावों के रहते हुए भी उसे इस बात का ज्ञान बना रहा कि यह अमुक के हैं और अमुक के नहीं, यह अमुक है और हमसे इसका सम्बन्ध है या नहीं, तो पूर्वोक्त ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व दोषों की उपस्थिति होगी। सहृदय के अपने ही भावों को जगाकर भी साधारणीकरण उन भावों को जगाता है, जो काव्य में काल-विशेष में प्रतिष्ठित दिखाए जाते हैं। इस प्रकार उनका जागरण सापेक्ष है। विभावादि-निरपेक्ष होते ही उसके वे भाव नष्ट हो जायँगे। फिर भी सहृदय उन भावों को अपना ही बताने का कोई बौद्धिक प्रयत्न नहीं करता। इस प्रकार उनके बिना साधारणीकृत हुए काम नहीं चल सकता।

डॉ० राकेश की यह भी एक आपत्ति है कि वस्तुतः हम प्रेक्षकों को चित्रित भावों का अनुभव करते हुए भी नहीं पाते, क्योंकि यदि प्रेक्षक की किसी पात्र-विशेष के प्रति सहानुभूति है, तो उसे उसकी रति देखकर प्रसन्नता और कष्ट देखकर खिन्नता होगी, किन्तु जब तक उसे अपने ही पूर्वानुभवों का स्मरण नहीं आयगा, तब तक वह शृंगार-परक दृश्य को देखकर रति का अनुभव नहीं करेगा और न शोकपूर्ण छाप ही उसे करुण बनायगी। किन्तु वीतविघ्नता स्वीकार कर लेने पर पूर्वस्मृति को महत्त्व देना कठिन है, अतः साधारणीकरण-सिद्धान्त

१. सा० स्ट० र० पृ०, ६५।

ही निरर्थक है।

इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि डॉ० गुप्त ने न तो इस बात पर ही ध्यान दिया है कि अविवाहित युवक भी रति-दृश्यों का आनन्द लेते हैं और न इसी बात पर ध्यान दिया है कि सबमें कुछ मूलभाव वासनारूप में प्रतिष्ठित रहा करते हैं। ऐसी दशा में पूर्वानुभूत का ही पुनः उद्बोध अनिवार्यतः मान्य नहीं है। फिर भी जो पूर्वस्मरण की बात कही गई है, उसका समाधान किया जा सकता है। ध्यान देने की बात यह है कि रमणीय दृश्य को देखकर अथवा मधुर शब्दों को सुनकर हमें पूर्वस्मरण तो अवश्य हो आता है, किन्तु कालिदास के ही शब्दों में यह स्मरण भी 'अबोधपूर्वक' अनसोचे हो आता है, स्मरण की चेतना या उसका ज्ञान हममें काव्य-पाठ या दर्शन के समय स्पष्ट रूप में नहीं होता। स्मरण एक स्वाभाविक सहज रूप में सिद्ध हो जाता है। यह इस जन्म का भी हो सकता है और जन्मान्तर का भी। चेतनापूर्वक किया गया स्मरण ही काव्य के निर्बाध आस्वाद में बाधक हो सकता है, अनसोचा नहीं। इस रूप में यह स्मरण पूर्व का कोई बिम्ब उपस्थित नहीं करता, बल्कि केवल सहज पुलक-स्पर्श से भर देता है। हाँ, जहाँ यह स्मरण बिम्ब-ग्रहण के साथ होगा, पूरा चित्र उपस्थित करता हुआ वैयक्तिक सीमा तक आ जायगा, वहाँ निश्चय ही साधारणीकरण में बाधा उपस्थित हो जायगी। काव्य की यही तो विशेषता है कि वह अंगुलियों की हल्की चाप से बार-बार उन्हीं पदों को छेड़कर स्वर तो निकालता है, किन्तु किसी पर्दे पर इतनी देर नहीं ठहरता कि वह स्वर एकांगी हो उठे।

निष्कर्ष इस समस्त विवेचन पर ध्यान दें तो हम निम्न निश्चयों पर पहुँचते हैं :

१. साधारणीकरण रसास्वाद के लिए अनिवार्य स्थिति है, किन्तु साधारणीकरण रसास्वाद करा देने की अनिवार्य शर्त नहीं है। साधारणीकरण के बाद भी रस न आकर बौद्धिक तृप्ति-मात्र हो सकती है, जैसे सन्तों की अन्योक्तियों से होती है।

२. साधारणीकरण का अर्थ समस्त सम्बन्धों का परिहार है, किन्तु केवल इसी रूप में कि सम्बन्धित भाव किसी एक के ही होकर नहीं रह जाते, बल्कि सबके द्वारा ग्राह्य बन जाते हैं। इसमें विभावादि सभी का साधारणीकरण होता है। अतः इसके दो अर्थ हो सकते हैं : (१) देश-काल-ज्ञान और विशेष सम्बन्धों के ज्ञान की गौणता-सिद्धि, तथा (२) काव्य-वर्णित भाव का साधारण रूप से सभी सहृदयों के द्वारा अनुभव होना।

३. साधारणीकरण में व्यक्ति-विशिष्टता का पूर्णतया अभाव नहीं होता, बल्कि वह चेतना के किसी ऐसे गहरे स्तर में अवस्थित हो जाती है, जहाँ रहकर कथा प्रवाह में बाधक नहीं होती, सहज हो जाती है और अबोधपूर्वक स्मरण आदि की भाँति ही उपस्थित होकर रस की सहायता करती है।

४. साधारणीकरण के आगे तादात्म्य की कल्पना में अनेक कठिनाइयाँ और दोष हैं। वस्तुतः तादात्म्य न मानकर साधारणीकरण-जनित घनीभूत एकाग्रता या अखण्ड स्वानुभूति-मात्र ही रस की उपस्थितिकारिणी माननी चाहिए। अखण्ड अनुभूति ही रस है। ज्ञान की ऊपरी सतह को भेदकर काव्य हृदय में अन्तर्निहित रसानुभूति को जगा देता है। रस की 'वेद्यान्तर सम्पर्क-शून्यता' इसीमें है कि वह बौद्धिक व्यापारों के उपराम के द्वारा हमें अन्तर्मुख बनाता है।

५. कवि के सम्बन्ध में शुक्लजी का मत स्वीकार किया जा सकता है। आत्म-प्रसारण ही सुख है, आत्म-विकास है। कवि अपनी अनुभूति को ही दूसरे तक पहुँचाता है और इसलिए वह एक रूप में कवि और दूसरे में सहृदय बना रहता है। कवि वह कर्तृत्व के कारण है, अन्यथा वह भी सहृदय ही है। इसी-लिए कहा भी गया है : "**कविस्तु सामाजिक तुल्य एव।**" कवि और सामाजिक सामाजिक होकर एक ही स्तर, एक ही भाव-भूमि पर उपस्थित होकर रस-पान करते हैं।

५

रसास्वाद

रस-निष्पत्ति के प्रसंग में बताया जा चुका है कि भट्टलोल्लट से लेकर आचार्य अभिनवगुप्त तक रस की स्थिति और उसके आस्वादकर्ता के सम्बन्ध में वैचारिक विकास हुआ है। भट्टलोल्लट तथा शंकुक ने मूल-पात्रों में ही रस की स्थिति मानी थी और आरोप या अनुमान के द्वारा उसका आस्वाद संभव बताया था।

रसाश्रय

भट्टनायक ने काव्य-शक्तियों को महत्त्व देकर उनके बल पर सत्वोद्रेक के सहारे रसास्वाद की समस्या का हल निकाला और अभिनवगुप्त ने उनसे भी आगे बढ़कर सहृदय में ही रस की स्थिति स्वीकार की और उसीको रसास्वादकर्त्ता भी माना। उन्होंने समस्त प्राणीवर्ग में वासना की स्थिति स्वीकार करके मूलतः सभी में रस को स्वीकार कर लिया, किन्तु उनकी दृष्टि साधारणतः इतनी अधिक विषयी-परक ज्ञात होती है कि सामान्य पाठक आपत्ति कर सकता है कि काव्य में रस नहीं होता, अथवा क्या वस्तु में आस्वाद्य-तत्त्व अर्थात् रस नहीं होता ? स्पष्ट शब्दों में यह प्रश्न यों उपस्थित किया जा सकता है कि क्या नारंगी खाते समय हम यह कह सकते हैं कि नारंगी में रस नहीं है, बल्कि हमारे अन्दर ही वह विद्यमान है। दीखता तो ऐसा ही है कि नारंगी में रस होता है और हम उसी-का स्वाद लेते हैं, फिर अभिनवगुप्त की यह उपस्थिति किस काम आयगी ? अतएव काव्य में ही रस मानना चाहिए। यदि उसीमें रस न हुआ तो सामाजिक आस्वाद ही किसका करेगा ? जिह्वा तो केवल भिन्न-भिन्न रसों को पहचानने की शक्ति रखती है और यह बता सकती है कि नारंगी खट्टी है कि मीठी। बिना नारंगी के खट्टेपन या मीठेपन का पता जिह्वा को नहीं लग सकता। इस दृष्टि से वस्तु में रस और जिह्वा को आस्वादकर्त्ता मानना ही समीचीन होगा। और इसी प्रकार काव्य में ही रस मानना चाहिए और सहृदय को उसका आस्वादकर्त्ता-मात्रा। इस प्रकार काव्यगत रस ही प्राथमिक अतएव प्रधान है, ऐसा कहना चाहिए।

उक्त प्रश्न का समाधान धनंजय ने लक्षणा-शक्ति का सहारा लेकर किया

है। उन्होंने सामाजिक को ही 'रसिक' अथवा रसाश्रय माना है और काव्य को 'रसवत्' बताया है। उनका मत है कि विभावानुभाव आदि कारण-सामग्री के द्वारा श्रोता अथवा प्रेक्षक में रति आदि स्थायी भाव उद्बुद्ध होकर स्वादगोचर होते हैं और निर्भरानन्द संवित् के रूप में उपस्थित होकर रस में परिणत होते हैं। यह अस्थायी सामाजिक में ही होते हैं अतएव वही रसिक कहलाते हैं, तथापि काव्य उस प्रकार के आनन्द-संवित् का उन्मीलन करता है, अतएव यह रसवत् माना जा सकता है—ठीक ऐसे ही जैसे 'आयुर्घृतम्' पद के द्वारा हम सीधे-सीधे 'घी ही आयु है' कहते हुए भी उससे यही अर्थ ग्रहण करते हैं कि आयुवर्द्धन और जीवन-रक्षण के लिए घी ही प्रधान उपभोग्य पदार्थ है, अतएव उसे खाना चाहिए। वैसे ही काव्य को रसवत् कहने का भी अभिप्राय यही है कि रस-आस्वाद का कारण है।[1] वस्तुतः काव्यगत रस 'लौकिक' मात्र होता है। लौकिक कहने का अभिप्राय है वैयक्तिक सम्बन्धों से युक्त केवल यथास्थित भाव रूप होना। इन वैयक्तिक भावों का निर्वैयक्तिक और साधारणीकृत रूप ही रस की संज्ञा पाता है। इसीलिए इसे आनन्द रूप कहा गया है। इसीलिए इसे 'अलौकिक' भी कहते हैं। अतएव काव्यगत रस तथा सहृदयगत रस में स्वरूप का अन्तर है। काव्यगत रस केवल औपचारिक कहलायगा। इसी दृष्टि का सहारा लेकर भोज ने कहा है कि चैतन्य प्राणियों में ही रस होता है। काव्य तो शब्दार्थ रूप होने के कारण अचेतन होता है, अतः वासनाहीन होने के कारण भला उसमें रस कहाँ ?[2] रस तो मूलतः रामादि में होता है या फिर इन पात्रों की भावनाओं को प्रकट करने वाले कवि और नट में भी रस का अवस्थान हो सकता है।[3] अभिनवगुप्त ने तो कहा ही है कि कवि भी सामाजिक के तुल्य होता है। आनन्दवर्धन भी यही स्वीकार करते हुए कहते हैं कि कवि शृंगारी होगा तो सारा जगत् शृंगारमय हो जायगा और यदि वही नीरस हुआ तो

१. वक्ष्यमाणस्वभावैः विभावानुभावव्यभिचारिसात्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः, तेन रसिकाः सामाजिकाः, काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवत्। आयुर्घृतमित्यादिव्यपदेशात्। द० रू०, पृ० १२१।

२. रसा हि सुखदुःखावस्थारूपाः। ते च शरीरिणां चैतन्यवतां, न काव्यस्य। तस्य शब्दार्थरूपतया अचेतनत्वेन। शृं० प्र० रा०, पृ० ४४४।

३. रसवतो रामादेः यद्वचनं तद् रसमूलत्वाद् रसवत्। अभेदसमाध्यारोपाच्च कविना अनुक्रियमाणस्य तस्य अनुकरणमपि रसवत्। वही।

सारा जगत् भी नीरस हो जायगा ।[१] इस प्रकार कवि जिस काव्य में भाव प्रकट करता है, वह भी रसमय कहला सकता है । यों व्यापक रूप में कवि, काव्य, अभिनेता, मूलपात्र और पाठक सभी में रस की अवस्थिति मानी जा सकती है । किन्तु आस्वाद-रूप में रस को ग्रहण करने पर काव्यगत रस गौण सिद्ध हो जाता है, क्योंकि वह केवल आस्वाद का साधन है, स्वयं आस्वादकर्त्ता नहीं । इसी प्रकार काव्यगत मूल पात्र भी लौकिक सम्बन्धों से युक्त होने के कारण वासना का भाव के रूप में ही अनुभव कर पाता है । उसे निरपेक्ष आनन्द बनाकर ग्रहण नहीं करता । अतएव उसमें वासना रूप रस की अवस्थिति ही स्वीकार हो सकती है, अभिव्यक्ति एवं आस्वाद-रूप रस की नहीं । यह वासना-रूप रस तो समस्त प्राणियों में दिखाई देता है । इस दृष्टि से देखने पर बहुरूप मिश्र द्वारा की गई दशरूपक की टीका में उद्धृत यह मत निरर्थक सिद्ध हो जाता है कि वास्तविक रस रामादि में होता है और सामाजिक में केवल रसाभास हुआ करता है ।[२]

काव्यगत रस का वर्णन करते हुए उसकी तुलना नारंगी आदि वस्तुओं के रस से करना उचित नहीं है । जिस प्रकार पदार्थ में रस रहता है, उसी प्रकार काव्य में सदैव विभावादि की समग्रता से निष्पन्न रस नहीं होता । नारंगी आदि के रस का आस्वाद भी आस्वादकर्त्ता पर ही निर्भर है, वह जिस स्थिति में उसे ग्रहण करेगा उसीके अनुकूल उसे उसका स्वाद आयगा । मनोवैज्ञानिकों का अनुभव है कि यदि किसी बच्चे को कड़वी दवा के साथ नारंगी का रस दिया जाता रहा हो, या कोई और पदार्थ रेंडी के तेल के साथ दिया जाता रहा हो, तो वह जब कभी कालान्तर में भी उस नारंगी या पदार्थ-विशेष के रस को देखेगा तो उसकी उसी प्रकार उपेक्षा करेगा या उससे मुँह चढ़ायगा, जिस प्रकार दवा के साथ लेते हुए चढ़ाता था । उसके लिए नारंगी या कोई मीठा पदार्थ वस्तु-विशेष के साथ सम्बन्ध रखकर प्रयोग में आने के कारण अपना वास्तविक स्वाद खो बैठता है और वह उससे घृणा करने लगता है । अभिप्राय यह कि रस की अवस्थिति एक बात है और उसका उसी या किसी दूसरे रूप में आस्वाद करना दूसरी बात । इसी प्रकार काव्य में रस हो भी, तो भी पाठक को किसी समय अपने किन्हीं विशेष कारणों

१. कविर्हि समाजिक-तुल्य एव । तत एवोक्त 'शृंगारी चेत कविः' इत्याद्यानन्दवर्धनाचार्येण । अ० भा०, २, पृ०० २९४ ।

२. केचित्त रामादिगत एव रसः काव्यप्रतिपाद्यः, सामाजिकगतस्तु रसाभास इति प्रतिजानते । शृ० प्र०, रा०, पृ० ४७४ ।

से उसमें आनन्द नहीं भी आ सकता। अच्छे-से-अच्छा काव्य भी किसी-किसी पाठक को रुचिकर नहीं लगता और कभी-कभी निम्न कोटि का नीरस काव्य भी किसी को आनन्ददायी ज्ञात होने लगता है; वह इसीलिए कि आस्वाद का कार्य सहृदय की मानसिक दशा और उसकी परिस्थिति पर निर्भर होता है।

हमने अभी जो कहा है कि कभी-कभी काव्य में पूर्ण सामग्री नहीं भी रहती है, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण हास्य तथा बीभत्स रस हैं। दोनों रसों के स्वरूप पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जायगा कि इनमें परिस्थिति कोई और प्रदर्शित की जाती है और स्थायी भाव कोई और उद्बुद्ध होता है। उदाहरणतः, हास्य में किसी के अचानक साइकिल से गिरने, केले के छिलके पर फिसलने, कुरूप होने आदि का वर्णन किया जाता है। उससे हमें हँसी आती है, दुःख नहीं होता। इसी प्रकार बीभत्स रस में मांस-मेद खींचते हुए, नाक नोचते, अंतड़ियाँ निकालते कुत्ते आदि का वर्णन किया जाता है। इस दृश्य में कुत्ता उस स्थिति का आनन्द ले रहा है, और उसे स्वयं उससे कोई घृणा उत्पन्न नहीं हो रही है, बल्कि इसके विपरीत वह अपनी भूख मिटाकर तृप्त ही हो रहा है। किन्तु फिर भी वह दृश्य हमारे लिए घृणा-व्यंजक हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों रसों में हमारे अनुभाव तथा भाव काव्यगत पात्र के भावादि से भिन्न प्रकार के होते हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर पण्डितराज ने ऐसे स्थलों पर आश्रय की कल्पना करने की आवश्यकता बताई है। इन दोनों रसों में केवल आलम्बन ही दिखाई देता है, आश्रय नहीं, अतएव उसकी कल्पना कर लेनी चाहिए।[1]

पण्डितराज के उक्त तर्क का विरोध करते हुए डॉ वाटवे ने काव्यगत तथा रसिकगत नाम से रस के दो भेद करके उनके पृथक् आलम्बनादि का वर्णन तथा प्रतिपादन किया है। हिन्दी में पण्डित रामदहिन मिश्र ने उन्हीं का अनुकरण करते हुए 'काव्यदर्पण' में रस-विवेचन किया है। डॉ वाटवे की मान्यता है कि लोगों ने शृंगार रस के नायक-नायिका की आश्रयालम्बन स्थिति का अपने साथ उसी रूप में सम्बन्ध देखकर अन्य रसों के सम्बन्ध में भी यह कल्पना कर ली है कि काव्यगत आश्रय के समान ही वह स्वयं आश्रय होते हैं और

१. ननु रतिक्रोधोत्साहभयशोकविस्मयनिर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु यथालम्बनाश्रययोः संप्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्सायां च। तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः। पद्यश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिकहासजुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेरिति चेत्। सत्यम्। तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात्। तदनाक्षेपे तु श्रोतुः स्वीयकान्तावर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात्। र० गं०, पृ० ४६।

वर्णित आलम्बन उनके लिए भी आलम्बन का काम देता है। किन्तु वस्तुतः काव्यगत नायक तथा रसिक के आलम्बनों में अन्तर मानना चाहिए।[1] इस विचार का पोषण करते हुए उन्होंने 'काव्यप्रकाश' में दिये गए 'क्षुद्राः संत्रसमेते विजहत हरयः'...तथा 'ग्रीवा भंगाभिरामम्...'श्लोकों के आश्रय-आलंबन-वर्णन को अयुक्तियुक्त ठहराया है। उनका विचार है कि पहले श्लोक में काव्य में इन्द्रजित् मेघनाद आश्रय तथा राम आलम्बन हैं और रसिक की दृष्टि से इन्द्रजित् स्वयं रसिक का आलम्बन है। इसी प्रकार दूसरे श्लोक में भी काव्य की दृष्टि से तो हरिण आश्रय तथा राजा उसका आलम्बन है, किन्तु रसिक की दृष्टि से हरिण ही आलम्बन होना चाहिए।[2]

डॉ वाटवे के इस सिद्धान्त की अमान्यता प्रदर्शित करने के लिए हमें उन्हीं-के उदाहरणों से काम लेना होगा। भयानक रस का वर्णन करते हुए उन्होंने काव्यगत सामग्री का इस प्रकार वर्णन किया है : (१) कवि का भय स्थायी-भाव, (२) भूत-प्रेत इत्यादि आलम्बन विभाव, (३) उनका हँसना आदि उद्दीपन विभाव, (४) शंका, त्रास, श्रम इत्यादि व्यभिचारी भाव तथा (५) कम्प आदि सात्विक भाव हैं। वहीं रसिकगत सामग्री में वह क्रमशः भय को स्थायी भाव तथा भयप्रद भूत को आलम्बन विभाव मानते हैं।[3] प्रश्न है कि यदि कवि का भय स्थायी भाव है, तो कवि आश्रय होगा और साथ ही डॉ० वाटवे के सिद्धान्त के अनुसार वही कवि रसिक का आलम्बन होगा, तब फिर भूत-प्रेत, जो स्वयं कवि के भी आलम्बन ही थे, यहाँ भी रसिक के आलंबन कैसे बनकर आ गए? यह स्वविरोध ही तो है। हमारा विचार है कि डॉ० वाटवे ने पण्डितराज के द्वारा दिये गए हास्य तथा बीभत्स रस के अतिरिक्त इस प्रसंग में स्वयं दूसरे रसों पर ध्यान देकर इस प्रकार की गड़बड़ी उपस्थित कर दी है। यदि वह केवल शृंगार पर ही ध्यान देते तो भी बात सुलझ जाती। शृंगार में केवल नायिका का वर्णन अथवा नख-शिख-निरूपण भी रसावह होता है। वहाँ भी हास्य या बीभत्स की भाँति आश्रय तथा प्रसंग की कल्पना करनी पड़ती है। कभी-कभी स्वयं कवि आश्रय नहीं हो पाता, बल्कि प्रसंग-प्राप्त किसी नायक की ही कल्पना करनी पड़ती है। अतएव यदि हास्य आदि के प्रसंग में भी वैसा करना पड़े तो आपत्ति क्या है? दूसरे, यदि काव्यगत आश्रय को ही रसिक का आलंबन मानने लगेंगे, तो उक्त उदाहरण के समान गड़बड़ी होने की आशंका है। अभिप्राय यह

१. र० वि०, प्र० ३०५।
२. वही।
३. वही०, पृ० ३२१।

है कि पण्डितराज का विचार ही संगत है।

पूर्व-विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत शास्त्रकारों ने प्रेक्षक, श्रोता या पाठक पर ही विशेष ध्यान दिया है। आस्वाद का वास्तविक अधिकारी वे उसे ही मानते हैं। इस रसास्वादकर्त्ता के संस्कृत में भिन्न-भिन्न अभिधान हैं, जैसे कोई उसे रसिक कहता है, कोई सहृदय, कोई सामाजिक या सुमनस् और कोई सभ्य। शब्दार्थ की दृष्टि से इन सब शब्दों का अपना-अपना महत्त्व है। रसिक शब्द रस की अवस्थिति जिसमें हो उसके लिए प्रयुक्त किया जान पड़ता है, जिसका हृदय दूसरे के भावों को शीघ्र ग्रहण कर सके और जो दूसरे के साथ एकचित्त हो सके ऐसा व्यक्ति सहृदय होना चाहिए। सामाजिक सामान्य ढंग से सभी के लिए है और सुमनस् अच्छे या निर्मल मन वाले व्यक्ति के लिए, जो सहृदय के ही समान है। सभ्य सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए है और ऐसे व्यक्ति के लिए है, जो सभा आदि का आचार-विचार जानता हो। इन भिन्नतः प्रयुक्त शब्दों से रसास्वादकर्त्ता के भिन्न-भिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। सामान्य जन से ऊपर उठकर निर्मल चित्त वाले सभ्य और उदार या सहृदय संवेदनशील व्यक्ति की ओर आचार्यों की दृष्टि जाने का संकेत मिलता है। यदि ध्यानपूर्वक पूरे साहित्य-शास्त्र का अवगाहन करें तो पता लगेगा कि जिस प्रकार दृश्य-काव्य से रस की परम्परा श्रव्य-काव्य की ओर गई है, उसी प्रकार दृश्य-काव्य का रसास्वादकर्त्ता-सम्बन्धी विचार भी धीरे-धीरे श्रव्य-काव्य को प्रभावित करता हुआ चला है। ऐसा इसलिए कि दृश्य-काव्य में रसास्वादकर्त्ता की जितनी संज्ञाएँ हैं, उनका उपयोग श्रव्य-काव्य में बहुत-कुछ बाद में हुआ है और श्रव्य-काव्य के लेखक की अथवा उसके समीक्षक की दृष्टि जिस प्रकार आरंभ में आलंकारिक रही है, उक्ति की ओर रही है, वैचित्र्य और चमत्कार की ओर रही है, वैसे ही उसने समीक्षक से अधिक पाण्डित्य की माँग की है, रसिक होने की नहीं। ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह दोनों धाराएं पहले पृथक् रहकर कालान्तर में एक में मिल गई हैं।

रसास्वादकर्त्ता की योग्यता

भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में **'आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः'** पंक्ति के द्वारा रसास्वादकर्त्ता प्रेक्षक को सुमनस् कहा है। उन्होंने प्रेक्षक की निम्न योग्यताओं का उल्लेख करते हुए मूलतः दो बातों पर परोक्ष रूप से ध्यान आकर्षित कराया है। (१) वासना-सिद्धान्त, तथा (२) अभ्यासजनित बोध। एक हृदय की अनुभूति है, और दूसरा है बौद्धिक व्यायाम। एक है आन्तर-स्वरूप, और दूसरा है उसकी

भरत

बाह्य सज्जा। दोनों पक्षों के समन्वित रूप को उपस्थित करते हुए उन्होंने प्रेक्षक के लिए निम्न दस बातें आवश्यक बताई हैं :

१. बौद्धिक पृष्ठभूमि, अर्थात् कला और साहित्य का ज्ञान; २. अनेक सौन्दर्य-वर्द्धक साधनों का ज्ञान; ३. मानस तथा शारीर अवस्थाओं का परिचय; ४. विभिन्न भाषाओं और बोलियों का ज्ञान; ५. एकाग्रता-शक्ति; ६. तीव्र-ग्राहिका-शक्ति; ७. निरपेक्ष बुद्धि; ८. चरित्र तथा संस्कार; ९. अभिनीत वस्तु के प्रति रुचि; तथा १०. तन्मयता की शक्ति।[1]

भरत मुनि ने बौद्धिक पृष्ठभूमि तथा सौन्दर्यवर्द्धक साधनों का ज्ञान आवश्यक बताकर इस बात की ओर संकेत किया है कि अन्य काव्यों—दृश्यकाव्यों—का अध्ययन या प्रेक्षण किये बिना काव्य के विभिन्न उपकरणों तथा उनके महत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता। बिना इसके काव्यरूढ़ि समझ में नहीं आ सकती और कवि का वास्तविक अभिप्राय व्यक्त नहीं हो सकता, नाटक के संयोजन का क्रम नहीं जाना जा सकता। इसी प्रकार मानस तथा शारीर अवस्थाओं का ज्ञान रखना भी आवश्यक है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति ही अभिनीत अनुभावों के सहारे अभिव्यक्त किये जाने वाले भाव और पात्र की मनःस्थिति को समझ सकेगा। भाषा एवं बोलियों का ज्ञान दृश्य-काव्य के लिए विशेषतः अपेक्षित है, क्योंकि उसमें भिन्न प्रकार के भिन्न-प्रदेशीय पात्र भिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। ये सब बातें रसास्वाद की बाह्य साधिका हैं, जिन्हें अभ्यास के ही भिन्न भेद कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त अभिनीत वस्तु के प्रति रुचि, चरित्र तथा संस्कार, तीव्र ग्राहिका-शक्ति आदि आन्तर साधनों की भी आवश्यकता है। बिना संस्कार के रुचि उत्पन्न न होगी और रुचि होने पर भी यदि तीव्र ग्राहिका-शक्ति न हुई तो संकेतित भाव का ज्ञान भी न होगा, जिसके परिणामस्वरूप एकाग्रताजनित तन्मयता भी उपस्थित न हो सकेगी। इन सब साधकों की सफलता के लिए निरपेक्ष बुद्धि की आवश्यकता है। जहाँ निरपेक्ष बुद्धि न होगी, वहाँ ममत्व-परत्व आदि विघ्न उपस्थित हो जायँगे। तब रसास्वाद में सफलता न मिलेगी। सारांश यह कि प्रेक्षक में मुख्यतः संस्कार, प्रतिभा, अभ्यास, निरपेक्ष बुद्धि तथा एकाग्रता-शक्ति हो तभी वह सही अर्थों में रसास्वादकर्त्ता कहला सकेगा।

अभिनवगुप्त ने भरत द्वारा कथित योजनाओं को संक्षेप में ग्रहण करते हुए वासना-संस्कार पर अधिक बल दिया। उनके पश्चात् श्रव्य अथवा दृश्य

अभिनवगुप्त

सभी का आस्वाद लेने वाले व्यक्ति में वासना-संस्कार को सभी आचार्यों ने प्रमुख तत्त्व स्वीकार कर लिया।

१. ना० शा० चौ०, अ० २७, पृ० ३१२...४९। ५५।

इसके अनन्तर काव्यानुशीलनाभ्यास, प्रतिभा, भाग्यशालिता अथवा पुण्य आदि को महत्त्व दिया गया। अभिनवगुप्त ने काव्यानुशीलनाभ्यास को इसलिए आवश्यक माना क्योंकि उससे मनोमुकुर निर्मल हो जाता है। निर्मलीकृत हृदय से ही हृदय-संवाद रूप रसास्वाद हो सकता है।"[1] हृदय-संवाद ही आस्वाद कहलाता है।[2]

आनंन्दवर्द्धन के विचार से सहृदय को '**विमलप्रतिभानशालिहृदय**' होना चाहिए। यह प्रतिभा अनन्त जन्मों के पुण्य का फल है। इसलिए कहा गया है '**पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्**।'[3] अभिनवगुप्त तथा आनन्दवर्द्धन भले ही प्रतिभा को पुण्य का फल न मानते हों, किन्तु जन्मान्तर का प्रभाव तो मानते ही हैं। इसलिए अभिनवगुप्त ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक से '**रम्याणि वीक्ष्य—**' श्लोक उद्धृत किया है।

आनन्दवर्द्धन

अभिनवगुप्त के पश्चात् इस विषय पर भोजराज ने विशेष रूप से ध्यान दिया है। भोज ने रसास्वादकर्त्ता को 'रसिक' कहा है। उनकी सम्मति है कि प्रतिभा, संस्कार तथा पूर्वजन्म में किये गए पुण्य-कृत्य रसास्वाद के साधन-स्वरूप हैं। रसिक वही हो सकता है जो सात्विक अहंकार से युक्त हो। अहंकार आत्मस्थित गुण-विशेष है, जो शृङ्गार भी कहा जा सकता है। यही आत्मशक्ति है, जिसके बल पर रसास्वाद किया जाता है।[4] यह अहंकार भी पूर्वजन्म के संस्कार से ही उत्पन्न होता है। जन्मान्तर में अनुभूत वासना के उद्‌बुद्ध होने पर ही यह सात्विकता प्राप्त होती है।[5] वासना, सत्व तथा जन्मान्तर आदि सिद्धान्तों को स्वीकार करने के

भोजराज

१. येषां काव्यानुशीलननाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदयसंवादभाजाः सहृदयाः। 'लोचन', पृ० ३८।

२. हृदयसंवादः आस्वादः आस्वादः। ध्व० लो०, पृ० ३८।

३. सा० द०, अ० ३।

४. आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य, शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः।
तस्यात्मशक्ति रसनीयतया रसत्वं, युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः॥
शृं० प्र० १।३

५. सत्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा, जन्मान्तरानुभवनिर्मित वासनोत्थः।
सर्वात्मसम्पदुदयातिशयैकहेतुः, जागर्ति कोऽपि हृदि मानमयो विकारः॥
वही १।४॥

अतिरिक्त भोज अभिनवगुप्त के 'विशदीभूत मनोमुकुर' को भी अपना लेते हैं ।[१]

भोज का रसिकता से अभिप्राय है सात्विक अहंकार-जनित भावों का पराकोटि तक उद्बुद्ध हो जाना। इस स्थिति के फलस्वरूप ही मानव-मानव के बीच का अन्तर नष्ट होता है और परस्पर अभिन्नता उत्पन्न होती है। यही अभिनव आदि का हृदय-संवाद है। भोज तथा अभिनव में अन्तर इतना ही है कि अभिनव पुण्य-कर्म का कारण नहीं मानते और भोज उसे स्वीकार करते हैं। दूसरे अभिनव की 'सहृदय' संज्ञा में ही रसास्वादकर्त्ता का आन्तरिक पक्ष तथा रसानुभूति का स्वरूप छिपा हुआ है, किन्तु भोज ने इस शब्द को नहीं अपनाया। उन्होंने उसके स्थान पर **'सचेतसां रस्यमानः'** कहकर सचेतस् शब्द का प्रयोग अवश्य किया। यह शब्द बहुत-कुछ भरत के 'सुमनस्' शब्द के समान है। वस्तुतः भोज को 'रसिक' शब्द ही विशेष ग्राह्य प्रतीत होता है और उनके विचारों का व्याकरणिक ढंग से वही वाहक हो भी सकता है। भोज ने इस अहंकार की खोज करके उसे ऐसा व्यापक रूप दिया है कि उससे समस्त सृष्टि के पदार्थों का आस्वाद किया जा सकता है, किन्तु अभिनवगुप्त उस व्यापक क्षेत्र की चिन्ता न करके अपनी दृष्टि को काव्य तक ही सीमित रखकर चले हैं। भोज का 'रसिक' समाज में शिव की दृष्टि से शीलवान तथा संस्कृत व्यक्ति ही हो सकता है।

इन संज्ञाओं के अतिरिक्त भवभूति आदि ने और भी कई नाम दिये हैं। भवभूति ने अपनी प्रसिद्ध पंक्ति **'उत्पत्स्यते मम सपदि कोऽपि समानधर्मा'** में

अन्य : 'समानधर्मा' शब्द के द्वारा इसी सहृदय की कल्पना को वाणी दी है, जो कवि के समान ही विशेष संस्कारशील होना चाहिए।

इन संज्ञाओं का अधिकतर सम्बन्ध दृश्य-काव्य के आस्वादकर्त्ता से है। श्रव्य-काव्य का समीक्षक अधिकतर 'पण्डित' कहा गया है। पंक्ति प्रसिद्ध है : **"कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पण्डिताः।"** पण्डित होने का अभिप्राय किसी जाति-विशेष का होना नहीं है, अपितु काव्य-मर्मज्ञ ऐसा व्यक्ति होता है जो काव्योपकरणों या काव्य के अन्तर्गत आने वाले समस्त ज्ञान को जानता हो, उन पर अधिकार रखता हो। क्योंकि काव्य में अनेक अलंकारों और काव्य-रूढ़ियों या कवि-समयों का प्रयोग होता है और कल्पना में अनेक प्रकार के

---

१. **यत्पादपंकजरजः परिमार्जितेषु, चेतः सुदर्पणतलामलतां गतेषु। शब्दार्थ सम्पद् उदारतराः स्फुरन्ति, विघ्नच्छिदेऽस्तु भगवान् सगणाधिनाथः॥**
शृ० प्र० १।२।

पुष्प, वृक्ष, नक्षत्र-मण्डल, ज्ञान-विज्ञान को उपस्थित किया जाता है। अतएव उनका ज्ञान रखने वाला ही काव्य-मर्मज्ञ कहला सकता था। विद्वान् होने का अर्थ यह नहीं है कि कोई काव्य-पाठक वैयाकरण या दार्शनिक ही हो, अपितु इसका अर्थ है सभी विषयों का ज्ञान तथा कथित को समझने की बुद्धि वाला होना। इसीलिए क्षेमेन्द्र ने तो दार्शनिक तथा वैयाकरण को काव्य-आस्वाद के अयोग्य ठहराया है।[1] आचार्य आनन्दवर्धन ने भी कहा है कि केवल शब्दार्थ-ज्ञान-मात्र से ही कोई काव्य का आस्वाद नहीं ले सकता।[2] काव्य का आनन्द लेगा कोई सहृदय ही, केवल व्याकरण के आधार पर शब्दों की जोड़-तोड़ बैठाने वाला तो व्युत्पत्ति के फेर में ही पड़ा रह जायगा और दोष ही देखता रहेगा। इसी प्रकार शब्दार्थ जानने वाला व्यक्ति शब्द-व्यवहार को न जानकर भ्रमित-सा हो जायगा। इन दोषों से बचने के लिए ही तो काव्य का अभ्यास आवश्यक माना गया है। उस अभ्यास से मन का शीशे की भाँति निर्मल हो जाने का भी यही अभिप्राय है कि उस पर नितान्त स्पष्ट और अबाध रूप में कवि-वर्णित चित्र की प्रतिच्छवि अंकित हो सके, कवि जो कहना चाहता है वह पूरी तरह उसके हृदय पर अंकित हो सके।

इसीलिए प्रसिद्ध कवि बिल्हण ने साहित्य-विद्या के अर्जन में विशेष श्रम की आवश्यकता बताई है। साहित्य-विद्या के श्रम से वर्जित व्यक्ति कवि के गुणों को ग्रहण नहीं कर सकता।[3] न स्वयं कवि हो सकता है, न कवि के अर्थ को जान ही सकता है। जिस प्रकार कवि के लिए शक्ति, निपुणता तथा लोक, शास्त्र तथा काव्य की शिक्षा और उनका अभ्यास आवश्यक है, उसी प्रकार रसास्वाद-कर्त्ता में भी वासना, शिक्षा और अभ्यास का उपयुक्त सन्निवेश होना चाहिए। भवभूति के समानधर्मा की सिद्धि तो तभी होगी, जब कवि और समीक्षक या रसास्वादकर्त्ता दोनों एक ही धरातल पर आ जायँगे। इसीलिए सहृदय के लिए 'भावक' शब्द भी प्रचलित है।

---

१. यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव, कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकवि प्रबन्धैः॥ क० क०, १।२२।
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्यात्च्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि सन्दर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥ वही, २३।

२. शब्दार्थज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञै रेव केवलम्॥ ध्व० १।७।

३. कुण्ठत्वमायाति गुणाः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु। 'विक्रमांकदेव-चरित,' १।

काव्य की सार्थकता तभी है जब वह पाठकों हो कण्ठहार हो सके। वह काव्य निरर्थक है, जो लोक-विश्रुत और लोक-सम्मानित नहीं हो पाता। लोक-विश्रुति काव्य के लिए पाठक की अनिवार्यता का संकेत करती है। भावक ही दश दिशाओं में उसकी ख्याति ले जाते हैं। वही काव्य की रसवत्ता, हृदय-हारिता, मर्मभेदकता आदि की देश-देशान्तर में चर्चा करते हैं।[1] लोक-विश्रुति के इस सिद्धान्त को हम काव्य की सामाजिकता का सिद्धान्त कह सकते हैं। काव्य का ग्राहक समाज ही है। एक-एक व्यक्ति से होती हुई काव्य-वाणी समाज में प्रसार और प्रचार पा जाती है। व्यष्टि ही समष्टि का प्रतिनिधि है। अतः व्यक्ति के द्वारा काव्य का ग्रहण मानो समाज के प्रतिनिधि के द्वारा ग्रहण है। कवि को इस बात के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए कि उसका काव्य लोक-विश्रुत हो सके, उस काव्य की सामाजिकता सिद्ध हो सके या वह सामान्य लोक-भावभूमि पर उतरकर सबके मनःप्रदेश में निवास कर सके। परन्तु हा हन्त, संसार में ऐसे काव्यों की संख्या ही कितनी है, जो भावक के मनरूपी शिलापट्ट पर अंकित हो जाने का अवसर प्राप्त कर सके हैं।[2] जो काव्य भावक के हृदय को प्रभावित करता है, वही कवि की विशिष्ट प्रतिभा का परिचय देता है। किन्तु, प्रतिभा एक-मात्र कवि में ही अपेक्षित नहीं है, अपितु काव्य को ग्रहण करने के लिए, उसका अर्थ समझने के लिए, उसके गहन व्यंजना-स्वरूप को समझने के लिए भावक में भी प्रतिभा चाहिए। यह प्रतिभा कारयित्री नहीं, भावयित्री कहलाती है। दोनों में प्रतिभा की स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि दोनों समानधर्मा हैं। कवि के अन्तःकरण की बात समझने के लिए भावक को भी कवि-हृदय होना चाहिए। जो एक-साथ कवि भी है और भावक भी, प्रशंसा उसीको मिलती है। कवि भावन करता है और भावक ही कवि हो जाता है।[3] किन्तु, भावक कवि भी हो यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है। काव्य की सराहना करना और बात है और काव्य-रचना कर पाना सर्वथा भिन्न बात। भगवान् की इस प्रकृति को देखकर इसका दार्शनिक विवेचन तो बहुतेरे कर सकते हैं, किन्तु वे स्वयं स्रष्टा नहीं हो जाते। अतः कोई आश्चर्य नहीं, यदि कुछ लोग केवल रचना कर सकते हैं और कुछ केवल उसकी सराहना

१. काव्येन किं कवेस्तस्य, तन्मनोमात्रवृत्तिना।
नीयन्ते भावकैर्यस्य न निबन्धा दिशो दश ॥ का० मी०, पृ० १५।

२. सन्तिपुस्तकविन्यस्ताः काव्यबन्धाः गृहे गृहे।
द्वित्रास्तु भावकमनः शिलापट्टनिकुट्टिता ॥ का० मी०, पृ० १५।

३. कविर्भावयति भावकश्च कविः। वही, पृ० १३।

ही कर पाते हैं।[1] भावक कवि हो तो बहुत अच्छा, किन्तु यदि वह कवि न हो, तो भी यदि उसमें भावयित्री प्रतिभा है तो काम चल सकता है। भावकता के साथ कवित्व-शक्ति का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

काव्य की रचना किसके लिए की जाय ? वह स्वान्तःसुखाय हो या परान्तः-सुखाय, इस प्रश्न का समुचित उत्तर यही है कि भावक या सामाजिक के लिए ही काव्य की रचना की जाती है, परन्तु इस रहस्य को भी भूल न जाना चाहिए कि भावक यदि योग्य न हुआ, निर्मत्सर न हुआ तो काव्य का उद्देश्य तो ज्यों-का-त्यों स्थिर रहेगा, किन्तु उसका मूल्यांकन ठीक-ठीक न हो सकेगा। बिना मूल्यांकन के कवि का महत्त्व सिद्ध न होगा। महत्त्व-प्राप्ति से उसे आन्तरिक सुख मिलता, जो उचित मूल्यांकन के अभाव में न मिल सकेगा। इस प्रकार भावक ही वह निकष हे, जिस पर सचाई से कसने पर सच्चे काव्य की सचाई सिद्ध होती है, निकष ही झूठा होगा तो सत्य की प्राप्ति कैसे होगी ? भावक की योग्यता ही कवि और काव्य के गौरव को प्रकट करती है। योग्य भावक ही काव्य की रस-पेशलता, उक्ति-चातुर्य और अनुभूति-गम्भीरता की सराहना कर सकता है, समाज को सही मार्ग दिखा सकता है। मत्सरी आलोचक निष्पक्ष निर्णय कैसे दे पायगा ?

मंगल ने भावकों को अरोचकी तथा सतृणाभ्यवहारी दो प्रकार का बताया है। वामन आदि ने इन भेदों को कवियों का भी भेद माना है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि भावक का महत्त्व कवि से किसी प्रकार भी कम नहीं है। मंगल के इन दो भेदों से ही सन्तोष न करके राजशेखर ने दो और भेदों को इनके साथ जोड़ दिया है। यह दो भेद हैं मत्सरी तथा तत्त्वाभिनिवेशी। इस प्रकार भावक या आज का काव्य-आलोचक चार प्रकार का हो सकता है। काव्य में रुचि ही न रखने वाला अरोचकी, अविवेकी और सब कुछ को ग्रहण कर लेने वाला सतृणाभ्यवहारी कहलाता है। मत्सरी तो नाम से ही प्रकट है। सम्यक् विवेचन के उपरान्त तत्त्व का निर्धारक तत्त्वाभिनिवेशी भावक तो हजार में कोई एक ही होता है।[2]

भावक की मनोवृत्ति के आधार पर किये गए इन भेदों के अतिरिक्त राज-

१. कश्चिद्वाचं रचयितुमलं श्रोतुमेवापरस्तां,
कल्याणी ते मतिरुभयथा विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपाती गुणाना—
मेकः सूतं कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥ वही, पृ० १४।

२. का० मी०, पृ० १५।

शेखर ने उसकी रुचि और अनुभूति के आधार पर भी उसके भेद बताए हैं। काव्य में किसी की रुचि केवल भाव-पक्ष की ओर ही होती है और कुछ उसकी शैली पर ही मुग्ध होते हैं। कोई उसके भाव से प्रभावित होता है और कोई उसके रूप-विन्यास से। इसी प्रकार कोई अनुभूति को केवल अन्तःकरण में ग्रहण करके ही रह जाते हैं और कुछ उसको सफलतापूर्वक अभिव्यक्त कर सकते हैं। इस विचार से भी भावक के वाग्भावक, हृदयभावक, अनुभावभावक, दोषादानपर, गुणादानपर, गुणदोषापहृतित्यागपर कई भेद हो सकते हैं।[1] इनमें से प्रत्येक की अलग-अलग पक्षों पर दृष्टि जमती है, जो उनके नाम से ही प्रकट है। इनमें अनुभावभावक या गूढ़भावक को ही सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है, जो काव्य-पाठ के प्रभाव को भी प्रकट करता चलता है। इसके सम्बन्ध में विज्जका ने बहुत ही सुन्दर उक्ति कही है। उसका विशेष लक्षण इन पंक्तियों में चित्रित हो गया है :

कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
वदद्भिरंगीकृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमंजलिः ॥[2]

तात्पर्य यह है कि भारतीय विचारकों ने भावक को भी कवि के समान ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। कवि काव्य के माध्यम से पाठक से हृदय-संवाद करता है और पाठक काव्य के माध्यम से कवि-हृदय तक प्रवेश पाता है। कवि तथा भावक के इस रूप पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर हमारे यहाँ; जहाँ कवि की सामर्थ्य, उसकी शक्ति और कवि-व्यापार पर ध्यान केन्द्रित करके रचना में कवि के व्यक्तित्व को खोजने की चेष्टा की गई, वहाँ दूसरी ओर भावक की मनोवृत्ति, उसकी ग्रहण शक्ति, उसकी रुचि-अरुचि तथा योग्यताओं का निर्देश करके उसकी अनुभूति और काव्य-प्रभाव का भी संकेत दे दिया गया।

संस्कृत विचारकों के समान हिन्दी-लेखकों ने भी सहृदय के स्वरूप का व्याख्यान किया है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में **'महुअर बुज्झइ कुसुम रस, कव्व कलाउ छइल्ल'** (१।५) कहकर सहृदय के लिए 'छैला' शब्द के प्रयोग द्वारा

१. वाग्भावको भवेत् कश्चित् कश्चित् हृदयभावकः।
सात्विकैरांगिकैः कश्चिदनुभावैश्च भावकः॥
गुणादानपरः कश्चित् दोषादानपरो परः।
गुणदोषापहृति त्यागपरः कश्चन भावकः॥

२. भा० सा० शा०, बलदेव उपाध्याय, प्रथम भाग, पृ० ३९२ उद्धृत।

उसकी काव्यालंकरण-सम्बन्धी जानकारी की ओर संकेत किया है और जायसी ने उसकी भ्रमर तथा चीटे से तुलना की है। उनका विचार है कि अरसिक फूल के पास उगने वाले कांटे तथा कमल के पास रहने वाले मेढक के समान है, जो पास रहकर भी रस नहीं जानता :

हिन्दी लेखक

"कवि विलास रस कँवला पूरी। दूरि सो नियर-नियर सो दूरी ॥
नियरे दूर, फूल जस काँटा। दूरि सो नियरे जस गुड़ चाँटा ॥
भँवर आइ वनखंड सन, लेह कँवल की बास।
दादुर बास न पावई, भलेहि जो आछै पास ॥" पद्मावत।

जायसी का यह कथन वस्तुतः निम्न संस्कृत पंक्ति का अनुवाद-सा ही प्रतीत होता है—

तत्त्वं किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि।
मार्मिकः को मरन्दानामन्तरेण मधुव्रतम् ॥

तुलसी ने 'रसं जानन्ति पण्डिताः' के स्वर-में-स्वर मिलाकर ही कहा है : "जे प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सौ स्रम बादि बाल कवि करहीं ॥" रसज्ञ और कवि के सम्बन्ध का निर्देश उनकी निम्न पंक्ति से हो जाता है :

"तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।"

अतएव, उनके विचार से काव्य की सार्थकता तभी है, जबकि उसे बुध लोगों में सम्मान प्राप्त हो जाय, अन्यथा वह श्रम व्यर्थ है, बाल-श्रम है।

स्वयं सूरदास जी ने भी रसिक को प्रतिष्ठा देते हुए कहा है :

"रस की बात मधुप नीरस सुनि, रसिक होत सो जानै।"

इसी प्रकार कविवर सेनापति तथा घनानन्द ने अपनी-अपनी कविता को समझ सकने वाले सहृदय की योग्यताओं का भी बड़े गर्व से उल्लेख किया है। उनके कथनों से प्रकट होता है कि कविता के रसमाधुर्य को जानने वाला व्यक्ति योग्यताओं से मण्डित होना चाहिए। सेनापति की उक्ति है :

"मूढ़न को अगम, सुगम एकता को,
जाकी सीखन विमल विधि—
बुद्धि है अथाह की।"—'कवित्तरत्नाकर'।

अर्थात् उन्होंने सहृदय को तीक्ष्ण बुद्धि के साथ ही विमल बुद्धि भी माना है। ऐसा कहकर वह अभिनव द्वारा कथित सहृदय के 'विमलप्रतिभानशालि हृदय' लक्षण की ओर संकेत कर रहे हैं। इस छन्द की एक दूसरी पंक्ति में सेनापति ने बताया है कि उनके काव्यरसिक को ज्ञान का निधान तथा छन्द एवं कोश

का ज्ञाता होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि रसज्ञ को शिक्षित मानने के साथ ही वह प्रतिभावान् भी मानते हैं।

इसी प्रकार घनानन्द जी के द्वारा कथित (?) निम्न छंद में भी रसज्ञ को भाषा, काव्य-विवेक, सौन्दर्य-चेतना, प्रेम, स्वानुभूति आदि लक्षण-समन्वित माना गया है :

नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन औ, सुन्दरतानि के भेद को जानै।
जोग वियोग की रीति में कोविद, भावना-भेद स्वरूप को ठानै॥
चाह के रंग में भीज्यो हियो, बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रवीन सुछंद सदा रहै, सो घनजी के कवित्त बखानै॥

सारांश यह है कि संस्कृत तथा हिन्दी के आचार्य एवं कवि व्यक्ति-सामान्य को काव्य का मर्मज्ञ या रसज्ञ नहीं मानते, अपितु उसे विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति के रूप में मानते हैं। ये योग्यताएँ बाह्य और आभ्यन्तर भेद से भिन्न-रूपात्मक हैं, फिर भी सामान्य रूप से वासना-संस्कार, शिक्षाभ्यास, भाषा या काव्यरूढ़ि-ज्ञान, निर्मल हृदय आदि कुछ योग्यताओं को सभी स्वीकार करते हैं।

रसास्वाद में विघ्न

अब तक के इस वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि रसास्वाद की सफलता के लिए, जहाँ एक ओर पाठक या प्रेक्षक की सहृदयता उत्तरदायी है, वहाँ दूसरी ओर उसे उस आस्वाद-स्थिति तक लाने के लिए कवि की सहायता की भी अपेक्षा है। सहृदयता की न्यूनता तो रसास्वाद में विघ्न उपस्थित करेगी ही, किन्तु कवि की वर्णन-पद्धति आदि भी यदि त्रुटिपूर्ण हुई तो रसास्वाद में बाधक ही होगी। रसास्वाद के लिए कवि तथा रसिक दोनों की योग्यताओं का सापेक्ष सम्बन्ध है, तभी उनकी समान धार्मिकता स्वीकार की जा सकती है।

विघ्नापसारण में कवि का ही सबसे बड़ा हाथ रहता है। कथावस्तु का निर्माता वही है, अतएव उसकी ओर से यह भी अपेक्षित है कि वह किसी ऐसी घटना का वर्णन या प्रदर्शन न करे, जिसके प्रति विश्वास न ठहर सकता हो अथवा जिसकी सम्भावना भी न हो। विश्वास ही चित्तदृढ़ता का प्रथम साधक है। वही टूट जायगा तो एकाग्रता-जनित रसास्वाद की संभावना भी कहाँ रहेगी। इसीलिए हमारे यहाँ दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य भेद से कथावस्तु के तीन प्रकार बताये गए हैं, जिनके अनुसार कवि राम, रावण आदि का रूप खड़ा करता है। दिव्य कथा में असाधारण या अलौकिक कृत्यों का समावेश असंभव नहीं है, क्योंकि हमारा विश्वास ऐसी दिव्य कथाओं के प्रति संस्कार-रूप में बना चला आता है। किन्तु किसी साधारण जन के द्वारा राम के

समान ही वानरों की सहायता से सेतुबन्ध में सफल हो जाने का वर्णन निःसन्देह अविश्वसनीय हो जायगा।[1] अदिव्य कथा का नायक लोक-बाह्य कार्यों को करते हुए न दिखाया जाय, तभी सहृदय का विश्वास जीता जा सकता है। अभिप्राय यह है कि कवि काव्य की सफलता के लिए केवल ऐसी घटनाओं का वर्णन करे, जो पाठक के संस्कारों के प्रतिकूल न हों। पाठक के संस्कारों को उद्बुद्ध करते ही उसको रसास्वाद की स्थिति में लाया जा सकता है। उन विश्वासों को ठेस पहुँचाकर उसे उस भूमि पर लाना असम्भव है। यही कारण है कि आचार्यों ने प्रख्यात वस्तु तथा प्रख्यात नायक का समावेश ही काव्य के लिए उपयुक्त माना है। नायक के प्रति यदि उसकी ख्याति के कारण हमारा विश्वास जमा रहता है, तो काव्य-पाठादि के समय रसास्वाद में न तो विलम्ब ही लगता है, न अविश्वास-जनित बाधा ही उपस्थित होती है। अतः नाटकादि की उत्पाद्य वस्तु में अप्रसिद्ध या अनुचित नायक का वर्णन करना भारी प्रमाद माना जाता है।[2]

इस सम्बन्ध में यह कहना उपयोगी होगा कि यह विघ्न दूसरे शब्दों में काव्य में सत्य के समावेश का प्रश्न है। सत्य और तथ्य में अन्तर है। सत्य वह है जो अविश्वसनीय न हो, जिसकी संभावना में शंका न हो; किन्तु वस्तु या घटना जैसी है, वैसी ही उसे प्रकट करने का नाम तथ्य है। आचार्यों ने तथ्य का आकलन करना काव्य के लिए अहितकर या अनुपयोगी ही माना है। इसीलिए उन्होंने परम्परागत कथा में भी रसोपयुक्त परिवर्तन का समर्थन किया है।[3]

इसी आधार पर प्राचीन विद्वानों ने रसास्वाद के सात विघ्नों का उल्लेख किया है। इन विघ्नों का सम्बन्ध दोनों पक्षों से है। रसिक के लिए 'स्वगतत्व तथा परगतत्व अथवा देशकाल के नियम-बन्धन' को प्रधान विघ्न माना गया है। निःसन्देह, जब तक पाठक अथवा प्रेक्षक अपने स्वार्थ सम्बन्ध से मुक्त होकर काव्य में रुचि न लेगा, तब तक वह लौकिक दुःखादि से भी न छूट सकेगा। उन्हें अपना या पराया मानकर वह या तो सुखी या दुखी होगा अथवा तटस्थ रह जायगा। अतः इस प्रकार की मानसिक स्थिति का अपसारण ही वांछनीय है। नटादि की वेश-भूषा, उनकी साज-सज्जा, पात्रानुकूल उच्चारण अथवा वार्तालाप तथा संगीतादि के सविवेक प्रयोग द्वारा ही इस विघ्न की उपस्थिति

१. 'ध्वन्यालोक,' पृ० ३३० ।

२. 'ध्वन्यालोक पृ०' ३३१ ।

३. इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्योऽप्यन्तराभीष्टरसोचित कथोन्नयः । 'ध्वन्यालोक' ३।११ ।

से बचा जा सकता है। ये सभी बातें रसिक को वर्तमान सम्बन्धों से मुक्त करके उसी देश-काल में विचरण कराने में सहायक सिद्ध होती हैं, जिनका वर्णन या प्रदर्शन किया जा रहा है। तदनुकूल भाषादि का प्रयोग न होने पर, उन आचार-विचारों का विचारपूर्वक प्रयोग न किये जाने पर, सहृदय उस अवस्था का आस्वाद न ले सकेगा। अतएव जितनी सहृदय की ओर से स्वार्थ-सम्बन्धों की विस्मृति अपेक्षित है, उससे कहीं अधिक कवि का यह कर्त्तव्य है कि वह उस स्थिति की संभावना के हेतु वैसे उपकरणों को जुटाए।

व्यक्तिगत सुख-दुःखादि से प्रभावित व्यक्ति लोक में होने वाली अन्य घटनाओं से प्रभावित नहीं होता। जिस व्यक्ति का घर जल रहा होता है, उस व्यक्ति को अपने गाँव की बारात में आनन्द नहीं आता। यह तो सभी का अनुभव होगा कि अपने शरीर में कहीं चोट लगने या जल जाने पर हम उसीकी पीड़ा से व्याकुल होकर अन्य किसी घटना को उतना महत्त्व नहीं देते। अपने ज्वर में व्यग्र मनुष्य दूसरे की दुःख-गाथा सुनकर प्रायः यही कहता सुना गया है कि 'हम तो अपने ही दुःख से मर रहे हैं, दूसरे की हम क्या जानें'। मनुष्य अपने कष्ट के सम्मुख दूसरे के कष्ट को महत्त्व नहीं देता और न अपने सुख के समय ही उसे किसी का दुःख प्रभावित करता है। अचानक लाटरी में हजारों रुपया पाया हुआ अथवा परीक्षा में सफल हुआ व्यक्ति कुछ समय के लिए अपने घर में पड़ी हुई रुग्णा माँ की दयनीय दशा को भी कभी-कभी भूल जाता है, अथवा माँ की पीड़ा के कारण उनका आनन्द नहीं लेता। ऐसे व्यक्ति को भी रसास्वाद न आ सकेगा। उस पर दर्शित दृश्यों का वह प्रभाव नहीं पड़ सकता, जो लेखक उत्पन्न करना चाहता है। संगीत और गेयता की योजना इस विघ्न के अपसारण में अत्यन्त सहायक होती है।

प्रतीत्युपायवैकल्य तथा स्फुटत्वाभाव भी रसास्वाद में विघ्नकारक हैं। जिस वर्णन के द्वारा भावों का अविलम्ब और स्पष्ट ज्ञान तथा दृश्य के मूर्तिकरण में स्पष्टता न हो, उसके संयोजन से भी रसास्वाद में बाधा उत्पन्न हो जाती है। भावों की अविलम्ब अनुभूति के लिए उनके उद्बोधक तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है। ये तत्त्व, जिन्हें विभावादि कहते हैं, जितने अधिक मूर्त्त हों, उतने ही रसास्वाद में सहायक होते हैं। अनुमान के द्वारा वास्तविकता का बोध न होने पर प्रेक्षक अथवा पाठक वांछनीय स्थिति तक नहीं पहुँच पाता। इसीलिए नाटक में अनुभाव आदि का संयोजन माना गया है और श्रव्य-काव्यों में दृश्यों का इस प्रकार वर्णन करना उपयोगी समझा गया है जिनसे हमारे सम्मुख कोई चित्र उपस्थित होता हो। दृश्यत्व के इसी महत्त्व के आधार पर दृश्यकाव्य को श्रव्य

काव्य की तुलना में श्रेष्ठ ठहराया गया है। अभिप्राय यह कि दृश्य का संयोजन ऐसा होना चाहिए कि स्थायी भाव का उद्बोध होने में, भाव को समझने में, दृश्य की जानकारी प्राप्त करने में सरलता हो। इसी सरलता के विचार से नाटक में नाट्य-धर्मी, वृत्ति तथा प्रवृत्ति आदि का प्रयोग उपयोगी बताया गया है।

रस के प्रधान उपकरण स्थायी भाव के सम्मुख विभावादि अप्रधान उपकरणों को महत्त्व देना भी रसास्वाद में विघातक होता है। विभावानुभाव का स्थायी के बिना आस्वाद नहीं किया जा सकता। अतएव वास्तविक महत्त्व काव्य में स्थायी का ही है, उस पर दृष्टि न रखकर केवल विभावादि का वर्णन करना उपयुक्त न होगा।

काव्य का पाठ करते अथवा उसे देखते हुए सहृदय को किसी भाव के प्रति शंका उत्पन्न नहीं होनी चाहिए कि यह भाव हर्ष से सम्बन्धित है अथवा शोक से। क्योंकि जिस प्रकार शोक में अश्रु निकलते हैं, उसी प्रकार हर्ष में भी। जिस प्रकार भय से कम्प उत्पन्न होता है, उसी प्रकार हर्षातिरेक से और क्रोध से भी। कोई ऐसा नियम नहीं है कि अमुक विभावादि केवल अमुक स्थायी भाव से ही सम्बद्ध हैं। अतएव काव्य में यदि यह ध्यान न रखा गया कि अमुक भाव का अमुक स्थायी से सम्बन्ध है, अथवा इसे स्पष्ट रूप से लक्षित न करा दिया गया, तो रसास्वाद में विघ्न उपस्थित होगा। स्थायी का पता न लगने पर यह संशय बना रहेगा कि इसका स्थायी कौन है। फल यह होगा कि पाठक या प्रेक्षक का चित्त स्थिर न हो सकेगा। यही सोच-विचारकर भरत ने भी स्थायी के साथ विभावादि के संयोग को आवश्यक माना है।

इसी प्रकार यह विघ्न क्रमशः (१) प्रतिपत्तावयोग्यता या संभावना विरह; (२) तथा (३) स्वगत परगतत्व नियमेन देशकाल विशेषादेश; (४) निज सुख-दुःखादि विवशीभाव; (५) प्रतीत्युपायवैकल्य तथा सम्भावनाविरह; (६) अप्रधानता और (७) संशय योग नाम से बताए गए हैं। कवि तथा सहृदय की सापेक्ष स्थिति ही रसास्वाद में सहायक होती है, अतएव उनके द्वारा ही उक्त विघ्नों की उपस्थिति भी सम्भव होती है। किन्तु इन विघ्नों के अपसारण का श्रेय कवि को ही मिलता है। अभिनव ने इसके अपसारण के लिए क्रमशः निम्न बातों का संयोजन उपयोगी माना है :

प्रथम के लिए प्रख्यात वस्तु-विषय का वर्णन; दूसरे-तीसरे के लिए पूर्वरंग विधिपूर्वक नटी तथा विदूषक के द्वारा लक्षित प्रस्तावना, अलौकिक भाषादि भेद या साम्य, मण्डपगत कक्षा-परिग्रह तथा नाट्यधर्मी का प्रयोग; चौथे के

लिए साधारण्य और शब्दादि विषयों, गान, विदग्ध गणिकादि द्वारा समुपरंजन; पाँचवें के लिए लोक-धर्म-प्रवृत्ति; छठे के लिए स्थायी की प्रधानता; तथा अन्तिम के लिए विभावादि संयोग।

इस प्रकार रसास्वादकर्त्ता और रसास्वाद के विघ्नों का विचार कर लेने पर अब हम रसास्वाद के स्वरूप पर विचार करेंगे। इसके लिए हमें भारतीय दर्शनों का सहारा लेना होगा। भारतीय विचारक धर्म और दर्शन का हाथ पकड़कर ब्रह्म की खोज में निकलता है। समस्त विचार विभिन्न मार्गों से चलकर भी उसी केन्द्र में केन्द्रीभूत होते हैं। ब्रह्म ही भारतीय का परम लक्ष्य है, अतएव काव्य में मूलभूत प्रयोजन आनन्द भी ब्रह्म से ही किसी-न-किसी प्रकार सम्बद्ध है। यह सिद्ध करने का प्रयत्न भी भारतीय रस-विवेचकों ने पर्याप्त रूप में किया है। उपरिलिखित विघ्नों के अपसारण का परिणाम यह ब्रह्मानन्द सहोदर ही है। इसके विवेचन के लिए दर्शनों की आधारभूमि का सहारा लेना होगा।

ब्रह्मानन्द सहोदरता और रसास्वाद

भरत के रस-सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्टनायक ने भावकत्व द्वारा रज व तम का नाश होने पर सत्वगुण की प्रबुद्ध अवस्था में ब्रह्मास्वाद सदृश काव्यानन्द की बात कही थी। भट्टनायक के समान ही अभिनवगुप्त ने रस को लोकोत्तर सिद्ध करने का प्रयत्न किया और आगे चलकर विद्वानों ने रस को अलौकिक, चमत्कारकारी आदि विशेषणों से विभूषित किया। आचार्य मम्मट का कथन है कि "रसास्वाद पानक-रस के समान होता है। ऐसा जान पड़ता है, मानो यह सामने ही स्फुरित हो रहा है, हृदय के भीतर पैठा जा रहा है, शरीर के सभी भागों में सम्मिलित-सा हो रहा है। शेष सभी विषयों को भुलाकर ब्रह्मज्ञानानन्द सदृश अनुपम सुख का अनुभव कराकर अलौकिक चमत्कार का जनक होता है।"[1] मम्मट ने पानक-रस की भावना भरत से ली है और ब्रह्मानन्द की धारणा के लिए वह भट्टनायक के ऋणी हैं। पण्डितराज ने भी **'भग्नावरण-चिद्विशिष्ट'** तथा समाधि आदि का वर्णन करके ब्रह्मानन्द की कल्पना को ही बल दिया है। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ का निम्न श्लोक तो सर्वाधिक प्रिय रहा है :

---

१. पानक रसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदवत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्। अलौकिक चमत्कारकारी शृंगारादिको रसः। का० प्रकाश, पृ० ९३।

"सत्त्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः ।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः ॥"

'रसरत्नप्रदीपिका' के लेखक अल्लराज ने सुख को नित्यानित्य विभेद से दो प्रकार का स्वीकार करते हुए कहा है कि नित्य सुख ब्रह्मस्वरूप है और योगियों द्वारा प्राप्य है, किन्तु अनित्य सुख विषयोद्भूत होता है। संसार के विषयोन्मुख होने के कारण ही यह नित्य सुख, जिसे ब्रह्मानन्द कहा जा सकता हैं, विरल दीख पड़ता है। विषयोन्मुख सुख उपादानों की भिन्नता के अनुरूप बहुधा भिन्न प्रकार का होता है। रसरूप सुख दोनों का मध्यस्थ है और उसकी अनिर्वाच्यता को पूर्वाचार्यों ने स्वीकार भी किया है। इसमें असत् भी प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगता है। मनुष्य उससे निस्सीम सुख-सागर में निमग्न हो जाता है। वस्तुतः पुण्य ही रस का प्रमुख फल है, क्योंकि उसके द्वारा रस-स्थित देवता तुष्ट होते हैं, आनन्द तो केवल प्रासंगिक फल है। ठीक ऐसे ही जैसे दान का मुख्य फल है पुण्य, और प्रासंगिक रूप में कीर्ति भी उससे उपलब्ध होती है। भरत ने भी नाट्य को 'सर्वधर्मापनोदन' तथा 'धर्मादिसाधन' कहा है।[1]

रस के सम्बन्ध में ब्रह्मानन्द की कल्पना का मूल स्रोत 'तैत्तिरीय उपनिषद्' है। यह उपनिषद् आनन्द को ही ब्रह्म मानता है और उसे रस की संज्ञा भी देता है : **'रसो वै सः'** तैत्तिरीयक ने बताया है कि आनन्द ही ब्रह्म है। यह आनन्दमय ब्रह्म ही समस्त भूतमात्र का जनक है। आनन्द ही प्राणस्वरूप है, जिसे धारण करके सब जीवित रहते हैं तथा अन्त में आनन्द में ही प्रयत्नपूर्वक उनका लय भी होता है।[2] परब्रह्म परमात्मा के उस आनन्द को जानने वाला ज्ञानी पुरुष कभी किसी से भय नहीं खाता। अतएव रस को आनन्द-स्वरूप मानने वाले विद्वानों द्वारा उसे ब्रह्म के समकक्ष मान लिया जाना सम्भव ही था। किन्तु आगे चलकर ब्रह्म के विषय में दर्शनों में विस्तृत विचार प्रस्तुत किये गए, जिन्हें पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अतएव इस सम्बन्ध में दर्शनों की विस्तृत विचार-भूमि ही हमें मार्गदर्शन करा सकेगी।

नैयायिकों के अनुसार आत्मा, परमात्मा तथा जीवात्मा रूप से दो प्रकार

१. रस र० प्र०, १।१०–२५।
२. आनन्दो ब्रह्मे ति व्यजानात। आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशंतीति। तै० उ० ३।६।

का है। परमात्मा सर्वज्ञ, ईश्वर तथा एक है, जीवात्मा प्रति शरीर में भिन्न, विभु तथा नित्य है। यह परमात्मा सृष्टि का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं। जीवात्मा संसार के सम्पर्क के कारण सुख-दुःखादि का अनुभव करता है, किन्तु परमात्मा समस्त गुणों से रहित अथवा मुक्त है। यह गुण ही सुख-दुःखादि के कारण हैं। अतएव गुणों से मुक्त रहने वाला परम पुरुष परमात्मा समस्त सुख-दुःखादि के अनुभव से शून्य है। वह अवस्था नैयायिकों के अनुसार "सुखाभाव" की अवस्था है। इस प्रकार प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार ब्रह्म आनन्द आदि अवस्थाओं से पूर्णतया परे है। स्व० श्री एस० एन० दासगुप्त ने, 'भारतीय दर्शन का इतिहास' में 'न्यायमंजरी' के आधार पर स्पष्ट रूप से नैयायिकों के इस मत का प्रतिपादन किया है कि मुक्ति न तो विशुद्ध ज्ञानात्मक अवस्था है और न विशुद्ध आनन्दात्मक, अपितु पूर्णतया त्रिगुणातीत है। आत्मा आत्मस्थ और पूर्णशुद्ध रूप में रहता है। मुक्ति की इसी दुःखहीन अभावात्मक स्थिति को प्रायः आनन्दात्मक स्थिति कह दिया जाता है। किन्तु सत्य तो यह है कि मुक्ति की अवस्था कभी भी आनन्दावस्था नहीं हो सकती, क्योंकि यह आत्मा की सुख-दुःख, ज्ञान, इच्छा आदि से निरपेक्ष स्थिति-मात्र है।[1]

न्यायदर्शन

नव्य नैयायिक इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनकी आपत्ति है कि जिस प्रकार ब्रह्म में ज्ञान का निवास है, उसी प्रकार आनन्द का भी। इसके प्रमाण में वे **'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** वाक्य उपस्थित करते हैं। इसके खण्डन में प्राचीन नैयायिकों ने कहा है कि आनन्द का यहाँ अभिप्राय केवल दुःखाभाव ही है। आनन्द की वास्तविक अवस्थिति नहीं।

सांख्य मत के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति दो ही सृष्टि के आदि कारण हैं। पुरुष चैतन्य स्वरूप है, साथ ही त्रिगुणातीत, विवेकी तथा अविषयी भी। उसी को विशेष, चेतन तथा अप्रसवधर्मी भी कहा गया है।[2] त्रिगुणातीत होने के कारण वह सुख-दुःख से रहित है, क्योंकि यह सुख-दुःखादि के वास्तविक जनक

सांख्य मत

---

१. हि० इ० फि०, प्र० भाग, पृ० ३६५–३६६।

२. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्र व्यक्तं, विपरीतमव्यक्तम्॥ १०॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनम्प्रसवधर्मि।
व्यक्तं, तथा प्रधानम्, तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ ११॥ 'सांख्यकारिका'

हैं।[1] आनन्द का सम्बन्ध सत्व गुण से है। सत्व गुण प्रकृति से सम्बन्ध रखता है, ब्रह्म से नहीं। ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप प्रकृति से मुक्त स्वरूप है। बुद्धि पूर्णतया सात्विक है और प्रत्येक बुद्धि के साथ वासना का सम्बन्ध रहता है, जो उसकी सात्विकता को राजसिकता अथवा तामसिकता में बदल सकता है। सात्विक होने के कारण बुद्धि को सुखदायी होना चाहिए, किन्तु वासना और शारीर सम्बन्ध का संयोग उसे दुःखात्मक भी बना सकता है। अतः एक ही वस्तु अनेक व्यक्तियों को अनेक प्रकार से प्रभावित कर सकती है, अर्थात् एक के लिए सुखात्मक वस्तु दूसरे के लिए दुःखात्मक हो सकती है। पुरुष द्रष्टा-मात्र है, किन्तु बुद्धि का संयोग इन सब कठिनाइयों को उत्पन्न करता रहा है। जब तक पुरुष प्रकृति और बुद्धि से बँधा रहता है, तब तक इस द्वन्द्व का अनुभव करता रहता है। बुद्धि से मुक्त हो जाने पर ही पुरुष को अपनी वास्तविक स्थिति प्राप्त होती है, अर्थात् उस समय न उसे सुख रहता है, न दुःख। ब्रह्म की मुक्तावस्था में प्रकृति का कार्य भी समाप्त हो जाता है। प्रकृति पुरुष के सम्मुख नग्न नृत्य दिखाकर लज्जाभिभूत हो लुप्त हो जाती है। ब्रह्म की मुक्तावस्था में प्रकृति और ब्रह्म के साहचर्य से उद्भूत समस्त भावनाओं का विनाश हो जाता है। अतएव सांख्य के पुरुष से आनन्द का कोई सम्बन्ध नहीं है।

योग-सिद्धान्त : मधुमती भूमिका

आचार्य केशवप्रसादजी ने 'मेघदूत' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में प्रथम बार मधुमती-भूमिका की चर्चा की थी। तदनन्तर बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने उसे अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में स्थान दिया। केशवप्रसादजी की उपपत्तियाँ इस प्रकार हैं :

"मधुमती- भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्क की सत्ता नहीं रह जाती। शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों की पृथक् प्रतीति वितर्क है। दूसरे शब्दों में वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है। जैसे यह मेरा पुत्र है, इस वाक्य से पुत्र, पुत्र के साथ पिता का जन्य-जनक सम्बन्ध और जनक होने के नाते सम्बन्धी पिता इन तीनों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इस पार्थक्यानुभव को अपर-प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस अवस्था में सम्बन्ध और सम्बन्धी विलीन हो जाते हैं, केवल वस्तु-मात्र का आभास मिलता रहता है, उसे पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं। जैसे, पुत्र का केवल पुत्र के रूप में प्रतीत होना। इस प्रकार प्रतीत

१. प्रीत्यप्रीति विषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्ति नियमार्थाः।
अन्योन्याभिभवाश्रय जनन मिथुन वृत्तयश्च गुणाः ॥ सां० का०, १२।

होता हुआ पुत्र प्रत्येक सहृदय के वात्सल्य का आलम्बन हो सकता है। चित्त की यह समापत्ति सात्विक-वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है। रजोगुण की प्रबलता भेद-बुद्धि और तत्फल दुःख का तथा तमोगुण की प्रबलता अबुद्धि और तत्फल मूढ़ता का कारण है। जिसके दुःख और मोह दोनों दबे रहते हैं, सहायकों से शह पाकर उभरने नहीं पाते, उसे भेद में भी अभेद और दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है। चित्त की यह अवस्था साधना के द्वारा भी लाई जा सकती है और न्यूनातिरिक्त मात्रा से सात्विकशील सज्जनों में स्वभावतः भी विद्यमान रहती है। इसकी सत्ता से ही उदारचित्त सज्जन वसुधा को अपना कुटुम्ब समझते हैं और इसके अभाव से क्षुद्र चित्त व्यक्ति अपने-पराये का बहुत भेद किया करते हैं और इसीलिए दुःख पाते हैं, क्योंकि कहा गया है : "भूमा वै सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति।"[१]

"जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर-प्रत्यक्ष होता रहता है, तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का पर-प्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलम्बन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं।"[२]

"योगी अपनी साधना से इस अवस्था को प्राप्त करता है। जब उसका चित्त इस अवस्था या इस मधुमती-भूमिका का स्पर्श करता है, तब समस्त वस्तुजात उसे दिव्य प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार से उसके लिए स्वर्ग का द्वार खुल जाता है।"[३]

"योगी की पहुँच साधना के बल पर जिस मधुमती-भूमिका तक होती है, उस भूमिका तक प्रातिभज्ञान-सम्पन्न सत्कवि की पहुँच स्वभावतः हुआ करती है। साधक और कवि में अन्तर केवल यही है कि साधक यथेष्ट काल तक मधुमती-भूमिका में ठहर सकता है, पर कवि अनिष्ट रजस् या तमस् के उभरते ही उससे नीचे उतर पड़ता है। जिस समय कवि का चित्त इस भूमिका में रहता है, उस समय उसके मुँह से वह मधुमयी वाणी निकलती है, जो अपनी शब्द-शक्ति

१. सा० लोचन, पृ० २८०।

२. वही, २८०–८१।

३. वही।

से उसी निर्वितर्क समापत्ति का रूप खड़ा कर देती है । यही रसास्वाद की अवस्था है, यही रस की ब्रह्मास्वादसहोदरता है ।[1]

इस विवेचन के सम्बन्ध में विचार करने के लिए विशेष रूप से निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं : (१) मधुमती-भूमिका में वितर्क की सत्ता नहीं रहती ।(२) पर-प्रत्यक्ष या निर्वितर्क समापत्ति सात्विक वृत्ति की प्रधानता का परिणाम है और इसमें दुःख तथा मोह दोनों दबे रहते हैं तथा ऐसे व्यक्ति को भेद में भी अभेद तथा दुःख में भी सुख की अनुभूति हुआ करती है । (३) सात्विकशील व्यक्तियों में यह स्वभावतः विद्यमान रहती है ।(४) अभिनवगुप्त का साधारणीकरण और पर-प्रत्यक्ष एक ही है ।(५) मधुमती में समस्त वस्तुजात दिव्य प्रतीत होने लगते हैं । स्वर्ग का द्वार खुल जाता है ।(६) साधक यथेष्ट काल तक मधुमती में ठहर सकता है । (७) यही रसास्वाद अथवा ब्रह्मानन्दसहोदरता की स्थिति है ।

कथित निष्कर्षों की उपादेयता का विचार करने के लिए योग-शास्त्र का सहारा लेना होगा । 'पातंजल योगसूत्र' में चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया गया है । यथा, प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तभावनीय । जिनका अतीन्द्रिय ज्ञान प्रवर्तित हो रहा है, उन्हें प्रथमकल्पिक कहा जाता है । ऋतंभर प्रज्ञ द्वितीय हैं । भूतेन्द्रियजयी तृतीय हैं, जो भूतेन्द्रिय साधे हुए हैं और विशोका से असंप्रज्ञात तक साधनीय विषयों में विहितसाधनयुक्त हैं । अतिक्रान्त-भावनीय का केवल चित्तविलय ही अवशिष्ट रहता है । इनमें मधुमती भूमि के साक्षात्कारी ब्रह्मवित् की सत्वशुद्धि देखकर स्थानिगण या देवगण उस स्थान के योग्य मनोरम भोग दिखाते हैं और इस प्रकार से उपनिमंत्रण करते हैं, "हे महात्मन्, यहाँ विराजिए, यहाँ रमिए, यह भोग कमनीय है, यह कन्या कमनीय है, यह रसायन जरा-मृत्यु को हटाता है, यह यान आकाशगामी है, कल्पद्रुम, पुण्यमन्दाकिनी और सिद्धमहर्षिगण ये हैं । आयुष्मन्, आपने अपने गुणों से इन सबको उपार्जित किया है, अतः आप प्राप्त कीजिए । ये अक्षय, अजर, अमर तथा देवों के प्रिय पदार्थ हैं ।"

आगे इस मधुभूमिक की सावधानी के लिए स्पष्ट बताया गया है कि इस प्रकार से बुलाए जाने पर योगी को निम्नलिखित रूप से संग-दोष का चिन्तन करना चाहिए । " घोर संसार-सागर में जलते और जन्म-मरण-अन्धकार में घूमते-घूमते मैंने क्लेश-तिमिर-नाशक योगप्रदीप को बड़ी कठिनाई से प्राप्त किया है, यह तृष्णा-संभव विषय-पवन उस योगप्रदीप का विरोध है । आलोक पाकर

१. सा० लोचन, पृ० २८२ ।

भी मैं इस विषय-मरीचिका से वंचित होकर फिर उस प्रदीप्त संसार-अग्नि का ईंधन कैसे बन सकता हूँ ? हे स्वप्नोपम, कृपण-जनप्रार्थनीय विषयगण, तुम मजे में रहो।" इस प्रकार निश्चित मति हो समाधि की भावना करनी चाहिए। संग-त्याग के पश्चात् स्मय-आत्म-प्रशंसा नहीं करना चाहिए कि मैं ऐसे देवों का भी प्रार्थनीय हुआ हूँ। स्मय से अपने को सुस्थित समझने के कारण कोई भी व्यक्ति यह चिन्तन नहीं करता कि 'मृत्यु ने मेरे केश पकड़ रखे हैं। अतः नियम-पूर्वक यत्न से प्रतिकार के योग्य छिद्रान्वेषी प्रमाद उस पर अधिकार करके क्लेश समूह को प्रबल करेगा। उनसे फिर अनिष्ट सम्भव होगा। उक्त प्रकार से संग तथा स्मय न करने से योगी का भावित विषय दृढ़ होगा और भावनीय विषय अभिमुखीन होगा।[1]

सर्वोत्कृष्ट योगी वही है, जो अतिक्रान्त भावनीय कहा गया है। उस स्थिति तक क्रमशः तीन कोटियों को पार करके जाना होता है। इन कोटियों में मधु-भूमिक केवल दूसरी कोटि में आता है, जिसका तात्पर्य यह है कि अभी पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसे कम-से-कम एक भूमि और लाँघनी होगी, तब कहीं उसे सफल योगियों की श्रेणियों में स्थान मिल सकेगा। दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में ध्यान देने की है, वह यह कि मधुभूमिक के सम्मुख देवता अनेक दिव्य पदार्थ प्रस्तुत करते हैं। यदि योगी इनसे प्रभावित होकर इनकी ओर आकृष्ट हो जाता है, तो उसे उल्टे पैरों लौट जाना होगा। उसके लिए सिद्धि का सुमार्ग अवरुद्ध हो जाता है, उसे मोह घेर लेता है। अतः स्पष्ट शब्दों में उसे इस आकर्षण-भूमि से बचने की शिक्षा दी गई है। इन दोनों को यत्न से प्रतिकार-योग्य बताया गया है। तात्पर्य यह कि यदि यह स्थिति प्रतिकार-योग्या है तो वह योगी के लिए बहुत देर तक क्या तनिक भी काम की नहीं, किन्तु उस स्थिति से उसे निकलना अवश्य पड़ता है, क्योंकि यही इसकी वास्तविक परीक्षा-भूमि है। यदि योगी की साधना कच्ची है, तो उसका यहीं पतन हो जायगा और यदि साधना दृढ़ है, तो उसके मार्ग से बाधाएँ सदा के लिए दूर हो जायँगी। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि :—

१. योगियों की चार कोटियों में मधुभूमिक दूसरी कोटि में बताया गया है, अतः उसे पूर्ण सिद्ध नहीं कहा जा सकता।

२. यह भूमि साधक की परीक्षा-भूमि है, सिद्धिभूमि नहीं।

३. परीक्षा-भूमि में अधिक देर तक स्थित रहने की चेष्टा का प्रश्न ही नहीं उठता। इसके विपरीत उसके प्रतिकार का उपदेश दिया गया है।

[1] सू० ५१ तृ० पाद 'पातंजलि योग दर्शन'।

४. यहि यह भूमि अन्तिम भूमि नहीं है, तो ब्रह्मानन्द-सम्बन्धी कोई भी प्रश्न यहाँ नहीं उठाया जा सकता।

इस प्रकार विचार करने से मिश्रजी द्वारा प्रस्तुत निष्कर्षों से छठे तथा सातवें का तो निरास हो जाता है। अब पाँचवें के सम्बन्ध में विचार कीजिए। मिश्रजी की स्थापना है कि 'इस मधुमती में समस्त वस्तु-जात दिव्य प्रतीत होने लगते हैं, मानो स्वर्ग का द्वार खुल जाता है।' थोड़ा ध्यानपूर्वक विचार करने से उनकी इस उपपत्ति की असंगति स्वयं विदित हो जायगी। मधुमती के अन्तर्गत देवताओं के द्वारा दिखाये जाने-वाले जिन प्रलोभनों का वर्णन किया गया है, वे देवताओं से सम्बन्ध रखने के कारण स्वतः दिव्य हैं। कुछ यह नहीं कि किसी माया-जाल के कारण वह थोड़ी देर के लिए ऐसे प्रतीत होने लगे हैं। 'दिव्य' का तात्पर्य यही है कि उनमें असाधारण आकर्षण-क्षमता है। यदि मधुमती में पहुँचकर भी अदिव्य पर दिव्यता का आरोप किया गया, तो फिर योग-ज्ञान कहाँ रहा? यदि योग-ज्ञान ही नहीं तो मधुभूमिक को जो 'ऋतंभरप्रज्ञ' कहा गया है, वह भी मिथ्या सिद्ध हो जायगा। उन्होंने 'जो दिव्य प्रतीत होने लगते हैं' जैसा निष्कर्ष प्रस्तुत किया है, उसीके कारण उन्हें यह भी कहना पड़ा कि इस अवस्था में दुःखद वस्तुएँ भी सुखद प्रतीत होने लगती हैं। शोकादि भाव भी सुखद हो जाते हैं। वस्तुतः इस प्रकार की धारणा संगत नहीं कही जा सकती, क्योंकि मिश्रजी ने इसी मधुभूमि के अन्तर्गत कथित इस बात पर विचार नहीं, किया कि 'नियमपूर्वक प्रतिकार के योग्य, छिद्रान्वेषी प्रमाद उस पर अधिकार करके क्लेश-समूह को प्रबल करेगा' उक्ति की आवश्यकता क्यों हुई। स्पष्ट है कि यहाँ परिणाम में क्लेश की प्राप्ति मानी गई है, न कि विभावादि के साधारणी-करण के कारण तन्मय हो जाने पर आनन्दमयी रसानुभूति की। दोनों स्थितियाँ परस्पर-विरोधी हैं। एक का परिणाम निश्चित रूप से क्लेश है और दूसरे का परिणाम आनन्द। अतः दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहीं एक और बात पर भी विचार कर लेना चाहिए। ऊपर बताया जा चुका है कि संग तथा स्मय त्याज्य हैं। साथ ही इसके त्याग अथवा प्रतिकार की विधि भी बताई गई है। विधि है इनके प्रतिपक्ष में सोचना, विरोध में चिन्तन करना। यह प्रतिपक्ष में सोचना 'योगसूत्र' के अनुसार वितर्क के विनाश के लिए उपयोगी है। 'वितर्क बाधने प्रतिपक्षभावनम्' (२।३३) सूत्र इस बात का साक्षी है। इस सूत्र को समझाते हुए स्पष्ट कहा गया है कि ब्रह्मविद् को जब हिंसादि वितर्क होते हैं कि मैं अपकारी का हनन करूँगा, असत्य वाक्य कहूँगा, इसकी चीज़ लूंगा, इसकी दारा के साथ व्यभिचार करूँगा, इन सब वस्तुओं

का स्वामी होऊँगा—तब ऐसे अतिदीप्त, उन्मार्गप्रवण, वितर्कज्वर द्वारा बाध्य होने पर उसके प्रतिपक्ष की भावना करे। जैसे, घोर संसार-अंगार से जलते हुए मैंने सर्वभूत में अभय दानकर, योग धर्म की शरण ली है वही मैं वितर्क त्यागकर भी फिर उसी वितर्क ग्रहण करने में कुत्तों-जैसा आचरण कर रहा हूँ। अर्थात् जिस प्रकार कुत्ता कै करके स्वयं ही उसे फिर खा लेता है, वैसा ही घृणित कार्य मैं भी कर रहा हूँ।

इस सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट है कि यदि संग तथा स्मय से बचने के लिए प्रतिपक्ष-भावना आवश्यक बताई गई है, तो निश्चय ही यह स्वीकार किया गया है कि इस स्थिति में भी वितर्क की सत्ता विद्यमान रहती है। अतः इस प्रकार विचार करने से मिश्रजी की प्रथम स्थापना भी निरर्थक हो जाती है। अब प्रश्न किया जा सकता है कि मधुभूमिक को जो ऋतंभरप्रज्ञ कहा गया, उसका क्या तात्पर्य है ? समाधान यह है कि मधुभूमि वास्तव में वह नहीं है, जो भूल से संग तथा स्मय को समझ लिया गया है। संग तथा स्मय तो उसके विरोधक-मात्र हैं, वहाँ ऋतंभरा कहाँ। ऋतंभरा इन्हीं दोनों के विरोध और निरोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली स्थिति है। अतएव यों कहना ठीक होगा कि संग तथा स्मय का निरोध करके ऋत को जानने वाले योगी का नाम ऋतं-भरप्रज्ञ है और वही मधुभूमिक भी कहलाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि संग के कारण जिस दिव्य वस्तु-बोध को मधुभूमि समझ लिया गया है, वह वितर्क-संवलित है और मधुभूमि की प्राप्ति में बाधक भी है।

अब मिश्रजी की दूसरी उपपत्ति पर विचार कीजिए, तो उसकी असंगति भी प्रकट हो जायगी। उनका कहना है कि पर-प्रत्यक्ष की अवस्था में दुःख भी सुख हो जाता है। पर-प्रत्यक्ष का सीधा सम्बन्ध मधुमती से है, क्योंकि मधुमती में वितर्क की अवस्था नहीं रहती और पर-प्रत्यक्ष भी निर्वितर्क समापत्ति ही है। ठीक, किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा का काम तो अन्वर्था होने के कारण केवल इतना है कि वह ऋत, अर्थात् सत्य का वास्तव का, ज्ञान करा देती है। दुःख का सुख बना देना पतंजलि या उनके भाष्यकारों ने ऋतम्भरा के साथ कहीं स्वीकार नहीं किया है। प्रथम पाद के ४८वें सूत्र में तो केवल इतना ही बताया गया है कि यह ऋतम्भरा प्रज्ञा अध्यात्म-प्रसाद के कारण समाहित चित्त व्यक्ति को उत्पन्न होती है। अध्यात्म-प्रसाद का अर्थ है रजस्तमोमल से शून्य होकर प्रकाश गुण का उत्कर्ष। इस प्रज्ञा में विपर्यास की महक भी नहीं होती। तात्पर्य यह कि दुःख को सुख बना देने की बात ऋतम्भरा के लिए नई ही है।

इसी प्रकार चौथी उपपत्ति, अर्थात् 'उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि

भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मता को छोड़कर अलौकिक सुखात्मता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्त पदाचार्य का साधारणीकरण भी यही है' भी कम विचित्र उपपत्ति नहीं है। अन्य साधारणीकरण आदि के अन्तर्गत हम इस बात को स्पष्ट शब्दों में बता आए हैं कि अभिनवगुप्त ने शाकुन्तल से मृग के भय का उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि साधारणीकरण की अवस्था में दुःख के सुख में परिवर्तन की स्थिति न आकर केवल देशकालावच्छिन्न भय-मात्र की प्रतीति होती है।

सार यह है कि ब्रह्मानन्दसहोदर का योग की मधुमती भूमिका से सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं प्रतीत होता। मधुमती का मोहक वर्णन इस बात का प्रमाण है कि उसे ऐश्वर्य-भूमि तो कहा जा सकता है आनन्द-भूमि नहीं। हाँ, मधुमती को व्यापक ब्रह्मानन्द की भूमि के रूप में स्वीकार करके उसका वर्णन किया जाय तो और बात है, किन्तु शास्त्रीय अर्थ में उसका प्रयोग उचित नहीं है।

श्री चन्द्रबली पाण्डेय ने रस की ब्रह्मानन्द-सहोदरता का योग की 'विशोका' स्थिति से सम्बन्ध मानते हुए कहा है कि "रस को अतीन्द्रिय कहा जाता है और

विशोका और रस

यह भूमि है भी अतीन्द्रिय। निदान मानना पड़ता है कि यदि रस की किसी भूमि को रसभूमि, बिना किसी खटके के, कहा जा सकता है, तो वही 'विशोका' भूमि है।"[1]

इस सम्बन्ध में हमारा इतना ही निवेदन है कि रस का सम्बन्ध हमें भूमि से भी स्थापित नहीं करना चाहिए और न उसे अतीन्द्रिय ही कहना उपयोगी सिद्ध होगा। रसास्वादन सुखस्वरूप होने से अति मानस प्रत्यक्ष है, अतीन्द्रिय नहीं। इसीलिए डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे 'अतीन्द्रिय ग्राह्य' माना है।[2] आचार्य शुक्ल ने तो रस को प्रत्यक्ष या असली अनुभूति से भिन्न मानने का भी विरोध किया है।[3] विशोका का लक्षण है कि "भूतेन्द्रिय राज्य को अतिक्रमण करके योगी लोग 'अस्मिता' में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं और सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जिसे विशोका सिद्धि कहते हैं।" किन्तु रसास्वादकर्ता विभावादि पर निर्भर रहने के कारण यद्यपि भूतेन्द्रिय राज्य का अतिक्रमण नहीं कर पाता है, तथापि वह ममत्व-परत्व से मुक्त होकर सत्वोद्रेक होने पर रसास्वाद करता हुआ आनन्दित अवश्य होता है। अतः

१. सा० सं०, पृ० ४१।

२. सा० का० मर्म०, पृ० २।

३. चि० भाग २, पृ० ५६।

दोनों स्थितियों में भेद है। ऐसी दशा में दोनों का सम्बन्ध स्थापित करना उपयोगी सिद्ध न होगा।

काव्यप्रकाशकार ने ब्रह्मानन्दसहोदर की विलक्षणता का ध्यान करके ही उसे न तो निर्विकल्पक समाधि से सम्बन्धित माना है और न सविकल्पक से; तथापि उभयाभाव होने पर भी उभयात्मक मानने में भी उन्हें कोई विप्रतिपत्ति नहीं दिखाई देती, अपितु रस की अलौकिकता ही इससे प्रतिपादित होती है। विभावादि के कारण वे उसे निर्विकल्पक नहीं मान सकते और स्वसंवेदन-सिद्धि के कारण उसे सविकल्प नहीं कह सकते। दोनों होकर भी वह दोनों में से कोई भी नहीं है। अतः अलौकिक है।[1] अभिनवगुप्त द्वारा समर्थित आचार्य मम्मट के इस मत के रहते भी रस को किसी-न-किसी भूमि पर ला पटकने का प्रयत्न करना उचित नहीं।

अद्वैत वेदान्त ब्रह्म को सच्चिदानन्द के रूप में मानता है। न्याय और सांख्य में अनुपस्थित आनन्द यहाँ स्वीकार कर लिया गया है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार

अद्वैत वेदान्त

ब्रह्मानुभूति के समय साध्य और साधन, ब्रह्म और युक्त योगी, दोनों एक हो जाते हैं। इसमें अभेद स्थापित हो जाता है। वासनाएँ पूर्णतया नष्ट हो जाती हैं, अतएव ब्रह्म के आस्वाद के समय जीव को इस प्रकार की अनुभूति नहीं रहती, वह अपने से पृथक् ब्रह्म के आनन्द का अनुभव कर रहा है। इससे पूर्व चैतन्य मायोपहित रहकर सांसारिक सुख दुःखादि में भटकता है। ब्रह्म से अपने पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करता है। अज्ञानावरण के भग्न हो जाने पर ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है। वह स्थिति आनन्दमय होकर भी वासनातीत स्थिति है, किन्तु रसास्वादकर्त्ता में रसास्वाद के समय भी वासनाएँ बनी रहती हैं। भले ही उनका शुद्धीकरण हो जाता है। उसके लिए विभावादि का महत्त्व भी बना रहता है। रस विभावादि जीवितावधि कहा जाता है। विभावादि की अनुपस्थिति में रस का कोई महत्त्व ही नहीं है, किन्तु ब्रह्म वासनाओं से मुक्त और सांसारिक कारणादि से दूर रहता है। अभिप्राय यह कि इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त द्वारा स्वीकृत ब्रह्मानन्द का सम्बन्ध भी रसास्वाद से नहीं बैठता।

सारांश यह कि कलाकृतिजन्य-आस्वाद एक प्रकार से कभी वास्तविक ब्रह्मानन्द की स्थिति तक नहीं पहुँच पाता। आनन्दोपलब्धि के लिए इच्छा पर

१. तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात् नापि सविकल्पं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः। का० प्रकाश, पृ० ९४–९५।

विजय पाना अनिवार्य है। इच्छा के संयमन के लिए ही कवि विभावादि का निर्माण करता है। वे कल्पना-जन्य होने के कारण इच्छा उत्पन्न नहीं करते। उन पर एक बार ध्यान जमने पर ममत्व-जनित बाधाएँ दूर हो जाती हैं। रसास्वादकर्त्ता वस्तुतः मोक्ष की पूर्वावस्था का अनुभव करता है। पूर्ण ज्ञान पर आधारित न होने के कारण इसे मोक्ष नहीं कहा जा सकता। तथापि इन दोनों में इतना साम्य तो अवश्य ही है कि दोनों ही निःस्वार्थ हैं।

आचार्य शुक्ल ने एक स्थान पर कहा है कि 'मनोमय कोश ही प्रकृत काव्य-भूमि है'। वेदान्त के अनुसार ज्ञानेन्द्रिय सहित मन ही मनोमय कोश है।[1] मन

शुक्लजी : मनोमय कोश

संकल्पविकल्पात्मकान्तःकरणवृत्ति है।[2] राग-द्वेष तथा सुख-दुख का केन्द्र होने के कारण यह प्रपंचात्मक है। अतः जिस भूमि को शुक्लजी मुक्तावस्था वाली मानते हैं और उसमें दुःख के भी रसात्मक हो जाने का बात कहते हैं,[3] वह भूमि मनोमय कोश की भूमि नहीं हो सकती। इस कोश के बाद भी विज्ञानमय कोश से परे आनन्दमय कोश माना गया है। यह आनन्दमय कोश भी परात्मा नहीं है, क्योंकि यह उपाधियुक्त है। प्रकृति का विकार तथा समस्त शुभकार्यों का हेतु होने के कारण विकारों के संघात से भी समाहित है। परन्तु सुख-दुःखादि विकार इस कोश में आकर एकात्म बन जाते हैं और उस आनन्द-रूप परात्मा की झलक दिखाने की परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं। सत् का यह आलोक लगभग वैसे ही आनन्द को उत्पन्न करता है, जैसा परानन्द कहा जाता है।[4] रस का सम्बन्ध इसी कोश से हो सकता है। इस कोश का भी परात्मा से भेद होने के कारण, इसके आनन्द को ब्रह्मानन्द न कहकर उसका सहोदर कहना उचित ही है।

ब्रह्मानन्द-सहोदरता की पुष्टि शैव-सिद्धान्त से विशेष रूप से होती है। शैव सिद्धान्त में ब्रह्म सीमातीत माना गया है। लौकिक शब्दावली से इसका वर्णन

शैव सिद्धान्त

सम्भव नहीं है। सीमा से बाधित चित्त से यह अग्राह्य है। यह केवल अनुभूतिगम्य है, प्रत्यक्ष-ज्ञेय नहीं।

---

१. मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितम् सन्मनोमयकोशो भवति। वे० सा०, पृ० ५।

२. मनो नाम संकल्पविकल्पान्तःकरणवृत्ति। वही, पृ० ५।

३. चिन्ता०, भाग १, पृ० ३४२।

४. नैवायमानन्दमयः परात्मा सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात्।
कार्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया विकारसंघात समाहितत्वात्॥
'विवेक चूड़ामणि' २११।

आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा आत्मा बन्धनरूप मलों से छूट जाता है। यह मल ही जीव को ब्रह्म से पृथक् करते हैं। यह मल क्रमशः आणव मल, कार्य मल तथा मायीय मल के नाम से अभिहित होते हैं। इन मलों से छूटने के चार उपाय हैं, जिन्हें क्रमशः क्रियोपाय, ज्ञानोपाय, इच्छोपाय तथा अनुपाय कहते हैं। इन उपायों के द्वारा मल से छूट जाने पर आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। उसे यह ज्ञान हो जाता है कि व्यष्टि-रूप में फैले हुए जीव तथा ब्रह्म में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। शैव मत के द्वारा प्रतिपादित मल और उनके नाश के उपायों के सिद्धान्त के आधार पर ही अभिनवगुप्त ने ममत्व-परत्वादि विघ्नों से रसास्वादकर्त्ता के हृदय की मुक्ति और तज्जनित आनन्द का सिद्धान्त अपनाया है।

अभिनवगुप्त रसप्रतीति को 'चमत्कार' भी कहते हैं। चमत्कार विषयी की स्पन्दाविष्ट परमभोग की स्थिति का नाम है। पारिभाषिक रूप में पूर्ण आत्म-चैतन्य ही चमत्कार है। यह चैतन्य वीतविघ्न होता है। यह 'विमर्श' के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसीको रसास्वादकर्त्ता रसना, चर्वणा, निर्वृत्ति, प्रमातृ-अविश्रान्ति आदि कहता है। आत्म-विश्रान्ति का नाम ही 'परमभोग' है, जिसमें विषय की सत्ता नहीं रहती और आत्मा पूर्ण-विश्राम की अवस्था में रहता है। विश्रान्ति ही दुःखों का मूल कारण है। अतएव आत्म-विश्रान्ति आनन्द की अवस्था है। इस दृष्टि से भी विचार करें तो रसास्वादकर्त्ता वीतविघ्न होने पर ममत्व-परत्व से हीन रहने के कारण चित्त के चांचल्य से अभिभूत नहीं रहता और प्रस्तुत भाव का सहज रूप से अनुभव करता है। उस भाव के साथ किसी दूसरे व्यक्ति का सम्बन्ध-बोध न होने के कारण यह अवस्था आत्म-विश्रान्ति की अवस्था के तुल्य ही है। आत्म-विश्रान्ति में ही आनन्द है। अतएव, इस अवस्था में भी रसास्वादकर्त्ता को आनन्द ही होता है।

अभिनवगुप्त ने अनुभव के जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत इन पाँच स्तरों का वर्णन किया है। इनमें से अन्तिम दो का ही ब्रह्म से सम्बन्ध माना जाता है। प्रमाताभेद से इन स्तरों के भेद का पता लगता है। अभिनव ने रसास्वाद का सम्बन्ध तुरीयातीत स्थिति से माना है। इस तुरीयातीत स्थिति में भी 'व्यतिरेक तुरीयातीत' स्थिति ही रसास्वाद को समझाने में उपयोगी है। इस स्थिति में विषय उपचेतन में स्थित रहता है और आत्मा आनन्दरूप में प्रकाशित होने लगता है। तुरीयातीत की दूसरी स्थिति 'अव्यतिरेक तुरीयातीत' कहलाती है, जिसमें विषय की सत्ता उपचेतन में भी नहीं रहती, अपितु उसके लिए विषय पूर्णतया विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार, शैव सिद्धान्त ही ब्रह्मा-

नन्द-सहोदरता के प्रतिपादन में समर्थ दिखाई देता है, अन्य दर्शन उसकी तुलना में पिछड़ जाते हैं।

इतना होने पर भी रस को 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहकर उसकी ब्रह्मानन्द से भिन्नता प्रदर्शित की गई है, क्योंकि सहोदर का अभिप्राय सदृश तो हो सकता है, वही होना नहीं हो सकता। 'संगीत रत्नाकर' के लेखक शार्ङ्गदेव ने इसलिए "ब्रह्म संविद विसदृशो···संविदै" कहा है।[1] इस पंक्ति की टीका करते हुए मल्लिनाथ ने भी सादृश्य शब्द का ही प्रयोग किया है।[2] ऐसा कहने के कई कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि ब्रह्म वस्तुतः अव्यक्त एवं कूटस्थ है तथा वहाँ तक वाणी आदि का प्रसार नहीं हो पाता। रस भी केवल अनुभूतिगम्य तो अवश्य है, परन्तु बिना विभावादि को देखे अथवा उनके सम्बन्ध में बिना सुने रस की सिद्धि नहीं होती। काव्य से स्थूलता, अर्थात् शब्दादि का सहयोग नहीं जा सकता। उनका पूर्ण अभाव नहीं हो सकता। अद्वैत की सिद्धि न होने के कारण ही इसे ब्रह्मानन्द नहीं माना जा सकता। वह अभेद में भी भेद की स्थिति-सा है। इसलिए उसे पृथक् तो रखना ही पड़ेगा। अतएव 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' या सदृश कहना ही युक्ति-युक्त होगा।

विलक्षणता का प्रतिपादन

काव्यानन्द की इसी अलौकिकता का प्रतिपादन करते हुए उसे अनुमिति, योग, सादृश्य, शाब्दबोध, अर्थापत्ति, स्मृति आदि से भिन्न बताया गया है। इसीलिए इसे ब्रह्मानन्दसहोदर की उपाधि दी गई है और इसीलिए पुण्यवान को ही इसका अधिकारी माना गया है, **'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्'**। इसी आधार पर इसे अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, अखण्ड और दुर्ज्ञेय कहा जाता है। शंकुक के मत का वर्णन करते हुए सिद्ध किया जा चुका है कि यह अनुमिति भी नहीं है। यहाँ कारण-कार्य की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती। अनुमान के द्वारा रस की सिद्धि सम्भव नहीं है। सादृश्य अथवा असादृश्य का प्रश्न न होने से इसे उपमिति भी नहीं कहा गया है और तात्पर्यशक्ति के अन्तर्गत न मानने के कारण इसे शाब्दबोध भी नहीं कहा जा सकता। यह अर्थापत्तिजन्य ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि अर्थापत्ति अनुमिति से विशेष पृथक् नहीं। इसे अनुपलब्ध कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा जिस वस्तु की स्थिति ही

१. सं० र० ७।२६६।

२. 'नानारत्यादि सङ्क्रमाद् बहुधाभूतरत्यादिस्थायिभावसंबन्धाद्धेतोः ब्रह्म संविदो वैसादृश्यमुक्तवा अंशान्तरैः सच्चिदानन्दरूपैः तत्सादृश्यमप्याह ॥" वही, आनन्दाश्रम सं० पृ ८१४।

नहीं है, उसकी स्थिति मानने वालों को यह ज्ञान होता है कि वह वस्तु नहीं है।

रस को कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्य का कोई उपादान अथवा निमित्त कारण होना चाहिए। विभावादि को रस का कारण कहा गया है। किन्तु वे रस-रूप में परिणत नहीं होते, अतएव उन्हें उपादान कारण नहीं कह सकते। जिस प्रकार उपादान का कारण मिट्टी से घटरूप कार्य की उत्पत्ति होती है, वैसी विभावादि के द्वारा रस की सिद्धि नहीं होती। इसी प्रकार विभावादि को निमित्त कारण भी नहीं कह सकते, क्योंकि कार्य-सम्पन्न होने के पश्चात् कुलाल और दण्ड आदि के सदृश निमित्त कारण नष्ट हो जाने पर भी घटरूप कार्य वैसा ही बना रहता है, किन्तु रस केवल विभावकाल में रहता है, उसके अनन्तर अथवा पूर्व नहीं। यह रस पहले से सिद्ध वस्तु भी नहीं मानी गई है। अतएव इसे ज्ञाप्य भी नहीं कह सकते। जिस प्रकार दीपक पूर्व में रखे हुए घट को ज्ञापित कराता है, उसी प्रकार विभावादि के द्वारा रस ज्ञापित नहीं होते, क्योंकि पूर्व-सिद्धि मान्य नहीं है। साथ ही, रसास्वाद में विभावादि सभी का पानक-रस के रूप में योग रहता है। इसलिए भी विभावादि को उसका ज्ञापक नहीं कह सकते। कारक और ज्ञापक के बिना भी रस की सिद्धि होती है, यही इसकी अलौकिकता का प्रमाण है। रस की उत्पत्ति और विनाश मानने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसकी उत्पत्ति और विनाश होता ही है, अपितु यह औपचारिक व्यवहार-मात्र है। यही कारण है कि विभावादि को कारणादि न कहकर दूसरा नाम दिया गया है। इसी प्रकार लोक-प्रचलित रति आदि का निस्संकोच आस्वाद भी इस बात का प्रमाण है कि रस लोक-सामान्य रति आदि के अनुभव से विलक्षण है, क्योंकि संसार में किसी की 'रति' आदि को देखकर जैसी वितृष्णा अथवा कोई अन्य भाव उत्पन्न होता है, वैसा आस्वाद के समय नहीं होता। हम उसका भी आनन्द ही लेते हैं।

व्यावहारिक आनन्द और रस

व्यावहारिक जीवन में आनन्द मुख्यतः दो प्रकार का है। एक बाह्येन्द्रियगत अनुकूल-संवेदना-जन्य आनन्द और दूसरा व्यावहारिक आकांक्षा-पूर्ति-जन्य आनन्द। प्रथम प्रकार का आनन्द ललित कला-से उत्पन्न होने वाला आनन्द कहा जायगा और दूसरे प्रकार का आनन्द पुत्र-प्राप्ति, उन्नति-प्राप्ति आदि के द्वारा उत्पन्न होगा। बाह्येन्द्रियगत अनुकूलसंवेदना-जन्य आनन्द तथा काव्यानन्द में स्पष्टतः अन्तर है। काव्यानन्द का बाह्येन्द्रियों से विशेष सम्बन्ध नहीं। वह वस्तुतः निरतिशय आनन्द है, जबकि ललित-कलादि द्वारा जनित आनन्द बाह्येन्द्रिय सन्निकर्ष की अपेक्षा रखता है। श्रव्य-काव्य

में तो यह बात पूर्णतया घटित होता है, क्योंकि पंक्तियों का मौन-मनन भी आनन्द उत्पन्न कर सकता है और स्मृत पंक्तियों के पुनः स्मरण के द्वारा भी वैसा ही आनन्द उत्पन्न होता है, जैसा कि सामने लिखी हुई पंक्तियों को देखकर होता है। अक्षरबद्ध पंक्तियाँ काव्यानन्द के लिए बाधक अथवा साधक नहीं, किन्तु ललित-कला का आनन्द मनन के द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकता। दृश्यकाव्य में अवश्य ही बाह्येन्द्रिय सन्निवेष की आवश्यकता होती है, किन्तु उसका जैसा मनोमुग्धकर प्रभाव होता है, वैसा प्रभाव ललित-कला के द्वारा उत्पन्न नहीं होता। ललित-कला को देखकर हम उसकी सुन्दरता पर रीझते हैं। हमें विषय और विषयी का बोध किसी-न-किसी रूप में बना रहता है। दृश्य काव्य में भाव हमारे अन्तर तक उतर जाते हैं और कुछ क्षणों के लिए हम अपने को भुला बैठते हैं।

आकांक्षा-पूर्ति-जन्य आनन्द किसी-न-किसी प्रकार की हित-भावना से युक्त रहता है। उसमें 'स्व' की भावना विशेष रूप से विद्यमान रहती है। अपनी उन्नति की प्राप्ति से जैसा आनन्द होता है, वैसा दूसरे की उन्नति से नहीं। इसके विपरीत काव्यानन्द में ममत्व-परत्व का लोप ही मुख्य माना गया है। अतएव यहाँ अपने हिताहित की गन्ध भी नहीं आती। काव्यानन्द में दूरान्वित हित-सम्बन्ध भी नहीं रहता। रसज्ञ का काव्य के पात्रों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। वहाँ वास्तविकता नहीं, कल्पना काम करती है। कुछ लोग चाहें तो इसे स्वप्न-सृष्टि के आनन्द के समान कह सकते हैं। किन्तु स्वप्न-सृष्टि में भी वस्तु मायिक-मात्र होती है और स्वप्नावस्था के कारण ही व्यक्ति को उसकी मायिकता का बोध नहीं हो पाता। अतः यह आनन्द केवल स्वप्न की अवस्था तक रहता है। वास्तविकता का ज्ञान होने पर नहीं—जब कि काव्यानन्द पात्रों की काल्पनिकता को जानते हुए ही होता है। काव्य में ऐतिहासिक पात्रों से भी उतना ही आनन्द आता है, जितना काल्पनिक पात्रों से।

सांसारिक अनुभव विषय तथा विषयी के सम्बन्ध के अनुभव पर निर्भर रहता है। इस व्यावहारिक आनन्द में विषयी किसी भी विषय को स्वेच्छापूर्वक ग्रहण कर सकता है, न इसके लिए किसी क्रम-नियम की बाधा है, न समय-पालन की आवश्यकता। सांसारिक अनुभव भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में होने पर भी एक समान ही हो सकता है, किन्तु रसास्वाद विषयी का आत्मानुभव है, जो कलात्मक माध्यम के सहारे उत्पन्न होता है। काव्यानन्द की यही अलौकिकता है कि शकुन्तलाविषयक दुष्यन्त की लौकिक रति भी वहाँ दर्शनीय, अनुभवनीय हो जाती है। रंगमंच पर उसका प्रदर्शन-प्रेक्षक को लज्जा का अनु-

भव नहीं कराता। लौकिक पदार्थ के समान वह भूत, भविष्य और वर्तमान से बँधा हुआ नहीं है। वह परोक्ष ज्ञान नहीं है, क्योंकि परोक्ष का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। साथ ही शब्दार्थ के द्वारा व्यंजित होने के कारण उसे अपरोक्ष भी नहीं कहा जा सकता। लौकिक आनन्द से उसकी यह भी भिन्नता है कि वह विभावादि के रहने तक ही रहता है, जब कि लौकिक आनन्द कारणादि के प्रत्यक्ष न रहने पर भी बना रह सकता है। बड़ी बात तो यह है कि यहाँ दुःख का अनुभव भी आनन्ददायी होता है, जब कि लौकिक जगत् में ऐसा सम्भव नहीं। दैनिक व्यवहार में प्रेमी-प्रेमिका के हृदय-स्थित रसभाव का अनुभव उन दोनों के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता, किन्तु काव्य-रस राम तथा सीता में उत्पन्न होने पर भी सामाजिक तथा प्रेक्षक के द्वारा आस्वादनीय बन जाता है। उसकी कोई सीमा नहीं है। एक साथ अनेक प्रेक्षक वैसा ही अनुभव उठा सकते हैं, फिर भी उनमें किसी प्रकार की स्पर्धा अथवा ईर्ष्या का भाव जाग्रत नहीं होता।

रसास्वाद और करुण दृश्य

करुण की प्रतिष्ठा

विद्वान् आलोचकों ने रसों की चर्चा करते हुए करुणको भी रस-संज्ञा दी है। कुछ ने करुण को न केवल रस ही माना है, बल्कि उसे सर्वप्रधान रस बताया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने शृंगार-रस में विप्रलम्भ को तथा उससे भी बढ़कर करुण को ही प्रभावशाली बताया है, क्योंकि इनमें क्रमशः मन अधिकाधिक माधुर्य तथा आर्द्रता को प्राप्त करता चलता है। माधुर्यानुभूति तथा आर्द्रता-अनुभव ही रस की कुंजी हैं।[1]

भवभूति ने करुण को ही एक-मात्र रस माना है।[2] आदि कवि वाल्मीकि की वाणी क्रौंचवध के कारुणिक दृश्य को देखकर ही मुखर हुई थी। इसी आधार पर आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य के मूल में करुण रस को ही स्वी-

१. शृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः। ध्व० द्वि, उ०, ८।

२. एको रसः करुण एव निमित्त भेदा-
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुद्बुदतरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा, सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥
उ० रा०, तृ० अंक, श्लोक ४७।

कार किया है। महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में भी सबसे हृदयाकर्षक चित्र कहीं स्वीकार किया गया है, तो वह चतुर्थ अंक में शकुन्तला की विदाई का ही है। विद्वानों ने माना है कि काव्य में नाटक ही रमणीय होता है और उस दृश्य-काव्य साहित्य में भी विशेषतः कालिदास का 'शाकुन्तलम्' तथा उसमें भी चतुर्थ अंक ही विशेष महत्त्वपूर्ण है। अंग्रेज़ी से परिचित जन इससे अनभिज्ञ नहीं कि शेक्सपियर की ख्याति इन्हीं करुण रसात्मक नाटकों पर अवलम्बित है। अंग्रेज़ी कवि शैले ने भी करुणतम अभिव्यक्ति को ही मधुरतम गीत की संज्ञा दी है।[1] आधुनिक काल में हिन्दी के कवियों तथा विचारकों ने इसी करुण को प्रधान माना है। पंतजी ने :

> **"वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।**
> **उमड़ कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।"**

में इसी सत्य को वाणी दी है। मैथिलीशरणगुप्तजी ने तो भवभूति की कीर्ति में कुछ हिस्सा बँटा लेने की इच्छा से ही 'साकेत' के नवम सर्ग को दीर्घकाय बना दिया। ध्वनि द्वारा उनका कहना है कि करुणा भवभूति-मात्र की ही नहीं है, वह उर्मिला की भी विभूति है और साथ ही स्वयं उनकी (गुप्तजी की) भी :

> **करुणे क्यों रोती है, उत्तर में और अधिक तू रोई।**
> **मेरी विभूति है जो, उसको भवभूति क्यों कहे कोई॥ साकेत, सर्ग ९।**

इतना ही नहीं हिन्दी के एक आचार्य ने करुण के सम्बन्ध में पूरी प्रशस्ति ही लिख दी है :

"यह रस भी बड़ा उत्तम रस है। यह निर्मल नवनीत-सा सुस्निग्ध, सुष्ठु, सरल एवं दिव्य पदार्थ है। इसके द्वारा मानव-हृदय के उत्तमोत्तम सुकोमल भावों का उदय होता है। यह रस मानव-हृदय में शुद्धता, सहानुभूति तथा सहृदयता की त्रिवेणी तरंगित करा देता है। जिसके हृदयतल को यह त्रिवेणी परिप्लावित करती है, उसका प्रेम-पुलकित गात्र मधुर, शीतल और अमल अलौकिक अश्रु की पवित्र धारा से अभिव्यक्त होता है। करुण कल्लोलिनी में देखते-देखते बाढ़ आ जाती है और चारों ओर करुण सागर उमड़ जाता है।"[2]

करुण की आनन्दात्मकता के सम्बन्ध में इतने प्रमाण होने पर भी विद्वानों का एक ऐसा दल है, जो इसे आनन्द-स्वरूप स्वीकार नहीं करता। इस दल के आचार्य रसों को सुखात्मक तथा दुःखात्मक नामक दो श्रेणियों में विभाजित

१. Our sweetest songs are those that tell our saddest thoughts.

२. 'नवरस', पृ० ४४४।

रसात्मकता के संबंध में दो भिन्न विचार

करते हैं। इन आचार्यों में उल्लेखनीय नाम है, 'नाट्य-दर्पण' के लेखक श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र का।

रामचन्द्र से पूर्व भी किसी लेखक का इस प्रकार का विचार रहा है, इसका पता 'नाट्य-शास्त्र' की टीका 'अभिनव भारती' से लगता है।[1] इनके अतिरिक्त आधुनिक विद्वान् डॉ० राघवन ने मद्रास राज्य पुस्तकालय में सुरक्षित किसी हरिपालदेव राजा की 'संगीतसुधाकर' तथा रुद्रभट्ट की 'रसकलिका' की चर्चा करते हुए बताया है कि ये दोनों भी रस को दो प्रकार का स्वीकार करते हैं।[2] हरिपालदेव ने तेरह रसों की गणना के अन्तर्गत संभोग तथा विप्रलम्भ को भी शृंगार से भिन्न माना है। विप्रलम्भ की चर्चा करते हुए उन्होंने उसे मलिन तथा दुःखकारक बताया है।[3] उनके विचार से इसका स्थायी भाव भी रति नहीं, अरति है। 'रसकलिका' के लेखक ने भी हरिपाल के समान ही विप्रलम्भ को दुःखात्मक माना है। उन्होंने रसों की सुखात्मकता तथा दुःखात्मकता की स्पष्ट शब्दों में स्थापना की है।[4] डॉ० राघवन ने अपने शोध-प्रबन्ध के पृ० ४९६ पर बताया है कि मद्रास राज्य के संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों के पुस्तकालय में रुद्रभट्ट के नाम से 'रसकलिका' उपलब्ध है और वह वासुदेव द्वारा 'कर्पूरमंजरी' के सम्बन्ध में उल्लिखित इसी नाम के ग्रंथ से मिलती है। इसमें भी रसों को सुख तथा दुःखमय माना गया है। करुण आदि को दुःखमय मानते हुए भी यह अभिनय में तन्मय हो जाने के कारण उनके प्रति हमारी रुचि का उद्बोध मानती है। अतएव स्वभाव से तो नहीं, किन्तु हमारे ध्यानयोग से अवश्य ही करुण रस भिन्न प्रकृतिक जान पड़ने लगता है।[5]

---

१. येन त्वन्यथापि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सांख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः। अ० भा०, भा० २। पृ० २७८।

२. नम्बर आफ रसेज़, पृ० १४४–४६।

३. मलिनो दुःखकारी च विप्रलम्भोऽप्रियावहः। न० आ० र०, पृ० १४५।

४. (अ) आनन्दात्मकत्वं रतेः कैश्चिदुक्तम्, तच्चिन्त्यम्। विप्रयोगादेः आनन्दात्मकत्वस्य अयोगात्। र० क०, पृ० ७। न० आ० र० में उद्धृत, पृ० १४८।

(ब) करुणामयानामप्युपादेयत्वं सामाजिकानां, रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभय लक्षणत्वेन उपपद्यते। अतएव तदुभयजनकत्वम्।

वही, पृ० ५१-५२। न० आ० र० पृ० १५५।

५. "करुणामयानामप्युपादेयत्वं सामाजिकानां, रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते। अतएव तदुभयजनकत्वम्। एवं विषस्याप्युपा-

आठवीं शताब्दी में आचार्य वामन ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार सूत्रवृत्ति' में ओजस् तथा प्रसाद गुणों के समकालीन प्रयोग पर विचार करते हुए करुण-प्रसंग में आह्लाद तथा दुःख दोनों की समकालिक अनुभूति को स्वीकार किया है।[1] विप्रलम्भ तथा करुण रस के सम्बन्ध में उठी हुई इस कठिनाई को भोज ने भी अपने 'शृंगारप्रकाश' में स्थान दिया और रस को दोनों प्रकार का माना है।[2]

आचार्य वामन और भोज

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक उल्लेखनीय विचार अद्वैतवादी दार्शनिक मधुसूदन सरस्वती का है, जिन्होंने एक स्थल पर रस को दोनों प्रकार का स्वीकार किया है तथा अन्यत्र उसे आनन्दात्मक-मात्र माना है। उनका मत है कि सत्व उद्रेक-शून्य होता है और क्रोध में रजोगुण तथा शोक में तमोगुण की प्रबलता रहती है। ऐसा होने पर भी यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि सत्व की इतनी मात्रा उनमें फिर भी विद्यमान रहती ही है कि उसके सहारे वे स्थायीभाव की कोटि तक पहुँच जाते हैं। हाँ, रज तथा तम के संस्पर्श से उस सत्व को विशुद्ध तथा प्रबल नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि क्रोध-मूलक रौद्र तथा शोक-मूलक करुण रस में विशुद्ध आनन्द की कल्पना उन्हें मान्य नहीं। बल्कि उनका विचार तो यह भी है कि रज तथा तम की मिश्रित स्थिति के अनुसार आनन्द में भी तारतम्य रहता है और सब रसों में एक-सा आनन्दानुभव नहीं होता।[3]

मधुसूदन सरस्वती

देयत्वम् अन्वयव्यतिरेकगम्यत्वमिति। रसा नायकाश्रिता एव सामाजिकैर्नटचेष्टया काव्यश्रवणेन च साक्षाद् भाव्यन्ते। समनुभाव्यमानास्तं तम् अनुभवं जनयन्ति। परगतरससम्यग्भावनया अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयानन्दजनकत्वमिति तत्र प्रवृत्तिरपि घटत इति सर्वं रमणीयमिति।"

मद्रास पाण्डुलिपि, पृ० ५१–५२।

१. करुणा प्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजः प्रसादयोः॥ हि० का० सू० वृ०, पृ० १२२।

२. रसा हि सुखदुःखारूपाः। शृं० प्र०, द्वि० भा०, पृ० ३६६। न० आ० र०, पृ० १५५।

३. द्रवीभावस्य च सर्वधर्मत्वात्, तं बिना च स्थायीभावासंभावात् सत्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंऽशमिश्रणात् तारतम्यं अवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवाः। भ० भ० र०, पृ० २२। न० आ० र०, पृ० १५६

उपरिलिखित विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस को सुखात्मक के साथ-साथ दुःखात्मक मानने वालों में 'नाट्य-दर्पण' का लेखक ही अकेला नहीं है, अपितु यह एक ऐसा प्रश्न है जिसने विद्वानों के दो दल बनाने में सहायता पहुंचाई है। किन्तु, इस विषय में प्रसिद्धि मिली केवल रामचन्द्र गुणचन्द्र को ही। उन्होंने कहा कि, शृंगार, हास्य, वीर और अद्भुत तथा शान्त—यह पाँच रस तो सुखात्मक हैं, शेष चार करुण, रौद्र, वीभत्स और भयानक दुःखात्मक हैं।[1] नाट्यदर्पणकार का मत है कि करुण, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रसों के द्वारा हृदय उद्विग्न हो उठता है। उद्विग्नता को सुख की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह भी स्पष्ट ही है कि सुखास्वाद के द्वारा कभी उद्वेग उत्पन्न नहीं होता। अतएव यदि इनसे उद्वेग की अनुभूति होती है, तो इन्हें सुखात्मक स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि कोई यह प्रश्न करे कि दुःखात्मक होने पर भी इनकी ओर सामाजिक की प्रवृत्ति का क्या कारण है, तो इसका उत्तर उनके शब्दों में यही है कि : इस प्रवृत्ति का कारण कवि तथा नट का कौशल है। कवि अपनी शक्ति से वर्णन में चमत्कार उत्पन्न कर देता है। नट अपने अभिनय-कौशल के सहारे उस वर्णन को और भी चमत्कारक बना देता है। यही कारण है कि सामाजिक ऐसे दृश्यों को भी देखने जाते हैं।[2]

रामचन्द्र गुणचन्द्र का विचार

दूसरी बात जो उन्होंने इस सम्बन्ध में कही है, वह है लोकवृत्त का नाटक में चित्रण। इस विषय में उनका कहना है कि नाट्य लोकवृत्त का अनुकरण है। यह संसार ही सुखदुःखात्मक है। अतएव इसका अनुकरण करने वाला नाट्य केवल सुखात्मक कैसे हो सकता है ? यथार्थवादी कवि को इस द्वन्द्वात्मकता को स्वीकार करना ही पड़ेगा। उन सुखदुःखात्मक दृश्यों को सुखात्मक-मात्र कहने से काम नहीं चल सकता, क्योंकि ऐसी दशा में अनुकरण सफल नहीं कहा जा सकेगा। लोकवृत्त के सम्यक् निरूपण पर ही कवि की कुशलता आधारित है।

१. तत्रेष्ट विभावादि शृंगारहास्यवीराद्भुत शान्ताः पंचसुखात्मनो परे पुनरनिष्ट विभावाद्युपनीतात्मानःकरुणरौद्रवीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मनः। ना० द०, पृ० १५६

२. भयानकादिभिरुद्विजतेसमाजः। न नाम सुखास्वादाद् उद्वेगो घटते। यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते, स रसास्वाद विरामे सति यथावस्थित वस्तु प्रदर्शकेन कविनटशक्तिकौशलेन अनेनैव च सर्वांगाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मनाचमत्कारेण विप्रलब्धाःपरमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि करुणादिषु सुमेधसः प्रतिजानते। वही, पृ० १५६।

सच बात यह है कि कवि अपने काव्य में सुख के साथ दुःख का जो चित्र अंकित करता है, उसके परिणामस्वरूप दुःखानुभव के पश्चात् सुखानुभूति अपेक्षाकृत अधिक सुखद रूप धारण कर लेती है। यह स्थिति ठीक ऐसी ही है, जैसे तीक्ष्ण आस्वाद भी पानक-रस में सुखकारी ही लगता है।[1] यदि करुण रस भी सुखात्मक ही जान पड़े, तो यह अभिनेता का दोष है। क्योंकि रावण द्वारा सीता का अपहरण, दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीर-हरण, हरिश्चन्द्र का चाण्डाल के हाथ विक्रय, लक्ष्मण का शक्ति-आहत होना, रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या का विलाप आदि दृश्य भी यदि सुखात्मक लगें, तो यह अभिनय की किसी त्रुटि के कारण ही होगा।

रस को आनन्दात्मक-मात्र मानने वालों ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि दर्शन के आधार पर की है। शंकुक तक के विवेचन से करुण की आनन्दस्वरूपता पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ सका। इस प्रश्न को सबसे पहले भट्टनायक ने ही हल किया। उन्होंने सत्वोद्रेक का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए साधारणीकरण व्यापार द्वारा स्व-भाव तथा पर-भाव के शान्त हो जाने से करुण को भी आनन्दात्मक माना है। हमें दुःख केवल तब होता है, जब हम किसी दुखी व्यक्ति से अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध बनाए रखते हैं। वास्तविक जगत् में जो व्यापार दुःखद प्रतीत होते हैं, काव्य में वर्णित होने पर वही अलौकिक विभावादि का रूप धारण कर लेते हैं। उनकी यह अलौकिकता सर्वथा शाब्दिक अर्थों में दिव्य हो जाना नहीं है, बल्कि समस्त सम्बन्धों से विमुक्त प्रतीत होना है।

करुण की आनन्दात्मकता के प्रतिपादक विद्वानों के तर्क

भट्टनायक

प्रसिद्ध अद्वैतवादी मधुसूदन ने सांख्य-दर्शन को आधार मानते हुए रस को सुखदुःखात्मक इस कारण माना था कि वे सत्व में किसी प्रकार की उद्रेक की स्थिति स्वीकार नहीं करते और यह उद्रेक रज तथा तम के मिश्रण के कारण ही संभव है। यदि सत्व के साथ रज तथा तम का मिश्रण स्वीकार किया जाता है, तो रसानन्द में तारतम्य मानना पड़ेगा। किन्तु, उन्हीं मधुसूदन ने अद्वैत सिद्धान्त को स्वीकार करने पर यह स्वीकार कर लिया कि यद्यपि लोक में अनुभूत भाव सुख-दुःख तथा मोहात्मक होते हैं, तथापि काव्य में प्रयुक्त होने पर

मधुसूदन सरस्वती

१. कवयस्तु सुखदुःखात्मक संसारानुरूपेण रामादिचरितम् निबध्नतः सुख-दुःखात्मक रसानुविद्धमेवप्रथनन्ति पानकरसमाधुर्यमिव च तीक्ष्णास्वादेन सुखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदन्ते। ना० द०, पृ० १५६।

वही पाठक अथवा प्रेक्षक को आनन्दात्मक प्रतीत होने लगते हैं। उन्होंने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया कि सत्व का प्रसार होते-होते वही एक-मात्र अवशिष्ट रह जाता है। अन्तःकरण की ऐसी वृत्ति होने पर ही रस व्यक्त होता है। अतएव उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि बोध्यनिष्ठ भाव त्रिविध होता है, किन्तु बोद्धृनिष्ठ अर्थात् सहृदय-गत भाव केवल सुखात्मक ही होते हैं।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने भी इसी मत को स्वीकार करते हुए आनन्दात्मकता का कारण चित्त का समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाना माना है। उन्होंने इसी पंक्ति में बैठते हुए कहा कि रसन या स्वाद ज्ञानरूप ही होता है, परन्तु अन्य लौकिक ज्ञानों से यह विलक्षण होता है। इसके उत्पादक साधन विभावादि स्वतः लौकिक साधनों की अपेक्षा विलक्षण होते हैं।[2] उन्होंने इस आनन्द का कारण चित्त की शान्ति तथा एकाग्रता को बताया है। स्वस्थ चित्त के द्वारा होने वाली सभी अनुभूतियाँ सुखप्रधान हैं। हृदय की विश्रान्ति और अन्तराय-शून्यता ही आनन्द का कारण है।[3] साथ ही अभिनव ने कहा है कि भयप्रद अथवा तत्समान दृश्यों के देखने से हमारे हृदय में एक विशेष प्रकार का उद्वेग उत्पन्न होता है। उससे यह न समझना चाहिए कि हम वस्तुतः भयभीत हो रहे हैं। यह शरीर-प्रकृति ही ऐसी है कि हम अनायास ही वैसा अनुभव करने लगते हैं। किन्तु, इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हमें दुःखानुभव हो रहा है। वह तो चमत्कार का विधायक है।[4]

अभिनवगुप्त

शारदातनय ने शैवदर्शन के ही आधार पर कहा है कि यों तो यह संसार दुःख-मोह आदि से कलुषित होता है, तथापि जीवात्मा राग, विद्या और कला नामक अपने तीन तत्त्वों के द्वारा उसका भोग करता है। राग का अर्थ है

१. बोध्यनिष्ठा यथास्वं ते सुखदुःखादिहेतव,
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतव ॥ भ० भ० र०, ३।५।

२. रसना च बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीनां लौकिक वैलक्षण्यात्। अ० भा०, भा० १, पृ० २८५।

३. तत्रसर्वेऽमी सुखप्रधानोःस्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्यप्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथाहिएकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकहृदयाविश्रान्तिरन्तरायशून्यविश्रान्तिशरीरत्वात् अविश्रान्तिरूपतैव दुःखम्। तदेव कापिलैर्दुःखस्य चांचल्यमेव प्राणत्वेनोक्तम् रजोवृत्तिम् वद्‌द्भिरित्यानन्दरूपता सर्वरसानाम्। अ० भा०, भा० १, पृ० २८२।

४. तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिर्विकारश्चमत्कारः। वही, पृ० २७९।

शारदातनय — सुखत्व का अभिमान, विद्या राग का उपादान-विशेष है। इससे अविद्या से आवृत चैतन्य का ज्ञान अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार कला आत्मा को प्रदीप्त करने वाला कारण है। प्रेक्षक इन्हीं आत्मस्थित गुणों के द्वारा करुण, भयानक तथा बीभत्स रसों की 'चर्वणा' करता है।[1]

'साहित्यरत्नाकार' के लेखक का एक सीधा प्रश्न है कि यदि करुण रस से आनन्द के स्थान पर दुःख प्राप्त होता है, तो विप्रलम्भ से आनन्द की प्राप्ति क्यों स्वीकार की जाय? यदि विगलितवेद्यान्तर की

साहित्यरत्नाकरकार का मत — आनन्दरूपता स्वीकार करने में विवाद है, तो शृंगार के प्रभेद विप्रलम्भ में भी नायिका को सुख नहीं प्राप्त होता, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। अतएव विपक्षी को उसे भी दुःखात्मक स्वीकार करना चाहिए। रंगमच पर प्रेमियों को वियोग-व्याकुल देखकर दर्शक को आनन्द की प्राप्ति नहीं माननी चाहिए, क्योंकि यहाँ भी उसका हृदय द्रवित हो जाता है। उसे आप यदि दुःखकारक नहीं मानते, तो करुण को भी नहीं मानना चाहिए।[2]

साहित्यरत्नाकरकार की इस शंका मे सत्य की मात्रा होते हुए भी यह बहुत युक्ति-युक्त और तर्कप्रबल नहीं है। कारण यह है कि वियोग की अवस्था में प्रेमी के हृदय का राग और भी आवेग से प्रवाहित होने लगता है। भक्ति में भी भक्त के आकुल हृदय की ही पीर प्रकट होती है, किन्तु यह उसके हृदय की उत्कट प्रेम-दशा की ही द्योतक है। वही प्रेम सहृदय के हृदय को भी प्रभावित करता है। किन्तु करुण में शोक ही प्रधान है, अतएव वहाँ 'साहित्यरत्नाकर' के लेखक का मत ठीक नहीं उतरता दीखता।

विश्वनाथ और भोजराज — आचार्य विश्वनाथ ने करुण की सुखात्मकता के पक्ष में निम्न तर्कों का सहारा लिया है:[3]

१. 'भावप्रकाशन' पृ० ५३।

२. अथ यदि वेद्यान्तरविगलनस्यानन्दरूपतायां विवादः तत्कथं शृंगारस्यापि रसरूपता समर्थनम्। तस्यविप्रलम्भात्मकप्रभेदे कलयाप्यानन्दाविर्भावस्याभावात्। तस्माद्विभावादि महिम्ना वेद्यान्तरस्य वारणे चेत् निरतिशय पारवश्य लक्षणस्यानन्द प्रादुर्भावस्य विप्रलम्भे सत्वांगीकारणैव रसत्वस्य प्रसाधनीयत्वात्। सा० र०, पृ० ३४०-४१।

३. सा० द०, तृ० प०। ३।४-८।

१. सचेतस् व्यक्तियों का अनुभव ही सुखात्मकता का प्रमाण है, क्योंकि यदि करुण से दुःख ही होता, तो उसे कोई देखने क्यों जाता ? कौन समझदार अपने को दुःख में डालना चाहता है ?

२. दुःख के कारणों से भी सुख की उत्पत्ति संभव है, क्योंकि विभावादि की सांसारिक कारणों से विलक्षणता सिद्ध ही है।

३—करुण दृश्य के देखने से अश्रुपातादि होने का कारण भी करुण की दुःखात्मकता नहीं है, अपितु हृदय की द्रवणशीलता के परिणामस्वरूप ही ऐसा होता है। यह द्रवणशीलता आनन्द में भी पाई जाती है। अतः यह दुःखात्मकता का प्रमाण नहीं कही जा सकती।

४. सुख के समय दन्त-नखादि के आघात से भी मन को आनन्द ही पहुँचता है, भले ही शरीर को कष्ट होता हो। उस कष्ट के कारण उस समय कोई बचने का प्रयत्न नहीं करता। इसी प्रकार करुण रस की अनुभूति भी आनन्दात्मक ही होगी, भले ही शोक के कारण उसकी उत्पत्ति होती हो।

साहित्यदर्पणकार के अन्तिम मत का भोजराज ने भी समर्थन किया है और कहा है कि प्रिय वस्तु दुःखद होने पर भी जैसे सुखद ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार काव्य का विलक्षण रस भी प्रेय होने के कारण सुखात्मक ही होता है।[1] भोज ने इस आनन्द-सिद्धान्त का प्रतिपादन रस को मूलतः 'अहंकार' के रूप में मानकर किया। अहंकार ही आत्म-विश्वास, आत्म-रति या अभिमान और शृंगार है और इस आत्म-रति के कारण हम प्रेय दुःख को भी सुखात्मक मानते हैं। अभिमान रूप में अनुकूल वेदनीय होने के कारण दुःख भी सुख ज्ञात होता है।

भोज तथा अभिनवगुप्त में यही अन्तर है कि अभिनवगुप्त रस का आत्मा से सम्बन्ध मानते हैं और भोज अहंकार को ही रस की संज्ञा देकर उसका सम्बन्ध सत्वप्रधान अन्तःकरण से जोड़ते हैं।

मराठी के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत् द० के० केलकर ने इस मत का विरोध करते हुए कहा है कि यदि सुख में भी अश्रुपात होता है, तो रति-विषयक दृश्यों में भी अश्रुपात क्यों नहीं होता ?[2] हमारे विचार से उनका यह प्रश्न विश्वनाथ के पूर्व-कथित, सुरत-सम्बन्धी उत्तर-जैसा ही है। अश्रुपात अवश्य

१. दुःखदातापि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति।
दयित नखदूयमानयोरपि वर्धतेस्तनयो रोमांचः ।। शृं० प्र०, द्वि० भाग, पृ० ३५३। राघवन शोधप्रबन्ध, पृ० ५१६।

२. 'काव्यालोचन,' पृ० १६६।

मराठी विद्वान् केलकर और उनके मत का खण्डन

हो ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं है। ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है, जिन्हें किसी भी प्रकार के करुण दृश्य को देखकर अश्रुपात नहीं होता और ऐसे भी व्यक्ति सरलता से मिल जायँगे, जो भगवान् के प्रति कहे गए विनय के पदोंको सुनने से ही गद्‌गद् होकर रोने लगते हैं। अतएव इस प्रकार का तर्क कोई तर्क नहीं है कि सुरत में भी आनन्दाश्रु क्यों नहीं आते। उनके लिए अनिवार्य नियम नहीं बनाया जा सकता। फिर भी हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि अश्रुओं का केवल यह कारण दे देना कि वह सुख में भी आते हैं, कोई पर्याप्त उत्तर नहीं है। यही कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को यह कहना पड़ा कि "यह कहना कि आनन्द में भी तो आँसू आते हैं, केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख का ही अनुभव करते हैं। हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।"[1] अतएव हम इसे अपर्याप्त कारण अथवा अन्य उत्तरों के साथ एक उत्तर मान कर चलें, तो उचित होगा।

केलकर महोदय ने दूसरी आपत्ति करते हुए कहा है कि आनन्द को ही प्रमुख भावना क्यों माना जाय? दुःख को भी क्यों न स्वीकार कर लिया जाय? इस प्रश्न के उत्तर भी, उनके विचार से, संस्कृत के आचार्यों ने विचित्र ही दिए हैं। पहला उत्तर दिया गया है कि मानव-मन की रचना ही ऐसी है कि उसे चंचलता प्रिय है। कोई भी कारण हो, चंचलता उत्पन्न होते ही, आनन्द की अनुभूति होती है। किन्तु यह स्वीकार करने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि काव्य-वस्तु से होने वाले दुःख की अपेक्षा सुख ही अधिक प्रभावकारी क्यों है? यह व्यापार व्यवहार में भी सिद्ध नहीं होता। उदाहरणतः, पति के घर जाती हुई कन्या को देखकर माता का हृदय चंचल हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु इस चंचलता से उसे सुख नहीं प्राप्त होता।[2]

इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि केलकर महोदय उदाहरण प्रस्तुत करते समय यह भूल गए कि वे व्यक्ति-सम्बन्ध की बात कह रहे हैं। उन्हें उदाहरण देते समय उस सामाजिक का ध्यान रखना चाहिए था, जो वहाँ उपस्थित रहकर उस विदा-दृश्य को व्यक्ति-सम्बन्ध से शून्य होकर देखता है। और माता-पिता की विह्वल दशा को देखते हुए भी एक प्रकार के सुख का अनुभव करता है। उसी प्रकार करुण दृश्य देखते हुए प्रेक्षक के करुण एवं सहा-

---

१. चि०, प्र० भा०, पृ० ३४२।

२. 'काव्यालोचन', पृ० १७०।

नुभूति-पूर्ण भाव जाग्रत होते हैं और वह संतापित की सहायता के विचार से चंचल हो उठता है। इस चंचलता में मग्नता ही उसे सुख देती है। सुख काव्य की मग्नता में है। जितना ही अधिक भावमग्नता होगी उतना ही अधिक सुख होगा। यही कारण है कि दुःखांत नाटकों को देखकर लौटने वाले व्यक्ति रोते हुए नहीं लौटते, अपितु नाटक की प्रशंसा ही करते हुए लौटते हैं। यही कहते हुए लौटते हैं कि 'हमने बहुत आनन्द लिया।' जिस प्रकार दुखी व्यक्ति आँसू बहाने के पश्चात् कुछ हल्केपन का अनुभव करते हुए सुख पाता है, वैसे ही अपने भावों की चंचलता से दुःख भी अन्तःकरण में आनन्द को ही उत्पन्न करता है। अपने यहाँ भारी दुःखों में पड़ने पर यह उचित समझा जाता है कि कष्ट उठाने वाले व्यक्ति को रुला दिया जाय। वह केवल इसी कारण कि उसके रो लेने से चित्त के हल्का होने की संभावना रहती है। अभिप्राय यह है कि भाव को पूर्ण सफलता से प्रकट होते देखकर कवि-कौशल का अनुभव करने से आनन्द होता है। हम यही कहते हैं कि 'बहुत अच्छा लिखा गया है।' अथवा यह कहते हैं कि 'बिलकुल चित्र खींच दिया गया है।' काव्य में चित्रमयता ही उसका वास्तविक गुण है।

आगरकर और प्रो० जोग

श्री केलकर के समान ही श्री आगरकर तथा प्रो० जोग भी दुःखपर्यवसायी नाटकों की दुःखात्मकता में ही विश्वास रखते हैं। आगरकर महोदय का विचार है कि "कल्पनाशक्ति-जनित काव्यवस्तु अपने स्वभाव के अनुसार अनुकूल या प्रतिकूल संवेदन उत्पन्न करती है। अतः दुःख पर्यवसायी काव्य के पाठ के समय थोड़ी खिन्नता होती ही है और सुखपर्यवसायी के समय सुख होता है।"[1] प्रो० जोग 'दुःख-मिश्रित सुख' की अनुभूति में विश्वास प्रकट करते हुए कहते हैं कि भले ही यह स्वीकार किया जा सकता है कि उसकी अनुभूति सुख की अपेक्षा क्षीण ही रहती है, किन्तु दुःख का पूर्ण अभाव स्वीकार्य नहीं है। अनुभव-तीव्रता में अन्तर सम्भव है, उसके स्वरूप में नहीं। कवि-कौशल, भाषा-विन्यास, प्रसंग-संगठन तथा नवीन संयोजन आदि के कारण अनुकूल भावोत्पत्ति होकर एक सम्मिश्रित परिणाम ही होता है। यही कारण है कि बहुत-से पाठक दुःखान्त काव्य के पाठ से मूर्छित हो जाते हैं।[2] सारांश यह है कि दोनों लेखक मिश्रित अनुभूति का ही समर्थन करते हैं, किन्तु दोनों ही कवि-कर्म के सहारे अथवा आत्म-निरपेक्षता के कारण उस अनुभूति को सुख की

१. 'काव्यालोचन', पृ० १६६।
२. अ० का० प्र०, पृ० १८।

अपेक्षा क्षीण ही मानते हैं। अतः इन मतों को करुण की आनन्दात्मकता का विरोधी नहीं कहा जा सकता, ये उस सिद्धान्त में हल्का परिवर्तन-मात्र चाहते हैं।

करुण की आनन्दात्मकता स्वीकार करते हुए श्री दा० ना० आप्टे ने एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। आप पतंजलि के अनुसार मन के अणु तथा विभु नामक दो भेद स्वीकार करते हैं। अणु सूक्ष्म तथा कारणरूप है, और विभु व्यापक और कार्य-रूप। यह प्रकार-भेद परमेश्वर के मूल तथा व्यापक प्रकार-भेद के सदृश ही है। जिस प्रकार वह बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखता हुआ दुःखानुभव करता है, उसी प्रकार हम भी बाह्य मन से दुखी जगत् का दुःखानुभव करते हैं, किन्तु अन्तर्मन नित्य आनन्द का ही अनुभव करता है। अतः शोकमूलक वाङ्मय का पाठ करते समय बाह्य मन को दुःख होता है और अन्तर्मन कविकृतिजनित आनन्द का अनुभव करता है।[1]

सुखात्मकता के पक्षपाती आपटे महोदय

आप्टे महोदय का उक्त सिद्धान्त द्राविड़ प्राणायाम के सदृश है। एक तो वह आधुनिक मनोशास्त्रियों के द्वारा निरूपित मन का पतंजलि के मन से सम्बन्ध नहीं बैठा सकते, क्योंकि मनोशास्त्री अन्तर्मन को नित्य आनन्दकारक नहीं मानते—उसमें सभी सहज प्रवृत्तियों और तत्सम्बन्धी सुखदुःखात्मक भावनाओं का समावेश रहता है। दूसरे, अणु-विभु मन तथा मानस-शास्त्र के अन्तर्मन-बहिर्मन की व्याप्ति में भी अन्तर है। अन्तर्मन अणु नहीं विभु के सदृश है। अतः आप्टे महोदय का सिद्धान्त इस सम्बन्ध में समाधान उपस्थित नहीं करता।

प्रो० क्षीरसागर का समर्थन करते हुए श्री बेडेकर ने कहा है कि "करुण-रस-पूर्ण नाटक से भयानक की प्रतीति होती है और उस भयानक रस में भी अद्भुत का अंश मिला रहता है।"[2] इससे श्री बेडेकर करुण की आनन्दात्मकता स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार श्री वामनमल्हार जोशी करुण प्रसंगों की उदात्तता, पवित्रता तथा ध्येय की उच्चता को ही आनन्दानुभूति का कारण मानते हैं।[3] श्रीयुत द० के० केलकर ने भी इस सम्बन्ध में करुण प्रसंगों के तीन भेदों का उल्लेख किया है। उनका मत है कि करुण के क्रमशः नियतिकृत, व्यक्तिगत एवं आदर्शात्मक—ये

बेडेकर, वामनमल्हार जोशी तथा द० के० केलकर

१. सौं० शो० आ०, पृ० २१८।

२. 'आलोचना,' अंक ६, पृ० ४६।

३. 'विचार-सौन्दर्य,' पृ० ८३-८४।

तीन कारण हो सकते हैं। नियतिकृत नियमों में राम-वनवास, द्रौपदी-वस्त्र-हरण आदि को गिनाया जा सकता है। व्यक्तिगत के अन्तर्गत पाण्डवों का संकट आयगा और ध्येयवादी अथवा आदर्शवादी के अन्तर्गत राम का लोकाराधन और सीता-त्याग का प्रसंग रखा जा सकता है। इन तीनों में से अन्तिम से निश्चय ही आनन्द की सिद्धि मानी जा सकती है। राम का ध्येयवाद, उनके चरित्र की उदारता, उनके मन की पवित्रता सभी आनन्द का सर्जन करने में सहायक सिद्ध होते हैं।[1]

हमारा विचार है कि यदि ध्येयवाद के कारण आनन्दानुभूति में विश्वास किया जा सकता है, तो अन्य उदाहरणों में भी नायक का संघर्ष, कष्ट-सहन आदि उसके व्यवहार को ग्राह्य और सहानुभूति-उत्पादक अवश्य बना देते हैं। नियतिकृत कारणों के सम्बन्ध में तो शंका करनी ही नहीं चाहिए। इस प्रकार के संकट में पड़ा हुआ व्यक्ति हमारी सहानुभूति का इसीलिए पात्र बन जाता है कि वह अचानक ही संकट में फंस गया है। उस संकट से उसका जूझना भी उसके प्रति हमारे उसी विश्वास को जगाता है, जो ध्येयवाद से जागता है। इसी प्रकार व्यक्तिगत कारणों से संकट में फँसकर भी कोई पश्चात्ताप से दग्ध हो और शक्ति के साथ आये हुए कष्टों का सामना करे, तो वह भी हमें उसी प्रकार प्रभावित करेगा। तीनों स्थितियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कहीं शक्तिपूर्वक संघर्ष करना, कहीं कष्ट सहन करने की असाधारण क्षमता दिखाना अथवा कहीं ध्येयवाद के कारण कष्ट सहन करना आदि सभी उदात्त होने के कारण एक से प्रभावी हैं। अतः यदि एक से आनन्द की सिद्धि मानी जाती है, तो अन्य से भी माननी चाहिए।

डॉ० वाटवे

डॉ० वाटवे ने आनन्द-सिद्धान्त का विचार व्यक्ति-भेद के आधार पर किया है। उनका मत है कि जिन "वाचकों को शोकान्त नाटकों में सौन्दर्य नहीं दीखता तथा उन नाटकों में प्रदर्शित की गई सत्यता को ग्रहण करने की जिनकी बुद्धि में सामर्थ्य नहीं होती, उन्हें शोकान्त से आनन्द नहीं आता। करुण-काव्यों में सौन्दर्य तथा तत्त्वज्ञान, दोनों का उत्तम ज्ञान रखने की पात्रता होते हुए भी, जिनका हृदय इतना करुण है कि वैसे दृश्य को देखने, पढ़ने या सुनने की बात ही उन्हें विचलित कर देती है, वे तो शोकान्त नाटक देखने भी नहीं जाते। इसी प्रकार किसी को भीषणता, दुःखादि से ही शान्ति प्राप्त होती है, कुछ निर्विकार भाव से शत्रु-वध, फांसी आदि देखते हैं। पराक्रमी आक्रमण-

१. 'काव्यालोचन,' पृ० १७४-१७८।

कर्त्ता तथा जयनशील इसी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। हाँ, जिस जगत् का व्यापक एवं खरा ज्ञान है, खोटा आशावाद, ईश्वर की दयालुता की भ्रामक कल्पना, मानव की सामर्थ्य का भ्रम जिसे नहीं है, जो अनमिल घटनाओं में भी सौन्दर्य देखता है, वही करुण का भी आनन्द ले सकता है, किन्तु ऐसे व्यक्तियों की संख्या थोड़ी है।"[1] दूसरे शब्दों में डॉ० वाटवे विश्वनाथ के समान ही सचेतस् के हृदय को ही प्रमाण मानते हैं। आनन्द-सिद्धान्त का तिरस्कार न करके वे उसकी सीमा ही निर्धारित करते हैं। साथ ही वे तत्त्व-जिज्ञासा की शांति तथा काव्य-सौन्दर्य के समन्वय को शोक के आस्वादनीय बनाने का श्रेय देते हैं।

कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'आत्म संप्राप्ति' तथा 'प्रबल अनुभूति' में ही आनन्द की स्थिति मानते हैं। इन्हीं कारणों से दुःखात्मक दृश्य भी आनन्दात्मक अनुभूति जाग्रत करते हैं। उनका विचार

डॉ० रवीन्द्र

है कि "जो वस्तु हमारे मन पर जबरदस्त छाप छोड़ जाती है, उसका प्रभाव भी बड़ा प्रबल होता है। जिस वस्तु का हम विशेष रूप से अनुभव करते हैं, उसके द्वारा हम अपने-आपको ही प्राप्त करते हैं। यह आत्म-संप्राप्ति ही आनन्द है।" दूसरी बात है कि "साहित्य में जीवन-यात्रा के आघात और क्षति का अभाव होने के कारण हम विशुद्धि अनुभूति का उपयोग कर सकते हैं। गल्प में भूत के भय की अनुभूति से बच्चे पुलकित हो उठते हैं, क्योंकि बिना दुःख का मूल्य चुकाए उनका मन इस प्रकार की अनुभूति से परिचय प्राप्त कर लेता है। काल्पनिक आघात के भय से भूत उनके निकट वास्तव हो उठते हैं और यही वास्तव की अनुभूति भय के योग से ही आनन्दजनक होती है।......साहसी लोग अकारण ही एवरेस्ट पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। उनके मन में भय नहीं, भय के कारण की संभावना में ही उनको निविड़ आनन्द प्राप्त होता है।......वस्तुतः प्रबल अनुभूति-मात्र ही आनन्दजनक है, क्योंकि उस अनुभूति के द्वारा प्रबल रूप में हम अपने-आपको जान पाते हैं।"[2] रवीन्द्र का उक्त मत वस्तुतः ममत्वहीन निरपेक्ष व्यक्तित्व का ही समर्थन करता है और प्राचीन आचार्यों के मत के अनुकूल है।

इस विषय में विख्यात भारतीय मनोविज्ञानवेत्ता डॉ० भगवानदास का विचार है कि जो जीव तथाकथित दुःखात्मक भावों को ग्रहण करने के लिए

१. र० वि०, २०३-२०६।

२. 'समीक्षायण', पृ० ८६-८७।

डॉ० भगवानदास तैयार रहते हैं, उनके लिए या तो पहले यह भाव दुखात्मक न होकर नितान्त सुखद होते हैं, अथवा दूसरी बात यह हो सकती है कि उनके सदृश दृश्य-विरोधी भावों के उत्तेजन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।[1]

करुण दृश्यों से आनन्दानुभूति का एक अन्य कारण भी है कि "श्रेष्ठ जीव अपने से निम्न कोटि के जीव को कष्ट में देखकर उसका दुःख दूर करने की चेष्टा करता है। आत्मा का प्रधान गुण एकता है। किसी की सहायता करते समय हमें इसीका अनुभव होने लगता है। इस अनुभव के उत्पन्न होने पर अनिवार्य रूप से आधिक्य, अभिवृद्धि तथा आनन्द का अनुभव होता है। फल यह होता है कि दूसरे का दुःख दूर करने की चेष्टा में हमारी उपाधि का एक भाग जो दूसरे की सहायता में व्यय होता है, उससे कष्ट तो अवश्य होता है, किन्तु यह आनन्द भी प्रधानता में विलीन हो जाता है। काल्पनिक तथा साहित्यिक जगत् में कल्पना के द्वारा कष्ट-निवारण का रूप खड़ा कर लिया जाता है, जिससे आनन्द ही प्राप्त होता है।"[2] स्पष्ट ही आनन्द की यह अनुभूति आत्मिक अनुभूति है, मनःप्रतीति है, साथ ही भौतिक उपाधि से असम्बद्ध है।

डॉ० राकेश गुप्त आधुनिक भारतीय विचारकों में डॉ० राकेश गुप्त[3] ने करुण की आनन्दात्मकता का तिरस्कार करते हुए कहा है :

१. किसी के दुःख में रुचि लेना मानव का स्वभाव है। किसी के दुःख से मनुष्य आनन्दित नहीं होता। अतएव आनन्द के स्थान पर रुचि ही काव्य-श्रवणादि के मूल में काम करती है।

२. यदि आनन्द ही काव्य से प्राप्त हुआ करता, तो हृदय-रोग से पीड़ित व्यक्ति को डॉक्टर करुणापूर्ण चित्रपट देखने का निषेध क्यों करता ? क्षय रोगी को आशा का संचार करने वाली पुस्तकें क्यों दी जातीं ?

डॉ० गुप्त के द्वारा प्रतिपादित रुचि-सिद्धान्त हमारे शास्त्रों के तन्मयीभवन सिद्धान्त की समानता नहीं कर सकता। रुचि और आनन्द में अन्तर है। दोनों को हम एक-दूसरे का पर्याय नहीं मान सकते। रुचि रखकर भी हम अपने सुख-दुःखादि को विस्मृत नहीं करते, जबकि रसास्वाद के लिए

१. सा० आ० इ०, पृ० ३६१।
२. सा० आ० इ०, पृ० ३६६।
३. सा० स्ट० र०, पृ० ८०-८१।

साधारणीकरण, अर्थात् स्व-पर-भाव का विस्मरण आवश्यक माना गया है। ऐसा कहकर रुचि का तिरस्कार करना हमारा उद्देश्य नहीं है। रुचि का अपना महत्त्व है, क्योंकि अभिनव-कथित काव्यानुशीलनाभ्यास इसी रुचि के उत्पादन में सहायक होता है, किन्तु रुचि के बाद भी सम्बन्धों के परिहार की आवश्यकता बनी रहती है। उनके परिहार के परिणामस्वरूप ही काव्यानन्द की उपलब्धि होती है। अतः रुचि आनन्दोपलब्धि का साधन-मात्र है।

डॉ० गुप्त की दूसरी आपत्ति भी हमें विशेष सार्थक प्रतीत नहीं होती। हमारा विचार है कि दुःखद नाटक देखने अथवा काव्य पढ़ने-सुनने का निषेध क्षय रोगी के लिए इस कारण किया जाता है कि उसका अपना मानसिक सन्तुलन खोया रहता है। उसे हर समय अपने स्वास्थ्य की ही चिन्ता सताती रहती है। वह इतना निराश और अस्वस्थ चित्त होता है कि नाटक देखने पर भी वह अपनी दशा को भुला सकेगा, इसकी संभावना नहीं रहती। करुण प्रसंगों की तो कथा ही क्या है, जीवन-संघर्ष में टूटा हुआ व्यक्ति हर्ष की बात भी नहीं सुनना चाहता और यह देखा जा सकता है कि फाँसी की आज्ञा पाये हुए कैदी की नींद और भूख-प्यास भी भाग जाती है, सामने परसी सुगन्धित व्यंजनों की थाली भी उसके लिए आकर्षण-विहीन हो जाती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि दुःख की स्थिति अतिशय रूप में कभी भी ग्राह्य नहीं होती यह तो ठीक ही है, किन्तु इसका भी कोई प्रमाण नहीं है कि अत्यन्त दुःख में सुखात्मक काव्य अभिनन्दनीय बन ही जाता है। ऐसा होता तो रसास्वाद के बाधक विघ्नों की सत्ता ही न रहती।

योरोपीय विद्वान् प्लेटो और अरस्तू

प्लेटो ने अपने सुविख्यात ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में काव्य को प्रकृति का अनुकरण मानकर उसकी बड़ी निन्दा की है, और कवियों को असत्य का प्रचारक तथा निर्वीर्यता का प्रसारक मानते हुए उन्हें राज्य में सम्मान का अधिकारी नहीं माना है। प्लेटो काव्य को व्यक्ति की अवनति तथा हीनता का मूल कारण मानते हैं।[1]

प्लेटो के आदर्शवाद का उत्तर उन्हींके शिष्य अरस्तू ने विरेचन सिद्धान्त का प्रतिपादन करके दिया है। वे करुण नाटकों का परिणाम भय तथा अनुकम्पा की एक साथ सिद्धि मानते हैं। भय तथा अनुकम्पा मन को हलका करने में सहायक होते हैं। अतः उनका परिणाम आनन्दकारी माना जाता है।

अरस्तू के द्वारा कथित 'विरेचन' कैथारसिस शब्द का विवेचन उनके परवर्ती

१. प्लेटो, 'रिपब्लिक', पृ० ३५०।

लेखकों ने अनेक प्रकार से किया है। हम यहाँ एलरडाइस निकोल[1] तथा ल्यूकस[2] आदि के ग्रन्थों में उद्धृत उन विद्वानों के मतों पर विचार करेंगे।

मिल्टन ने 'कैथारसिस' शब्द का अर्थ 'परगेशन' अथवा 'रेचन' बताया है। अर्थात् जिस प्रकार कोई औषधि पहले रोग को अधिकाधिक उभारती है, तदनन्तर उसका निदान और शमन करती है, उसी प्रकार काव्य-गत विभिन्न दृश्यों से दर्शक के मन को पहले उत्तेजना प्राप्त होती है, तदनन्तर उसका उपशमन होता जाता है। पहले भयकारी कष्टदायक भावनाओं से हृदय भर जाता है, किन्तु अन्त में भय तथा अनुकम्पा दोनों का शमन हो जाता है। यह उपशमन स्वास्थ्यप्रद है, अस्वस्थता और हीनताकारक नहीं।

मिल्टन

मिल्टन के इस मत में कई दृष्टियों से एकांगिता दीख पड़ती है। प्रथमतः काव्य का उद्देश्य भावनाओं का उपशमन-मात्र नहीं है। काव्य-शास्त्रों में उसके अन्य उद्देश्यों का भी वर्णन किया गया है। ग्रीक ट्रेजेडी का अन्त शान्तिपूर्ण रहा, इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका एक-मात्र यही उद्देश्य रहा हो। दूसरे, प्रेक्षागृह कोई अस्पताल नहीं है कि वहाँ केवल रोगों के उपशमन के लिए चिकित्सा का प्रबन्ध हो। तीसरे, यह भी नहीं कहा जा सकता कि नाटक देखने वाले अथवा काव्य सुनने वाले सभी व्यक्ति इन वासनाओं के प्रभाव से भारान्वित होकर ही प्रेक्षागृह में आयेंगे या आते हैं। सभी प्रेक्षकों के सम्बन्ध में वासनाओं के उपशमन की इच्छा के सिद्धान्त को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रेक्षक भिन्न रुचि के होते हैं। अतएव मिल्टन का यह मत सदोष है।

मिल्टन के समान ही लेसिंग ने 'कैथारसिस' का अर्थ विशुद्धीकरण या 'प्यूरिफिकेशन' माना है। उसका मत है कि व्यावहारिक जगत् में मनुष्य प्रायः भय तथा अनुकम्पा से प्रभावित रहता है, चाहे कभी थोड़ा हो अथवा कभी अधिक। दुःखान्त घटना उन्हें धार्मिकता और आनन्दमयता की ओर प्रवृत्त करती है। स्वार्थवश आत्मदुःख का अनुभव करना बुरा है, किन्तु मूलतः अनुकम्पा हितकर है। दुःखान्त नाटक एक प्रकार का सुधारकर्त्ता ही है। लेसिंग का विचार है कि सुखान्त एवं दुःखान्त दोनों प्रकार के काव्य वासनाओं के निर्मलीकरण में साधनस्वरूप हैं। वह उन वासनाओं को प्रभावित करते हैं, जिनका न तो पूर्णतया

लेसिंग

१. 'थ्योरी ऑफ ड्रामा'।
२. 'ट्रेजेडी'।

दमन हो सकता है, न जिनमें लीन ही हुआ जा सकता है। उनके लिए कोई-न-कोई मार्ग चाहिए। यह मार्ग ऐसे नाटक, दृश्यों अथवा काव्यों के पठन-श्रवणादि से मिल जाता है और परिणामत: अन्य काल में उनके कारण कोई दुष्परिणाम उत्पन्न नहीं होता।

लेसिंग के मत में लोक-व्यवहार के विरुद्ध वासनाओं के प्रयोग के द्वारा हृदय के निर्मलीकरण में विश्वास प्रकट किया गया है। वस्तुतः हृदय की निर्मलता के लिए संयम की जितनी आवश्यकता है, उतनी उनके प्रयोग और ध्यान की नहीं।

जे० ड्राइडन ने दु:खात्मक नाटक के द्वारा सुखकर विचारोद्रेक तथा महत्त्व की प्रतिष्ठा को ही काव्य का मूल उद्देश्य माना है। उनका विचार था कि

ड्राइडन

अत्यन्त सदाचारी तथा महान् व्यक्ति को भी दुर्भाग्य-वश पीड़ा सहते हुए देखने से हमारे हृदय में दया का संचार हो जाता है और अनायास ही दुखी व्यक्ति के प्रति हमें सहानुभूतिमय और कोमल-हृदय बना देता है। ऐसा होना परमोत्तम तथा देव-तुल्य गुण है। ड्राइडन का यह विचार पूर्वोक्त ध्येयवाद-सिद्धान्त से मिलता हुआ है और इसमें निश्चय ही एक सत्य का उद्घाटन किया गया है।

श्लेगेल ने एक नवीन सिद्धान्त की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उनके मतानुसार विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपनी सीमित शक्तियों

श्लेगेल

के साथ प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए छोड़ दिये गए हैं। हमारी धारणा का परिणाम यह होता है कि हम अपनी अशक्ति के बोधस्वरूप खेद का अनुभव करने लगते हैं और भाग्यवादी हो जाते हैं। उससे एक ओर हमारे अहंकार का शमन होता है और दूसरी ओर दुःख में धैर्य भी प्राप्त होता है। जीवन की इस अलौकिकता के कारण एक प्रकार की उदात्त सुखानुभूति उपस्थित होती है। यही करुण का आनन्द है। दु:खान्त काव्य को पढ़ या सुनकर हमें यह विश्वास हो जाता है कि उसके दृश्यों का आधार मानव-प्रकृति ही है। यह देखकर ही उससे एक प्रकार का सन्तोष-सा मिलता है।

श्लेगेल का उक्त मत भी विशेष समाधान प्रस्तुत नहीं करता। सभी प्रेक्षक भाग्यवादी हों, यह सम्भव नहीं है। पुरुषार्थ में विश्वास करने वाला या सुखी व्यक्ति दु:खान्त नाटक को मानवी प्रकृति पर आधारित मानकर ही सन्तुष्ट नहीं होगा, अतएव यह सिद्धान्त भी आनन्द-सिद्धान्त का ठीक प्रतिपादन नहीं कर पाता।

टिमोक्लीस नामक विद्वान् की धारणा है कि प्रेक्षक दुःखद दृश्यों को देखकर

अपने विगत दुःखों से उनकी तुलना करने लगता है। दूसरे व्यक्ति को अपने ही समान कष्ट उठाते हुए देखकर वह उनकी दुःखदता को सहन कर लेता है। यह मत भी श्लेगेल के मत के समान ही त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि लोक-व्यवहार में अपने समान किसी को कष्ट उठाता हुआ देखकर हमारे हृदय में करुणा का आवेगपूर्ण उद्वेलन होता है और हम उसे बचाने के लिए तत्पर होते है, न कि दुःख-सहन करके सन्तोष प्राप्त करते हैं। दूसरे का दुःख देखकर तो केवल अपना दुःख-सहन करने की शक्ति मनुष्य में आ जाती है। अपने दुःख के आधार पर दूसरे के दुःख से सन्तोष नहीं किया जाता।

टिमोक्लीय

रूसो का मत है कि मनुष्य के अन्दर आसुरी या पाशविक वृत्ति का निवास है। अतएव वह दूसरों को दुःख पाते देखकर शान्ति का अनुभव करता है। इस मत से अधिक अपमानजनक कोई दूसरा मत मानव जाति के लिए नहीं हो सकता। दूसरे के दुःख से दुखी होने का सिद्धान्त स्वीकार करके हम मनुष्य की सत्प्रवृत्ति की उपेक्षा करते हैं। अतएव यह मत किसी भी विचारक को प्रभावित नहीं कर सका। फिर भी इसमें इतना सत्य तो अवश्य ही निहित है कि प्रेक्षक उस काल में अपने को उस दुःख से युक्त देखकर, जिस मुक्ति का अनुभव करता है, वह एक सुखद विश्वास में ही प्रकट होती है।

रूसो

शोपेनहॉवर ने दुःखान्त नाटक के द्वारा जगत् की निस्सारता का पता लग जाने पर सत्य के उद्घाटन के फलस्वरूप आनन्द की सिद्धि मानी है। स्पष्ट है कि उनका यह सिद्धान्त थोथा और निस्सार है। एक तो किसी वस्तु की निस्सारता का ज्ञान होने पर आनन्द की सिद्धि के विपरीत खेद ही उत्पन्न होता है। दूसरे, सभी को संसार की निस्सारता का ज्ञान हो जाय, यह संभव नहीं दीखता। तीसरे, जो लोग संसार को ही प्रधान मान बैठे हैं, उनको ऐसा ज्ञान होने पर आनन्द की सिद्धि के विपरीत दुःख और खेद की सिद्धि ही अधिक होगी।

शोपेनहॉवर

फोन्टनेल नामक विद्वान् सुखात्मक तथा दुःखात्मक अनुभव में परस्पर अत्यन्त क्षीण स्तर-भेद मानते हैं। उनके विचार से जिस प्रकार सुई को शरीर में मृदुलता पूर्वक गड़ाने की अपेक्षा अकस्मात् पूर्ण प्रवेग के साथ उसे शरीर में धँसा देने में अधिक कष्ट होता है, उसी प्रकार लोक-व्यवहार में अपने ऊपर पड़े हुए कष्ट नाटकादि में प्रदर्शित आत्मनिरपेक्ष कष्ट की अपेक्षा अधिक कष्टकर होते

फोन्टनेल

हैं। हमें यह ज्ञान रहता है कि नाटक में प्रदर्शित कष्ट वास्तविक नहीं है, अतएव हमारे ऊपर उसका कष्टकर प्रभाव क्षीण होकर ही पड़ता है। इसीसे आनन्द की सिद्धि होती है। फोन्टनेल का यह मत विश्वनाथ के सुरत-सम्बन्धी मत के समान है।

ह्यूम

ह्यूम महाशय ने परिस्थिति की उत्कट भयंकरता को ही दुःखान्त काव्य के आनन्द का कारण माना है। उनका विचार है कि यदि हम किसी अत्यन्त भयंकर परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो भी हमें आनन्द ही आता है। ल्यूकस के शब्दों में ह्यूम का विचार यह है कि किसी तलवार को देखकर हमें भय का अनुभव अवश्य होता है, किन्तु यदि हमें यह भी ज्ञात हो जाय कि इसी तलवार से अमुक राजा की हत्या की जा चुकी है, तो उसकी भयंकरता बढ़ जाती है। उसकी भयंकरता के ज्ञान से उत्पन्न उद्वेलन के कारण ही हमें उसे देखने में आनन्द आता है।

ह्यूम का यह मत कुछ साहसी लोगों के लिए अवश्य ही सच माना जा सकता है। उन्मद बलिदानियों की तो कथा ही और है, किन्तु सामान्य व्यक्ति भयंकर स्थिति को देखकर उससे भागता ही है, उसमें आनन्द नहीं लेता। सपेरा साँप खिलाने में आनन्द का अनुभव करे तो करे, प्रत्येक दर्शक तो उसके समीप भी न जाना चाहेगा। ह्यूम ने इसके अतिरिक्त किसी अन्य कारण का उल्लेख नहीं किया है। अतएव उनका यह मत अपूर्ण ही सिद्ध होता है।

हीगेल तथा नीत्शे

आदर्शवादी हीगेल ने सद्गुणों के द्वन्द्व से ही आनन्द की सिद्धि मानी है। इनके अनुसार कहा जा सकता है कि 'उत्तररामचरित' का आनन्द हम इसलिए लेते हैं, क्योंकि वहाँ राम की सद्वृत्ति तथा सदुद्देश्य का सीता के पावित्र्य से संघर्ष दिखाया गया है। दोनों का संघर्ष और उनमें से एक की सहन-शक्ति तथा दूसरे की विजय ही हमें चमत्कृत करती है।

हीगेल के इस मत में ऐसी रचनाओं का विचार छूट गया है, जो सद्वृत्ति के साथ असद्वृत्ति के संघर्ष को प्रस्तुत करती हैं। नीत्शे ने इन रचनाओं में इसीलिए आनन्दोत्पादन की सामर्थ्य मान ली कि इनमें भी सद्वृत्ति की ओर से प्रदर्शित सहन-शक्ति आदि चमत्कार उत्पन्न करती हैं।

दोनों विचारकों का दृष्टिकोण यह है कि ऐसी रचनाएँ सद्गुण को उभारकर आदर्श की स्थापना करती हैं, अतएव आनन्ददायिनी ही मानी जानी चाहिएँ। इस दृष्टि से ये मत पूर्वोक्त ध्येयवादी मत ही ठहरते हैं।

श्री आइ० ए० रिचर्ड्स का विचार है कि दुःखान्त नाटकों में परस्पर विरोधी गुणों का जैसा सन्तुलन अथवा सम्मिलन होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। अनुकम्पा और भय दोनों ही परस्पर विरोधी हैं, किन्तु दुःखान्त नाटक में दोनों ही सम्मिलित रहते हैं। किसी सत्पात्र को पीड़ित देखकर अनुकम्पा जाग्रत होती है, साथ ही उसके कष्टों की भयंकरता भयोत्पादक व्यक्ति या कारण-विशेष के प्रति विकर्षण उत्पन्न करती है। इन्हीं विरोधी भावों के सम्मिलन से मन एक प्रकार के हल्केपन अथवा उन्मुक्त भाव का, संतुलन अथवा स्वस्थता का अनुभव करता है। सन्तुलन ही हमारे आनन्द का कारण है।

आइ०ए० रिचर्ड्स

रिचर्ड्स का सन्तुलन-सिद्धान्त व्यापक नहीं प्रतीत होता। उन्होंने स्वयं ही इसके अपवादों का उल्लेख किया है। दूसरे, सदैव सभी कृतियों में दोनों भावों की समकालिक सिद्धि हो, यह भी अनिवार्य नहीं है। 'उत्तररामचरित' का ही उदाहरण लें, वहाँ सीता के प्रति अनुकम्पा जाग्रत होने पर भी राम के प्रति विकर्षण उत्पन्न नहीं होता, कम-से-कम उस मात्रा में उत्पन्न नहीं होता, जिस मात्रा में अनुकम्पा जगती है। अतएव दोनों के सम्मिलन का सम्बन्ध होकर भी सन्तुलन घटित नहीं होता। इसके अतिरिक्त भय अनुकम्पा का विरोधी न होकर प्रायः उसीमें अन्तर्भूत हो जाता है। जिसके प्रति हमारी अनुकम्पा जाग्रत होती है, उसके सम्बन्ध में ही हमें यह भय बना रहता है कि उसे कोई हानि न पहुँचे। यह विरोध की नहीं, परस्पर साहाय्य की ही स्थिति है। अभिप्राय यह है कि रिचर्ड्स का सन्तुलन-सिद्धान्त भी खरा नहीं है।

निकोल दुःखान्त नाटकों में प्रयुक्त पद्य की लय को आनन्द का कारण मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि लय तथा संगीत सदैव प्रस्तुत भाव का विवर्धन ही करते हैं, उन्हें परिवर्तित नहीं करते। दूसरे, गद्यात्मक दृश्य-काव्यों पर यह सिद्धान्त लागू न होगा। अतः निकोल का मत नितान्त अवहेलनीय है।

एलरडाइस निकोल

अन्त में यूरोपीय विद्वानों के अन्तिम मत के प्रस्तुतकर्त्ता श्री ल्यूकस के मत पर भी विचार कर लिया जाय। अन्य लेखकों के विचारों का विवेचन करने के अनन्तर ल्यूकस ने स्वमत को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि हम नाटक देखकर अपने भावों से छुटकारा पाने के लिए प्रेक्षागृह में नहीं जाते, अपितु जीवन-दर्शन ही हमारा ध्येय होता है और उसकी वास्तविक मूर्ति देखकर ही हमें आनन्द आता है। दुःखान्त नाटक हमारे दुर्गुणों और कष्टों का दर्पण है,

एफ० एल० ल्यूकस

उसमें जीवन की समस्याएँ प्रतिफलित होती हैं। वस्तुतः दुःखान्त नाटक की सफलता जीवन के गम्भीर सत्यों के मर्मोद्घाटन में है। महत्त्वहीन अथवा सत्य प्रतीत न होने वाली घटना हमें प्रभावित न कर सकेगी। दुःखान्त नाटक दैवी आपत्तियों के प्रति मानव की प्रतिक्रिया का परिणाम है। वह हमें कष्ट सहन करने की शक्ति देता है। इसी कारण हम आनन्द-लाभ करते हैं।

हम समझते हैं कि ल्यूकस का मत भी ध्येयवाद तथा शोपेनहॉवर एवं श्लेगेल के मतों का सम्मिश्रित रूप ही उपस्थित करता है।

पूर्वोक्त ३० से अधिक मतों की परीक्षा करने से विदित होता है कि यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रस्तावित सिद्धान्त एकांगी और सीमित दृष्टि को ही प्रस्तुत कर सके हैं। भारतीय मत के समान दार्शनिक पृष्ठभूमि का नियोजन उनमें नहीं दिखाई पड़ता। परिणाम यह हुआ है कि वे भौतिक सुख की ही व्याख्या में दत्तचित्त रह गए हैं, आत्मा के आनन्द-स्वरूप के उद्घाटन में प्रवृत्त नहीं हो सके। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारे यहाँ एकान्ततः आत्मा की उपलब्धि पर ही ध्यान रखा गया है, क्योंकि सारे मतों पर ध्यान देने से प्रतीत होगा कि हमारे यहाँ भी करुण की आनन्दात्मकता के अनेक कारण उपस्थित किये गए हैं। कुछ लोग तो ऐसे हैं जो काव्य की अलौकिकता और नियतिकृत-नियमरहितता के पूर्ण विश्वासी होने के कारण इस सम्बन्ध में और किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं समझते। काव्य और लोक-व्यवहार में अन्तर है, अतएव उसके परिणाम में भी स्वाभाविक रूप से अन्तर है। इसलिए सम्बन्ध-निरपेक्ष काव्य की आनन्दस्वरूपता में अविश्वास दिखाने की कोई बात ही नहीं होनी चाहिए। काव्य की इस लोक-बाह्यता में यूरोप के कलावादी भी विश्वास प्रकट करते हैं। इस प्रकार सम्बन्ध-निरपेक्ष स्थिति को स्वीकार करने का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि काव्य में प्रकट भाव को उसके शुद्ध-भाव में भी आस्वाद-रूप मान लिया जाता है और लोक-बाह्यता के आधार पर ही कल्पना के चमत्कार को स्वीकृति मिल जाती है। इस सम्बन्ध-निरपेक्षता का एक और महत्त्वपूर्ण परिणाम भी होता है, जिसे भट्टनायक आदि ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया ही है। वह है रज तथा तम के अंश के शमन के साथ सत्व की उपस्थिति। रज तथा तम ही मोह के उपस्थितिकारक होते हैं, अतः सत्व के उपस्थित होने का अभिप्राय है दुःख-रूप मोहादि से मुक्त हो जाना और इस तरह कटु अनुभूतियों से बच जाना। किन्तु कटु अनुभूतियों से बच जाना केवल एक अभावात्मक स्थिति है और सदैव यह नहीं कहा जा सकता कि दुःख

का अभाव ही सुख होता हैं। फोड़े का होना कष्टकारक है, उसका चिराव हो जाने पर दुःख दूर भी हो जाता है, किन्तु मात्र वही स्थिति आनन्द नहीं कहलाती। हमें दुःख से बच निकलने की प्रसन्नता का अनुभव अवश्य होता है, किन्तु इतना ही अलम् नहीं है, यही अन्त नहीं है। हमारी उस प्रसन्नता का मूल कारण होता है, जीवन-विकास की दिशा में अग्रसर होने की आशा का संचार होना। हमें वस्तुतः इस बात का आनन्द होता है कि अब हम और जीवित रह सकेंगे, संसार में कुछ कर सकेंगे। इस प्रकार हमें जो भावात्मक प्राप्ति या लाभ होता है, वह दुःख से बच जाने-मात्र की अनुभूति से अधिक महत्त्वपूर्ण और उससे आगे है। यही कारण है कि अभावात्मक दर्शन न्याय, वैशेषिक और सांख्य रस-जन्य आनन्द का रहस्य उद्घाटित नहीं कर पाते और भाववादी वेदान्त तथा शैव-दर्शन उस दिशा में समर्थ दिखाई देते हैं। आत्मा की सहज-आनन्दरूपता में विश्वास रखे बिना इस रहस्य का उद्घाटन हो ही नहीं सकता। शैव-दर्शन इसी आनन्दरूपता के प्रति विश्वास प्रकट करता है, अतएव उसके आधार पर करुण से भी आनन्द की उपलब्धि का वास्तविक रहस्य समझा जा सकता है। इसीलिए रवीन्द्र आदि का आत्म-संप्राप्ति या आत्म-विस्तार-सिद्धान्त इस स्थल पर मान्य ठहराया जा सकता है। इसीलिए यूरोपीय विद्वानों ने जिस विरेचन अथवा विशुद्धीकरण या सामंजस्य की दीर्घकाल तक गाथा गाई है, वह भारतीय सिद्धान्त की बराबरी नहीं कर पाता। उद्वेग और शमन, विशुद्धीकरण अथवा सामंजस्य के द्वारा भी हमें सुख का अनुभव तो होता है, किन्तु वह सुख आत्मोपलब्धि के आनन्द के समान नहीं कहला सकता। दोनों में अन्तर यह है कि एक हमें जीवन-संघर्ष से बचा-भर लेता है और दूसरा उस संघर्ष में भी आनन्द को स्वीकार करता है, उसमें भी आत्मानुराग का प्रसार करता है। एक में कष्ट से मुक्ति का सुख है और दूसरे में जीवन-प्रेरणा का सुख है। संघर्ष में भी हमारी निर्लिप्त, निरासक्त, शुद्ध, प्रबुद्ध चेतना कार्यशील रहकर उस अनुभूति को सहज आनन्दमय बना देती है। यह काम यूरोपीय सिद्धान्तों से नहीं होता। इसीलिए हमने कहा है कि दोनों में अन्तर है और भारतीय सिद्धान्त यूरोपीय सिद्धान्त की सीमाओं के पार की सीढ़ी है, जो अन्तिम है। यूरोपीय सिद्धान्त तो केवल सत्व की उपस्थिति तक जाकर रुक जाते हैं और इसीलिए अरस्तू ने कटु भावों के विरेचन द्वारा मन की शान्ति का चिकित्सा-शास्त्र के आधार पर वर्णन कर दिया है, तो रिचर्ड्स ने अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य की बात मनोविज्ञान की शब्दावली में उपस्थित कर दी है। बात एक ही है। हमारे यहाँ की सत्व की उपस्थिति दार्शनिक शब्दावली ग्रहण कर

लेती है। किन्तु भारतीय दर्शन यहीं नहीं रुकता, अतएव साहित्य भी आत्मा के आनन्दस्वरूप की खोज में प्रवृत्त होकर और आगे बढ़ जाता है। इसी आत्मा की आनन्दस्वरूपता के रहस्य को ग्रहण करते हुए भारतीय चिन्तक सहज भाव से जीवन के वैचित्र्य और वैविध्य, सुख-दुःख के संपोष में आनन्द ले सकता है। इसी रहस्य को समझकर यहाँ का कवि गा उठता है :

"सुख-दुःख के मधुर मिलन से, यह जीवन हो परिपूरन।
फिर घन में ओझल हो शशि, फिर शशि से ओझल हो घन।"

अथवा वह भली प्रकार समझता है कि **"सुख-दुःख की आँखमिचौनी, है खेल आँख का मन का।"** अतएव वह **'सुख से आविल, दुःख से पंकिल'** जीवन को सहज ही व्यतीत कर सकता है। दुःख में भी प्रभु का वरदान और मंगल खोजकर कर्म-पथ पर अग्रसर होता रहता है। इसलिए वह मानव-जीवन के सभी कार्यों में रुचि लेता चलता है। पश्चिम का रुचि-सिद्धान्त इसी दृष्टि का किंचित् संकेत-मात्र करके रह जाता है। विश्वनाथ तथा भोज आदि के भारतीय मतों में इसी भावना को अभिव्यक्ति मिली है। शुक्लजी के कथन का भी हमें इतना ही अभिप्राय जान पड़ता है और अभिनवगुप्त ने भी जो भय का उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसके विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि हमें अनुभव तो उसी भाव का होता है, तथापि उस समय कोई विघ्न न होने के कारण वह अबाधित अनुभव भी प्रभावशाली और मग्नकारी होने के कारण रसमय माना जाता है। इसीलिए निर्विघ्न आस्वाद की कल्पना की जाती है। रस आस्वाद ही तो है : **'आस्वाद्यते इति रसः।'** विघ्न-विनिर्मुक्त दशा, जिसे शुक्लजी, मुक्तावस्था कहते हैं, को प्रभाव के विचार से चाहे आस्वादनीय कह लें चाहे आनन्दात्मक, कोई अन्तर नहीं पड़ता। विघ्न-विनिर्मुक्ति आत्म-विश्रान्ति की जनक है। आत्म-विश्रान्ति ही सुख है। अतएव यदि दुःख का अनुभव भी विश्रान्ति-भाव से किया जायगा, तो उसे सुख न कहेंगे तो क्या कहेंगे? सुख को साहित्यिक क्षेत्र में रसास्वाद कहें और आध्यात्मिक क्षेत्र में आनन्द, तो भी बात एक ही है। अतः हमारा स्पष्ट मत है कि सहृदय को काव्यवर्णित भाव की ही अनुभूति होती है, और यही कवि को अभिप्रेत भी है, किन्तु उस समय किसी प्रकार का बाधक विघ्न उपस्थित न होने के कारण उस दुःखद भाव का भी हम तन्मयतापूर्वक अनुभव करते हैं। इसीलिए उस अवस्था को सुखात्मक या आनन्दात्मक कहते हैं।

आत्मा के इसी स्वरूप का ध्यान रखकर भारत में दुःखान्तकीयों के अभाव पर विचार करते हुए श्री कुप्पूस्वामी ने भी कहा है कि "भारतीय सिद्धा-

न्ततः जन्मान्तर तथा आत्मा की अवध्यता के परिपोषक रहे हैं। परिणामतः वे वर्तमान दुःख को दुःख ही नहीं मानते। आत्मा की शुद्ध-बुद्ध स्थिति उन सबसे ऊपर है। आत्म-ज्ञान के सहारे आनन्द-प्राप्ति ही उनका चरम लक्ष्य है। अतएव सांसारिक कष्टों पर उनकी आँख ही नहीं ठहरती। यही कारण है कि भारतीय साहित्य में दुःखान्त की रचना न हो सकी।"[1]

इस आध्यात्मिक व्याख्या के अतिरिक्त इस विषय में एक सामाजिक व्याख्या भी प्रस्तुत की जा सकती है, जिसका उपन्यास करते हुए स्वर्गीय प्रसादजी ने कहा है कि "पश्चिम को संघर्ष-रत रहना पड़ा, भाग्य से लड़ना पड़ा, अतः उन्होंने जीवन को ट्रेजेडी ही समझा। संघर्ष के लिए अग्रसर होते हुए उनमें पुरुषार्थ प्रधान होता गया। इसके विपरीत भारतीय आर्यों को किसी प्रकार के संघर्ष का सामना न पड़ने के कारण उन्हें निराशा ने नहीं घेरा। इसीसे वे करुण को भी रस मानते रहे। उनके लिए उसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। अभेद की सिद्धि में ही उन्हें निर्विकार आनन्द की उपलब्धि दीख पड़ी।"[2] अभिप्राय यह कि स्वामीजी तथा प्रसादजी दोनों ही भारतीयों में निराशा के अभाव को स्वीकार करते हैं, चाहे कारण कुछ भी हो। इस प्रकार आध्यात्मिक ढंग से ही नहीं, सामाजिक ढंग से भी भारतीय आनन्दवाद की पुष्टि होती है।

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त भारतीय पक्ष बौद्ध-दुःखवाद के आधार पर शोपेनहॉवर तथा श्लेगेल की भाँति ही यह कह सकता है कि जगत् के सत्य स्वरूप की जानकारी उसके दुःखमय होने के रूप में होती है। दुःख ही प्रथम आर्य-सत्य है और इसकी जानकारी से ही जीवन का चरम-सत्य उपलब्ध होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप आनन्द उपस्थित होता है और नियतिवाद का रूप धारण कर लेता है। काव्य में उसीका अनुप्रवेश जीवन के सत्य का उद्घाटन-कर्ता बनकर उपस्थित होता है और आनन्द उत्पन्न करता है।

इन सब आध्यात्मिक उपपत्तियों को उपस्थित करते हुए भी भारतीय दृष्टि ने काव्य के अलंकरण, पद-रचना, संगीत आदि साधनों और उपकारकों का तिरस्कार नहीं किया है। भट्टनायक ने तो काव्य-शक्तियों को ही महत्त्व दिया था। अन्य मतों के विवेचकों ने भी कवि, काव्य और सहृदय की आत्मा तीनों का पूर्ण ध्यान रखा है, इसके सम्बन्ध में सन्देह को अवकाश नहीं है। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध में हुए सारे विवेचन पर ध्यान देने से यह रूप भी सहज

१. हा० बा०, पृ० ७४-७५।
२. का० अ० नि०, पृ० ८४।

ही उपस्थित होता दिखाई देता है। सारांश यह है कि भारतीय दृष्टि जहाँ एक ओर आध्यात्मिक क्षेत्र में विचरण करती रही, वहाँ दूसरी ओर उसमें सामाजिक दृष्टिकोण का भी सर्वथा अभाव नहीं रहा है और दोनों के आधार पर ही हम इस आनन्दवाद की धारणा को पुष्ट होते हुए पाते हैं। उनका ध्यान जैसा आत्मिक-प्रक्रिया पर है, वैसा ही कलात्मक-प्रक्रिया पर भी है।

भारतीय तथा यूरोपीय दृष्टि के विभेद ने ही यह भेद भी उपस्थित कर दिया है कि जहाँ दुःखान्तकी में करुणा और त्रास का समन्वय माना जाता है, वहाँ करुण में भी शोक के द्वारा करुणा तथा बन्धुजन-विनाश, वध आदि के द्वारा त्रास की योजना करते हुए भी भयानक को पृथक् रूप से रस मान लिया गया है। हमारे यहाँ शोक को यूरोप के समान मिश्र-भाव न मानकर, भय को उससे अलग करके भी उसके सहायक और संचारी के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। वह पृथक् भी रह सकता है और करुण का संचारी भी हो सकता है। यूरोपीय पण्डित त्रास का करुण के साथ मिश्रण दुःखान्तकी के लिए अनिवार्य मानते हैं, परन्तु हमारे यहाँ वध के स्थान पर मृत्यु को भी शोक का कारण मानकर उसे त्रास-विहीन स्थिति के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। त्रास उसके लिए इस प्रकार अनिवार्य नहीं रहता, क्योंकि मृत्यु तो वध के बिना स्वभावतः भी होती ही है। इस प्रकार दोनों के दृष्टिभेद के कारण दोनों में परिणाम-भेद भी स्वाभाविक रूप से पाया जाता है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि करुण की आनन्दात्मकता का जितना सहज समाधान चतुर्मुखी रूप में भारतीय सिद्धान्त कर सका है, उतना यूरोपीय सिद्धान्त से वह नहीं होता।

अन्त में हम पुनः कहना चाहते हैं कि,

१. रसास्वाद कर्त्ता के कई नाम साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं और उनकी योग्यताओं का भी वर्णन किया गया है। इन योग्यताओं में सहृदयत्व तथा पाण्डित्य दो ही प्रधान हैं। वस्तुतः सहृदयत्व की कल्पना प्रथम बार नाट्य—दृश्य-काव्य—के सम्बन्ध में हुई थी और पाण्डित्य का उल्लेख श्रव्य-काव्य के सम्बन्ध में किया गया था। कालान्तर में दोनों को एक साथ स्वीकार कर लिया गया।

२. रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहने का अभिप्राय यह है कि यह ब्रह्मानन्द के सदृश ही प्रभावकारी है। किन्तु न्याय, सांख्य, योग अथवा वेदान्त के अनुसार इसकी ठीक व्याख्या नहीं की जा सकती। इसके लिए शैव-दर्शन का ही सहारा लेना होगा। उस नाम के द्वारा रस को केवल लौकिक तथा

अलौकिक अनुभूति से पृथक् दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

३. रसास्वाद का सम्बन्ध न तो मधुमती-भूमिका से है और न विशोका सिद्धि से।

४. रसास्वाद के लिए विघ्न-नाश मुख्य शर्त है। विघ्न-विनाश के बिना पाण्डित्य और सहृदयत्व भी काम न दे सकेंगे। हाँ, विघ्न-विनाश में इनका भी योग तो रहता है।

५. करुण दृश्यों से भी आनन्दावाप्ति इसलिए मानी जाती है, क्योंकि शैव-दर्शन के अनुसार आत्म-विश्रान्ति ही वास्तविक सुख है। रस में भी हम निर्विघ्न भाव से ही मग्न होते हैं, अतः वह भी आत्म-विश्रान्ति के सदृश है। किन्तु यह न मानना चाहिए कि हमें केवल आनन्द का ही अनुभव होता है, अर्थात् शोक भी आनन्द में परिवर्तित हो जाता है, अपितु वर्णित भाव का ही हम अनुभव करते हैं और वह अनुभव भी निर्विघ्न होने के कारण आनन्द ही उत्पन्न करता है।

६. रसास्वाद के लिए श्रव्य-काव्य में काव्यालंकरण-सामग्री बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। उससे भी करुण रस की आनन्दात्मकता का पोषण होता है।

६

रसाभास

उचितानुचित का विवेक ही रस-भाव तथा उनके आभास का प्रवर्त्तक है। अनौचित्य ही रस-भंग का मूल कारण है[1] और वही आभास की आधारभूमि भी है। इस सम्बन्ध में न रसवादी आचार्यों को सन्देह है, न अलंकारवादियों को। जितने स्पष्ट शब्दों में आचार्य अभिनवगुप्तपाद[2] ने इस बात को समझाया है या मम्मट,[3] विश्वनाथ[4] तथा पण्डितराज[5] ने कहा है, उतने ही स्पष्ट शब्दों में रुय्यक[6] आदि ने भी अनौचित्य को रसाभास-भावाभास का मूल कारण बताया है। फिर भी इन सबके विवेचन में परस्पर भिन्नता दीख पड़ती है। अनौचित्य का स्वरूप निर्धारित करने में यह एक-दूसरे से भिन्न मतों की स्थापना कर जाते हैं। इसके साथ ही यदि औचित्य-सिद्धान्त के विलोम के रूप में देखें, तो काव्य-सम्बन्धी प्रत्येक प्रसंग से आभासता का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है और इस रूप में इस प्रकरण को व्यापकता प्रदान की जा सकती है। इनमें से कुछ का विवरण देना यहाँ उचित होगा।

परिभाषाएँ

शिंगभूपाल रसाभास का विचार रस-प्रधानता के विचार से उपस्थित करते हुए कहते हैं कि अंग-रस को स्वेच्छापूर्वक अंगी रस से अधिक प्रतिष्ठा देना ही रसाभास है।[7] इस स्थिति को दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अमात्य का

शिंगभूपाल

१. अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्। ध्व०, ३। पृ० ३३०।

२. औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः अनौचित्येन तदाभासः। लोचन, पृ० ७८।

३. तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः। का० प्रकाश, सू० ४६।

४. अनौचित्यप्रवृत्तत्वं आभासो रसभावयोः। सा० द० ३।२६२।

५. हि० र० ग०, पृ० १४२।

६. आभासत्वमविषयप्रवृत्यानौचित्यम्। अ० स०, पृ० २३२।

७. अंगेनांगी रसः स्वेच्छावृत्ति वर्धित सम्पदा। र० सु०, पृ० २६३।

स्वामी के समान आचरण करना अनुचित तथा लोकातिक्रांत समझा जाता है, उसी प्रकार अंगी अर्थात् प्रधान या स्वामी रस को अप्रधान अर्थात् सेवक की भाँति अनुगामी बना देना भी अनुचित है।[१]

शारदातनय ने भी शिंगभूपाल के समान ही अंगी रस की अप्रधानता को रसाभास बताया है, किन्तु उन्होंने इसी बात को एक गणितज्ञ की भाँति उपस्थित किया है। उनका कथन है कि जहाँ प्रधान रस एक हिस्सा तथा अप्रधान या अंगभूत रस दो हिस्सा प्रयोग किया जाता है, वहाँ रसाभाव होता है।[२] शारदातनय के विचारों की नवीनता का संकेत इस प्रसंग में दूसरे रूप में मिलता है। रसाभास की उपस्थिति के लिए वे दो बातों को विशेषतया उत्तरदायी मानते हैं। एक, विरोधी रसों का संयोजन तथा दूसरे, आश्रय में उन भावों का प्रदर्शन जो उसके जातीय धर्म के सर्वथा विपरीत हैं।

शारदातनय

शारदातनय ने कहा है कि हास्य से अभिभूत शृंगार शृंगार रस का, हास्य और बीभत्स का सम्मिश्रण हास्य रस का, वीर तथा भयानक का सम्मिलन वीर रस का, बीभत्स तथा करुण का संश्लेष अद्भुत का, शोक एवं भय से आविष्ट रौद्र रौद्र रस का, हास्य तथा शृंगार से खचित करुण करुण रस का, बीभत्स, अद्भुत तथा शृंगार का सम्मिलन बीभत्स रस का, वीर तथा रौद्र का संयोग भयानक रस का एवं इसी प्रकार अनेक विरोधी रसों का सम्मिश्रण अनौचित्यपूर्ण होने के कारण तत्तद् रसों का रसाभास होता है। इसी प्रकार आश्रय के जातीय धर्म के प्रतिकूल उसके भाव दिखाने से भी रसाभास उपस्थित होता है। जैसे, सभाओं में नारी-समाज के सम्मुख किसी पुरुष का वीरता-प्रदर्शन, युद्ध के भय के कारण किसी वीर का पलायन वीर रस नहीं अपितु वीर रसाभास-मात्र कहलायगा। दिव्य वस्तुओं के देखने पर उर-ताडनादि से अद्भुताभास और रौद्र कर्म करने पर भयभीत होने या अनुशोचन करने पर रौद्र रसाभास होता है[३]। इसी प्रकार अन्य रसों के रसाभास के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने भी रसाभास के प्रश्न को सामाजिक एवं नैतिक आचार-तुला पर तौलकर विभाव के अनौचित्य से रसाभास की उत्पत्ति ठहराई और कहा कि नायक के अतिरिक्त अन्य पुरुष में नायिका का प्रेम अनुचित

१. अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत्। र० सु०, पृ० २६३, १।२।

२. भा० प्र०, पृ० १३३।

३. वही।

विश्वनाथ

है, इसी प्रकार गुरु-पत्नी के प्रति प्रेम, स्त्री तथा पुरुष में से केवल एक की ओर से प्रेम, नायिका का अनेक पुरुषों के प्रति प्रेम अथवा प्रतिनायक या नीच पात्र के प्रति प्रेम का वर्णन शृंगार रस के अनौचित्य का ही रूप उपस्थित करता है, अतएव उस दशा को रसाभास-मात्र कहा जायगा, रस नहीं। इसी प्रकार यदि गुरु आदि गुरुजनों या पूज्य व्यक्तियों में से किसी के प्रति क्रोध प्रदर्शित किया जायगा तो वह रौद्र रसाभास कहलायगा और नीच पुरुष का शान्त स्वभाव वर्णित होने से शान्त-रसाभास, गुरुजनों के प्रति उपहास करने से हास्याभास, ब्राह्मण-वध आदि कुकर्मों में उत्साह होने से वीर रसाभास और उत्तम पात्र में भय दिखाने से भयानक रसाभास होता है।[1]

शील का अनुमोदन करने वाला, विश्वनाथ का यह मत, सामाजिक नीति-नियमों के उल्लंघन को समाज के लिए घातक अतः अनुचित मानता है। सामाजिक नीति की उपेक्षा करके शील के आवर्जक काव्य से भला सहृदय को रस कैसे आ सकता है? ऐसी दशा में उसे रसाभास-मात्र मानना पड़ेगा। ध्यान देने से पता लगेगा कि इस शील-समर्थन के भी विश्वनाथ के दो दृष्टिकोण हैं: (१) सदाचार विषयक, तथा (२) लोकानुमोदित अथवा व्यवहारोचित। पहले के अन्तर्गत शृंगार रसाभास के सम्बन्ध में वर्णित अनौचित्य आता है और दूसरे की सीमा ब्राह्मण-वध-निषेध तक बताई जा सकती है। अभिप्राय यह है कि सदाचार, लोकाचार तथा स्वाभावगत धर्मों के विपरीत आचरण का वर्णन करने से काव्य में रसानौचित्य उपस्थित हो जाता है, जिससे उस स्थल पर रस न रहकर रसाभास होता है।

आचार्य विश्वनाथ के इस शील-निरूपण तथा लोक-मर्यादावाद आदि का सुविकसित एवं सुव्याख्यात रूप हमें पण्डितराज के अनौचित्य-वर्णन में मिलता

पण्डितराज

है। उन्होंने अत्यन्त विस्तार से इस विषय पर अपना मत प्रकाशित किया है। इस प्रकार विस्तृत विचार करने वालों में शिंगभूपाल तथा शारदातनय के साथ उनकी गणना होनी चाहिए। इन तीनों ही लेखकों ने विस्तार के अतिरिक्त नवीनता पर भी ध्यान रखा है, अतएव इनका वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पण्डितराज ने बताया है कि अनुचित बातों के वर्णन द्वारा रस-भंग होता है, अतएव उसका वर्णन नहीं होना चाहिए। रस-भंग से उनका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार तरल पदार्थ, शरबत आदि पीते हुए उसमें किरकरी आ जाय

१. सा० द०, ३।२६३-६५।

तो शरबत का सारा मज़ा जाता रहता है, आस्वाद फीका हो जाता है; उसी प्रकार यदि रसानुभव में खटकने वाली बातें उपस्थित होती हैं, तो वहाँ रस-भंग मानना चाहिए और उसे रसाभास कहना चाहिए। अनुचित से उनका अभिप्राय है जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति तथा व्यवहार आदि पदार्थों के विषय में लोक और शास्त्र से सिद्ध एवं उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि से भिन्न प्रकार का होना। जाति आदि के विरुद्ध होने का तात्पर्य है, जैसे बैल और गाय आदि के तेज और बल का कार्य-वर्णन करना तथा सिंह आदि भयानक जीवों में सीधापन दिखाना। देश के विरुद्ध से तात्पर्य है, जैसे स्वर्ग में जरा, रोग आदि का वर्णन करना और पृथिवी पर अमृत-पान की कथा कहना। काल के विरुद्ध, जैसे शीतकाल में जल-विहार एवं ग्रीष्म में अग्नि-सेवन। वर्ण के विरुद्ध, जैसे ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्र का वेद पढ़ना। आश्रम के विरुद्ध, जैसे ब्रह्मचारी और संन्यासी के पान चबाने और स्त्री-समागम का वर्णन करना। अवस्था के विरुद्ध, जैसे बालक तथा वृद्ध के द्वारा स्त्री-संग तथा युवा पुरुष का वैराग्य धारण कर लेना। स्थिति के विरुद्ध जैसे दरिद्र का भाग्यवानों-जैसा आचरण करना और भाग्यवानों का दरिद्रों-जैसा आचरण करना। इसी प्रकार प्रकृति के विरुद्ध आचरण का प्रदर्शन भी रस-भंग का कारण होता है। उदाहरणतः, प्रकृति के विचार से हमारे यहाँ नायक दिव्य, अदिव्य तथा दिव्यादिव्य भेद से ३ प्रकार का, धीरोदात्तादि भेद से ४ प्रकार का और उत्तमादि भेद से ३ प्रकार का माना जाता है। इस प्रकार कुल छत्तीस प्रकार की प्रकृतियाँ दिखाई जा सकती हैं। इन नायकों में यद्यपि भय के अतिरिक्त अन्य सब रति आदि स्थायी भाव सर्वत्र समान ही होते हैं, तथापि संभोग रूप रति का जिस तरह मनुष्यों में वर्णन किया जाता है, उसी तरह सब अनुभावों को स्पष्ट करके उत्तम देवताओं के विषय में उनका वर्णन करना अनुचित है और संसार को भस्म कर देने में समर्थ एवं रात्रि और दिन को बदल देने आदि अनेक आश्चर्यों के उत्पन्न करने वाले क्रोध का जिस तरह दिव्य नायकों में वर्णन किया जाता है, उसी तरह अदिव्य नायकों में वर्णन करना अनुचित है। इसका कारण यही है कि दिव्य के प्रति हमारी पूज्यबुद्धि बनी रहती है और हमें उनकी अमित शक्ति में विश्वास होता है, परन्तु अदिव्य में इस प्रकार के वर्णन असत्यता का ही पोषण करते जान पड़ेंगे।[1]

पण्डितराज के विवेचन की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिया है कि विषय के अनौचित्य को रसाभास कहने की अपेक्षा यह

१. हि० र० गं०, पृ० १४२-१४४।

कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि भाव के अनुचित प्रवर्तन से ही रसाभास उपस्थित होता है। उनका कथन है कि कुछ विद्वान् अयोग्य विषय अथवा अनुचित विभाव को आलम्बन मानकर रति आदि अनुभव किये जायँ, तो वहाँ रसाभास होता है। विभाव के स्थिति अनुकूल अनौचित्य को जानना कठिन नहीं है। उसे सहज ही लोक-व्यवहार से जाना जा सकता है। जिसे और लोग भी व्यवहार में बुरा कहें, वही बुरा है। लोक-व्यवहार में अनुचित कहलाने वाला विभाव ही अनुचित होता है। ऐसे अनुचित विभाव के प्रति प्रकटित रत्यादि भावों से रस के स्थान पर रसाभास ही उपस्थित होगा। पण्डितराज को विद्वानों का यह मत मान्य नहीं जान पड़ा। उन्होंने आक्षेप किया है कि यद्यपि इस लक्षण के द्वारा मुनि-पत्नी आदि के विषय में होने वाली रति का संग्रह हो जाता है, तथापि अनेक नायकों के विषय में होने वाली रति का इसमें अन्तर्भाव नहीं होता। पहले उदाहरण में मुनि-पत्नी आदि को अन्य व्यक्ति अपना प्रेम-पात्र माने यह अनुचित है, अर्थात् मुनि-पत्नी इतर व्यक्ति के रति-भाव का आलम्बन नहीं कही जा सकती, किन्तु दूसरे उदाहरण में विभाव अनुचित न होकर प्रेम ही अनुचित-रूप में प्रवृत्त हुआ है। अतएव अनुचित विशेषण का प्रयोग रति आदि के साथ होना चाहिए, न कि विभाव के साथ। अर्थात् पण्डितराज के अनुसार रसाभास का लक्षण यह होना चाहिए कि जहाँ रति आदि अनुचित रूप में प्रवृत्त होते हैं, वहीं रसभास होगा।[1]

श्री अच्युताचार्य

'साहित्यसार' के रचयिता श्रीमदच्युताचार्य ने रसाभास तथा भावाभास की उत्पत्ति 'असंमतावलम्बन' तथा 'अयोग्य विषयता' से मानी है।[2] इन्हें क्रमशः लोकाचार-हीनता तथा अनुचित विभाव कहा जा सकता है। अतएव इनके नामोल्लेख-मात्र से काम चल सकता है।

सुधासागरकार और वामन

इसी प्रकार 'सुधासागर' के लेखक तथा 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार वामन झलकीकर का भी उल्लेख-मात्र करना उचित होगा। इनमें 'सुधासागर' के लेखक ने प्रकर्ष के विरोध को रसाभास कहा है, जिससे उनका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि अंगी रस को अंग रस के रूप में उपस्थित करना उचित नहीं है, अतएव ऐसे स्थल पर रसाभास मानना

---

१. हि०, र० गं०, पृ० २६९-७०।

२. असंमतावलम्बित्वादयोग्यविषयत्वतः।
रसाभासस्तथा भावाभासाश्च स्युरनुक्रमात्॥ सा० सा०, पृ० १३९।

चाहिए।[१] उनका यह मत शिंगभूपाल के मत से मिलता-जुलता ही है। वामन तो सीधे-सीधे लोक-शास्त्र के अतिक्रमण को ही रसाभास का कारण मानते हैं।[२]

यदि हम पूर्ववर्णित इन समस्त मतों को ध्यानपूर्वक देखें, तो हमें रसाभास के सम्बन्ध में कई दृष्टियों का संकेत मिलेगा। यों प्रधानता लोक-व्यवहार को ही मिली जान पड़ती है, किन्तु लोक-व्यवहार के सामाजिक, नैतिक आदि पक्षों की अवहेलना भी शुरू नहीं हुई है और शास्त्रीयता का भी ध्यान रखा गया है। संक्षेप में हम अभी तक के विवरण के आधार पर रसाभास के प्रति उपस्थित अनौचित्य-विषयक विचार के निम्न भेद कर सकते हैं :

रसवादी मतों का सारांश

१—रस का अनौचित्य (अ) रस-विरोध।
(ब) अंगी तथा अंगरस।

२. विभाग का अनौचित्य।

३. भाव का अनौचित्य।

४. स्वभाव का अनौचित्य।

५. लोक तथा शास्त्र का अनौचित्य।

६. सामाजिक-नैतिक अनौचित्य।

इन भेदों पर साहित्य में वर्णित कथानकों के कारण उठने वाले प्रश्नों और उनके समाधान को प्रस्तुत करना भी इस प्रसंग में अत्यावश्यक है, किन्तु ऐसा करने से पूर्व हम यहाँ पहले अलंकारवादियों तथा अन्य औचित्य-निरूपकों के द्वारा निरूपित रसाभास के स्वरूप का विवरण देना उपयुक्त समझते हैं।

आचार्य उद्भट ने अनौचित्य का सम्बन्ध रसवद् अलंकारों से स्थापित करते हुए रसाभास के आधार पर 'ऊर्जस्विन्' नामक रसवदलंकार की स्थापना की है। उनका विचार यह है कि काव्य में रस-भाव का उपनिबन्धन या तो लोक-व्यवहार तथा शास्त्रानुमोदित रूप में होता है अथवा इनके विरुद्ध हुआ करता है। दोनों ही प्रकार आवश्यकतानुसार एक ही काव्य में काम में लाये जाते हैं। इनमें से विरुद्ध स्थिति का सन्निवेश ही ऊर्जस्वि अलंकार को उपस्थित करता है। जहाँ कहीं राग-द्वेष आदि अथवा काम-क्रोधादि अनुचित रूप से प्रवृत्त होते हैं और सीमातीत हो जाते हैं, वहाँ रस अथवा भाव का परिवर्तन ऊर्जस्वि

उद्भटाचार्य

१. सुधासागरे तु अनौचित्येन प्रकर्ष विरोधिना रूपेणेत्यर्थः। का० प्रकाश टीका, पृ० १२१।

२. का० प्रकाश, टीका पृ० १२१।

अलंकार के रूप में हो जाता है। ऊर्जस्वि का अर्थ है, बलवत्। इसीलिए कहा गया है कि जहाँ काम-क्रोधादि के प्रकाशन पर इतना अधिक बल दिया जाय कि वह सीमातीत हो जाय, वहाँ ऊर्जस्वि अलंकार होता है। उदाहरणतः, उद्भट महोदय के विचार से निम्न छन्द में हर की इच्छा इतनी बलवती प्रकट की गई है कि उन्होंने सत्पथ का त्याग करके अनुचित रूप से व्यवहार करना आरम्भ कर दिया है :

तथा कामोस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
संग्रहीतु प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम्॥[1]

श्री नारायणदास वनहट्टी ने अपनी अंग्रेज़ी टीका में इसे स्पष्टतः रसाभास पर आधारित बताया है।[2]

इससे प्रतीत होता है कि अनौचित्य की प्रतीति से ही रसाभास या भावाभास उपस्थित होता है, किन्तु अलंकारवादी उसे भी अलंकार मानकर उसके नाम रख देते हैं। आचार्य रुय्यक ने तो स्पष्टतः आभास पर ही ऊर्जस्वि को आधारित बताया है। आभास से उनका तात्पर्य है अविषय की ओर प्रवृत्ति का अनौचित्य से। उद्भट के समान ही अत्यधिक बल-प्रदर्शनजनित अनौचित्य के कारण वह भी ऊर्जस्वि अलंकार की उपस्थिति में विश्वास प्रकट करते हैं और शृंगाराभास के कारण हास्य-रस में परिणत माने जाने वाले आचार्य अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत निम्न छन्द को ऊर्जस्वि का उदाहरण मानते हैं : **'दूराकर्षण मोहमन्त्र इव ते तन्नाम्नि याते श्रुतिं'**। इत्यादि। यहाँ रावण की अभिलाषा विप्रलंभ-शृंगार का रूप उपस्थित करती है और औत्सुक्य उसका संचारी भाव है, जो सीता के प्रति अनुचित रूप में प्रवृत्त हुआ है।[3]

रुय्यक

ध्यान से देखें, तो आचार्य उद्भट तथा आचार्य रुय्यक के मत में एक अन्तर दिखाई देगा। वह यह कि उद्भट रस या भाव की सीमातीत स्थिति को अनुचित मानकर ऊर्जस्वि की स्थापना करते हैं और रुय्यक उसे सीमातीत के स्थान पर 'अविषय में प्रवृत्त' मानकर चलते हैं। एक की दृष्टि विषयी-निष्ठ है और दूसरे की विषय-निष्ठ। इस प्रकार अनौचित्य लोक तथा शास्त्र के विरुद्ध तो होता ही है, वह सीमातीत अवस्था में भी हो सकता है और अविषय में प्रवृत्त होने पर भी।

१. का० सा० सं, पृ० ५४।
२. वही, पृ० ९७ तथा १०६ अंग्रेज़ी टीका।
३. अ० स०, पृ० २३२, २३३, २३७।

उद्भट तथा रुय्यक के समान यद्यपि अन्य कई आचार्यों का उनके समर्थक के रूप में नामोल्लेख किया जा सकता है, किन्तु उनके मत के प्रतिकूल आचार्य दण्डी का मत यहाँ उद्धृत करके हमें यह दिखाना अभीष्ट है कि ऊर्जस्वि अलंकार का मूल रूप क्या था और उसके साथ कालान्तर में ही रसाभास-भावाभास का सम्बन्ध जोड़ा गया था। आचार्य दण्डी ने इस अलंकार की सिद्धि ऐसे स्थलों पर मानी है, जहाँ कोई व्यभिचारी भाव ही प्रधान होकर उपस्थित हो और स्थायी भाव को गतप्रभ-सा कर दे। उन्होंने इस स्थल पर अनौचित्य आदि का नाम ही नहीं लिया है। उदाहरणस्वरूप वे कहते हैं कि निम्न श्लोक में किसी समरक्षेत्र से भागते हुए विपक्षी को संबोधन करके कोई विजयी कहता है कि 'तुम्हारे मन में यह भय उत्पन्न नहीं होना चाहिए कि मैं तुम्हारा अपकर्त्ता हूँ, क्योंकि रण-विमुख लोगों पर मेरी खड्ग प्रहार नहीं करती।' इस स्थल पर उत्साह स्थायीभाव गर्व व्यभिचारी से दब गया है, अतएव यहाँ ऊर्जस्वि अलंकार है।[1] श्री रंगाचार्य रेड्डी ने इसकी व्याख्या में यह भी प्रतिपादित कर दिया है कि नव्यों का यह विचार कि रसाभास-भावाभास होने या अंगी रस का अंग-रस के रूप में परिवर्तन हो जाने से ऊर्जस्वि अलंकार होता है उचित नहीं है।[2] हमारा उद्देश्य यहाँ इस विवाद में पड़ना नहीं है। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि मूल रूप में ऊर्जस्वि अलंकार से रसाभास आदि का सम्बन्ध न मानते हुए भी बाद के आलंकारिकों में इसका प्रचार हो गया था और वे या तो सीमातीत भाव-प्रदर्शन को अनुचित मानते थे, या अविषय में उसकी प्रवृत्ति को। स्पष्टतः ये दोनों बातें रसवादियों ने रसाभास के अन्तर्गत स्वीकार की हैं। किन्तु साथ ही रसाभास के प्रति उनका दृष्टिकोण और भी व्यापक पृष्ठभूमि पर उपस्थित हुआ है। हमारे इस कथन की सत्यता औचित्य-सिद्धान्त पर ध्यान देने से प्रमाणित हो जायगी।

आचार्य दण्डी

औचित्य-सिद्धान्त का उल्लेख इसलिए आवश्यक जान पड़ता है कि उससे अनौचित्य के स्वरूप पर प्रकारान्तर से प्रकाश पड़ता है। जो आचार्यों द्वारा उचित कहा गया है, उसके विविध रूपों का विवरण निश्चय ही उसके विपरीत अनौचित्य का स्वरूप भी स्पष्ट कर सकता है।

औचित्य-सिद्धान्त

औचित्य तथा अनौचित्य का मूल सूत्र तो स्वयं भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र

१. का० द०, पृ० २७१-७२।
२. वही, पृ० २७२।

में ही उपलब्ध होता है। औचित्य का निर्धारण भरत ने लोकधर्मी तथा नाट्य-धर्मी तत्वों का वर्णन करके किया है। उनमें से पहला 'रियलिस्टिक' दृष्टि का सूचक है और दूसरा 'आइडियलिस्टिक' दृष्टि का। नाट्य में नाना शील और प्रकृति के लोगों का, व्यवहारों का चित्रण रहता है, अतएव लोक को ही प्रमाण मानकर चलना उचित माना गया है। डॉ० राघवन की पुस्तक 'सम कन्सेप्ट्स ऑफ द अलंकारशास्त्र' तथा श्री बल्देव उपाध्याय की पुस्तक 'भारतीय साहित्यशास्त्र' भाग २ में आये हुए औचित्य-सिद्धान्त के विवरण को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'औचित्य' शब्द की व्यापकता काव्य के अंग-प्रत्यंग तक मानी जा सकती है और उसके कई अर्थों में प्रयोग भी पाये जा सकते हैं। मुख्यतः रस-परिपाक का ध्यान रखकर ही इस औचित्य का रूप निर्धारित किया गया है। भरत ने स्वयं रसप्रयोग की दृष्टि से नाट्य के अन्तर्गत प्रकृति, प्रवृत्ति, वृत्ति, गुण, अलंकार, आहार्याभिनय, पाठ्यगुण, स्वर तथा जात्यंश का विचार किया था और रसप्रयोग को ही रसौचित्य माना था। भरत के विवेचन के सूत्रों को पकड़कर ही भावी विचारकों ने औचित्य को जहाँ जितना अपने काम का समझा, उतना अपना लिया। उनके बाद इसका विशद और विस्तृत विवेचन करने का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन तथा क्षेमेन्द्र को ही मिल सकता है, आनन्दवर्धन ने तो काव्य से सम्बन्ध रखने वाले किसी भी अंग को न छोड़ा, जिसका औचित्य निर्धारित न किया हो। उन्होंने सुप, तिङ, वक्ता, संघटना, गुण, वृत्ति, रीति, वाच्य, प्रबन्ध, प्रकरण, विभाव, भाव आदि सभी के औचित्य का निरूपण किया और रसौचित्य के लिए प्रबन्ध में यदि ऐतिहासिकता को छोड़ना भी पड़े, तो उसे भी प्रबन्धौचित्य के अन्तर्गत स्वीकार किया। इसीको कुन्तक ने प्रकरण-वक्रता के नाम से पुकारा। इन सब लेखकों के औचित्य-विचार को देखने से पता चलता है कि रस-दोषों की आधारशिला भी अनौचित्य ही मानी गई है। रस-दोषों तथा रीति-वृत्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे प्रसंगतः उचित अथवा अनुचित सिद्ध होते रहते हैं। जो एक स्थान पर दोष है, वही हास्य आदि रसों में से किसी अन्य के परिपाक में साधक भी सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार ओजप्रधान शब्दावली शृंगार रस के लिए अनुचित तथा वीर रस के लिए उचित सिद्ध हो सकती है। जितने भी रस-दोष हैं वे सभी रस-भंग के हेतु होते ही हैं, किन्तु अनुकूल रस या प्रकरण में वही उचित जान पड़ते हैं। भोज ने ग्राम्यत्व के सम्बन्ध में इसी प्रकार का वर्णन किया है। नितान्त परिष्कृत भाषा के बीच ग्रामीण शब्द का प्रयोग निःसन्देह थेकली-सा दिखाई देगा, परन्तु लोक-गीत में उसीके प्रयोग से सौन्दर्य

छलकता जान पड़ेगा। ऐसी स्थिति में कवि की प्रशंसा तभी है, जब वह प्रकरण के अनुकूल चयन पर ध्यान दे पाता हो। इस दृष्टि से औचित्य का अर्थ अनुकूलता अथवा 'रसानुरूपसन्दर्भत्व' भी है। जैसा कि डॉ० राघवन ने बताया है, यदि औचित्य-सिद्धान्त के पूरे विकास को ध्यान में रखें, तो उसका प्रयोग कई अर्थों में पाया जायगा। जैसे, अंग्रेजी में उसे प्रोप्राइटी, एप्रोप्रिएटनैस, एडप्टेशन, हारमनी, प्रपोर्शन, सिम्पैथी या म्यूचुअल कन्फरमिटी आदि कई नाम दिये जा सकते हैं। इन सबके विपरीत अनौचित्य की सीमा-रेखा खींची जा सकती है। यदि हम रस-दोषों पर ध्यान दें, तो देखेंगे कि उनसे बढ़कर रस का अनौचित्य दूसरा नहीं हो सकता, ऐसा सभी ने स्वीकार किया है। आचार्य रुद्रट ने ही रस-दोष की प्रथम कल्पना की थी और उन्होंने 'विरस' नामक रस-दोष के अन्तर्गत दो भेद उपस्थित करके ऐसे प्रसंगों को जहाँ अन्य रस के प्रसंग में क्रम से हीन दूसरा रस स्वतः आ जाय अर्थात् आनन्दवर्धन के अनुसार जहाँ विरुद्ध-रसों का समावेश दिखाई दे, तथा जहाँ प्रबन्धों में उचित अवसर पर निविष्ट किये जाने पर भी किसी रस की अनावश्यक वृद्धि कर दी जाय वहाँ भी वैरस्य उपस्थित हो जाता है। इसे ही आनन्दवर्धन 'रस की पुनःपुनः दीप्ति' मानते हैं। भोज भी विरस का उल्लेख करते हुए उसे रस का अनौचित्य साधक ही मानते हैं। स्वयं ध्वनि के खण्डनकर्त्ता किन्तु रस के समर्थक आचार्य महिमभट्ट ने अनौचित्य को अन्तरंग तथा बहिरंग के नाम से दो प्रकार का मान लिया है। बिना औचित्य के रस की प्रतीति की संभावना में उनका विश्वास नहीं है। यहाँ तक कि रस की प्रतीति के अभाव को ही वे अनौचित्य मानते हैं। अनौचित्य का सामान्य रूप 'रस-प्रतीति' ही है। जिन दोषों का वर्णन किया जाता है, वे सभी रस के व्याघातक होते हैं, अतएव महिमभट्ट ने उन सबका रस-अनौचित्य के अन्तर्गत ही समावेश कर दिया है। इस दृष्टि से देखने पर अनौचित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो जाता है और यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक कृति और कृती में यह अनौचित्य दिखाया जा सकता है। इसका बचाव इसीलिए विशेषतः लोक-व्यवहार के ज्ञान से सम्भव बताया गया है।

इस प्रसंग में एक बात और विचारणीय है। आचार्य शुक्ल ने 'रस मीमांसा' में पृ० ४१५ पर लिखा है कि 'अनौचित्य को रसाभास माना है, अनुपयुक्तता को नहीं।' हम समझते हैं शुक्लजी ने रस-दोषों के प्रकरण को रसाभास से अलग देखकर ही ऐसा कहा है। साधारणतः यह दोनों ही पृथक्-पृथक् रूप में

अनौचित्य और अनुपयुक्तता

वर्णित देखे जाते हैं, तथापि महिमभट्ट आदि के द्वारा निरूपित इनके तथा अनौचित्य के स्वरूप से यह प्रकट होता है कि रस-दोषों के रूप में अनुपयुक्तता भी अनौचित्य के क्षेत्र में आती है और उसे भी यथावसर रसाभास का प्रवर्त्तक माना जा सकता है। डॉ० राघवन द्वारा औचित्य के लिए दिये गए 'एडेप्टेशन' तथा 'सूटैबिलिटी' आदि नामों से भी इसी बात का संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि इनके विपरीत दशाएँ अनौचित्य कहलायेंगी और वैसी स्थिति में अनुपयुक्तता भी अनौचित्य ही कहलायगी।

अलंकारों से रसाभास का पोषण

आचार्य हेमचंद्र ने रसाभास के प्रकरण में एक सर्वथा नवीन बात उपस्थित कर दी है। उन्होंने समासोक्ति, अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक तथा उपमा को रसाभास तथा भावाभास का जीवित सिद्ध किया है।[1] विशेषतः समासोक्ति से यह कार्य अधिक सिद्ध होता है। इन अलंकारों को रसाभास का साधक मानने का कारण केवल यह है कि इनमें प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप किसी-न-किसी रूप में होता है, किसी-न-किसी रूप में दोनों का सम्बन्ध स्थापित किया ही जाता है। समासोक्ति में यही विशेष रूप से सिद्ध होता है। अप्रस्तुत के आरोप या संकेत से जहाँ एक ओर अलंकार सिद्ध होता है, वहाँ दूसरी ओर निरिन्द्रिय आदि में रति आदि भावों का प्रदर्शन होने से रसाभास भी उपस्थित हो जाता है। इसी बात को हेमचंद्र ने 'निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद्रसभावाभासौ'[2] सूत्र के द्वारा संकेतित कर दिया है। उदाहरणतः बिहारी का निम्न दोहा समासोक्ति का उदाहरण तो है, किन्तु तिर्यगादि में रति के प्रदर्शन से रसाभास का उदाहरण भी है :

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
> अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

इसी प्रकार 'साहित्यदर्पण' में दिया गया श्लोक, जिसमें कहा गया है कि 'हे मलयानिल, इस कमलनयनी के सुवर्णकलश-तुल्य कुचों के वस्त्र को झटककर हठपूर्वक जो तुम इसका सर्वांग आलिंगन कर रहे हो, इसलिए तुम धन्य हो।' समासोक्ति का भी उदाहरण है, क्योंकि हठकामुक तथा वायु का कार्य समान ही दिखाया गया है और निरिन्द्रिय में रति-प्रदर्शन से रसाभास का

---

१. "रसाभासस्यभावाभासस्य च समासोक्त्यर्थान्तरन्यासोत्प्रेक्षारूपकोपमाइलेषादयो जीवितम्।" काव्यानु०, अ० २, सू० ५४ के अन्तर्गत।

२. वही, सू० ५४।

उदाहरण भी है :

व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया वक्षोजयो: कनककुम्भविलासभाजो: ।
आलिंगसि प्रसभभंगमशेषमस्या धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ॥[1]

अन्य अलंकारों के उदाहरण भी इसी प्रकार समझे जा सकते हैं। हमारा उद्देश्य यहाँ केवल यह प्रदर्शित करना था कि अलंकार-मात्र के होने से काव्य उत्तम रूप में उपस्थित नहीं होता, बल्कि उनका प्रयोग रस उपस्थित करने के साथ-साथ रसाभास तथा भावाभास भी उपस्थित करता है।

यहाँ इस बात की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि अनौचित्य ही रसाभास की वास्तविक आधारभूमि है, किन्तु वह भी सदैव रसाभास उपस्थित नहीं करता, बल्कि कभी-कभी किसी रस का पोषण ही करता है और कभी-कभी चरित्र के उद्‌घाटन में सहायक सिद्ध होता है।

अनौचित्य से रस की पुष्टि

पण्डितराज ने '**ब्रह्मन्नध्ययनस्य नैष समय: तूष्णीं बहि: स्थीयतां**' आदि छन्द के द्वारा यह सिद्ध किया है कि यहाँ रावण के परम ऐश्वर्य की सिद्धि करने के कारण इन पंक्तियों से वीर रस का आक्षेप होता है, जो कि विप्रलम्भ शृङ्गार का अंग हो गया है, अतएव यहाँ अनौचित्य दोष नहीं है।[2] इसी प्रकार 'हरिऔध' जी ने कहा है कि 'सब जगह अनौचित्य से रसाभास नहीं हो जाता। जहाँ अनौचित्य से किसी रस की पुष्टि होती हो अथवा जहाँ अनौचित्य का उद्देश्य चरित्र-सुधार, कलंक-अपनोदन किंवा दोष अवगतकरण हो, वहाँ वह वर्जित नहीं होता। यथा, महंत के चरित्र-सुधार के लिए यह उक्ति :

कंचन-संचय में निपुन रखत कंचनी मान।
कैसे बनै महंत नहिं महि में महिमावान ॥[3]

सारांश यह है कि रसाभास या भावाभास की आधारभूमि अनौचित्य काव्य में अनेक रूपों में पाई जा सकती है। उसका प्रयोग अनेक अर्थों में किया जा सकता है, मुख्यत: तब जब उसे औचित्य के प्रतिपक्ष के रूप में उपस्थित करके देखा जाय। लोक तथा शास्त्र का व्यवहार ही उसका सर्वोत्तम निर्णायक है, जहाँ इन दोनों व्यवहारों के प्रदर्शन में कोई अनौचित्य दिखाई देता हो वहीं रसाभास उपस्थित होता है या भावाभास। इतना होने पर भी कभी-कभी

१. सा० द०, हि०, पृ० ३३६।
२. हि० र० गं०, पृ० १४६।
३. 'रस-कलस', पृ० ७२ ।

प्रसंगतः रसाभास भी किसी रस की पुष्टि ही करता दीख पड़ता है और वहाँ उसे अनुचित नहीं माना जा सकता। अलंकार जिस प्रकार रस में साधक सिद्ध हो सकते हैं, उसी प्रकार उनका प्रयोग रसाभास और भावाभास की दिशा में भी हो सकता है।

रसाभास का इस प्रकार स्वरूप निर्धारित कर देने पर भी औचित्य-अनौचित्य का प्रश्न कभी-कभी उलझा-सा ही रह गया है। इस सम्बन्ध में शृंगार रसाभास को लेकर ही मुख्यतः विवादास्पद प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनकी ओर प्राचीन आचार्यों का भी ध्यान गया है। रसाभास का शृंगार-सम्बन्धी विवेचन बहुत-कुछ लोकमर्यादावाद की स्थापना-सी करता जान पड़ता है। समस्त साहित्य-शास्त्र 'साहित्यदर्पण' में दिये गए शृंगार रसाभास के भेदों को स्वीकार करते जान पड़ते हैं, किन्तु उन रूपों को मानकर भी उनके उदाहरणों के सम्बन्ध में परस्पर पर्याप्त विवाद उठा है। हमारी धारणा है कि शृंगार-रसाभास के ये भेद नैतिक मान के रूप में उपस्थित हुए हैं और संभवतः असंयत रूप से बढ़ती शृंगारिक वाग्धारा को संयमित करके किसी निर्मल प्रवाहिनी में परिवर्तित कर देने का ही यह प्रयत्न जान पड़ता है। विश्वनाथ आदि ने इस दृष्टि से प्राणि-जगत् तक ही नहीं, अपनी दृष्टि को जड़-क्षेत्र तक भी दौड़ाया है। शृंगार-रसाभास के साथ जुड़े हुए इस नैतिक मान की ओर ध्यान दें, तो हम कह सकते हैं कि शृंगार-रसाभास तथा अन्य रसों के आभास में दृष्टि-भेद उपलब्ध होता है। आगे के विवरण से जहाँ कुछ गम्भीर प्रश्नों पर प्रकाश पड़ सकेगा, वहाँ इस दृष्टि-भेद की सूचना भी मिल सकेगी। शृंगार रसाभास के अन्तर्गत कृष्ण, द्रौपदी, परकीया तथा स्वकीया नायिका, तिर्यगादि का शृंगार, रावण का सीता के प्रति विप्रलम्भ तथा दक्षिण नायक आदि को लेकर इस क्षेत्र में कुछ मौलिक एवं विचारणीय प्रश्न इस प्रकार हैं।

रसाभास के कुछ उदाहरण

कृष्ण तथा गोपिकाओं का प्रेम भारतीय साहित्य की अमर देन है। गोपिकाओं के इस प्रेम की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ हुई हैं और इस पर अनौचित्य युक्त होने का आक्षेप भी किया गया है। दार्शनिक मतवादियों ने रूपक की कुंजी लगाकर इसका रहस्योद्घाटन दूसरे ही ढंग से किया है। किन्तु ऐसे विचारकों की भी कमी नहीं है, जो इस प्रकार के वर्णन को रूपक के आवरण में लपेटकर देखने का विरोध कर उठे हैं। उन्होंने इसे समाज के लिए एकान्त हानिप्रद बताया है। हिन्दी के रीति-युग में इसी

शृङ्गार रसाभास और कृष्ण-गोपिका-प्रेम

कृष्ण-काव्य के दीवानों ने जो दीवानापन दिखाया है, वह किसी से छिपा नहीं है और न उसके उत्तरकालीन प्रभाव से ही कोई अनभिज्ञ है। सहृदय वृन्द के न रीझने पर अपनी कविताई को कविताई न कहकर **'राधिका कन्हाई सुमिरन को बहाना'** बताकर अपने को भुलावे में डालने वाले कवियों से और आशा भी क्या की जा सकती थी ? अस्तु, इस प्रसंग में कृष्ण और राधा अथवा कृष्ण तथा अन्य गोपिकाओं-सम्बन्धी रति का वर्णन करने वाली रचनाओं का विचार भी किया गया है। कुछ लेखक इस विचार के हैं कि कृष्ण का राधा से अथवा अन्य परकीयाओं से प्रेम था, अतएव उनके प्रेम-वर्णन में भी रसाभास होगा। हिन्दी में भी 'रस-वाटिका' के लेखक ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि : "राधाजी को परकीया होने के कारण श्री राधाकृष्ण का शृंगार-वर्णन शुद्ध शृंगार-रस नहीं हो सकता, किन्तु वह शृंगार-रसाभास कहा जा सकता है।"[1]

इसी प्रकार का विवाद संस्कृत में रस-तरंगिणीकार तथा 'रसार्णव-सुधाकर' के लेखक के सामने भी उठा था। उन्होंने इस विषय पर प्राचीनों के मत की साक्षी देते हुए इस प्रकार के विचार का खण्डन किया था। रस-तरंगिणीकार का कथन है कि जिस नायक के लिए अनेक नायिकाएँ व्यवस्थित हों, वहाँ अनौचित्य का अभाव रहता है, इसके कारण वहाँ रसाभास भी नहीं होता। उनका विचार है कि यदि वहाँ भी रसाभास माना जाय, तो सकलनायकोत्तम कृष्ण की अनेकनायिकाविषयिणी रति को आभास मानना पड़ेगा। इस कारण जहाँ अव्यवस्थित बहुकामिनी विषयिणी रति हो, जहाँ वैषयिक नायक की प्रीति हो तथा बहुनायकविषयक प्रीति प्रदर्शित की गई हो, वहीं रसाभास होता है। इसी हेतु वैषयिक की और वेश्या की प्रीति रसाभास है। यही प्राचीनों का भी मत है।[2] भानुदत्त के इस कथन से उनके दो विचार प्रकट होते हैं—एक, कृष्ण सकलनायकोत्तम तथा विशेष आदृत व्यक्ति हैं; दूसरे, उनकी रति अव्यवस्थित न होकर व्यवस्थित है, अर्थात् विधान के प्रतिकूल नहीं है। उन्हें जिस प्रकार सर्वगुणोपेत तथा सर्व-शक्तिमान आदि माना गया है, उसके आधार पर उनके लिए यह भी व्यवस्था हो सकती है कि वे अनेक नायिकाओं के प्रति प्रेम का प्रदर्शन करें। वस्तुतः अत्यन्त आदर-भाव के कारण कृष्ण का यह काम सन्देह की दृष्टि से न देखा जाकर उनकी सामर्थ्य के अनुसार मर्यादित ही मान लिया गया है। कृष्ण तो पूर्ण समर्थ तथा मर्यादा-सिन्धु हैं। अतएव वह जो कुछ चाहें कर सकते हैं। वह स्वयं सीमातीत हैं, उनके लिए कोई सीमा नहीं

१. **'रस-वाटिका'**, पृ० १२८।

२. र० त०, पृ० १७८।

बाँधी जा सकती। वास्तविक बात यह है कि भारत की धर्मबुद्धि ने कृष्ण को भगवान् रूप में देखने के पश्चात् उनके (कार्यों को नहीं, बल्कि उन) कार्यों की ओर अंगुली उठाने को ही अनुचित समझा। भगवान् के किसी भी काम पर भक्ति-बुद्धि शंका की दृष्टि नहीं फेंक सकती। आज भी कृष्ण उसी लोकोत्तर पद पर अधिष्ठित हैं। अतः उनकी गोपिका-विषयिणी रति के रसाभास होने का आरोप करने की किसी की भी इच्छा नहीं होती। इस प्रकार, श्रद्धा के कारण कृष्ण के इस प्रेम को रसाभास के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। गुरु-पत्नी के प्रति प्रदर्शित प्रेम को इसी कारण अनुचित स्वीकार कर लिया गया है कि वह समाज में आदर की पात्र है, न कि प्रेम की। जिस व्यक्ति के सम्बन्ध में हमारी श्रद्धा है, उसके प्रति इस प्रकार का भाव समाज में कभी स्वीकार नहीं किया जा सकता। समाज का मन ऐसे वर्णन के दर्शन अथवा श्रवण से उसके प्रति अरुचि का अनुभव करने लगेगा और तनिक-सी भी अरुचि के सम्पादित होते ही रस-भंग हो जायगा। इसी दृष्टि से ऐसे वर्णन को रस नहीं, रसाभास माना गया है। किन्तु, कृष्ण के सम्बन्ध में हमारी श्रद्धा काम करती है, अतएव वहाँ उनके व्यवहार के प्रति शंका का अवसर ही नहीं आ सकेगा। वस्तुतः उनके इस कार्य को हम प्रभु-लीला के रूप में ही समझकर रह जाते हैं। यही कारण है कि वह रसाभास नहीं माना गया है। किन्तु, इतना ध्यान रखना चाहिए कि उत्तान शृंगार के वर्णन से, चाहे फिर वह कृष्ण-प्रेम के सम्बन्ध में ही हो, पाठक को कृष्ण का ध्यान न रहने से रसाभास ही उपस्थित होगा, रस नहीं।

पण्डितराज का एक उदाहरण

इसी प्रकार का एक अन्य प्रसंग भी साहित्य-क्षेत्र में बड़ा विवाद का विषय बना रहा है। रसगंगाधर-कार ने निम्न श्लोक उद्धृत करते हुए उक्त विवाद की सूचना दी है :

व्यानम्राश्चलिताश्चैव स्फारिताः परमाकुलाः।
पांडुपुत्रेषु पांचाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः॥

अर्थात् पाण्डवों पर द्रौपदी की दृष्टियाँ क्रमशः अत्यन्त नम्र, चंचल, विकसित और परम व्याकुल होती हुई गिर रही हैं।

इस स्थल पर यदि भानुदत्त का अनुसरण करते हुए चलें, तो द्रौपदी का पाण्डवों की ओर इस प्रकार देखना व्यवस्थित होने के कारण रसाभास नहीं हो सकता। द्रौपदी तो सभी पाण्डवों के लिए समानभाव से पत्नी है। अतएव पण्डितराज कहते हैं कि : अविवाहित अनेक नायकों के विषय में होने वाली

रति ही आभास रूप होती है, अन्य नहीं। यहाँ विवाहित नायकों के विषय में प्रेम होने के कारण रस ही है। प्राचीनों के मत को उत्तर पक्ष में उद्धृत करने के कारण कहा जा सकता है कि जगन्नाथ स्वयं प्राचीन मत का समर्थन करना चाहते हैं। किन्तु, उनके टीकाकार नागेश उनका विरोध करते हुए उनके इस मत में अरुचि का प्रकाशन मानते हैं। नागेश का तर्क है कि जिस प्रकार अविवाहित अनेक नायकों से प्रेम अनुचित है, उसी प्रकार विवाहित नायकों से भी। यहाँ विवाहित-अविवाहित का पचड़ा लगाना ठीक नहीं और न लक्षण में ही उसकी पृथक् व्यवस्था है।[1]

विचार कर देखा जाए तो कहना होगा कि कितना ही व्यवस्थित प्रेम क्यों न हो, यदि कोई स्त्री एक ही साथ अनेक के विषय में इस प्रकार का व्यवहार करती है तो वह सलज्ज नहीं कही जा सकती। लोक-व्यवहार से ही औचित्या-नौचित्य का ज्ञान होगा। अतएव लोक-व्यवहार के विरोधी इस व्यवहार को अनुचित मानते हुए यहाँ रसाभास ही मानना चाहिए।

शिंगभूपाल और दक्षिण नायक तथा अल्लराज

शिंगभूपाल ने इसी प्रश्न को दक्षिण नायक के सम्बन्ध में उठाया है। उनका विचार है कि दक्षिण नायक वृत्ति-मात्र से ही अनेक प्रेमिकाओं के साथ साधारण भाव रखता है, किसी राग के कारण नहीं। किसी के प्रति प्रौढ़, किसी के प्रति मध्यम अथवा किसी के प्रति मन्द, इस प्रकार का प्रेम-भेद उसमें प्रकट नहीं होता। अतएव केवल वैषम्य के उत्पन्न होने पर ही आभास हो सकता है।[2] किन्तु अल्लराज का कथन है कि एकांगी प्रेम, एक नायिका की अनेक नायकों के प्रति रति अथवा एक नायक की अनेक नायिकाओं के प्रति रति को रसाभास स्वीकार करना चाहिए। किन्तु, यदि किसी स्थल पर स्पष्ट रूप से यह लक्षित करा दिया गया हो कि अनेक नायिकाओं से प्रेम होते हुए भी उस नायक का एक किसी मुख्य के प्रति दृढ़ अनुराग ही वर्णित है तब रसाभास नहीं मानना चाहिए।[3] यदि शिंगभूपाल

१. हिन्दी र० गं०, पृ० २७५-७६।

२. नन्वेवं दक्षिणादीनामपि रागस्याभासत्वमिति चेद्, न। दक्षिणस्य नायकस्य नायिकास्वनेकासु वृत्तिमात्रेणैव साधारण्यं, न रागेण। तदेकस्यामेव रागस्य प्रौढ़त्वमितरासु तु मध्यमत्वं, मन्दत्वं चेति तदनुरागतस्य नाभासता। अत्र तु वैषम्येणानेकत्र प्रवृत्तेराभासत्वमुपपद्यते। र० सु०, पृ० २०६।

३. यदि पुनर्बहुषु कामिनीषु एकस्य पुरुषस्योपभोगे प्रतिपद्यमाने एकस्यामनुरागो ध्वन्यते तदा रस एव स्यात्। र० र० प्र०, पृ० ४१।

के विचार को ठीक मान लें, तो कृष्ण का अनेक नायिकाओं के प्रति प्रदर्शित राग किसी के प्रति विशेष तथा किसी के प्रति हीन न कहे जाने के कारण रसाभास नहीं, रस ही कहा जायगा। किन्तु द्रौपदी के प्रेम का विचार इस सिद्धान्त के अनुसार नहीं किया जा सकता। क्योंकि यहाँ एक ही समय पर अनेक से प्रेम-प्रदर्शन का विचार नहीं किया गया है। द्रौपदी का उदाहरण उपरिलिखित दोनों उदाहरणों से नितान्त भिन्न है और उसके रसाभास होने में सन्देह प्रकट नहीं किया जा सकता।

तिर्यग्योनिगत रति और रसाभास के सम्बन्ध में हरिपाल

इन सब रसाभासों की चर्चा के अतिरिक्त तिर्यग्योनिगत रति के विषय में, साहित्य के क्षेत्र में, पर्याप्त विवाद रहा है। संस्कृत के एक प्राचीन लेखक हरिपाल ने उसे संभोगरस माना है।[1]

'एकावली' के रचयिता विद्याधर इसे रसाभास मानने से अस्वीकार करते हैं। विद्याधर का विचार है कि यह प्रेम भी रस ही है। यदि कोई यह कहे कि

विद्याधर का मत

तिर्यगादि को भोग का कोई ज्ञान नहीं रहता अथवा वे भोग को आनन्दकारक जानकर उसकी ओर नहीं बढ़ते, अथवा यह कहा जाय कि यदि भोग का ज्ञान रहता है, तो भी वह सभ्य तथा संस्कृत मानव के समान नहीं होता, अतएव रसाभास माना जाय, तो विद्याधर का उत्तर है कि इस प्रकार के ज्ञान अथवा संस्कृत-विचार को कोरी कल्पना ही मानना चाहिए; क्योंकि आनन्दानुभूति के समय भोगकर्त्ता को इस प्रकार के बोध की आवश्यकता ही नहीं रहती कि वह कैसे और कितना आस्वाद ले रहा है, या भोग कर रहा है।[2]

शिंगभूपाल ने इसके विपक्ष में अपना मत प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि शृंगार के लिए आलम्बन का विचार सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह आलम्बन

शिंगभूपाल का विचार

साधारण नहीं हो सकता। शृंगार को शुचि तथा उज्ज्वल माना गया है। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि पशु-पक्षी को भी अपनी कला तथा रति का बोध रहता है, तब भी सामाजिक के चित्त-संवाद का प्रश्न नहीं सुलझता। सामाजिक ही काव्य का आस्वाद लेता है, और यह काव्य विभावादि से संयुक्त होता है। ये विभावादि काव्य में अलौकिक कहे जाते हैं। पशु आदि की रति का विभाव कहना उचित नहीं। उनकी वह स्थिति केवल लौकिक

१. न० आ० र०, पृ० १४५।

२. र० स०, पृ० २०६।

कारण-कार्य के रूप में वर्जित हो सकती है। अपनी जाति के योग्य धर्म के अनुसार हाथी का हथिनी के प्रति विभावत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह केवल कारण-स्वरूप माना जायगा। जाति के योग्य धर्म के द्वारा ही विभावत्व सिद्ध नहीं होता। विभावत्व तभी सिद्ध हो सकता है, जब वह भावक के चित्त में उल्लास उत्पन्न करे। विभाव-ज्ञान का ही नाम औचित्य-विवेक है। उससे शून्य पशु आदि विभावत्व को प्राप्त नहीं होते।[1]

शिंगभूपाल का एक अन्य तर्क

शिंगभूपाल ने रसाभास मानने का एक और कारण दिया है। वे अनौचित्य के दो भेद मानते हैं : (१) असत्यत्व, तथा (२) अयोग्यत्व। इनमें से असत्यत्व के कारण वृक्षादि के रत्यादि वर्णन में रसाभास होता है। वह तो जड़मात्र हैं, सर्वथा अनुभवशून्य हैं। उनमें रति आदि की कल्पना आमूलतः असत्य है। इसी प्रकार नीच, तिर्यक् तथा गँवार में अयोग्यता के कारण रसाभास मानना चाहिए।[2]

कुमारस्वामी, राजचूड़ामणि, सुधासागरकार द्वारा विरोध

कुमारस्वामी, राजचूड़ामणि दीक्षित तथा सुधासागर के लेखक आदि कतिपय विद्वानों ने शिंगभूपाल की बात स्वीकार नहीं की है। उनका कथन है कि यदि हम 'शाकुन्तल' में आये हुए—ग्रीवाभंगाभिरामम् आदि—श्लोक को पशुगत भय का उदाहरण स्वीकार करने में नहीं हिचकते, तो फिर पशु-पक्षी आदि में रति मानने में भी कोई हानि नहीं है।[3] 'काव्य प्रकाश' की वामन-कृत टीका में 'सुधासागर' का जो मत दिया है, उसमें लेखक ने स्पष्ट कहा है कि इस वर्णन को रसाभास कहना केवल सम्प्रदायानुसरण-मात्र है। लीक पर चलना है।[4]

१. अथ स्वजातियोग्यै धर्मैः वस्तुनो न विभावत्वम्। अपि तु भावक चित्तोल्लास हेतुभीरतिविशिष्टैरेव।··· किंच विभावज्ञानं नाम औचित्यविवेकः, तेन शून्याः तिर्यंचो न विभावतांयान्ति। र० सु०, पृ० २०६-२०७।

२. आभासता भवेदेषामनौचित्यप्रवर्त्तितानाम। असत्यत्वादयोग्यत्वात् अनौचित्यं द्विधा भवेत्। असत्यत्वकृतं तत् स्याद् अचेतनगतं तु यत्। अयोग्यत्वकृतं प्रोक्तं नीच तिर्यगनाश्रयम्। र० सु० २०७।

३. अतएव काव्यप्रकाशिकायां 'ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः' इति श्लोकेन भयानको रसः तिर्यग्विषयतया उदाहृत इत्याहुः। का० द०, २११-२१२।

४. इदं च परिगणनम् सम्प्रदायानुसरणमात्रम्। का० प्र० टीका, पृ० १२१।

इस सम्बन्ध में रसाभास मानने वाले विद्वानों की ओर से यह उत्तर दिया जा सकता है कि शृंगार रस का अन्य रसों से प्रदर्शनीयता और प्रभावशालिता की दृष्टि से भेद होने के कारण दोनों को पृथक् रूप से ही देखना उचित होगा। शुचिता के विचार से शृंगार रस की अवतारणा में विशेष सावधानी बरतनी पड़ती है, अन्यथा पूज्य-अपूज्य सभी की समान रूप से रति का वर्णन किया जाता। किन्तु कौन नहीं जानता कि कालिदास-जैसे महाकवि को भी शिव-पार्वती की रति का वर्णन करने के अपराध में दण्डभागी बनना पड़ा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो राधा-कृष्ण-विषयक शृंगार के वर्णन के लिए 'गीतगोविन्द' के लेखक जयदेव की खूब खबर ली है।[1] इस दृष्टि से नाट्य में तो तिर्यक् रति का प्रदर्शन एकदम असंभव जान पड़ता है और श्रव्य में भी उसका वर्णन मन में वह भाव जाग्रत कर सकेगा, जो शुद्ध शृंगार से होता है, इसमें पूरा सन्देह प्रकट किया जा सकता है।

शृंगार रसाभास को शिंगभूपाल ने चार प्रकार का बताया है: (१) अराग; (२) अनेक राग; (३) तिर्यक् राग; तथा (४) म्लेच्छ राग।[2] अराग के अन्तर्गत रावण का सीता के प्रति प्रदर्शित प्रेम आ सकता है, जो वस्तुतः पूर्वोक्त अनुभयनिष्ठ रति ही है। अनेक राग के अन्तर्गत उपनायकनिष्ठ, बहुनायक-निष्ठ एवं प्रतिनायक-निष्ठ रति आ सकती है। तिर्यक् राग तथा मलेच्छ-राग में प्रथम ज्यों-का-त्यों अन्यों द्वारा भी स्वीकृत किया गया है। मलेच्छराग अधमपात्रगत रसाभास का ही दूसरा नाम है। तात्पर्य यह कि शिंगभूपाल-कृत प्रकार-भेद नाम में भिन्न होते हुए भी, वस्तु में स्वीकृत प्रणाली के अनुसार ही है।

शिंगभूपाल-कृत शृङ्गार रसाभास के भेद

शिंगभूपाल ने रसाभास के विषय में दो नये प्रश्न उठाये हैं। एक तो उनका प्रश्न है कि यदि अराग का अर्थ एकत्र रागाभाव[3] माना जाय तो क्या पूर्वानुराग भी रसाभास ही है? दूसरे उनका, प्रश्न यह है कि क्या केवल स्त्रियों में रागाभास होने पर ही रसाभास हो जाता है अथवा पुरुष में होने पर भी रसाभास होगा? विद्वान् लेखक ने दोनों प्रश्नों का

शिंगभूपाल के दो नवीन प्रश्न

१. हि० र० गं०, पृ० १४४।

२. अत्र शृंगाररसस्यारागादनेकरागात् तिर्यग्रागान्म्लेच्छरागाच्चेति चतुर्विधमाभास भूयस्त्वम्। र० सु०, पृ० २६४।

३. तत्रारागस्त्वेकत्र रागाभावः। वही। श्लोक २६३ की व्याख्या।

समुचित उत्तर भी स्वयं ही देने का प्रयत्न किया है। पहले प्रश्न के विषय में उनका कथन है कि अभाव तीन प्रकार का होता है, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव। इनमें से प्रागभाव के अन्तर्गत पूर्वानुराग आ जाता है। उसमें दर्शनादि कारण विद्यमान रहता है, किन्तु अन्य दोनों में कारण होने पर भी राग की अनुत्पत्ति के कारण रसाभास ही माना जायगा।[1]

दूसरे प्रश्न के विषय में शिंगभूपाल का सीधा-सादा उत्तर है कि यद्यपि अन्य विद्वान् स्त्रियों के रागाभाव से ही रसाभास मानते हैं, तथापि यह उचित नहीं है। पुरुष में रागाभाव होने पर भी रस आस्वादनीय नहीं रहता। ऐसी स्थिति में रसाभास ही होगा। उदाहरणस्वरूप आपने निम्न श्लोक उद्धृत किया है :

गते प्रेमावेशे प्रणय बहुमानेऽपि गलिते,
निवृत्ते सद्भावे प्रणयिनि जने गच्छति पुरः॥
तदुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि, गतांस्तांश्च दिवसान्,
न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम्।

इस श्लोक से प्रकट होता है कि यह किसी त्यक्ता का कथन है। उसे उसके पति ने पूर्णतः त्याग दिया है, उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध अब नहीं है। प्रेमावेश अब व्यतीत हो चुका है। प्रणय गलित हो गया है, सद्भाव भी विनष्ट हो चुका है। ऐसी स्थिति में भी वह गत दिवसों के विषयों में सोचती हुई दुखी हो रही है। किन्तु, खेद है कि फिर भी उसका हृदय शतधा नहीं हो जाता। यह बात और भी कष्टदायक है।

यद्यपि यहाँ स्त्री की ओर से स्मृति के सहारे पति के प्रति अत्यन्त अनुराग प्रदर्शित किया गया है, किन्तु पति के पूर्णतया त्याग देने से स्पष्ट है कि इस स्थल पर केवल नायिका में ही प्रेमावेश अथवा रति-भाव विद्यमान रह गया है। अतएव इस वर्णन में चारुता नहीं रही, जिससे इसे रसमय कहा जा सकता। इसी कारण इसे रसाभास कहना उचित होगा।

ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृत के विद्वानों ने जिस समय रसाभास की चर्चा की थी, उस समय उनके सम्मुख समाज का हित-अनहित तथा लोक-व्यवहार की रक्षा का विचार रहा होगा। उन लेखकों की दृष्टि आचार पर जमी है और उसके विरुद्ध समस्त वर्णन उन्होंने रस-परिपाक में अनुपयोगी माने हैं। रसाभास का प्रश्न साहित्य में श्लीलता तथा अश्लीलता का प्रश्न-सा है। यद्यपि

१. अभावो हि त्रिविधः। प्रागभावोऽत्यन्ताभावः प्रध्वंसाभावश्चेति। तत्र प्रागभावे दर्शनादि कारणेषु रागोत्पत्तिसंभावनयानाभासत्वम्। इतरयोस्तु कारण सद्भावेऽपि रागानुपपत्तेराभासत्वमेव। वही। श्लोक २६३ की व्याख्या।

अन्य रसाभासों के आधार पर उसे औचित्यानौचित्य-विवेक से सम्बन्धित-मात्र माना गया है। इसी प्रश्न में जातिगत सदाचार की तत्कालीन सीमा का संकेत भी पाया जाता है; अतः रसाभास का विचार समाज तथा संस्कृति के लिए भी उतना ही उपयोगी है।

रसाभास और रस

रसाभास के सम्बन्ध में साहित्य के क्षेत्र में दो प्रकार के विचार प्रस्तुत किये गए हैं। एक पक्ष के अनुसार रसाभास रस ही है और दूसरे के विचार से

दो मत

उसे रसाभास नाम देकर फिर भी रस कहना उचित नहीं। रस को आचार्यों ने औचित्यपूर्ण तथा निर्मल माना है। किन्तु, रसाभास में अनौचित्य की स्थिति अनिवार्य मानी जाती है। उसकी नींव ही अनौचित्य पर पड़ी है। अतः एक ही स्थल पर रस भी रहे और रसाभास भी, औचित्य भी हो और अनौचित्य भी, यह सम्भव नहीं। इनमें समानाधिकरण हो ही नहीं सकता। उदाहरणतया आप हेत्वाभास को हेतु कहने को तैयार न होंगे। यदि हेत्वाभास को हेतु नहीं माना जा सकता, तो रसाभास को रस कहना भी संगत नहीं।[1]

रसगंगाधरकार ने इस प्रश्न का उत्तर यह कहकर दिया है कि अनुचित होने पर भी किसी वस्तु के स्वरूप का नाश नहीं होता। अर्थात् अनुचित होने

पण्डितराज का उत्तर

पर भी वह पूर्णतया परिवर्तित नहीं हो जाती। अतः वह जो है, वह तो मानना ही पड़ता है। हाँ उसके दोष का संकेत अवश्य कर दिया जाता है। इस दोष का संकेत करने के लिए ही रस कहने की अपेक्षा उसे रसाभास कहा जाता है। यह कहना ऐसा ही है, जैसे किसी अश्व को दोषयुक्त देखकर दर्शक उसे अश्वाभास कहने लगे।[2] किन्तु ऐसा कहने से उसके अश्व होने में तो सन्देह नहीं किया जा सकता। अतः रसाभास भी रस ही है, इसमें सन्देह नहीं।

पण्डितराज के समान ही अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि रसाभास का यह स्वरूप 'शुक्तौ रजताभासवत्' है।[3] अर्थात् यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार

१. तत्र रसाद्याभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणं निर्मलस्यैव रसादित्याद्-हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेनेत्येके। र० गं०, पृ० ६६।

२. नह्यनुचितत्वेनात्महानिरपि तु सदोषत्वाभास व्यवहारोऽश्वाभासादि व्यव-हारवेदित्यपरे। वही।

३. 'ध्वन्यालोकलोचन', पृ० १७८।

अभिनवगुप्त का उत्तर

सीपी में चाँदी की-सी चमक उत्पन्न होती है, उसी प्रकार कविता के दोषयुक्त रहने पर भी ऐसा प्रतीत हो कि यह रसयुक्त ही है। रसाभास का तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए कि रस नहीं रहता, बल्कि उसका अर्थ केवल इतना है कि दोष रहते हुए भी रस का आभास बना रहता है। इसी कारण इसे रसाभास कहते हैं। पण्डितराज का तात्पर्य भी यही है कि रस का पूर्णतया अभाव नहीं हो जाता, वह कलुषित भले ही हो जाय।

आनन्दवर्धन तथा विश्वनाथ का उत्तर

इन सभी विद्वानों ने रस तथा भाव के साथ रसाभास, भावाभास आदि को भी ध्वनि के अन्तर्गत माना है। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वयं इस बात की घोषणा की है।[1]

विश्वनाथ ने भी उसे रसध्वनि के अन्तर्गत माना है और उसे रस मानने का कारण बताया है उसकी रसवत्ता। वह इसे भी आस्वादयोग्य मानते हैं।[2] उनके **'रसात्मकं वाक्यं काव्यं'** सिद्धान्त के आधार पर तो काव्य की संज्ञा केवल उसको ही दी जा सकती है, जिस पद्य या गद्य में रस हो। किन्तु जिन स्थलों पर रसाभास माना जाता है, वहाँ भी विद्वानों ने काव्यत्व स्वीकार किया है। उसे काव्य स्वीकार करने का कारण यही है कि यहाँ दोष रहने पर भी उससे रसास्वाद होता है, उसका अभाव नहीं है।[3] इसी कारण **'रस्यते इति रसः'** परिभाषा के अनुसार इन रस, भाव आदि के आभास को भी रस ही मानना चाहिए।[4]

इस मत को दृष्टि में रखते हुए वामन झलकीकर ने कहा है कि रस के अनौचित्य के कारण जो आभासता उत्पन्न होती है, रह रसावगम की उत्तर-

वामन झलकीकर का मत

कालिक स्थिति अथवा अनुभूति है। अर्थात् इनमें पौर्वापर्य रहता है। अभिप्राय यह कि पहले रस का अनुभव होता है, उसके पश्चात् ही उचितानुचित का

---

१. रसभाव तदाभास तत्प्रशान्तादिरक्रमः। ध्वनेरात्मांगिभावेन भासमानो व्यवस्थितः। 'ध्वन्यालोक' २।३। पृ० १७५।

२. रसभावो तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ। सन्धिःशबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः। सा० द०, ३।२५९-२६०।

३. रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैवतेषां रसवतांगीकारात्। सा० द०, काणे, प्र० प०, पृ० ४।

४. रस्यते इति रसः, इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते। सा० द०, काणे पृ० १।५।

विवेक जाग्रत होता है । यह स्थिति वाच्य-वाचक के सदृश नहीं है कि शब्द का उच्चारण होते ही उसके अर्थ का भी पता लग जाय।[1] यहाँ रसानुभूति के पश्चात् ही विवेक जाग्रत होता है। अतः रसाभास एक प्रकार से रस ही है।

वामन का यह मत पूर्वोक्त मतों का सारांश-सा प्रतीत होता है । अभिनव-गुप्त ने भी **'शुक्तौ रजताभासवत्'** उदाहरण के द्वारा पौर्वापर्य का ही संकेत करना चाहा है । वामन का सिद्धान्त भी इसी पौर्वापर्य का ही अनुमोदक है ।

वामन ने रसाभास के सम्बन्ध में एक और उल्लेखनीय बात कही है। उन्होंने प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या लौकिक अवस्था में ही रसाभास का बोध होता है, रस की साधारणीकरण वाली अलौकिक दशा में नहीं ? इस प्रश्न का तुरन्त ही उत्तर देते हुए उन्होंने कहा है कि साधारणीकरण के उपाय से सामाजिक वर्णन में तल्लीन हो जाता है । जब उसीमें अनौचित्य उपस्थित होता हैं, तब सामाजिक-निष्ठ रति आदि को आभासता प्राप्त होती है, लौकिक अवस्था-मात्र में नहीं ।[2] इसी बात को पंडितराज ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि "आप कहेंगे कि रस-प्रतीति के पहले नायक-नायिका आदि के साधारण हो जाने के कारण उनमें हमारी पूज्यता-बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होगी; पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि जिस स्थान पर सहृदय पुरुषों को रस की जाग्रति प्रमाण-सिद्ध होती है, उन्हीं नायिक-नायका आदि में साधारण कर लेने की कल्पना की जाती है, अन्यथा अपनी माता के विषय में अपने पिता के प्रेम-वर्णन करने पर भी रस की प्रतीति होने लगेगी ।[3] तात्पर्य यह है कि रसानुभूति में ही अनौचित्य होता है।

डॉ० राकेश का मत : उस पर विचार

डॉ० राकेश गुप्त ने रसाभास की अनावश्यकता सिद्ध करते हुए कहा है कि काव्यानुभूति में केवल दो ही दशाएँ संभव हैं : या तो रसास्वाद ही होगा अथवा फिर अनास्वाद ही रह जायगा । ऐसी किसी दशा की कल्पना करना जिसमें रस न हो, किन्तु रस के सदृश अनुभूति हो,

---

१. रसानौचित्यस्य रसावगमोत्तरमेवावगमात् आभासताप्रयोजकतैव, न वाच्य-वाचकानौचित्यवद्रसभंगहेतुतेति बोध्यम् । का० प्र० टीका, पृ० १२२ ।

२. नन्वेतावता लौकिकस्याभासत्वमागतं न तु सामाजिकनिष्ठस्यालौकिकस्येति चेत् न । साधारणीकरणोपायेन सामाजिकस्य वर्णनीयतन्मयीभावत्सामा-जिकनिष्ठ रतेरप्याभासत्वमिति । का० प्र० टीका, पृ० १२२-३ ।

३. हि० र० गं०, पृ० १४४ ।

व्यर्थ है।[1]

डॉ० राकेश का मत प्राचीन आचार्यों के अनुकूल नहीं है। उनका—प्राचीन आचार्यों का—रसाभास से उसके रस-सदृश होने का अर्थ कभी नहीं था। उनके द्वारा दिये गए उदाहरणों से प्रकट है कि रसाभास की स्थिति पहले रस की ही स्थिति है। पहले चाँदी का ही ज्ञान होता है, तदनन्तर सीपी का। सीपी के ज्ञान से पूर्व जितनी देर तक चाँदी का ज्ञान रहता है, उतनी देर तक वह ज्ञान सत्य ही है, भले ही बाद में असत्य सिद्ध हो जाय। इसी प्रकार रसाभास भी पहले रस की ही दशा में अनुभव किया जाता है। यह अनुभूति जितनी देर होती है, उतनी देर उसका रस के रूप में ही अनुभव होता है। तदनन्तर विवेक उसे रसाभास में परिणत कर देता है। रसानुभूति के समय का आनन्द निर्दोष आनन्द है। किन्तु कुछ ही क्षणों में पूर्वापर घटनाओं का विवेक जाग्रत होने पर वही आनन्द अनुचित लगने लगता है। अर्थात् जब हम पूरे प्रसंग में किसी घटना के वर्णन पर ध्यान जमाते हैं, तो हमें उसके उचितानुचित होने का ज्ञान होता है। मुक्तकों में इस कथा का सहृदय आक्षेप कर लेता है। इस प्रकार के रस से रसाभास-ज्ञान में बहुत देर लगती है। यह बात अभिनव ने रावण के द्वारा सीता के प्रति प्रदर्शित रति को रसाभास तथा तदुपरान्त उसे हास्य का उदाहरण बतलाते हुए कही है। उनका कथन है कि तन्मयावस्था में तो रस का ही आस्वाद होता है, किन्तु पूर्वापर-प्रसंग पर विचार करने से यह शृंगार-रसाभास हो जाता है, यह स्थिति सामाजिक की पश्चात्कालिक विवेक स्थिति है, रसानुभूति तो उसे हो ही जाती है।[2]

रसाभास का अन्य रस में परिवर्तन

इस प्रश्न को लेकर अभिनवगुप्त ने एक दूसरी ही स्थापना की। उन्होंने रसाभास से अन्य रसों की उत्पत्ति मानी। उनका मत था कि जहाँ रसाभास कहा जाता है, वहाँ यह समझना चाहिए कि वह रस तो दूषित हो गया, जिसका वर्णन करना था, किन्तु प्रसंग के अनुकूल वही दूसरे रस में परिवर्तित हो गया है। भरत ने भी स्वीकार किया है कि शृंगार की अनुकृति, अर्थात् अमुख्यता हो जाने पर हास्य की उत्पत्ति होती है। आभास का तात्पर्य वस्तुतः किसी रस को अमुख्यता प्राप्त होना ही है। इसीको अनु-

१. सा० स्ट० र०, पृ० १६७।

२. तथापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयीभवन दशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृंगारतैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन। लोचन, पृ० ७८-७९।

कृति भी कहा गया है।[1] उदाहरणत :

> दूराकर्षण मोहमन्त्र इव ते तन्नाम्नि याते श्रुतिं,
> चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां विना ।
> एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरंगेरनंगातुरैः
> संपद्येत कथं तदाप्ति सुखिमित्येतन्न वेद्मिस्फुटम् ॥

इस श्लोक में रावण यह विश्वास नहीं कर पा रहा है कि सीता उसके प्रति उपेक्षाभाव रखती है, द्वेष करती है अथवा कोई अन्य भाव रखती है। इस प्रकार के भाव उसके मन में आते ही उसकी सीता के प्रति की गई अभिलाषा विलीन ही हो जायगी। यहाँ काम-मोहित रावण का सीता के प्रति अनुचित मोह-जनित औत्सुक्य व्यंजित है। अतएव यहाँ रति की अमुख्यता तथा मोह की प्रधानता है।[2] अतएव शृंगार की अनुकृति-मात्र होने से यह रसाभास का उदाहरण है। यदि इस श्लोक में रावण की एक-मात्र इसी उक्ति पर ध्यान रखकर चला जायगा, तो हास उत्पन्न नहीं होगा। किन्तु यदि सम्पूर्ण घटना पर विचार किया जाय, तो हास अवश्य उत्पन्न होगा। यहाँ सीता आलम्बन विभाव है। अतः चिन्ता, मोह तथा दैन्य व्यभिचारी माने जायँगे। इनका रावण की अवस्था तथा स्वभाव से कोई साम्य न होकर उलटा विरोध ही है। कहाँ अकेली अबला सीता, लंकेश्वर की बंदिनी, और कहाँ लंकेश्वर की अपार शक्ति, उसका क्रूर व्यवहार, उसकी आसक्ति आदि। सीता पतिव्रता हैं, रावण के प्रति उनकी उपेक्षा है और वह मोहासक्त कामांध होकर रो-कलप रहा है। सीता की उपेक्षा और रावण की मोहासक्ति उस रति को एकांगी बनाकर रसाभास में परिवर्तित किये दे रही है। ऐसा विचार आते ही रावण का यह सम्पूर्ण चित्र हास्य का विभाव हो जायगा। इसी प्रकार अन्य रसों से भी हास्य रस की अवतारणा हो सकती है। यहाँ तक कि शांत-रसाभास से भी हास्य की उत्पत्ति संभव है।[3]

सारांश यह है कि प्रसंग या पूर्वापर-सम्बन्ध के विवेक के अनन्तर ही रसाभास की स्थिति आती है और उस विवेक के जात होने के पूर्व रसास्वाद होता है। यही कारण है कि रसाभास को भी रस के अन्तर्गत रखा गया है।

---

१. अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्यकोऽर्थः। वही, पृ० १७९।

२. वहीं, पृ० १७८-९।

३. तेन करुणाद्याभासेष्वपि हासत्वं सर्वेषु मन्तव्यम्। अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावकत्वम्। तच्चानौचित्यं सर्वरसानां विभावानुभावादौ सम्भाव्यते। अ० भा०, पृ० २९६।

उपरिलिखित विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रसाभास का विचार केवल प्रसंग देखकर करना चाहिए। अतएव जिन मुक्तक काव्यों में सदैव प्रसंग का ध्यान रखने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती तथा एक ही भाव को काव्य का रूप दे दिया जाता है, उनमें प्रसंग का आक्षेप किये बिना रसाभास का पूरा विवेक नहीं हो सकता। महाकाव्य, खण्डकाव्य अथवा दृश्यकाव्य में जहाँ प्रसंग का विचार किया जाता है, वहाँ पात्र के व्यवहार का विचार उचित या अनुचित में से किसी के अन्तर्गत किया जा सकता है। अतएव रसाभास को जानने में विशेषतः प्रबन्धकाव्यों में सरलता होती है। मुक्तककाव्य में लोक-व्यवहार अथवा कथा का आक्षेप सहायता करता है। स्वयं पात्र के चरित्र से इस रहस्य का उद्घाटन कठिनाई से ही होता है। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि काव्य में जिन स्थलों का निर्देश रसाभास के रूप में किया जाता है, वे पात्र के दुश्चरित के बोधक हैं अथवा उसके द्वारा किये गए अनुचित कर्मों का उद्घाटन करते हैं।

रसाभास का महत्त्व

काव्य में रसाभास का महत्त्व कम नहीं है। वह काव्य का एक अनिवार्य अंग है। काव्य में सभी प्रकार के चरित्र होते हैं। 'सु' और 'कु' का संघर्ष काव्य का प्राथमिक उद्देश्य है। अतएव अच्छे और बुरे चरित्र तो काव्य में रखे ही जायँगे। उनके चरित्र का भली प्रकार उद्घाटन करने के हेतु रसाभास का प्रयोग भी होता रहेगा। तात्पर्य यह कि यदि रावण को दुष्ट पात्र के रूप में चित्रित करना अभीष्ट है, तो हम जान-बूझकर उससे ऐसे काम करायेंगे, जिनसे उसके कार्यों का अनौचित्य प्रकट होता हो। और जितनी ही काव्य में किसी चरित्र की दुष्टता प्रकट की जायगी, उतना ही वह प्रभावशाली प्रतीत होगा तथा दुष्ट पात्र के प्रति कवि का अभीष्ट भाव हमारे मन में जाग्रत होकर पुष्ट होता चला जायगा। अतएव अनुचित होने पर भी वह व्यवहार हमें एक प्रकार का आनन्द ही प्रदान करेगा। यही कारण है कि अभिनव ने रसाभास से हास्य की उत्पत्ति स्वीकार की है। इस दृष्टि से रसाभास की काव्य में, विशेषतः प्रबन्ध में, अनिवार्यता तथा रसवत्ता ही सिद्ध होती है।

७

रस-निरूपण

रस-विवेचन के अन्तर्गत जहाँ रस की निष्पत्ति, साधारणीकरण अथवा रसास्वाद के प्रमुख महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते हैं, वहाँ साथ ही रस की एकता अथवा अनेकता, उसके भेद-उपभेद, उनकी परस्पराश्रयिता और विरोध, श्रेष्ठता अथवा आपेक्षिक हीनता आदि को लेकर भी अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होते रहते हैं। रस-सिद्धान्त के स्वरूप का ज्ञान इन प्रश्नों के समाधान के अभाव में पूर्ण नहीं कहा जा सकता। अतएव हम इस अध्याय में इसी प्रकार के प्रश्नों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। यहाँ हम इस बात की ओर पाठकों का ध्यान अवश्य आकर्षित करना चाहते हैं कि हमारा मूल विषय सिद्धान्त का भारतीय आचार्य-दृष्टि से निरूपण करना है, विविध रसों के विविध उदाहरणों को प्रस्तुत करना नहीं। यदि हम शास्त्रों में वर्णित रसों के ही भेदोपभेद का उदाहरण-सहित निरूपण उपस्थित करने लगें तो अप्रासंगिक रूप से हमें विस्तार में जाना पड़ेगा। काल-भेद के अनुसार साहित्य भी विविध रूपात्मक होता चला गया है। और उसकी विविधता केवल गद्य या पद्य के भेदों के रूपों की दिशा में ही नहीं दिखाई देती, अपितु विषय-चयन और जीवन के बहुमुखी विकास के साहित्यिक अवतरण में भी भिन्नता दिखाई पड़ती है। फलतः साहित्य में प्रयुक्त होने वाले आलम्बनों का रूप भी बदलता चला है। निश्चय ही इस परिवर्तन के साथ-साथ रसों के भेदों में कुछ बातें घटाई भले ही न जा सकें, बढ़ाई अवश्य जा सकती हैं। किन्तु उन समस्त आलम्बनों का वर्णन और उनके आधार पर रसों का विवेचन हमारे प्रबन्ध का विषय नहीं है। इसीलिए हम साहित्य में परिनिष्ठित आठ रसों की केवल मुख्य बातों का ही वर्णन करेंगे। यहाँ हम विशेषतः अपरिनिष्ठित अथवा विवादग्रस्त रसों का वर्णन करने के साथ-साथ इस अध्याय में उक्त कतिपय प्रश्न तथा उनका समाधान और उपस्थित करना चाहेंगे। इस रूप में इस क्रम को शान्त रस के विवेचन से आरम्भ करना ही उचित होगा।

भरतोक्त आठ रसों के सम्बन्ध में विद्वानों में जितना ही ऐक्य है, उतना ही शान्त रस की स्वीकृति के सम्बन्ध में विवाद भी है। अभिनवगुप्त ने बिखरे

उल्लेखों के आधार पर उसे भरत-सम्मत ही माना है ।[1] इसके लिए अभिनव-गुप्त ने 'नाट्य-शास्त्र' में आई हुई '**क्वचिद्धर्मः क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचित् शमः**' अथवा इसीके समान अन्य कुछ पंक्तियों[2] को आधार माना है । जो हो शान्त रस का भरत द्वारा उल्लिखित होना-न-होना उसकी सत्ता में उतना बाधक नहीं है, जितना कि अन्य कारण हैं । शान्त के पक्ष-विपक्ष में कई तर्क उपस्थित किये जाते हैं । उसके पक्षपाती उसकी प्राचीनता घोषित करते हुए प्राचीन शान्तरसीय ग्रन्थों का नाम लेते हैं और उसे परम्परया स्वीकार किया गया मानते हैं । आनन्दवर्धन ने तो 'महाभारत' को भी शान्तरस का ही ग्रन्थ माना है । 'नागानन्द' नाटक में शान्त की अवतारणा मानकर इसे नाट्य में भी प्रयोजनीय मान लिया गया है । इसके विपरीत विपक्ष की ओर से 'नागानन्द' नाटक में वीर रस की स्थापना की जाती है और शान्त की अनावश्यकता पर जोर दिया जाता है । इसके विपक्ष में प्रधानतः निम्न कारणों को प्रस्तुत किया जाता है :

शान्त रस

(१) भरत ने इसे स्वीकार नहीं किया है ।

(२) शान्त रस विक्रियाजनक न होने के कारण, और इसलिए भी कि यह सार्वजनीन नहीं है, अनभिनेय और नाटय में अप्रयोजनीय है ।

(३) शान्त में राग-द्वेष की हानि होती है, किन्तु संसार राग-द्वेष से हीन नहीं है, न हो ही सकता है, अतएव इसका हृदय-संवाद संभव नहीं है ।

(४) इसका अन्तर्भाव वीर तथा वीभत्स रस में हो सकता है ।

इन आक्षेपों में से पहले के सम्बन्ध में हम ऊपर कह चुके हैं कि एक तो अभिनवगुप्त ने प्रकीर्ण उल्लेखों के आधार पर इसे भरतसम्मत ही माना है, दूसरे, भरतसम्मत न होने पर भी यदि यह आस्वादनीय हो, तो अवश्य ही इसे भी स्वीकार किया जा सकता है । तीसरी बात यह है कि भरत ने निर्वेद के भी दो भेदों में एक तत्व-ज्ञान माना है । हो सकता है कि इसके द्वारा वे शान्त रस का संकेत करना चाहते हों ।

---

१. प्रतीयत एवेति । मुनिनाप्यंगीक्रियत एव 'क्वचिच्छमः' इत्यादि वदता । लोचन, पृ० ३६१ ।

२. दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति ॥ १।१११।११२ तथा
धर्मकामोऽर्थकामश्च मोक्षकामस्तथैव च ।
स्त्रीपुंसयोस्तु संयोगो, यः कामः स तु संस्मृतः ॥ ना० शा०, २४।६१ ।

३. र० र० प्र०, पृ० ४३ ।

शम को शान्त रस का स्थायी भाव मानने वाले विचारकों के विरोधी पक्ष की ओर से कहा गया है कि 'शम' समस्त व्यापारों का लयरूप है। अभिनय में व्यापार ही प्रधान होते हैं। अतएव, व्यापार-लय के कारण शान्त रस भी अभिनयोपयुक्त नहीं रह जाता।[1] वस्तुतः चेष्टाओं का उपराम प्रदर्शित करना शान्त का उद्देश्य नहीं है। चेष्टाओं का शमन तो पराकाष्ठा है, पर्यन्तभूमि है, जिसका रंगमंच पर प्रदर्शन नहीं किया जा सकता। प्रदर्शन की इस बाधा का सामना शान्त-मात्र को ही नहीं करना पड़ता, अन्य सभी रसों की पराकाष्ठा-स्थिति इसी प्रकार प्रदर्शन-सुकर नहीं है। उदाहरणतः शृंगार के संयोग पक्ष के अन्तर्गत आने वाली कई दशाएँ—जो भौतिक रूप में स्वीकरणीय हैं—रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं की जातीं, साथ ही उनका नंगा वर्णन श्रव्य में भी उचित नहीं माना जाता। रौद्र की पर्यन्तभूमि मरण या हत्या होनी चाहिए, किन्तु नाट्य में उसका भी निषेध कर दिया गया है। इसी प्रकार शान्त रस में भी क्रियाओं के पूर्ण शमन के प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है। अपितु स्वभावगत शान्ति, लौकिक दुःख-सुख के प्रति विराग के प्रदर्शन से ही काम चलाया जा सकता है। पात्र के अन्तःसंघर्ष को प्रकट करते हुए सत्य-प्राप्ति अथवा आत्म-ज्ञानोपलब्धि के लिए किये गए प्रयत्नों का दिग्दर्शन-मात्र ही शान्त रस को उपस्थित कर सकता है। इस विचार को स्वीकार कर लेने पर यह आपत्ति भी निरर्थक सिद्ध हो जाती है कि शान्त में संचारी आदि की अनिर्वचनीयता के कारण रसत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।[2] क्योंकि यदि शान्त रस नाट्यादि में सर्वेन्द्रिय-व्यापारोपराम के रूप में वर्ण्य नहीं माना गया है, तो उसके संचार्यादि अवश्य माने जा सकते हैं। अभिनेता की दृष्टि से भी इसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि आचार्य अभिनय में अभिनेता को लिप्त

१. यथा तथास्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापार प्रविलयरूपस्याभिनययोगात्। द० रू० पृ० १४८।

(ब) विक्रियाजनका एव रसा इति अष्टौ रसा भरतमते। 'शान्तस्य निर्विकारत्वात् न शान्तंमेनिरे रसम्' इति शान्तस्य रसत्वाभावात् अष्टावेव रसाः संगृहीताः। लोल्ललक्ष्मीधर, न० आवे र०, पृ० २५ में उद्धृत।

२. न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागो न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥
इत्येवंलक्षणः, तदा तस्य मोक्षावस्थायामेव आत्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात् तस्य च स्वरूपेण अनिर्वचनीयता। द० रू०, पृ० १६५।

नहीं मानते ।

दशरूपककार ने शान्त द्वारा चित्त-संवाद की असंभाव्यता का विचार करते हुए इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि शान्त रस मोक्षावस्था रूप होने के कारण सभी सामाजिकों द्वारा संवादनीय नहीं हो सकता। संसार में राग-द्वेष ही प्रधान है, अतः राग-द्वेष-विहीन शान्त से सामाजिक का चित्त-संवाद हो सके, यह संभव नहीं है।[1] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने इस आक्षेप का बड़ा सयुक्ति उत्तर दिया है। उनके उत्तर का सारांश यह है कि वियुक्त तथा मुक्त-वियुक्त भेद से भक्त दो प्रकार का होता है। जिस एकाग्रचित्त साधक को योगसिद्धि हो जाती है, उसके अन्तःकरण में सब प्रकार के ज्ञान भासित होने लगते हैं। इस योगी को वियुक्त कहा जाता है। अतीन्द्रिय विषय का ज्ञान रखने वाला योगी मुक्त-विमुक्त कहा जाता है। इन योगियों को इसी जीवन में पूर्ण शान्ति उपलब्ध हो जाती है।[2] मिथिलेश जनक इसी प्रकार के विदेह योगी थे। संसार में ऐसे व्यक्तियों की न्यूनता भले ही हो, किन्तु वे अनुपलभ्य नहीं हैं। अतः जो लोग इस दशा में पहुँच गए हैं अथवा इसके साधक हैं, उनसे चित्त-संवाद हो ही सकता है, अन्यों से भले ही न हो। भरत ने तो स्वयं यह स्वीकार किया ही है कि आयु तथा व्यक्ति-भेद से भिन्न-भिन्न रस भिन्न-भिन्न जनों को आस्वाद्य लगते हैं। सभी रस सभी को आस्वाद्य हों, ऐसा नियम नहीं है। तरुण लोग शृंगार रस का आनन्द जितनी मात्रा में ले पाते हैं, उतनी ही मात्रा में अन्य रस उन्हें प्रभावित नहीं करते। इसी प्रकार विरागी जनों को जितना आनन्द शान्त रस की अनुभूति से आयगा, उसकी अपेक्षा शृंगारादि रस उनका ध्यान कम ही आकर्षित करेंगे। शृंगार रस से तो उनका पूर्ण विराग भी हो सकता है।[3] सभी रसों को एक-सा महत्त्व नहीं दिया जाता। भरत ने चार रसों को और उनमें भी वीर तथा शृंगार को ही विशेष प्रयोजनीय अथवा प्रधान माना है, अन्य रस उन्हींके सहायक अथवा उन पर निर्भर बने रहते हैं। भयानक, अद्‌भुत अथवा वीभत्स रसों को किसी भी काव्य में प्रधान रूप में प्रस्तुत किये जाने की स्वीकृति नहीं दी गई है। इसी प्रकार

१. अन्ये तु वस्तुतस्याभावं वर्णयन्ति—अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तु-मशक्यत्वात्। द० रू०, पृ० १४७। तथा
न च तथाभूतस्यशान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्ति। वही, पृ० १६५।

२. युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन् संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा ॥ सा० द०, ३।२५०।

३. ना० शा०, चौ०, २७। ५६-६२।

यदि शान्त को भी उन्हींके समकक्ष मान लिया जाय तो क्या हानि है ? अभिनवगुप्त[1] तथा चन्द्रिका टीकाकार[2] दोनों ही इस विषय में एकमत हैं कि शान्त को अप्रधान मानने में भी कोई हानि नहीं, किन्तु उसे स्वीकार अवश्य किया जाना चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार अन्य सभी रस भी सभी के लिए संवाद्य नहीं है, सार्वजनीन नहीं हैं, उसी प्रकार यदि शान्त भी सार्वजनीन नहीं, तो इसमें चौंकने की बात नहीं। वीतरागी के लिए शृंगार भी उतना ही महत्वहीन है।[3] फिर भी शृंगार को महत्वपूर्ण रस माना गया है तो शान्त को भी मानना चाहिए। शान्त तो चतुर्वर्ग में से सर्वोत्तम मोक्ष से सम्बन्धित है, अतः उसे सर्वोत्तम मानने में कोई आपत्ति हो भी तो भी उसे स्थान तो मिलना ही चाहिए।

शान्त के विरोधी एक और तर्क का सहारा लेते हैं। वह यह कि भरत ने २०वें अध्याय में डिम का वर्णन करते हुए उसे शृंगार तथा हास्य रसों से हीन बताया है और षड्रसलक्षणयुक्त कहा है[4], जिससे प्रतीत होता है कि भरत आठ ही रस मानते थे। अभिनवगुप्त इस आपत्ति का उत्तर 'डिम' के लक्षण 'दीप्तरसकाव्ययोनिः' के आधार पर यह देते हैं कि 'डिम' में दीप्ति की स्वीकृति के कारण रौद्र रस ही प्रधान होता है। रौद्र तथा शान्त परस्पर विरोधी हैं, अतएव रौद्र प्रधान होने के कारण भरत ने 'डिम' में शान्त का उल्लेख नहीं किया है। शृंगार तथा हास्य का उतना तीव्र विरोध रौद्र से नहीं होता, जितना शान्त तथा रौद्र में परस्पर होता है, अतएव उनका प्रयोग कोई न कर दे इसका निषेध करने के लिए ही उनका उल्लेख किया गया है। अतएव

१. अतएव शान्तस्य स्थायित्वेऽप्यप्राधान्यम्। जीमूतवाहने त्रिवर्गसम्पत्तेरेव परोपकृतिप्रधानायाः फलत्वात्। अ० भा०, भाग १, पृ० ३३८।

२. आधिकारिकत्वेन तु शान्तो रसो न निबद्धव्य इति चन्द्रिकाकारः। लोचन, पृ० ३६४।

३. ननु तत्र हृदयसंवादाभावाद्रस्यमानतैव नोपपन्ना। क एवमाह नास्तीति, यतः प्रतीयत एवेत्युक्तम्। ननु प्रतीयते, सर्वस्य श्लाघास्पदं न भवति। तर्हि वीतरागाणां शृंगारो न श्लाघ्य इति सोऽपि रसात्च्यवतामिति तदाह—यदि नामेति। लोचन, पृ० ३६३।

४. षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरंको वै डिमः कार्यः।। ना० शा० चौ०, २०।८८।

तथा

शृंगारहास्यवर्जः शेषैरन्यैः समायुक्तः। वही २०।८९।

इसे भरत द्वारा असम्मानित मानने के पक्ष में अभिनवगुप्त नहीं हैं ।[1]

शान्त के विरोधियों में कुछ लोग वे हैं जो उसे वीर या बीभत्स के अन्तर्गत रखकर उसकी अनावश्यकता का प्रतिपादन करते हैं । इसके विपरीत शान्त के कुछ पक्षपाती उसीमें दानवीर, दयावीरादि का अन्तर्भाव कर लेते हैं। यहाँ तक कि शान्त से ही आठों स्थायी भावों की उत्पत्ति और उसीमें उनका विलय तक मान लिया गया है । (**स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्त्तते पुनिर्मित्तापाये च शान्त एवोपलीयते** । ना०शा० ६।१०८।) हमारे विचार से यह दोनों ही मत दूषित हैं । वीर में किसी-न-किसी अंश में अहंकार का समावेश माना जाता है । यद्यपि '**निरहंकाररूपत्व**' अथवा **सर्वाकारमहंकार-रहितत्व**' के कारण दयावीर, दानवीर को वीर रस से भिन्न रखने की प्रवृत्ति भी दीख पड़ती है, तथापि उन्हें शान्त के समीप नहीं ले जाया जा सकता, क्योंकि वीर में उत्साह की विशेषता होती है और दयावीरादि भी इससे बचे नहीं हैं । शान्त की सिद्धि उत्साह की विशिष्टता के समय नहीं होती । लोक-जीवन से जैसा सम्बन्ध वीर के इन भेदों का होता है, वैसा शान्त का कथमपि नहीं होता । शान्त में वैराग्य ही महत्वपूर्ण होता है । अतः दोनों की दिशाएँ भिन्न हैं, अतः दोनों पृथक् हैं । यदि इस प्रकार अन्तर्भाव करते रहेंगे, तो वीर और रौद्र को भी तथा इसी प्रकार अन्य रसों को भी एक-दूसरे में अन्तर्भूत दिखाना पड़ेगा । सारांश यह है कि शान्त का महत्व इन सब आक्षेपों के रहते हुए भी किसी प्रकार कम नहीं माना जा सकता ।

विभावादि वर्णन

शान्त रस के स्थायी भाव के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है । उसके विभावों में आलम्बन देवता, आत्मा अथवा ब्रह्म होते हैं, उद्दीपन प्रायः समग्र विश्व हो सकता है, किन्तु तत्वज्ञान, वैराग्य, आशयशुद्धि, साधुसमागम, सत्संपर्क, भगवत्कृपा, पूर्वार्जित कर्म तथा दर्शनाध्ययनादि ही मुख्य हैं । यमनियमादि को इसका अनुभाव माना गया है तथा सभी भाव उसके संचारी होने योग्य हैं । अभिनव ने इसका देवता बुद्ध को माना है । विश्वनाथ नारायण को इसका देवता मानते हैं । हर्षोपाध्याय[2] पारब्रह्म को देवता मानते हैं । सत्वप्रधानता के कारण इसका रंग श्वेत माना गया है । विश्वनाथ ने '**कुन्देन्दुसुन्दरच्छाया**' कहकर उसका वर्णन किया है । वृत्तियों में सात्वती से ही इसका सम्बन्ध माना जाता है ।

अल्लराज ने शान्त के विभावादि का वर्णन करते हुए कहा है कि नाना

१. अ० भा०, भाग १, पृ० ३४१ ।
२. न० आँव र० में उद्धृत, पृ० ५० ।

विषयों के दोष-दर्शन से अनेक प्रकार से उद्विग्न तथा दुखित चित्र की शम-परिपोष की अवस्था को शान्त रस कहते हैं। इसमें आनन्दाश्रु-बिन्दु प्रकट होते हैं। पुलक से भरा शरीर कदम्ब-मुकुल के समान दिखाई देने लगता है। प्रतिक्षण हर्ष गद्गद् वचन निकलने लगते हैं। पुण्यस्थान के अवलोकन से नेत्रों को आनन्द होता है, जिसकी तुलना में सभी प्रकार के आनन्द हेय पड़ जाते हैं। अतएव सब संसार के दुःख से निवृत्तिरूप शान्त को नवाँ रस स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार क्लेश-शान्ति के रूप में ऐसा सुख होता है, जैसे कारागृह से छूटने वाले व्यक्ति को होता है।[1]

स्थायी भाव

उद्भट ने शान्त का स्थायी 'शम' बताया है, किन्तु इसका तीन कारणों से विरोध किया जाता है। (१) नाट्य-शास्त्र के कुछ संस्करणों में शान्त रस का वर्णन न होने के साथ-साथ शम का भी वर्णन उपलब्ध नहीं होता। (२) शम को स्वीकार करने पर संचारियों आदि की कुल संख्या पचास माननी होगी। भरत केवल उन पचास भावों को स्वीकार करते हैं। (३) शम और शान्त एक-दूसरे के पर्याय-से हैं। इन आक्षेपों में से प्रथम दो की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। अन्तिम के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने लौकिक तथा अलौकिक का भेद स्थिर करके समाधान प्रस्तुत कर दिया है।[2]

रुद्रट तथा केशव मिश्र ने सम्यग्ज्ञान को शान्त का स्थायी बताया है।[3] किन्तु सम्यग्ज्ञान शम का विभावरूप तत्व-ज्ञान है। विभाव को स्थायी मानने में कोई युक्ति नहीं है। अतः दूसरे विद्वानों ने तृष्णाक्षय-सुख को स्थायी बताया। आनन्दवर्धन ने ही पहली बार इसकी स्थापना की।[4] किन्तु आगे चलकर

१. र० र० प्र० पृ० ४३।

२. शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम्। सिद्धसाध्यते यदलौकिकत्वेन···लौकिकालौकिकत्वेन···साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि सुलभमेव। अ० भा०, भाग १, पृ० ३३५।

३. (क) सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
सम्यग्ज्ञानं विषयेतमसो रागस्य चापगमात्॥ 'काव्यालंकार,' १५।१५-१६।

(ख) केशव मिश्रः। 'अलंकार शेखर', पृ० ७५।
सम्यग्ज्ञान संमुत्थानः शान्तो निस्पृहनायकः।
रागद्वेष परित्यागे सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ॥२७॥ २०, 'मरीचिः'

४. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥
ध्व०, तृतीय उद्योत। पृ० ३९०, चौ० सं०।

तृष्णाक्षय सुख तथा शम में कोई अन्तर स्वीकार नहीं किया गया, दोनों पर्याय मान लिये गए। इससे आगे बढ़कर कुछ विद्वानों ने **'सर्वचित्तवृत्तिप्रशम्,' 'निर्विशेषचित्तवृत्ति,'** 'धृति,' 'निर्वेद,' 'उत्साह' आदि अनेक स्थायी भाव खोज निकाले। किन्तु सर्वचित्तवृत्तिप्रशम को भी स्थायी मानना उचित नहीं है, क्योंकि पहले ही कहा जा चुका है कि रसास्वाद में समस्त चित्तवृत्तियों की शान्ति किसी प्रकार भी सहायक सिद्ध नहीं होगी। इस स्थिति का नाम भाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि भाव तो विक्रिया जनक होते हैं। इसी प्रकार निर्विशेष चित्तवृत्ति भी तृष्णाक्षय से नाम-मात्र का भेद रखती है।

भोज ने धृति को स्थायी भाव स्वीकार किया है।[1] धृति का अर्थ है दृढ़ता, सन्तोष अथवा प्रसन्नता, किन्तु भोज धृति से केवल सन्तुष्टि का ही अर्थ लेते हैं। वे शम को भी धृति के अन्तर्भूत कर लेते हैं अथवा उसे मति-व्यभिचारी का ही एक प्रकार-भेद मानते हैं।[2] किन्तु धृति तथा तृष्णाक्षय नामक कथित स्थायी में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता, संभवतः इसीलिए 'श्रृंगारप्रकाश' में भोज ने शम को ही स्थायी स्वीकार कर लिया है। **'अत्र च शम प्रकृति शान्तः'** (श्रृं० प्र०, न० र०, पृ० ६६) धृति तथा मति दोनों को स्वीकार करने का कारण वस्तुतः यह जान पड़ता है कि मति का एक भेद तत्त्व-ज्ञान भी बताया गया है, जो शान्त के लिए आवश्यक है। धृति के भी विज्ञान, श्रुति, शौच, आचार, अथवा गुरुभक्ति नामक विभाव माने गए हैं, जो शान्त के क्षेत्र में आ पड़ते हैं। हमारा विचार है कि धृति या मति दोनों ही स्थायी बनने में अयोग्य हैं, क्योंकि इनका अन्य रसों में भी व्यभिचार देखा जाता है। शान्त के स्थायी मानने के लिए इनकी कुछ विशेषताओं के आधार पर इन्हें विशेषीकृत करना होगा, तब भी भेद तो करना ही हुआ। अतः दूसरे स्थायी की कल्पना करना ही उचित होगा।

किसी-किसी ने उत्साह, जुगुप्सा अथवा रति[3] को शान्त रस का स्थायी भाव बताया है। उत्साह के सम्बन्ध में हम पहले ही कह आए हैं, कि इसका शान्त से

तथा

मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्र नये काव्यनये च।

तृष्णाक्षयं सुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्य अंगित्वेन विवक्षित

वही ४–५।

१. स० क०, पृ० ५१४–५१५।

२. अन्ये पुनरस्य शमं प्रकृतिमामनन्ति, स तु धृतेरेव विशेषो भवति।

स० क०, पृ० ५१५।

३. देखिए 'नम्बर ऑफ रसाज,' पृ० ७३, ७८ तथा ८०।

सम्बन्ध स्थापित करना भूल होगी। यदि इसी प्रकार अन्तर्भाव किया जायगा, तो धर्मयुद्ध के योद्धाओं को लेकर हम वीर की स्थापना न कर सकेंगे और यहाँ भी शान्त ही मान लेंगे। स्पष्ट है कि ऐसा करना किसी को भी ग्राह्य न होगा। वस्तुतः व्यभिचारी के रूप में उत्साह तो प्रायः सभी कामों के मूल में देखा जाता है। उसे शान्त में भी व्यभिचारी मान सकते हैं, किन्तु स्थायित्व के लिए उसकी प्रधानता यहाँ लक्षित नहीं होती। इसी प्रकार जुगुप्सा को स्थायी भाव मानना भी उचित नहीं। कदाचित् जुगुप्सा घृणा के साथ द्वेष का भी मिश्रण रखती है। वह एक ऐसी स्वाभाविक स्थिति है, जो वस्तु के सामने आते ही उत्पन्न हो जाती है। हममें विकर्षण की क्रिया आप-से-आप काम करने लगती है। यह जुगुप्सा हमारी सुरुचि के विपरीत अरुचि, अशौच आदि उत्पन्न करने वाली वस्तु से उत्पन्न होती है, किन्तु शान्त में जिन वस्तुओं के प्रति हम अरुचि का प्रदर्शन करते हैं, वे स्वभावतः वैसी अरुचिकर नहीं होतीं। वे किसी विशिष्ट सज्जन के लिए, जिसे विशेष ज्ञान उपलब्ध हो गया है, अरुचिकर हो सकती हैं, सबके लिए नहीं। उदाहरणतः, नारी-मात्र के प्रति संसार की विरक्ति नहीं, अनुरक्ति ही देखने में आती है। उसे अरुचिकर कोई नहीं कहता, कहता है केवल ज्ञानी अर्थात् शान्त रस का साधक। दूसरी ओर वही स्त्री यदि गन्दे कपड़े धारण किये, रेंट और लार बहाती, सिर की जूँए मारती किसी के सामने क्या उसकी कल्पना में भी आ जाय तो ऐसा उद्वेगकर अनुभव होता है कि हम तुरन्त आँखें बन्द करके नाक-भौंह सिकोड़ते हुए वहाँ से भाग जाना चाहते हैं, अथवा अपने को किसी प्रकार भुलावा देना चाहते हैं। जुगुप्सा को शान्त का स्थायी मान लेने पर बीभत्स तथा शान्त में अन्तर ही क्या रह जायगा? अतः दोनों के स्थायी पृथक् मानने होंगे।

शान्त का लक्ष्य आत्म-ज्ञान मानते हुए कुछ विद्वानों ने आत्म-रति नामक रति से उच्चतर स्थायी की कल्पना की। आत्म और अनात्म जगत् के इस द्वैत को भेदकर आत्म के रहस्य को जान लेना ही जीवन का उद्देश्य है, उसके सहारे व्यक्ति आनन्दमय ब्रह्म की उपलब्धि करता हुआ आनन्द भोगता है। इस विचार के समर्थकों ने प्रभु के प्रति अपने आकर्षण को आत्म-रति नाम से अभिहित किया। इस प्रकार पुराने भावों में से ही किसी को स्थायी बना लेने का प्रयत्न होते-होते किसी-किसी ने आठों स्थायी भावों में शान्त के स्थायी बनने की सामर्थ्य मान ली। किन्तु स्थायी भावों में शान्त के स्थायी से लौकिक और विशिष्ट का अन्तर बना रहा। शान्त के स्थायी को पृथक् बताने के लिए उसे शुद्ध और विशिष्ट की संज्ञा दी जाने लगी। कालान्तर में अन्य रसों के स्थायी भावों को भी शान्त का स्थायी

मानने की प्रवृति के परिणामस्वरूप यह विचार स्थिर हुआ कि एक रस के अनेक स्थायी मानकर काम नहीं चलाया जा सकता। हाँ, यह सब शान्त में व्यभिचारी अथवा उद्दीपक माने जा सकते हैं। अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से उस मत का खण्डन किया है, जो इन सबके एक साथ पानकरसवत् मिश्रण को शान्त का स्थायी मानता है।[1] उन्हें इनका व्यभिचारित्व-मात्र ही स्वीकार हुआ।[2]

अन्य विद्वानों ने निर्वेद को ही शान्त का स्थायी बताया है। किन्तु भरत द्वारा इसे संचारियों में गिने जाने के कारण इसके स्थायित्व का विरोध किया गया। विपक्षियों का मत है कि निर्वेद कई कारणों से उत्पन्न होता है। निर्धनता अथवा प्रेम को आघात पहुँचने के कारण भी निर्वेद हो सकता है, भर्तृहरि को इसी प्रकार का निर्वेद जाग्रत हुआ ही था। फिर इनमें से किसको शान्त का स्थायी मानें? इस प्रश्न का उत्तर निर्वेद के तत्त्व-ज्ञानजन्य भेद को स्वीकार करके दिया गया। अभिनवगुप्त ने भी तत्त्व-ज्ञानरूप निर्वेद को निर्वेद के अन्य प्रकारों में ही नहीं, समस्त संचारियों में भी सर्वश्रेष्ठ माना है। मम्मट आदि ने तो उसे स्थायी के रूप में स्वीकार कर लिया, किन्तु अभिनव उसे संचारियों में सर्वश्रेष्ठ मानकर भी स्थायी स्वीकार न कर सके। वैसा करने पर उन्हें तत्त्व-ज्ञान को विभाव स्वीकार करना पड़ता, किन्तु वैराग्य, समाधि आदि वस्तुतः विभाव नहीं हैं। यदि तत्त्व-ज्ञान के जनक के रूप में इन्हें विभाव मान भी लें, तो भी वे कारण के भी कारण हैं। इस कारण उनको विभाग मानने में बाधा उपस्थित होती है। निर्वेद स्वयं वैराग्य-रूप है। यह तत्त्व-ज्ञानजन्य न होकर उसका जनक है। निर्वेद-प्राप्त व्यक्ति तत्त्व-ज्ञान को उपलब्ध करते हैं। वैराग्य के द्वारा ही प्रकृतिलय संभव है। तत्त्व-ज्ञान मोक्ष में परिवर्तित होता है। तत्त्व-ज्ञान वैराग्य को पुष्ट करता है, वही अनेक कोटियों से होता हुआ बढ़ता रहता है। अतः निर्वेद से शान्त के स्थायी की समस्या का समाधान सम्भव नहीं दीखता। वैराग्य और निर्वेद में कोई एकता नहीं है, क्योंकि निर्वेद खेद की अवस्था-मात्र है अथवा वस्तुओं के प्रति अनिच्छा ही निर्वेद है, जबकि शान्त का आधारभूत मोक्ष कैवल्यरूप है। वह लौकिक सुखदुःखादि से परे हैं। अतएव राग-द्वेषहीन वैराग्य से निर्वेद का कोई सम्बन्ध नहीं। वैराग्य प्रवृत्ति-निरोध के द्वारा

---

१. अन्ये तु पानकरसवत् अविभागं प्राप्ताः सर्व एव रत्यादयोऽत्र स्थायिनः इत्याहुः। चित्तवृत्तीनामयुगपद्भावात् अन्योन्यं च विरोधात् एतदपि न मनोज्ञम्। अ० भा०, पृ० ३३६।

२. तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति। वही, पृ० ३३७।

मोक्ष का साधक है, किन्तु निर्वेद में यह सामर्थ्य दृग्गोचर नहीं होती। सारांश यह है कि निर्वेद को भी शान्त का स्थायी मानना संभव नहीं हो सका।

अभिनव ने पूर्वकथित आत्म-रति के समान आत्म-ज्ञान को ही शान्त का स्थायी माना, क्योंकि आत्म-रति कहने से उस विवेक का पता नहीं लगता, जो आत्म-ज्ञान में अपेक्षित है। वह अनुरक्ति के समीप है, जो भक्ति के क्षेत्र में संचार करती है। आत्मा प्रमुख है, उसका ज्ञान तत्त्व-ज्ञान है, वही स्पृहणीय है। इसी-की उपलब्धि के अनन्तर समस्त दुःखादि का नाश होकर परम आनन्द की प्राप्ति होती है। इसे तत्व-ज्ञान कहेंगे। यह शम के समान है, किन्तु सभी स्थायी-व्यभिचारी आदि से परमोत्कृष्ट होने के कारण इसे शमादि कोई भी नाम देना शोभा नहीं देता। अतः आत्म-ज्ञान नाम से इसे पृथक् संज्ञा दी गई। इसकी स्वीकृति के द्वारा अन्य नामों के दूषणों अथवा अयोग्यताओं का निरास हो जाता है, और शान्त का स्पष्ट उद्देश्य एवं स्वरूप लक्षित हो जाता है। सारांश यह है कि अन्य पूर्वकथित सभी भावों को अस्वीकार करके आत्म-ज्ञान को ही शान्त का स्थायी मानना चाहिए।

शान्त रस के भेद

डॉ० राघवन ने रुद्रभट्ट के अप्रकाशित ग्रन्थ 'रसकलिका' के आधार पर लिखा है कि रुद्रभट्ट ने वीर रस के भेदों के समान शान्त के भी वैराग्य, दोष-निग्रह, सन्तोष तथा तत्व-साक्षात्कार नामक चार भेद माने हैं।[1] वस्तुतः यह चारों उसके भेद नहीं, अपितु उसके साधन-मात्र हैं। वीर रस के दयावीरादि भेदों से इनकी समानता स्थिर नहीं की जा सकती, क्योंकि दयावीरादि वीर रस की प्राप्ति के साधन नहीं हैं और न उनके स्थायी भाव के प्राप्ति-साधक ही हैं। किन्तु शान्त रस या उसके स्थायी की उपलब्धि में वैराग्यादि अवश्य ही साधन-रूप हैं। अतएव इन्हें शान्त के भेद नहीं मानना चाहिए।

एक उदाहरण

निम्न छन्द में दशरथ आलम्बन, चिता की ओर संकेत उद्दीपन, दर्शकों की कातरता अनुभाव, मति, धृति आदि संचारी तथा तत्वज्ञान रूप स्थायी है :

---

१. अथ शान्त :—विषयेभ्यो विरक्तस्य तत्वज्ञस्य विवेकिनः।
रागादिनिर्विकारत्वं शान्तिरित्यभिधीयते ॥
सा चतुर्विधा···वैराग्यम्, दोष-निग्रहः, तत्त्वसाक्षात्कारिता चेति।
विषयेभ्यो निवृत्तिर्वैराग्यम्··· । रागाद्यभावो दोषनिग्रहः...
तृष्णोन्मूलनं सन्तोष···:। तत्त्वसाक्षात्कार :।···न० ऑव र०, पृ० ५४ पर उद्धृत।

बोले मुनि यों चिता की ओर हाथ कर
देखो सब लोग अहा क्या ही आधिपत्य है।
त्याग दिया आप अजनन्दन ने एक साथ,
पुत्र हेतु प्राण सत्य कारण अपत्य है।।
पा लिया है सत्य-शिव-सुन्दर-सा पूर्ण लक्ष्य
इष्ट हम सबको इसीका अनुगत्य है।।
सत्य है स्वयं ही शिव, राम सत्य सुन्दर है
सत्य काम सत्य और राम नाम सत्य है।।

—'साकेत'

भक्ति रस

भक्तिरस की सांकेतिक उपस्थिति का श्रेय दण्डी को दिया जाना चाहिए। उन्होंने सर्वप्रथम् 'प्रेयोलंकार' के विवेचन में इसकी अनजाने नींव डाल दी थी।

स्थापना और स्वरूप

इस अलंकार के उदाहरण में दण्डी ने कृष्ण के प्रति विदुर के तथा महेश्वर के प्रति रातवर्म नामक राजा के प्रीतिप्रकाशक वचनों को प्रस्तुत किया है और **"भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः"** कहकर भक्ति की स्थापना कर दी है।[1] वह इसे देवता-विषयक रति से पृथक् रखना उचित समझते थे, इसीलिए उन्होंने शृंगार रस का स्थायी भाव रति स्वीकार किया है और प्रीति से उसकी भिन्नता प्रदर्शित करते हुए कहा है : **"प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता।"** (का० द०, २। २८१)। इस प्रकार दण्डी ने भक्ति तथा प्रीति को पर्याय के रूप में ग्रहण किया है। भामह तथा दण्डी 'प्रेयस्' को प्रीति अथवा रति से सम्बन्धित मानते हैं और 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' के रूप में समझकर उसके मधुर स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। उद्भट उसे रसवत् अलंकार से पृथक् भाव-काव्य के रूप में एक अलंकार-मात्र मानते हैं और भाव-मात्र को प्रेयस् मानते प्रतीत होते हैं। रुद्रट पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इसे 'प्रेयान्' नाम से एक नवीन रस स्वीकार किया है और इसका स्थायी भाव स्नेह बताया है। इसके अन्तर्गत उन्होंने अन्योन्य सुहृदय-व्यवहार को ग्रहण करते हुए कहा है : **"अन्योन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं मतस्तत्र।"** (का० ल०, १६।१८)। कालान्तर में इसीके आधार पर प्रेयस्, वात्सल्य, प्रीति आदि कई रसों की स्थापना का प्रयत्न हुआ। यहाँ तक कि श्रद्धा तथा स्नेह भी रस मान लिये गए। रुद्रट् ने 'स्नेहप्रकृतिः प्रेयान्' कहकर

1. का० द०, २।२७७।

प्रेयान् रस की स्थापना की थी और स्नेह को उसका स्थायी माना था, किन्तु उनकी पंक्ति "**आर्द्रतान्तःकरणतया स्नेहपदे भवति सर्वत्र**" (का०ल०, पृ १६।१९) के आधार पर, संभवतः, किसी-किसी ने 'स्नेह' को ही 'आर्द्रता' नामक स्थायी से निष्पन्न पृथक् रस मान लिया, जिसका अभिनवगुप्त ने अन्य नवेतर रसों के साथ खण्डन किया है। साथ ही उन्होंने 'भक्ति रस' तथा 'श्रद्धा रस' का भी अन्य रसों में समाहार दिखाया है। आगे चलकर हेमचन्द्र शार्ङ्गदेव, धनंजय, भोज तथा पण्डितराज ने इन सबका अन्य रसों में अन्तर्भाव प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया, फिर भी भक्ति रस अपना प्रभाव जमाये बिना न रहा। न केवल इतना ही, बल्कि इसी प्रकार वात्सल्य ने भी पैर जमा लिये। इस सम्बन्ध में हम यथा-प्रसंग अन्यत्र कहेंगे, यहाँ भक्ति रस का स्वरूप-निरूपण ही वांछित है।

धर्मप्रधान देश भारत में भक्ति रस की स्वीकृति आश्चर्य का कारण नहीं है। यों तो सार्वत्रिक और सार्वकालिक रूप में भक्ति का विपुल साहित्य उपलब्ध होता है, किन्तु 'श्रीमद् भागवत', 'श्रीमद्भगवद्गीता', 'भगवद्भक्तिचन्द्रिका', 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र', 'नारदभक्तिसूत्र'-जैसे धार्मिक ग्रन्थ और 'हरिभक्तिरसामृत-सिन्धु', 'उज्ज्वलनीलमणि', 'भगवद्भक्तिरसायन' तथा 'अलंकारकौस्तुभ' आदि शास्त्रीय ग्रन्थों में इसकी विशेष स्थापना दिखाई पड़ती है। भक्ति का सैद्धान्तिक पक्ष इन ग्रन्थों से और व्यावहारिक पक्ष भक्त कवियों की रचनाओं से ग्रहण किया जा सकता है। 'भगवद्भक्तिचन्द्रिका' के रसोल्लास में भक्ति की रस-रूप में स्थापना हुई है और कहा गया है कि अनासंग की जननी, पर-अपर के बोध के विपरीत सामरस्य की उपस्थितिकारिणी तथा परमप्रेमरूपा परमानन्ददायिनी मधुरा-भक्ति भक्तों के द्वारा परा-भक्ति कहलाती है:

परत्रानासंगं जनयति रतिर्या नियमतः,
परस्मिन्नेवास्मिन् समरसतया पश्यति इमम्।
परप्रेमाख्येयं भवति परमानन्दमधुरा,
परा भक्तिः प्रोक्ता रस इति रसास्वादन चणैः॥

'श्रीमद्भगवद्गीता' में भी इसीके समान भक्त के लक्षण दिये गए हैं। "वह अद्वेष्टा होता है, निर्मम, निरहंकार तथा दुःख एवं सुख में समान रहने वाला, सन्तुष्ट, संतत योगी, यतात्मा तथा दृढ़-निश्चयी होकर जो मुझमें ही मन तथा बुद्धि लगाये रहता है, वह मेरा भक्त होता है और मुझे प्रिय है।"

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखक्षमी॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

शास्त्र-विवेचकों में यदि मधुसूदन सरस्वती ने भक्ति को ब्रह्मानन्द के समान बताया[1] तो रूपगोस्वामी ने समाधिजन्य ब्रह्मानन्द को परमाणु के तुल्य भी नहीं माना।[2] उन्होंने कर्म तथा ज्ञानयोग दोनों से इसे श्रेष्ठ सिद्ध किया और कहा कि मोक्ष भी इसके सम्मुख हीन ज्ञात होने लगता है। भक्ति-प्राप्त व्यक्ति मोक्ष की कामना ही नहीं करता।[3] ठीक इसी प्रकार की भावना हिन्दी-साहित्य में भी प्रकट हुई है। भक्त कहता है : 'सगुणोपासक मुक्ति न लेहीं।' 'उज्ज्वलनीलमणि' में उन्होंने इसे 'भक्ति-रसराट्' की उपाधि से मण्डित किया है।[4] श्री मधुसूदन सरस्वती का विचार है कि अन्य रसों में पूर्ण सुख का स्पर्श नहीं रहता, जबकि भक्ति रस नितान्त रूप से सुखमय है। यही कारण है कि इसके सम्मुख अन्य रस क्षुद्र प्रतीत होते हैं। इतर रस इसके सामने आदित्य के सम्मुख खद्योत के समान जान पड़ते हैं।[5] भक्तियोग स्वयं नवरस मिश्रित होता है और अन्य रसों के समान ही भक्ति भी विभावादि-संयुक्त होकर चित्ररूपवद् रसत्व को प्राप्त होती है। वस्तुतः अन्य देवादि से सम्बन्धित होने के कारण 'रति' भाव मानी गई है, किन्तु परमात्मा से नियोजित करते ही यह अलौकिक आनन्ददायिनी 'रति' भक्तिरस का रूप धारण कर लेती है।[6] शान्त रस इससे भिन्न होने के कारण दशम स्थान का अधिकारी है।[7] मधुसूदन के विचार से पुरुषार्थ-चतुष्टय की कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि पुरुषार्थ तो एक-मात्र दुःख से

१. समाधिसुखस्येव भक्तिसुखस्यापि स्वतंत्रपुरुषार्थत्वात्...तस्मात्...भक्तियोगः पुरुषार्थः परमानन्दरूपत्वादितिनिर्विवादम् । 'भक्ति रसायन', १।६ ।
२. ब्रह्मानन्दोभवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥ ह० भ० र० सि०, १।१९-२०।
३. ह० भ० र० सि०, पूर्वभाग १, लहरी १२-१३ ।
४. उ० नी०, १।२ ।
५. कान्तादिविषया वा रसाद्यास्तत्र नेदृशम् ।
रसत्वं पुष्यते पूर्णं सुख स्पर्शित्व कारणात् ॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः ।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रमेव बलवत्तरा ॥ भ० भ० र०, २।७७-७८ ।
६. भ० भ० र०, १।३ ।
७. वही, २।७४ ।

असंस्पृष्ट सुख ही है, जिसे भगवद्भक्ति के द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है। भक्ति द्रुतचित्त व्यक्ति के लिए साध्य है और ज्ञान अद्रुतचित्त के लिए।[1] ज्ञान-मार्ग कठिन मार्ग है, कृपाण-पंथ है। प्रायः ज्ञान-भक्ति या चित्तप्रसाद-लाभ का साधन बनकर उपस्थित होता है और इस रूप में भक्तिरस का केवल संचारी रह जाता है।[2] सामान्यतः भक्ति स्वयं अपना साधन भी है और साध्य भी। इसी कारण उसके साधनभक्ति तथा फलभक्ति भेद किये गए हैं। अन्तःकरण की भगवदाकारता ही भक्ति कहलाती है, अतएव वही इसका स्थायी है, स्वयं प्रभु इसके आलम्बन और तुलसी तथा चन्दन आदि पूजा-सामग्री उद्दीपन हैं, हर्ष के आँसू तथा नेत्र-विकार आदि अनुभाव हैं।[3] सारा पसारा प्रभुमय है। स्वयं रस के रूप में सिद्ध होने वाले परमानन्दरूप प्रभु ही हैं, उन्हींका प्रतिबिम्ब भक्त के अन्तःकरण पर पड़ता है, अतः भगवदाकारता नामक स्थायी भी प्रभुरूप ही है और आलम्बन तो प्रभु हैं ही।[4] आलम्बन की भिन्नता के कारण ही धर्मवीर तथा दयावीर भक्तिरस के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किये जा सकते। इसी प्रकार प्रीति-विरोधी होने के कारण रौद्र तथा भयानक को भी स्थान नहीं दिया जा सकता। बीभत्स भी भक्तिरस में अंगभूत प्रमाणित नहीं किया जा सकता और अद्रुतचित्त व्यक्ति से सम्बन्धित होने के कारण शान्त को भी पृथक् मानना पड़ेगा।[5]

श्री रूपगोस्वामी ने 'हरिभक्ति रसामृतसिंधु' में इसका और भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आपने भक्ति के सामान्य भक्ति, साधनांकिता भक्ति, भावाश्रिता भक्ति तथा प्रेमनिरूपिका भक्ति नामक चार भेद बताये हैं और अन्याभिलाष शून्य तथा ज्ञान एवं कर्म आदि से अनावृत रहकर अनुकूलतापूर्वक कृष्णानुशीलन को उत्तम भक्ति की संज्ञा दी है। यही सामान्य भक्ति है, जिसके विषय में गुणों का बखान करते हुए कहा गया है कि यह क्लेशघ्नी, शुभदा, मोक्षलघुताकृत, सुदुर्लभा, सान्द्रानन्दविशेषात्मा तथा श्रीकृष्णाकर्षणी है। पूर्व-भाग प्रथम लहरी में इसका वर्णन कर चुकने पर दूसरी लहरी में साधन-भक्ति के वैधी तथा रागानुगा नामक भेदों का वर्णन किया गया है। वैधी भक्ति को मर्यादामार्ग भी कहा गया है। (पृ० ८७) इस लहरी में भक्ति के अधिकारी

१. भ० भ० र० पृ० ५
२. वही, पृ० २।
३. वही, पृ० ४ अ।
४. वही, पृ० १८।
५. वही, २। २७–३३।

के स्वरूप तथा उसके उत्तमादि भेद भी बताये गए हैं और साधन-भक्ति के चौंसठ अंगों का वर्णन किया गया है। साथ ही रागानुगा भक्ति के कामरूपा तथा सम्बन्धरूपा नामक भेद और अधिकारी का वर्णन दिया गया है। भावभक्ति के अन्तर्गत शुद्धसत्वविशेषात्मा रति की आस्वादरूपता का वर्णन किया गया है, जो साधनाभिनिवेश, कृष्णप्रसाद तथा तद्भक्तप्रसादजनित बताई गई है। इनमें अन्तिम दो प्रसादज के नाम से कही जायँगी। साधनाभिनिवेशज भी वैधी तथा रागानुगा मार्ग-भेद से दो प्रकार की होती है। प्रसादज बिना किसी साधन के अकस्मात् उत्पन्न होती है और वाचिक, आलोकदान तथा हार्द नाम से तीन प्रकार की होती है। इस भाव-भक्ति में क्षान्ति, अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, नाम-गान में रुचि, गुण-गान में आसक्ति तथा उसके निवास-स्थल के प्रति प्रीति आदि अनुभाव होते हैं। प्रेमाभक्ति की स्थिति मसृण अन्तःकरण और ममत्व की अतिशयता के कारण सिद्ध होती है। वह भी भावोत्थ तथा प्रसादोत्थ नाम से दो प्रकार की हो सकती है। भावोत्थ के वैधभावोत्थ तथा रागानुगभावोत्थ और प्रसादोत्थ के माहात्म्यज्ञानयुक्त तथा केवला नामक भेद से यह भी दो-दो प्रकार की मानी गई हैं। माहात्म्यज्ञान-युक्त को वैधी तथा केवला को रागानुगाश्रिता कह सकते हैं। इस प्रेम का क्रम प्रायः इस प्रकार होता है कि पहले श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब साधुसंग और भजन-क्रिया। इनके पश्चात् अनर्थनिवृत्ति होने से निष्ठा और उससे रुचि, आसक्ति और भाव का उदय होते हुए प्रेम उत्पन्न होता है।

दक्षिण विभाग में विभावलहरी के अन्तर्गत 'कृष्णरति' को भक्तिरस का स्थायी भाव बताया गया है। यह भक्ति उसीमें आस्वाद रूप को प्राप्त होती है, जिसमें प्राक्तन तथा आधुनिक सद्भक्ति वासना होती है। इनमें प्रेमा-भक्ति विभावादि का तनिक-सा सहारा पाकर ही आस्वाद्य हो उठती है। कृष्ण तथा कृष्णभक्त इसके आलम्बन हैं, जिनमें कृष्ण आवृत तथा प्रकट दो रूपों में रहते हैं। कृष्ण चौंसठ गुणों से युक्त हैं और वह पूर्णतम, पूर्णतर तथा पूर्ण रूप से तीन प्रकार के और धीरोदात्तादि भेद से चार प्रकार के स्वभाव वाले हैं। यों कृष्ण को उद्धत कहना तो नहीं चाहिए, किन्तु लीला-विशेष के कारण उन्हें ऐसा भी स्वीकार कर लिया जाता है। यहीं उनके माधुर्य आदि पौरुष-गुणों का भी वर्णन है। कृष्णभक्त साधक और सिद्ध नाम से दो प्रकार के होते हैं, जिनमें सिद्ध भी संप्राप्तसिद्ध तथा नित्यसिद्ध के नाम से दो प्रकार के होते हैं। संप्राप्तसिद्ध भक्त भी साधनसिद्ध तथा कृपासिद्ध भेद से दो प्रकार के बताये गए हैं। इन सबको क्रमशः शान्त, दास-सुतादि, सखा, गुरुवर्ग और प्रेमी वर्ग

का माना जा सकता है। कृष्ण-भक्तों की यह अन्तिम कोटियाँ ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि इन्हींके आधार पर भक्ति के कई भेद उपस्थित किये जाते हैं। उद्दीपन विभावों में कृष्ण के गुण, उनकी चेष्टाएँ, प्रसाधन और उनके अनेकानेक भेद बताये गए हैं। गुणों के कायिक, वाचिक तथा मानसिक नामक तीन भेद प्रमुखतः बताये जा सकते हैं, शेष सभी की बहुत संख्या है। इस संख्या का वर्णन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है।

दूसरी लहरी में अनुभावों का वर्णन करते हुए उन्हें उद्भासुर तथा सात्विक भेदों में बाँटा गया है। प्रथम के शीताः तथा क्षेपणाः नाम से दो भेद हैं, जिनमें प्रथम के अन्तर्गत गीतादि आते हैं और द्वितीय के अन्तर्गत नृत्यादि। सात्त्विकों की संख्या तो आठ ही है; परन्तु वह क्रमशः स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्ष नाम से तीन प्रकार के माने गए हैं। स्निग्ध भी गौण तथा मुख्य भेद से दो प्रकार के हैं। वृद्धि के विचार से समस्त सात्विक क्रमशः धूमायित ज्वलित, दीप्त तथा उद्दीप्त नामक चार प्रकार के बताये गए हैं। चतुर्थ लहरी में व्यभिचारियों का वर्णन है और कतिपय नवीन व्यभिचारी गिनाकर उनका ३३ में ही अन्तर्भाव दिखाया गया है। ये समस्त व्यभिचारी भी स्वतन्त्र तथा परतन्त्र नामक भेदों में रखे गए हैं, जिनमें परतंत्र के वर तथा अवर नामक दो भेद और हैं। वर भी साक्षात् तथा व्यवहित नाम से दो प्रकार का होता है। मुख्य रति का पोषक साक्षात् तथा गौणी रति का पोषक व्यवहित कहलाता है। स्वतन्त्र भी तीन प्रकार के हैं। यथा, रतिशून्य, रत्यनुस्पर्शन तथा रति-गन्धि। पाँचवीं लहरी में स्थायी भावों का वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण-विषया रति के मुख्या तथा गौणी नामक दो प्रधान भेदों में से शुद्ध सत्त्व पर आधारित मुख्या के स्वार्था तथा परार्था नामक दो भेद होते हैं। मुख्या के क्रमशः शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य तथा प्रियता नामक भेद और बताये गए हैं। प्रियता को ही मधुरा भी कहा जाता है। इन सबका व्यक्ति-भेद से पृथक्-पृथक् प्रभाव होता है, ठीक ऐसे ही जैसे स्फटिक पर सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब अंकित होता है। इनमें से शुद्धा के पुनः सामान्या, स्वच्छा तथा शांति या शमप्रधाना भेद किये गए हैं और प्रीति, सख्य तथा वात्सल्य तीनों के केवला तथा संकुला नामक भेद बताये गए हैं। गौणी रति क्रमशः हास, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा नाम से सात प्रकार की होती है। स्पष्ट है कि समस्त स्थायी भावों की गणना रति के अन्तर्गत कर ली गई है। इन्हीं स्थायी भावों के साथ देवता तथा वर्ण आदि का वर्णन, रसास्वाद के पूर्त, विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप नामक पाँच प्रकार और अभक्त

तथा भक्तिरस को न जानने वालों का वर्णन किया गया है। आगे पश्चिम विभाग में पाँच लहरियों में क्रमश: शान्त, प्रीति, प्रेय, वत्सल तथा मधुराभक्ति रस का एवं उत्तरविभाग की सात लहरियों में गौण भक्ति रसों का और आठवीं तथा नवीं लहरी में क्रमशः रस-मैत्री तथा वैर और रसाभासादि का वर्णन किया गया है।

शान्त भक्तिरस का स्थायी भाव शान्ति रति है, आलम्बन चतुर्भुज और शांत लोग। शान्त भी दो प्रकार के हैं, एक आत्माराम और दूसरे तापस। उद्दीपन असाधारण तथा साधारण दो प्रकार के हैं, जिनमें प्रथम के अन्तर्गत उपनिषदादि-श्रवण, विविक्त स्थान का सेवन, ज्ञानी तथा भक्तों का संसर्ग और दूसरे के अन्तर्गत पादाब्ज, तुलसी-गन्ध, शंखनाद आदि आते हैं। नासाग्र में नेत्र स्थित रखना, न द्वेष और न प्रिय के प्रति अतिभक्ति दिखाना, निरपेक्ष, निर्मम और निरहंकार रहना आदि अनुभाव होते हैं। यह सभी शीत-असाधारण अनुभाव कहलाते हैं तथा जृम्भा, अंग-मोटन, स्तव आदि शीत-साधारण कहलाते हैं। प्रलय के अतिरिक्त सभी सात्विकों का प्रयोग किया जा सकता है। निर्वेद, धृत, हर्ष, मति, स्मृति, विषाद, उत्सुकता, आवेग तथा वितर्क आदि संचारी होते हैं। शान्तिरति नामक स्थायी स्वयं सम और सान्द्र नाम से दो प्रकार का होता है। नाट्य में यद्यपि शांत को शम-स्थायी की निर्विकारता के कारण स्थान नहीं दिया जाता, किन्तु रतियुक्त होने के कारण शांतिरति स्थायी पर आधारित इस रस का तिरस्कार नहीं किया जा सकता, यही शान्त तथा शान्त भक्तिरस में भेद है। रूपगोस्वामी के अनुसार धर्मवीरादि का इसीमें अन्तर्भाव हो जाता है।

प्रीतभक्ति रस अनुग्राह्य की दासता और लाल्य के भेद से क्रमशः संभ्रमप्रीति तथा गौरवप्रीति नाम से दो प्रकार की मानी गई है। प्रथम के आलम्बन हरि तथा उनके दास हैं। हरि यहाँ द्विभुज कृष्ण के रूप में माने गए हैं, शान्त भक्ति के समान चतुर्भुज रूप में नहीं। दास उसके निदेशवशवर्ती, विश्वस्त, प्रभुताज्ञानविनम्रितधिय लोग होते हैं जो अधिकृत, आश्रित, पारिषद्, तथा अनुग कहलाते हैं। इनमें आश्रित शरण्य, ज्ञानिचर, सेवानिष्ठ नाम से तीन प्रकार के होते हैं। अनुग दो प्रकार के होते हैं : (१) पुरस्थ, तथा (२) व्रजस्थ। पारिषद् धुर्य्य, धीर तथा वीर तीन प्रकार के बताये गए हैं तथा इन सबके भी अनेक भेद उपस्थित किये गए हैं। अनुग्रह-संप्राप्ति तथा पदरजप्राप्ति, प्रसाद-ग्रहण तथा भक्तों की संगति आदि उद्दीपन असाधारण और मुरली, शृंग आदि का स्वर, स्मित पूर्वक देखना आदि साधारण उद्दीपन कह-

लाते हैं। अनुभाव भी शीत-साधारण तथा शीत-असाधारण के नाम से दो प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रथम के अन्तर्गत उद्भास्वर, सुहृद का आदर तथा विराग आदि और दूसरे के अन्तर्गत ईर्ष्याहीन मैत्री आदि आते हैं। व्यभिचारियों में हर्ष, गर्व, धृति, निर्वेद, विषण्णता, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, शंका, मति, औत्सुक्य, चपलता, वितर्क, आवेग, ह्री, जड़ता, मोह, उन्माद, अवहित्था, बोध, स्वप्न, क्लम, व्याधि, मृति आते हैं और अन्य मति आदि अति-पोषक नहीं माने जाते। योग के समय धृति आदि और अयोग के समय क्लमादि प्रकट होते हैं। इसका स्थायी स्वयं संभ्रमप्रीति ही है जो उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रेमा, स्नेह तथा राग का रूप धारण करती जाती है। ह्रास तथा शंका से विमुक्त बद्धमूल प्रीति को प्रेमा, प्रेमा के कारण चित्त के सान्द्रद्रवण की स्थिति स्नेह तथा दुःख में भी सुख उत्पन्न करने वाली स्थिति राग कहलाती है। राग के अयोग तथा योग नाम से दो भेद हैं और अयोग पुनः उत्कण्ठित तथा वियोग के नाम से दो प्रकार का होता है। वियोग संभ्रम प्रीति में दश अवस्थाएँ, ताप कृशता आदि उत्पन्न होती हैं। योग भी सिद्ध, तुष्टि तथा स्थिति नाम से तीन प्रकार का होता है। गौरवप्रीति के उद्दीपन विभावों में वात्सल्य का नाम आया भी है। "उद्दीपनास्तु वात्सल्यस्मितप्रेक्षाऽऽदयो हरेः" प० वि०, ल० २।७१। इसके भी प्रेमा, स्नेह, राग अथवा अयोग एवं योग आदि भेद पूर्ववत् ही स्वीकार किये गए हैं। इस प्रकार प्रीतभक्ति शृंगार रस से और वात्सल्य रस से मिलती हुई है। दो रसों का एक में ही अन्तर्भाव कर लिया गया है, जो मूल स्थायी रति के कारण अनुचित नहीं है।

प्रेयो भक्ति सख्य भक्ति का दूसरा नाम है। हरि तथा उनके वयस्य आलम्बन हैं, जो अनेक गुणों से युक्त हैं। पुर तथा ब्रज सम्बन्ध से वयस्य दो प्रकार के हैं, जिनमें से पुरवयस्यों में वानरध्वज अर्जुन श्रेष्ठ है। सखाओं के, सम्बन्ध-गाढ़ता के विचार से, क्रमशः सुहृद, सखा, प्रियसखा तथा प्रियनर्मसखा नामक चार भेद हैं। इनके सखा-रूप में अनेकानेक कार्य हैं। उद्दीपनों में वय, रूप, शृंग-वेणु, विनोद, प्रेष्ठ जन आदि गिने जाते हैं। इनमें भी वयादि के अनेक भेद हैं। अनुभावों में उनकी क्रीड़ा ही मुख्य है तथा उनका अनेक रूपात्मक विकास भी इसीमें गृहीत होता है। उग्रता, त्रास तथा आलस्य के अतिरिक्त सभी संचारी काम आते हैं और योग में मृति, क्लम आदि तथा अयोग में मद, हर्ष, गर्व, निद्रा, धृति आदि को त्याग दिया जाता है। इसका स्थायी सख्य है जो विमुक्तसंभ्रम रति है। यह सख्य रति भी क्रमशः प्रणय, प्रेम, स्नेह तथा राग भेद से कई प्रकार की होती है। इसमें भी विप्रयोग की दश दशाएँ

प्रकट होती हैं।

वत्सलभक्तिरस का स्थायी वात्सल्यरति है और आलम्बन कृष्ण तथा उनके गुरुजन। इन दोनों के ही अनेक गुण हैं और गुरुजनों में यशोदा, नन्द, रोहिणी आदि प्रतिष्ठित हैं। उद्दीपन में वय, रूप, वेष तथा शैशवचापल्य आदि, जिनके अनेक स्थितियों के अनुकूल अनेक भेद हो सकते हैं। इसमें अनुभाव होते हैं : सिर सूँघना, हाथ से शरीर का स्पर्श करना, आशीर्वाद देना, निदेश, लालन-पालन तथा हितोपदेश आदि। स्तम्भ आदि सात्विकों के साथ-साथ स्तन्यस्राव भी नवाँ सात्विक इसमें ग्राह्य है। अपस्मारसहित प्रीतम भक्ति में कथित व्यभिचारियों को इसके अन्तर्गत स्थान मिल जाता है। यशोदा आदि में तो यह रति निसर्गतः प्रौढ़ होती है, किन्तु अन्यों में इसकी भी प्रेम आदि के उत्कर्ष के अनुसार दशाएँ होती हैं। वियोग की अवस्था में चिन्ता, विषाद, निर्वेद, जड़ता, दैन्य, चपलता, उन्माद तथा मोह आदि अत्यधिक उद्रिक्त हो जाते हैं। रूपगोस्वामी का कथन है कि कुछ नाट्यज्ञ इसे स्वीकार करते हैं : **"स्वीकुर्वते रसमिमं नाट्यज्ञा अपि केचन।" प० वि० ल० ४।४२३।**

मधुर रस को रूप गोस्वामी ने निवृत्त लोगों के लिए उपयोगी तथा दुरूह बताया है। प० वि० ल० ५।२। इसके आलम्बन कृष्ण तथा कृष्णप्रिया हैं। उद्दीपन मुरली निस्वनादि, अनुभाव नयन-कोण से देखना और स्मित आदि, व्यभिचारी आलस्य, उग्रता के अतिरिक्त अन्य सब तथा स्थायी मधुरा रति है। विप्रलम्भ तथा सम्भोग नाम से इसके दो भेद होते हैं तथा विप्रलम्भ के भी पूर्वराग, मान, प्रवास आदि अनेक भेद हो सकते हैं। स्पष्ट है कि मधुर रस शृंगार रस का ही भक्तिपरक नाम है। इसका यहाँ विशेष वर्णन न करके रूप-गोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' में इसका वर्णन किया है।

उत्तर विभाग में गौण भक्ति रसों में शेष सातों रसों का कृष्ण-सम्बन्धी वर्णन किया गया है। इनमें वीर रस में युद्ध, दान, दया तथा धर्मवीर चारों का वर्णन करते हुए सुहृदों को ही युद्ध का आलम्बन बताया गया है, क्योंकि उनमें कृष्ण के प्रति या कृष्ण का उनके प्रति राग बना रहेगा, अन्यथा शत्रु से सम्बन्ध मान लेने पर रौद्र रस उपस्थित हो जायगा। दानवीर के कई नये भेद दिखाई देते हैं। मुख्यतः उसके बहुप्रद तथा उपस्थित दुरापार्थत्यागी नाम से दो प्रधान भेद हैं। दामोदर के सौख्य-हेतु सहसा सर्वस्व देने वाला बहुप्रद तथा प्रभु द्वारा दिये जाने पर भी इच्छा न करने वाला द्वितीय प्रकार का दानवीर कहलाता है। प्रथम के भी अभ्युदयिक तथा तत्संप्रदानक नामक दो भेद होते हैं और दान भी प्रतिदान तथा पूजादान के रूप में दो प्रकार का माना जाता है। कृष्ण के अभ्युदय के लिए

सर्वस्व समर्पित करने वाला अभ्युदयिक तथा अपने को हरि का अत्यधिक ममता-पात्र जानकर सर्वस्व देने वाला तत्संप्रदानक कहलाता है। इन सबके पृथक्-पृथक् संचारी आदि माने जाते हैं। शेष रसों के वर्णन में विशेष नवीनता नहीं है, केवल इतना ही ध्यान देने योग्य है कि इन सभी का सम्बन्ध कृष्ण से है। करुण की सम्भावना ऐसे स्थल पर भी की गई है जहाँ, कालियनाग के दमन करते हुए कृष्ण की संकटापन्न और आशंका-उत्पादक स्थिति का वर्णन किया गया हो। रौद्र के आलम्बन कृष्ण, हित तथा अहित तीन माने गए हैं और सखी और जरत्या के क्रोध के विचार से उसके दो रूपों में वर्णन किया गया है। सबका वर्णन कर चुकने पर अन्त में कहा गया है कि यह गौण हासादि रस मुख्य भक्ति रसों के व्यभिचार का काम करते हैं।[1]

'उज्ज्वलनीलमणि' में लेखक ने केवल मधुराभक्ति का वर्णन किया है, जो कृष्ण-विषयक शृंगार ही है। क्रमशः नायकभेद, नायकसहायभेद, हरिवल्लभा, राधा, नायिका भेद, यूथेश्वरी-भेद, दूतीभेद, सखी-वर्णन, सखी-विशेष-वर्णन, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, सात्विक तथा व्यभिचारी आदि का पृथक्-पृथक् अध्यायों का विस्तृत और प्रायः रूढ़ वर्णन किया गया है। इसके पश्चात् स्थायी भाव, शृंगारभेद, मान, विप्रलम्भ, संभोग का वर्णन करके मधुर रस का परिपाक सिद्ध किया गया है। इसमें हम यहाँ स्थायी भाव आदि के अन्तर्गत आने वाली केवल कतिपय नवीन बातों की ओर ही ध्यान आकर्षित करेंगे।

शृंगार का स्थायी भाव यहाँ मधुरा रति बताया गया है, जो अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, तदीय-विशेष, उपमा तथा स्वभाव आदि से अनेक रूपों में उपस्थित होती है। अभियोग के अन्तर्गत भाव-व्यक्ति 'स्व' तथा 'पर' भेद से दो प्रकार की हो सकती है। विषय का अभिप्राय है स्पर्श-गन्धादि, सम्बन्ध के अन्तर्गत कुल, रूप आदि स्वभाव के निसर्ग तथा स्वरूप के नाम से दो भेद आते हैं। निसर्ग स्वभाव का अभिप्राय है सुदृढ़ अभ्यासजन्य संस्कार तथा स्वतः-सिद्ध भाव को स्वरूप-स्वभाव कहते हैं। यह स्वभाव कृष्णनिष्ठ, ललना-निष्ठ तथा उभयनिष्ठ तीन प्रकार का होता है। स्वभावज रति गोकुल-नारियों में दिखाई देती है। यह कुब्जा आदि में साधारणी, महिषी आदि में समंजसा तथा गोकुलदेवी में समर्था के रूप में दीख पड़ती है। इनकी स्थिति क्रमशः मणि चिन्तामणि तथा कौस्तुभमणि के समान सापेक्ष महत्व की है और क्रमशः

---

१. अमी पंचैव शान्ताद्या हरेर्भक्तिरसा मताः।
एषु हासादयः प्रायो बिभ्रति व्यभिचारिताम्॥

ह० भ० र० सि० उ० वि०, ल० ७१९–१०।

नातिसुलभ, सुदुर्लभ तथा अनन्यलभ्या होती हैं। साधारणी रति अतिसान्द्र नहीं होती और प्रायः साक्षात् दर्शन से उत्पन्न होती है और संभोगेच्छा उत्पन्न करती है। इस संभोगेच्छा के ह्रास से रति का भी ह्रास होता है। (उ० नी०, पृ० ४०८)। गुणादि के श्रवण से पत्नी भाव के अभिमान वाली सान्द्र रति समंजसा कहलाती है तथा जिस रति से संभोगेच्छा एकी-भाव को प्राप्त करे वह समर्था कहलाती है। यह सान्द्रतमा होती है और कृष्णसुख की भावना से युक्त रहती है। यही रति दृढ़ होकर प्रेमारूप में क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय राग, अनुराग तथा भाव-दशा को प्राप्त करती है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि जैसे, बीज से ऊख का विकास होता है, उससे रस, रस से गुड़, गुड़ से खांड, खांड से शर्करा तथा शर्करा से सितोपला या मिश्री बनती है; इसी प्रकार रति का भी स्नेहादि में क्रमशः विकास होता है। ध्वंसकारण के रहते हुए भी सर्वथा ध्वंसरहित अवस्था में युवक-युवती के बीच भाव-बन्धन का नाम है प्रेमा, जो मन्द, मध्य तथा प्रौढ़, तीन स्थितियों में दिखाई देती है। प्रिय को सहन करने-न-करने की दृष्टि से ये दशाएं क्रमशः प्रकृष्ट, प्रकृष्टतर तथा प्रकृष्टतम दशाएँ-मात्र हैं, जिनमें नितान्त असहिष्णुता, कृच्छ्सहिष्णुता तथा विस्मृति के लक्षण दिखाई देते हैं। प्रेम की उत्कृष्टता जब दर्शन करने पर भी अतृप्ति ही उपस्थित करती है और हृदय अत्यन्त द्रवित हो जाता है, तब स्नेह की अवस्था होती है, जो क्रमशः अंगसंग, दर्शन तथा श्रवण के आधार पर कनिष्ठ, मध्यम, तथा श्रेष्ठ कही जा सकती है। स्नेह के घृतस्नेह तथा मधुस्नेह नाम से भी भेद किये जा सकते हैं, जिनमें पहले में अत्यन्त आदर प्रदर्शित किया जाता है और मधुस्नेह में आत्मीयता आधिक दिखाई जाती है। इसी प्रकार मान स्नेह की उत्कृष्ट दशा है, जिसमें अदाक्षिण्य रहता है। यह उदात्त तथा ललित नाम से दो प्रकार का होता है, जिनमें से उदात्त के भी दाक्षिण्योदात्त तथा वाम्यगन्धोदात्त नामक दो भेद होते हैं। ललित भी कौटिल्य तथा नर्मललित के नाम से दो प्रकार का होता है। विश्वासमय रति का नाम प्रणय है, जिसे विस्त्रंभरूप कहा जाता है। विस्रम्भ के भी मैत्र तथा सख्य नामक दो भेद होते हैं। उदात्त के साथ मैत्री को सुमैत्र्य और ललित के साथ सख्य को सुसख्य कहा जाता है। कभी स्नेह से प्रणय उत्पन्न होकर मान दशा को प्राप्त होता है और कभी स्नेह के कारण मान उपस्थित होने के अनन्तर प्रणय दिखाई पड़ता है। इस प्रकार इनमें परस्पर कार्य-कारण विद्यमान रहता है। प्रणय का उत्कर्ष ही जब हृदय में दुःख के रहते हुए सुख का प्रदर्शक बनता है तब उसे राग कहते हैं। यह भी नीलिमा तथा रक्तिमा के नाम से दो प्रकार का होता है। नीलिमा के अन्तर्गत नीलिमा,

श्यामा के तथा रक्तिमा के अन्तर्गत कुसुम्भ और मंजिष्ठा को ग्रहण किया जाता है। राग की नितनूतनता का नाम है अनुराग। इसमें परस्पर वशीभाव तथा अप्राणियों में भी जन्म-लालसा की विद्यमानता दिखाई पड़ती है। विप्रलंभ में इसकी विस्फूर्ति दिखाई जाती है। जब यही अनुराग स्वसंवेद्यदशा को प्राप्त कर लेता है, तो इसे भाव कहते हैं। व्रजदेवी से सम्बन्ध रखने पर यही महाभाव कहलाता है। यह वरामृतस्वरूप होता है और इसके भी रूढ़ तथा अधिरूढ़ नामक दो भेद और उनके अनेक अनुभाव बताये गए हैं। रूढ़ में सात्विक-विशेष उद्दीप्त रहते हैं और अधिरूढ़ में रूढ़ के समान अनुभावों के साथ विशेष रूप से काम की अवाप्ति-रूप अनुभावों का दर्शन होता है। यह मोदन और मादन नाम से दो प्रकार का होता है, जिनमें मोदन का सम्बन्ध राधिका-यूथ से है। मोदन ही विश्लेष-दशा में मोहन कहलाता है और इसी मोहन की भ्रमात्मक दशा को दिव्योन्माद कहा जाता है। इस दिव्योन्माद के उद्घर्णा, चित्रजल्प, प्रजल्प, परिजल्पित, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, प्रतिजल्प, तथा सुजल्प नामक कई प्रकार हैं। मादन केवल राधा में ही दीख पड़ता है और यह सर्वभावोद्गमोल्लासी होता है। इसका सम्बन्ध अनेक लीला-विलास प्रकार भेदों से है।

शृंगारभेद प्रकरण के अन्तर्गत विप्रलम्भ तथा संभोग के भेद उपस्थित करके विप्रलम्भ के उपभेदों का वर्णन किया गया है। रूपगोस्वामी का कथन है कि विप्रलम्भ के बिना संभोग की पुष्टि नहीं होती। विप्रलम्भ के पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य तथा प्रवास नामक चार भेद किये गए हैं। पूर्वराग के अन्तर्गत दर्शन, श्रवण तथा उनके भेदों का रूढ़ वर्णन किया गया है। साथ ही रतिजन्म के हेतु अभियोगादि पूर्वराग में भी कारणस्वरूप माने जाते हैं। वह भी प्रौढ़, समंजस तथा साधारण नाम से तीन प्रकार का होता है। समर्थ रति को प्रौढ़ कहते हैं, जिसमें लालसा आदि मरण तक की दशाएँ आ जाती हैं। ये दश अवस्थाएँ हैं, जिनका वर्णन शृंगार के वर्णन में अन्य शास्त्रों में भी मिलता है। ये हैं लालसा, उद्वेग, जागर्या, तनुता, जडिमा, वैयग्रय, व्याधि, उन्माद, मोह तथा मृति। कभी-कभी तनुजा के स्थान पर विलाप भी रख दिया जाता है। समंजस भेद के अन्तर्गत अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जडता तथा मृति नामक दशाएँ स्वीकार की गई है। साधारण में अभिलाषा से विलाप तक की केवल छः दशाएँ मानी गई हैं। पूर्वराग में कामलेख और उसके भेद निरक्षर तथा साक्षर एवं माल्यार्पण आदि का वर्णन मान्य है और इसका सम्बन्ध कृष्ण तथा राधा आदि दोनों पक्षों से रहता है। मान-

वर्णन के अन्तर्गत उसके भेद तथा मान-मोचनोपायों का रूढ़ वर्णन किया गया है। ब्रज-सुन्दरियों में मान देशकालबल से या मुरलीश्रवण-मात्र से बिना प्रयत्न के ही छूटता है। प्रेम-वैचित्य का अभिप्राय है प्रिय के संनिकर्ष के रहते हुए भी विश्लेष दुःख का प्रदर्शन करना। इसके भेदादि का वर्णन नहीं किया गया है। प्रवास का वर्णन भी पूर्ववत् रूढ़ ही है और उसके अन्त में चलकर करुण-विप्रलम्भ के विषय में कह दिया गया है कि वह भी प्रवास की ही एक दशा है, अतएव पृथक् रूप से उसका वर्णन नहीं किया गया है। रूपगोस्वामी ने इसके अनन्तर कृष्ण की लीला के आधार पर उनकी प्रकट-अप्रकट स्थितियों का ध्यान रखते हुए संयोग-वियोग स्थिति को दो श्लोकों में वर्णित किया है। कृष्ण से संयोग और वियोग की पृथक् स्थितियों का सम्बन्ध ही क्या ? वह तो केवल लौकिक सम्बन्ध है, अन्यथा कृष्ण सभी जगह प्रकट या अप्रकट रूप में वर्तमान रहते हैं, अतएव उनकी स्थिति दोनों की संयुक्तावस्था की-सी है। आगे चलकर लेखक ने संभोग के मुख्य तथा गौण दो भेद बताकर मुख्य के भी शृंगारोक्त संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न तथा समृद्धिमान् भेद बताये हैं। संभोग के छन्न तथा प्रकाश दो भेद और किये गए हैं। गौण संभोग का सम्बन्ध स्वप्न से है। स्वप्न सामान्य तथा विशेष भेद से दो प्रकार का होता है, जिनमें सामान्य स्वप्न तो व्यभिचारी रूप में कथित है, दूसरा जाग्रत अवस्था में ही महान् उत्कण्ठामय दशा है, जो संक्षिप्तादि भेद से चार प्रकार की होती है। इस स्वप्नावस्था में अनेक क्रीड़ाओं का समावेश किया जाता है। इस प्रकार 'उज्ज्वलनीलमणि' के मधुर भक्ति रस का विस्तार शृंगार की अनेकानेक दशाओं तक है, संयोग-वियोग की मिश्रित अवस्था भी उसके ही अन्तर्गत आती है। वस्तुतः वह दशा तो समझने-मात्र के लिए है। यदि शेष सम्पूर्ण वर्णन कृष्णपरक अर्थों में न देखा जाय तो शृंगार का ही वर्णन है, उसके भेदोपभेद में अवश्य अनेक स्थितियों का विचार करके भिन्नता का प्रदर्शन किया गया है। उज्ज्वलनीलमणिकार के प्रेम-वैचित्र्य को विरह-विप्रलम्भ कहा जा सकता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने रसों की उपयोगिता चार पुरुषार्थों के आधार पर निश्चित करते हुए केवल नौ ही रस स्वीकार किये हैं[1] और शेष को भाव के अन्तर्गत मान लिया है। परिणामतः भक्ति भी भाव के ही

१. एव ते नवैव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेवोपदेश्यत्वात्। अ० भा०, भाग १, पृ० ३४१।

भक्तिरस का विरोध रूप में स्वीकार की गई है।[1] उसका अन्तर्भाव उन्होंने धृति, मति, स्मृति तथा उत्साह में ही कर लेना उचित समझा है और उसे शान्त के अन्तर्गत डाल दिया है।[2] इसी प्रकार धनंजय ने भी भक्ति को भाव-मात्र मानकर उसको हर्ष, उत्साह आदि में अन्तर्भुक्त माना है।[3] भोज ने रसों की संख्या में वृद्धि स्वीकार करके भी भक्ति को स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार मम्मट भी उसे देवतादिविषयक रति-मात्र मानते हैं। साहित्यदर्पणकार ने भी वात्सल्य तो माना, परन्तु भक्ति रस का विचार नहीं किया। पण्डितराज ने समर्थन करके भी इसका विरोध किया, वह भक्ति और शान्त में भेद उपस्थित करते हैं और भक्ति का आधार अनुराग तथा शान्त का वैराग्य होने से दोनों में अन्तर स्वीकार करते हैं, किन्तु वह परम्परानुमोदन करते हुए शृंगारेतर रति को भाव-मात्र मानने के पक्ष में हैं। उनका तर्क है कि यदि भगवद्रति को स्थायी भाव मानना आरम्भ कर दिया जायगा, तो फिर पुत्रादिविषया रति को भी मानने के लिए लोग आग्रह करेंगे। इससे उन्हें एक विशेष हानि होने की आशंका है। वह यह कि तब यदि किसी ने यह भी कह दिया कि जुगुप्सा तथा शोक आदि को आप स्थायी भाव न मानें तो परम्परा-भंग के कारण बड़ा वितण्डा उपस्थित हो जायगा। अतएव अच्छा यह है कि अन्तर समझकर भी मौन रहा जाय।[4]

आधुनिक काल में कतिपय मराठी लेखकों ने इस रस की स्वीकृति का विरोध किया है। उन सबका तर्क भी मुख्यतः पण्डितराज की परम्परा का अनुसरण करता है। उदाहरणतः, श्री रंगाचार्य रेड्डी ने कहा है कि रति-भाव विस्तारात्मक है, अतः उसीसे राष्ट्र, शास्त्र, देवता, गुरु तथा राजा आदि के विषय में भक्ति का विकास होता है, किन्तु एक ही स्थायी भाव से कई रस मानना शास्त्र-मर्यादा का अतिक्रमण करना जान पड़ता है। दूसरी बात यह है कि केवल भक्ति का वर्णन करने से भक्ति रस नहीं माना जा सकता। रस के लिए तो विभावादि की योजना होनी चाहिए, चरित्र का वर्णन होना चाहिए। केवल भक्तिमार्ग अपनाना ही भक्ति रस नहीं कहला सकता। यदि यही बात

१. अ० भा०, भाग १, पृ० ३४२।

२. अतएवेश्वरप्रणिधान विषये भक्ति श्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टेभ्यो-ऽन्यथैवांगमिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम्। वही, पृ० ३४०।

३. द० रू०, ४-८३।

४. र० गं० संस्कृत, पृ० ४५-४६।

है, तो राष्ट्र-प्रेम आदि को भी इसी प्रकार भक्ति रस मानना पड़ जायगा।[1]

भक्ति रस का विरोध करने वाले कुछ लोग ऐसे हैं, जो इसे दूसरे रसों में ही अन्तर्भुक्त मान लेते हैं। प्रो० मा० दा० अलतेकर भक्ति को शृंगार में अन्तर्भुक्त करते हैं[2] तो प्रो० श्री० वि० परांजपे शान्त के अन्तर्गत मान लेते हैं[3] और श्री वा० ना० देशपांडे रहस्यवादी कविताओं पर ध्यान जमाते हुए उसे अद्भुत रस में अन्तर्भुक्त मानते हैं।[4] इसी प्रकार श्री पी०वी० काणे ने परम्परा-विरोधी, शृंगार परक वर्णन तथा वीर से कतिपय भेदों की समानता के कारण इसकी पृथक्ता का विरोध किया है।[5] प्रो० द०सी० पंगु ने आक्षेप किया है कि निर्जीव मूर्ति के प्रति निवेदन होने के कारण वह रस के समान उत्कट नहीं हो सकता, अतएव उसे भाव ही मानना चाहिए।[6] प्रो० रा० श्री० जोग ने इस पर दो आक्षेप किये हैं। (१) यह मूल भावना नहीं है, तथा (२) यह व्यापक नहीं है।[7] इसी प्रकार रा० हिंगणेकर की आपत्ति है कि भक्ति त्रिक्रियाहीन है, अतएव रस नहीं कहला सकती।[8] अभिप्राय यह है कि अनेक पक्षों से इस रस पर अनेक आक्षेप किये गए हैं, जिनमें मुख्य आक्षेप इस प्रकार हैं: (१) इसका अनुमोदन परम्परा की हानि करके नये प्रश्न उपस्थित करेगा। (२) इसका अन्तर्भाव अन्य रसों में हो सकता है और इसे केवल भाव माना जा सकता है। (३) निर्जीव मूर्ति के प्रति निवेदन होने के कारण यह उत्कट नहीं है। (४) मूल भावना नहीं है, तथा (५) व्यापक नहीं है। इन आपत्तियों में से पहली आपत्ति नितान्त महत्वहीन है, क्योंकि साहित्य के विकसित क्षेत्र में पहले ही दिन अन्तिम बात कह देने का दावा नहीं किया जा सकता। साहित्य समाज और युगानुरूप परिवर्तित होता है और उसमें भावनाओं की नई अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति के नये माध्यम तथा आलम्बन आते रहते हैं। स्वयं भारतीय साहित्य-शास्त्र इस बात का प्रमाण है कि भरतमुनि की सीमाओं को तोड़कर विचारकों ने अलंकार, गुण, रीति और रस आदि सभी मार्गों में नवीनता लाने

१. र० वि०, पृ० २६२।
२. वही।
३. वही, पृ० २६३।
४. वही।
५. वही, पृ० २६१।
६. वही, पृ० २६३।
७. वही, पृ० २६२।
८. वही, पृ० २६१।

का प्रयत्न किया है और उन्हें मान्यता भी मिली है। ऐसी दशा में पण्डितराज तथा उन्हीं के समान कतिपय उनके अनुगामियों का यह तर्क भक्ति रस की स्वीकृति में बाधक नहीं बन सकता। इसीके समान यह कहना भी उचित नहीं है कि मूल भावना न होने के कारण यह रस होने योग्य नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान ज्यों-का-त्यों लागू नहीं किया जा सकता। शोक मूलभावना न होते हुए भी करुण रस के स्थायी के रूप में अस्वीकृत नहीं किया जा सकता और करुण रस की उपेक्षा नहीं की जा सकती। फिर भक्ति रस की मूलभावना रति है, किन्तु सामाजिक व्यापक सम्बन्धों को देखते हुए यह अनेक रूप धारण करती है और अपनी उत्कटता के कारण शृंगार रस से नितान्त पृथक् स्थान बना लेती है। 'शृंगार' शब्द का प्रयोग ऐसे रूढ़ अर्थों में होता है कि भक्ति या वात्सल्य रस को शृंगार कहकर काम नहीं चलाया जा सकता। यही कारण है कि भक्ति-शास्त्रकारों ने भक्ति के अनेक रूपों में एक शृंगारपरक मधुरा-भक्ति को भी स्थान दे दिया है। इतना होने पर भी हम यह उचित समझते हैं कि भक्ति के अन्तर्गत सभी रसों को समेट लेने की प्रवृत्ति उसी प्रकार उचित नहीं है, जिस प्रकार अन्य रसों में से किसी एक के अन्तर्गत दूसरे रसों को रख देना ठीक नहीं। भक्ति रस के अनेक भेदों पर ध्यान दें, तो एक गड़बड़ी अवश्य ही दिखाई पड़ती है। वह यह कि भक्त के विनम्र आत्म-निवेदन के पदों के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर साधारण सामाजिक अपने चित्त को उसी भाव से आप्लुत होता हुआ नहीं पाता, जिससे प्रभावित होकर परमवैष्णव चैतन्य भाव विभोर हो जाया करते थे। उदाहरण के लिए विद्यापति की कविता में नचारी आदि तो भक्ति के स्वीकार किये जाते हैं, किन्तु नखशिख, दूती, नोक-झोंक आदि के पदों को, उनमें कृष्ण और राधा का नाम आने पर भी भक्ति का नहीं शृंगार का माना जाता है और विद्यापति के सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि वह भक्तकवि थे या शृंगारी। इसी प्रकार घनानन्द आदि के पदों की भी चर्चा की जा सकती है। प्रश्न किया जा सकता है कि राम को सदैव अवतार मानने वाले तुलसीदास जी की 'विनय पत्रिका' तो अवश्य भक्ति रस का ग्रंथ है, किन्तु क्या 'रामचरितमानस' को भी भक्तिरस का ग्रंथ बताया जा सकता है ? क्या उसमें स्थल-विशेष पर वीर आदि रसों का नाम न लेकर केवल भक्ति रस ही बताया जायगा ?

जहाँ तक देश-भक्ति आदि की रस-रूप में स्वीकृति का प्रश्न है, उस सम्बन्ध में आज की राजनीतिक स्थिति को देखते हुए तथा देश के लिए किये गए भार-तीय स्वातन्त्र्य-संग्राम पर दृष्टि रखते हुए देश-भक्ति को भी रस माना जा सकता

है। मराठी के लेखक श्री शिवराम पंत ने इस रस की प्रतिष्ठा करते हुए इसका स्थायी भाव 'देशाभिमान' माना भी है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि आज के क्षुब्ध राजनीतिक वातावरण में हम सबको देश का बहुत ध्यान रहने लगा है और उस पर आने वाली आपत्ति की आशंका से ही उसकी रक्षा के लिए हमारे भुज-दण्ड फड़क उठते हैं, आपत्ति का सामना करने के लिए चित्त दृढ़ हो जाता है, प्राणोत्सर्ग के लिए उत्साह उमड़ आता है, आदि-आदि। किन्तु देश-भक्ति को मात्र एक सीमा तक ही रस मानना उचित होगा। जहाँ तक देश के गौरव का गान होगा और उससे हमारे चित्त में गौरव का भाव आता होगा, हमारी देश के प्रति निष्ठा बढ़ती होगी; वहाँ तक देश-भक्ति रस के रूप में प्रभावशाली हो सकती है। उदाहरणतः प्रसादजी का प्रसिद्ध गीत **'अरुण यह मधुमय देश हमारा'** देश-भक्ति रस का उदाहरण हो सकता है, अथवा इक़बाल का प्रसिद्ध गीत **'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा'** भी देश-भक्ति रस का उदाहरण हो सकता है, किन्तु जहाँ देश पर आई किसी आपत्ति को दूर करने का क्रियात्मक वर्णन होगा, जहाँ पर देश को लूटने-खसोटने वाले व्यक्ति-समूह के प्रति क्रोध प्रदर्शित होगा अथवा जहाँ शत्रु के प्रति युद्ध का वर्णन होगा, उन सब स्थलों पर देश-भक्ति की भावना के रहते हुए भी उत्साह, क्रोध आदि ही के रूप में हमारे हार्दिक भावों की अभिव्यक्ति होगी और सामाजिक उसी अभिव्यक्ति का आनन्द लेगा, अतएव ऐसे वर्णन देश-भक्ति रस के न होकर वीर, रौद्र आदि रसों के माने जायँगे। उस अवस्था में शत्रु ही हमारा आलम्बन होगा और उसके घातक कर्म तथा देश की दुर्दशा हमारे लिए उद्दीपन का काम करेगी। यही कारण है कि भूषण की कविताएँ देश-भक्ति की नहीं, वीर रस की मानी जाती हैं। अभिमान तो आपको आत्म-सम्मान का भी होता है और अपनी व्यक्तिगत वस्तु का भी होता है, राज्य का भी होता है और पाण्डित्य या वीरत्व का भी होता है। जिस प्रकार देश पर किसी का आक्रमण देखकर आप क्षुब्ध होते हैं, उसी प्रकार अपने पाण्डित्य या वीरत्व पर आपत्ति आते देख या किसी को ललकारते सुनकर आपका अभिमान जाग उठता है। तब क्या यह सभी अलग-अलग रस के अधिकारी हैं ? हमारे मत से निश्चय ही नहीं हैं। देश आदि का अभिमान तो गर्व संचारी के रूप में अभिव्यक्त होता है और उत्साह आदि को पुष्ट करता है। अपने अभिमान की अभिव्यक्ति हम इन्हीं भावों के आधार पर करते हैं। यही कारण है कि किसी-किसी ने सत्याग्रहवीर तक की कल्पना कर ली है। प्रश्न है कि देश क्या है ? देशाभिमान क्या है ? हमारे विचार से

१. **'जीवन आणि साहित्य', पृ० ४५।**

हमारे आचार-विचार, संस्कारों की एकता, धर्म तथा संस्कृति ही देश और देशाभिमान का स्वरूप निश्चित करते हैं। देश की रक्षा का अभिप्राय है इन माध्यमों की रक्षा करना और इनकी रक्षा का अभिप्राय है आत्म-रक्षा करना। आत्म-रक्षा स्वयं कोई रस नहीं है, बल्कि इसके लिए किये गए प्रयत्नों के समय होने वाली हमारी भावाभिव्यक्ति ही किसी रस का रूप धारण करती है। सारांश यह कि जहाँ प्रभु और देश का विनम्रतापूर्वक गौरव-गान हो, वहाँ भक्ति रस स्वीकार करना चाहिए और उसे प्रभु-भक्ति तथा देश-भक्ति आदि रसों में विभाजित कर लेना चाहिए, किन्तु अन्यत्र भावानुकूल रस मानना चाहिए।

इनसे भी कम प्रभाव राज-भक्ति, स्वामि-भक्ति तथा पितृ-भक्ति का है। तीनों ही या तो भावदशा तक रह जाती हैं या शील का उद्घाटन-मात्र करती हैं। जहाँ कहीं इनमें सहन-शक्ति या उत्साह दिखाया जाता है वहाँ यह वीर रस की सहायक बनकर रह जाती हैं। जैसे, हनुमानजी अपने को राम का सेवक मानते हैं। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर उन्हें राम की दशा देखकर कष्ट होता है। स्वामी का कष्ट दूर करना सेवक का काम है। हनुमान तुरन्त अपने-आप-को राम के सामने प्रस्तुत कर देते हैं और कहते हैं :

'जौ हौं अब अनुसासन पावौं।
तौ चन्द्रमहि निचोरि चैल ज्यों आनि सुधा सिर नावौं॥"

हनुमानजी की यह उक्ति एक स्वामि-भक्त की उक्ति है, इसीलिए दूसरी पंक्ति में 'सिर नावौं' पद का प्रयोग हुआ है। किन्तु आज तक तुलसी की इन पंक्तियों को किसी भी विचारक ने स्वामि-भक्ति-रस का उदाहरण नहीं माना है, अपितु इसे वीर रस में ही रखा गया है। कारण यह है कि चरित्र की उदात्तता और शौर्य को उद्घाटित करने वाले या सहन-शक्ति पर प्रकाश डालने वाले समस्त कार्य वीरता के अन्तर्गत गिने जाते हैं। इसी प्रकार यदि श्रवणकुमार का अथवा अभिमन्यु का चरित्र लिखा जाय, तो पिता के लिए श्रवणकुमार का कष्ट-सहन का पद्यात्मक वर्णन हमारे मन में उसकी सहन-शक्ति और दृढ़ता का चित्र अंकित करेगा और हम भी उस प्रकार की दृढ़ता या कोमलता का अनुभव करेंगे। अथवा अभिमन्यु का चक्रव्यूह-भेदन के लिए तत्पर होने का वर्णन हमारे ध्यान में यह लाते हुए भी कि इसने अचानक ही पाण्डवों के सम्मुख उत्पन्न दुविधा को दूर करके पितृ-भक्ति का परिचय दिया है, हम उसकी वीरता से विशेष प्रभावित होंगे। इस प्रकार उसके सारे चरित्र पर दृष्टिपात करते हुए हम उसे पितृ-भक्त कहकर उसके शील का परिचय देंगे और वीर कहकर उसके

शौर्यपूर्ण भावों का। उसका यह वर्णन वीर रस का कहा जायगा, भक्ति रस का नहीं। पितृ-भक्ति उसमें संचारी का काम अवश्य करेगी, अतएव भाव कही जायगी। इसी प्रकार पिता की मृत्यु पर रुदन करने वाला व्यक्ति पितृ-भक्ति का उदाहरण उपस्थित नहीं करेगा, अपितु उस समय करुण रस की ही प्रतिष्ठा होगी। यही दशा भक्ति रस के अन्य भेदों की भी माननी चाहिए। रूपगोस्वामी ने तो गौण रसों को मुख्य भक्ति रस का संचारी बताया ही है।

भक्ति रस का अन्तर्भाव शान्तरस

भक्ति का शान्त में अन्तर्भाव करने का प्रयत्न भी हमारी दृष्टि में युक्ति-युक्त नहीं कहा जा सकता। श्री मधुसूदन सरस्वती ने दोनों में भेद करते हुए बताया है कि शान्त का सम्बन्ध मोक्ष-पुरुषार्थ से है और उसके योग्य केवल 'अद्रुतचित्त' व्यक्ति ही हो सकते हैं, जबकि भक्तिरस में 'द्रुतचित्त' व्यक्ति का ही महत्त्व होता है। वस्तुतः शान्त तथा भक्ति में अनुराग तथा वैराग्य का ही अन्तर है। शान्त का मार्ग ज्ञान का मार्ग है। वस्तु के सम्बन्ध में नित्यानित्यवस्तुविवेक तथा मोक्ष-कामना ही शान्त का प्रधान लक्षण है। ज्ञान भाव-प्रधान भक्ति से भिन्न होता है। शान्त में निर्विकारता का महत्त्व है और भक्ति में लौकिक स्वार्थ-सम्बन्धों को छोड़कर भी पारलौकिक शक्ति से उसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। वियोग तथा संयोग का अनुभव उसी तीव्रता के साथ किया जाता है। शान्त में आत्म-ज्ञान का होना प्राथमिक आवश्यकता है, किन्तु भक्ति में उसकी अनिवार्यता नहीं मानी जाती। शान्त जुगुप्सा से प्रबलता प्राप्त करता है, किन्तु भक्ति का उससे ऐसा दृढ़ सम्बन्ध नहीं है। यों तो जुगुप्सा ही क्या स्वयं शान्त को रूपगोस्वामी ने भक्ति-रस में अन्तर्भूत कर लिया है। शान्त में प्रयुक्त जुगुप्सा का महत्त्व यह है कि वह संसार से व्यक्ति का मन पूर्णतया हटाती है, उसे विरक्त करती है, किन्तु भक्ति के अन्तर्गत आने वाला जुगुप्सा का वर्णन भगवान् के सम्मुख अपने दोषों को रखने के विचार से किया जाता है और उनसे त्राण माँगा जाता है। शान्त की जुगुप्सा आत्म-ज्ञान का द्वार उन्मुक्त करती है और भक्ति की जुगुप्सा अपनी हीनता का प्रदर्शन कराती है। शान्त एक प्रकार से निर्गुण-निराकारोपासना है और भक्ति सगुणोपासना। भक्ति में श्रद्धा और विश्वास मुख्य होता है, अतः उस मार्ग पर चलना कठिन नहीं रहता। शान्त में होने वाली भाव-प्रतीति नियन्त्रित और संयमित भाव-प्रतीति है, भक्ति का मार्ग सर्वसुलभ और सुखा-राध्य है। विषयपराङ्मुखता, नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य तथा शम-दमादि रूप साधन दोनों में ही मात्रा-भेद से ग्राह्य और साधक होते हैं। साधन-भेद की

एकता होने पर भी दोनों में परिणाम-भेद अवश्य है। परिणाम-भेद से हमारा अभिप्राय उत्कट अनुभूति, सर्वग्राहिता तथा प्रेरकता से है। प्रभाव की उत्कटता के सम्बन्ध में 'श्रीमद्भागवत' के निम्न श्लोक प्रमाण कहे जा सकते हैं। इनमें भक्त के अनेकानेक भावों का परिगणन किया गया है, जो शान्त में किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। यथा:

एवंव्रतः स्वप्रियानामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायन्त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥११।२।४०
क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥११।३।३२।

इसी प्रकार के श्लोक अन्यत्र 'रत्नावली' आदि में भी मिलते हैं। इन अनुभावों के आधार पर भक्ति की तीन अवस्थाएँ (१) पक्वकल्पा, (२) पक्वभक्ति-योग, तथा (३) अपक्वाभक्ति मानी गई हैं। जिसमें साधारणतः उन्माद आदि दृग्गोचर हों, वह पक्वकल्पा, जिसमें विशेष रूप से ग्रह-ग्रस्त-सा व्यक्तित्व जान पड़े, वह पक्वभक्तियोग तथा जिसमें भक्ति-कार्य हासादि स्पष्ट नहीं रहते, वह अपक्वा भक्ति मानी जाती है। भागवत में ही भक्ति को अभेद, अद्वैत तथा मुक्ति-भक्ति नाम से तीन प्रकार की बताकर मानो शान्त रस को इसीमें अन्तर्मुक्त मान लिया है। गीता में भी भक्ति की बड़ी महिमा गाई गई है। कहा गया है कि भाव-भक्तिपूर्वक भगवान् को जानने वाला अन्त में उसीमें प्रवेश कर जाता है। **"भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।" गीता, १८।५५।** इस प्रकार यह मोक्ष का साधन भी सिद्ध हो जाती है। यह अभावात्मक स्थिति नहीं है। इसके साथ विस्मय, अहंभाव, हर्ष आदि मिले रहते हैं और अनेक प्रकार के पूर्वोक्त अनुभाव प्रकट होते हैं, अतएव इसे विक्रियाहीन नहीं कहा जा सकता। भक्ति में लीन व्यक्ति हर समय स्मरण-भजन में लगा रहता है और पूजा के अनेक विधान करता है। यह अन्य व्यक्तियों को शान्त की अपेक्षा अधिक प्रभावित करती है। शान्त प्रायः व्यक्तिनिष्ठ होता है। इस प्रकार व्यापकता, विक्रिया आदि में भी यह किसी प्रकार अन्य रसों से कम प्रभावशाली नहीं रहती। भक्ति का अतुल साहित्य तथा देश-देशान्तर में इसका प्रसार इसके महत्त्व का स्वयं प्रमाण है। ऐसी दशा में इसे शान्त में अन्तर्मुख करना उपयुक्त नहीं।

श्री मा०दा० आलनेकर[1] तथा श्री कु० कोल्हटकर[2] ने इसे क्रमशः शृंगार

१. र० वि०, पृ० २६२।
२. वही, पृ० २६३।

तथा भक्ति के अन्तर्गत मान लिया। श्रृंगार में समाविष्ट मानने का मूल कारण है भक्ति में रतिभाव की मूल-रूप में प्रतिष्ठा देखना।

श्रृंगार, अद्भुत और भक्ति रस

दूसरे, भक्ति के मधुरा भेद को देखकर भी श्रृंगार मानने की इच्छा हो सकती है। तथापि दोनों में पर्याप्त भेद दिखाई पड़ता है। एक तो श्रृंगार तथा भक्ति में परस्पर आलम्बन की लौकिकता तथा अलौकिकता का अन्तर है। दूसरे, श्रृंगार समवयस्क में होता है, जबकि भक्ति में वय का भेद बना रहता है। तीसरे, श्रृंगार अन्योन्याश्रित है, किन्तु भक्ति रस एकावलम्बी है। प्रभु पर उसका केवल विश्वास होता है, साक्षात् प्रेमालाप नहीं। हाँ, पहुँचे हुए भक्त इस बात का दावा कर सकते हैं कि उन्हें उससे वार्तालाप करने का अवसर मिल गया है, फिर भी अधिकतर तो उसके वियोगाब्धि में ही जला करते हैं। श्रृंगार में आलम्बन सजीव रहता है, और भक्ति में या तो सगुण होकर भी अप्रत्यक्ष हुआ करता है अथवा निर्जीव पदार्थ ही होता है। उसके प्रति चित्त का आकर्षण श्रृंगार की अपेक्षा दुष्कर ही है। एक बात और, वह यह कि श्रृंगार में विप्रलम्भ की दशा केवल तभी सह्य होती है, जब तक इस बात का विश्वास बना रहता है कि प्रिय उसे भी चाहता है। विप्रलम्भ के अन्तर्गत आने वाला मान नामक भेद श्रृंगार में जितना स्पष्ट रूप से दिखाया जा सकता है और मान-मोचन भी कराया जा सकता है, उसकी सम्भावना निर्जीव मूर्ति के साथ तो रह ही नहीं जाती। भक्त केवल आत्म-विश्वास का सहारा लेकर चलता है, उसे पाने के लिए सैकड़ों कष्ट सहन करता है और दुःख में भी सुख मानता हुआ जीता है। श्रृंगार में भी इस प्रकार की स्थितियाँ दिखाई देती हैं, किन्तु वहाँ आत्म-विश्वास से अधिक प्रिय-विश्वास का अवलम्ब होता है। भक्ति में दोनों ही काम करते हैं। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि भक्ति रस के अन्तर्गत मधुरा-भक्ति का श्रृंगार से भेद कर सकना केवल लौकिक-अलौकिक सम्बन्ध के आधार पर भले ही सम्भव हो, अन्य किसी प्रकार यह भेद नहीं दिखाई देता। यही कारण है कि इसका लौकिक अवलम्ब लेकर चलने वाला भक्ति-काव्य भी कालान्तर में घोर श्रृंगारिक और लौकिक रचनाओं पर ही उतर आता रहा है। किन्तु भक्ति के अन्य भेदों का श्रृंगार में समावेश सम्भव नहीं है। सम्भव है इन्हीं श्रृंगारिक समानताओं के कारण रूपगोस्वामी ने मधुर को 'भक्तिरस-राट्' कहा हो।

इस 'भक्तिरस-राट्' की प्राचीन काल में अस्वीकृति का एक महत्वपूर्ण कारण

श्री जयशंकर 'प्रसाद' जी ने यह बताया है [1] कि शैवागमों के आनन्द-सिद्धान्त और बुद्धिवादी सम्प्रदायों के सिद्धान्तों में परस्पर बहुत अन्तर है। शैवागम अभेद और समरसता में विश्वास रखता है और बुद्धिवादी दुःख तथा विरह के विश्वासी हैं। शैवागमवादियों के लिए "विरह तो प्रत्यभिज्ञान का साधन, मिलन का द्वार था। चिर-विरह की कल्पना आनन्द में नहीं की जा सकती। शैवागमों के अनुयायी नाट्यों में इसी कल्पित विरह या आवरण का हटाना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा।" शैवागम के आनन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादियों ने या तो शृंगार को अपनाया या शान्त को। "शान्त रस निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता ही है। बुद्धि द्वारा सुख की खोज करने वाले सम्प्रदाय ने रसों में शृंगार को महत्त्व दिया और आगे चलकर शैवागमों के प्रकाश में साहित्य-रस की व्याख्या से सन्तुष्ट न होकर, उन्होंने शृंगार का नाम मधुर रख लिया। कहना न होगा कि 'उज्ज्वलनीलमणि' का सम्प्रदाय बहुत-कुछ विरहोन्मुख ही रहा, और भक्ति-प्रधान भी।" "अतः कदाचित् प्राचीन रसवादी रस की पूर्णता भक्ति में इसलिए नहीं मानते थे कि उसमें द्वैत का भाव रहता था। उसमें रसाभास की कल्पना होती थी। आगमों में भक्ति भी अद्वैतमूला थी। उनके यहाँ द्वैत-प्रथा का **'तदज्ञानतुच्छत्वात् बंधमुच्यते'** के अनुसार द्वैत बन्धन था। इस मधुर-सम्प्रदाय में जिस भक्ति का परिपाक रस के रूप में हुआ, उसमें परकीया-प्रेम का महत्त्व इसलिए बढ़ा कि वे लोग दार्शनिक दृष्टि से तत्त्व को स्व से पर मानते थे।" इस प्रकार प्रसाद जी के अनुसार अद्वैत की असिद्धि के कारण भक्ति को आरम्भ में स्थान नहीं मिला और बाद में चलकर बुद्धिवाद के प्रभाव से इसका विकास हुआ है। शृंगार की धारा ही दूसरे रूप में दार्शनिक पृष्ठभूमि पर भक्तिरस के रूप में बह चली।

इसी प्रकार अद्भुत रस के साथ भी इसके सम्बन्ध-असम्बन्ध का विवेचन किया जा सकता है। अद्भुत में आकस्मिकता अथवा अप्रत्याशित का घटित हो जाना ही मुख्य कारण हैं, किन्तु भक्ति रस में इन दोनों का केवल इसलिए संयोग स्वीकार कर लिया जाता है कि वह भक्ति-विषय के प्रति अनुराग तथा श्रद्धा को बढ़ा सके। भक्ति रस में अनुराग और श्रद्धा के साथ-साथ आत्महीनता का विचार सम्मिलित रहता है। अद्भुत में अनुराग तथा श्रद्धा का प्रश्न ही नहीं उठता, आत्महीनता का भी तत्काल ज्ञान नहीं हुआ करता। बालकृष्ण को मुँह फाड़े उसी में सारा विश्व दिखाते देखकर यदि यशोदा केवल अवाक् रह जाती है, तो वहाँ अद्भुत रस की ही सृष्टि होगी, किन्तु यदि वही उस दृश्य का प्रेम-प्लावित

१. का० और अ० नि०, पृ० ७७-७८।

हृदय से वर्णन करती है या उसे देखकर आत्म-विभोर भाव से उनकी पूजा कर बैठती है, तो वहाँ भक्ति-रस माना जायगा। भक्ति में आलम्बन का व्यवहार ज्ञात रहता है और उसकी भिन्न-भिन्न लीलाओं का वर्णन ज्ञानपूर्वक किया जाता है। उन लीलाओं का वर्णन भक्त के हृदय में भक्ति का आवेश उत्पन्न करता है, आश्चर्य नहीं। कारण यह है कि भक्त के हृदय में प्रभु के प्रति सदैव अनुराग वर्त्तमान रहता है और उसी अनुराग से रंजित करके वह अद्भुत का भक्तिमय वर्णन करता है। वस्तुतः अनुराग ही प्रधान होने से अद्भुत उसका संचारी-मात्र होकर आता है।

उदाहरणतः,

चरन गहे अंगुठा मुख मेलत।
नन्द घरनि गावति, हलरावति, पलना पर किलकंत हरि खेलत॥
जो चरणारविन्द श्री भूषण उर तें नेकु न टारति।
देखो धों का रस चरणनु में मुख मेलत करि आरति॥
जा चरणारविन्द के रस कौं, सुर नर करत विवाद।
यह रस है मोकों अति दुर्लभ, ताते लेत सवाद॥
उछलत सिंधु, धराधर कंप्यो, कमठ पीठ अकुलाइ।
सेस सहस फन डोलन लाग्यो, हरि पीवत जब पांइ॥
बढ्यो वृक्ष वर, सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात।
महा प्रलय के मेघ उठे करि, जहाँ तहाँ आघात॥
करुणा करी छाँड़ि पग दीनो, जानि सुरन मन संस।
'सूरदास' प्रभु असुर निकंदन, दुष्टन के उर गंस॥

'सूर' के इस छन्द में प्रभु की लीला का वर्णन उनके प्रति अनुराग और श्रद्धा से तथा उनकी कृपा का विस्तार प्रदर्शित करने के लिए किया गया है, न कि अद्भुत की सिद्धि के उद्देश्य से। अतएव यहाँ विस्मय भक्ति का संचारी-मात्र है। यही स्थिति रहस्यवादी रचनाओं की भी होती है। वहाँ भी कल्पित मूर्ति प्रत्यक्षवत् रहती है और उसके प्रति प्रेमाकर्षण बना रहता है। इस प्रकार इन दोनों प्रकार की रचनाओं को अद्भुत रस में समाविष्ट करने-मात्र से काम नहीं चलाया जा सकता।

डॉ० वाटवे ने 'रस-विमर्श' में भक्तिरस के समर्थक कई मराठी लेखकों का नाम लिया है। ये हैं, रावजी मोडक, रा० प्रधान, रा० भागवत रा० ग० म० गोरे, प्रो० श्री० नी० चापेकर, प्रो० द० के० केलकर

डॉ० वाटवे द्वारा भक्ति-रस-समर्थन

प्रो० रं० रा० देशपांडे, प्रो० श्री० ना० बनहट्टी, के० श्री० पांगारकर तथा डॉ० मा० गो० देशमुख। इन लेखकों का उल्लेख करने के साथ ही० डॉ० वाटवे ने भक्ति रस के समर्थन में स्वयं मानसशास्त्रीय विवेचन का सहारा लिया है और पूर्वकालीन अनेकानेक संस्कृत तथा मराठी संतों के पदों को उद्धृत करके अपने विवेचन को पुष्ट किया है। संक्षेप में, डॉ० वाटवे की मान्यता है कि भक्ति की भावना डिराइव्ड या साधित नहीं है। डिराइव्ड भावना स्थिर वृत्ति नहीं बन सकती है। भक्ति का आरम्भ आदिकाल से ही पड़ता है। यहाँ तक कि वैदिक साहित्य स्वयं इसके प्रमाणों से युक्त है। मनुष्य ने पहले-पहल प्रकृति को देख-कर उसके वैचित्र्य और उपयोगिता-अनुपयोगियता से प्रभावित होकर उसमें कुछ शक्तियों का विचार करके अलग-अलग देवताओं की कल्पना कर ली; जिसके फलस्वरूप इंद्र, वरुण, उषा, पवमान, अग्नि तथा रुद्र आदि का नामकरण हुआ। इनकी शक्ति के सामने मनुष्य को अपनी आत्महीनता का बोध हुआ और वह उसके परिणामस्वरूप शरणागति के भावों से भर उठा। उसने उन देवताओं से वरदान माँगना, उनकी दया माँगनी आरम्भ की। उनकी शक्ति से मनुष्य में जो उनके प्रति एक भय की भावना काम करती थी उसका स्थान धीरे-धीरे आदर ने ले लिया और फिर वही प्रेममूलक बन गया, जिसके कारण वह इन देवताओं में अनेक गुणों का आरोप करता हुआ, इन्हें ऐहिक तथा पारलौकिक जगत् का सहायक मानने लगा। उसकी भावना शनैः-शनैः उदात्त होती गई। इस प्रकार सगुण रूप से मनुष्य फिर निर्गुण, निराकार का भी चिन्तन करने लगा। उस रूप ने उसे भक्तिमार्गी से उठाकर ज्ञानमार्गी बना दिया। संतों में जहाँ-तहाँ दोनों भावनाओं का प्रकाशन दिखाई देता है। इस प्रकार सगुण भक्ति-भावना में भय, आत्महीनता या शरणागति जिज्ञासा आदि कई प्राथमिक भावनाओं का मिश्रण दिखाई पड़ता है, जिससे प्रतीक-पूजा आरम्भ हुई है और राम-कृष्णादि अवतार माने जाने लगे हैं। इस प्रतीक-पूजा ने मनुष्य के स्वरूप में देवता की कल्पना कराई है। मनुष्य ने प्रभु से सारे लौकिक प्रेम-संबंध जोड़ लिये हैं और इस प्रकार परमेश्वरानुराग की भावना संमिश्र बनती गई है। परमेश्वर की मूर्ति से आरम्भ करके मनुष्य उसकी मनोमय प्रतिमा के निर्माण में सफल हुआ है और संतकाव्य के परिशीलन से ज्ञात होगा कि उसमें अनेक नाते-रिश्तों की प्रतिष्ठा के कारण उत्सुकता, आनन्द, विषाद, दैन्य, चिन्ता, व्याधि, भय, गर्व, व्रीडा तथा जिज्ञासा आदि अनेकानेक भावों का समावेश किस प्रकार सफलतापूर्वक हो गया है। इसके फलस्वरूप उसमें नवरसों की छटा भी प्रस्फुटित हुई है। इन

सम्बन्धों में परमोत्कट रूप शृंगार की भावना का रहा, जो कि मधुर रस के नाम पर परम उन्नयन को पहुँचा। कृष्ण-गोपिकाओं के परमात्मा तथा आत्मा के सम्बन्ध के रूपक जोड़ लिये गए और लौकिक शृंगार भक्ति के उन्नत रूप में उपस्थित हुआ। वल्लभ, चैतन्य, राधावल्लभी आदि सम्प्रदाओं में ही नहीं राम-सीता की भक्ति और सूफी सम्प्रदाय में भी यह भावना दिखाई देती है। यहाँ तक कि भक्ति की भावना इस रूप में व्यापक है कि तेरहवीं सदी में थॉमस डी हेल्स नामक लेखक ने अपने काव्य में ईसा का यही भक्तिपरक रूप उपस्थित किया है। इतिहास इस प्रकार के भक्तों के प्रमाणों का साक्षी है कि भक्ति के सामने उनकी भूख-जैसी सहज प्रवृत्तियाँ भी दब गई हैं। अतः भक्ति का मूलाधार देवविषयक रति को स्थायी भाव मानने में कोई हानि नहीं है।

डॉ० वाटवे ने भक्ति रस के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न उसके शान्तरस में अन्तर्भाव होने के सम्बन्ध में उपस्थित करते हुए पुनः भक्ति रस की पृथक्ता का दीर्घ-रूप में वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में उनका विचार है कि शान्त रस का सम्बन्ध ज्ञानमार्ग से है और उसका उद्गम वैराग्य से होता है। वेदान्त-वाक्य के श्रवण अथवा प्रत्यक्ष-दर्शन से नित्यानित्यवस्तु-विवेक हो जाता है और मुमुक्षु ब्रह्मसाक्षात्कार का प्रयत्न करने लगता है। इससे भावना का वैसा सम्बन्ध नहीं है, जैसा ज्ञान का है। बल्कि शोक, मोह, राग तथा द्वेष से मन को निर्विकार रखे बिना आत्म-ज्ञान की सिद्धि ही नहीं होती। भक्त तथा देवता के बीच द्वैत शान्त-सम्मत नहीं है, उसका उद्देश्य तो अद्वैतसिद्धि है। शान्त का रस स्थायी भाव शम है, जिसका अर्थ है समाधान, सन्तोष या सैटिस्फेक्शन। लौकिक विषयों से मन को हटाकर केवल मोक्षोपकारक व्यापारों में लगाना ही शम है। वेदान्त में यह साधनरूप है और साहित्य में साध्यरूप। विश्वनाथ के अनुसार निरिच्छित अवस्था में आत्म-विश्रान्तिजन्य सुख शम है। हेमचन्द्र के विचार से तृष्णाक्षय का नाम शम है और अभिनवगुप्त तृष्णाक्षयसुख को शान्त का स्थायी मानकर चले हैं। शम एक भावनावाचक शब्द है। यह भावना सुख, शान्ति या सन्तोष की है। ब्रह्मनिष्ठ का मन निष्काम, निरीह, सम तथा शान्त हो जाने पर उसके मानसिक व्यापार का अधिष्ठान शम है। हर्ष, विस्मय, अहंभाव, क्रोध आदि किसी भी भाव का स्पर्श होने से भी वह उस अवस्था को नहीं छोड़ता। श्रीकृष्ण, जनक तथा याज्ञवल्क्य इसके उदाहरण हैं। शम अभावरूप नहीं है, अपितु परब्रह्म पर केन्द्रित होती है और उससे विस्मय; अहंभाव, आनन्द इत्यादि व्यभिचारी, रोमांच, नेत्र-निमीलन इत्यादि अनुभाव मिलकर को शान्त रस व्यक्त करते हैं।

भक्ति पर विचार करें तो मोक्ष-शास्त्र की दृष्टि से ज्ञान तथा भक्ति दोनों का समान महत्त्व है। भक्ति-ग्रंथों से पता चलता है कि भक्ति से प्रभु का ज्ञान होता है और इसलिए भक्ति मोक्ष का परम साधन मानी गई है। यह कर्म तथा ज्ञान मार्ग से श्रेष्ठ समझी जाती है। **सा तु कर्मज्ञानेभ्योऽप्यधिकतरा फलस्वरूपत्वात्। ना० भ० सू०, २५-२६।** वह स्वतन्त्र रूप से फल देने वाली है। 'भागवत' के अनुसार कहा जा सकता है कि द्वैत से आरम्भ होकर इसका अन्त 'सोऽहम्' रूप अद्वैत में होता है और इस प्रकार इसमें द्वैताद्वैत का मिश्रण दिखाई देता है। अभेद भक्ति, अद्वैत भक्ति तथा मुक्ति के लिए भक्ति भागवत से प्रमाणित हैं। ऐसी दशा में शान्त में भक्ति का अन्तर्भाव उचित नहीं है। भक्तों की बात मानें, तो वह भक्ति को ज्ञानमार्ग से कहीं बढ़ा-चढ़ा मानते हैं। रस-दृष्टि से देखें, तो मानसिक व्यापारों के त्रिकोण—ज्ञान, भावना तथा क्रिया—में से भावनात्मकता सर्वाधिक प्रबल और कार्यप्रेरक ठहरती है। यह स्वाभाविक है कि निर्गुण की अपेक्षा सगुण पर मन अधिक ठहरता है, चित्तवृत्ति अधिक रमती है। भक्ति में भावनाओं की प्रबलता के कारण अनेक अनुभाव प्रकट होते हैं, किन्तु मनोविकारशून्य शान्त में इस प्रकार की संभावना कम है। शान्त रस के समान ज्ञान अपने तक सीमित न रहकर भक्ति का अनुभव दूसरे में संक्रमित हो जाता है। धार्मिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व गाया गया है। भारतवर्ष के लिए, जैसा ग्रियर्सन ने कहा है, धर्म ज्ञानात्मक न होकर भावनात्मक हो गया है। शान्त रस में भाव-प्रतीति होती तो है किन्तु अपेक्षया संयमित और नियन्त्रित होती है। दोनों का एक ही उद्देश्य होते हुए भी भावना की तीव्रता भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध कर देती है। इस प्रकार पृथक् होने के साथ-साथ सार्वत्रिकता तथा उत्कटता की दृष्टि से भक्ति-रस शान्त की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

केवल भरत-कथित न होने से भक्ति तिरस्करणीय रस नहीं है, क्योंकि साहित्य-शास्त्र नित्य प्रयोग के साथ बढ़ता है। स्वयं भरत ने जिन ध्वनि आदि सिद्धान्तों का वर्णन नहीं किया है, आखिर उनको भी तो हम मान्यता देते हैं, तब भक्ति रस का विरोध ही क्यों किया जाय ? यदि कवि चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिए हैं, तो मोक्ष की उपायरूपा भक्ति का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार प्रो० काणे के समान यह कहना उचित नहीं है कि इसी प्रकार ईश्वर-भक्ति, पुत्र-भक्ति, पितृ-भक्ति आदि भेदों को भी स्वीकृति देनी पड़ेगी, क्योंकि ये भावनाएँ प्रभु-भक्ति के समान आस्वाद्य नहीं हैं। जो हैं, वह या तो इसी भक्ति-रस का भेद मान ली जायँगी अथवा वे वात्सल्य के समान पृथक् स्वीकार कर ली जा सकती हैं। इसमें आपत्ति ही क्या है ? हो सकता है कि भक्ति रस

शृंगार के समान व्यापक नहीं है, किन्तु यह आपत्ति तो शान्त रस पर और भी अधिक घटित होती है। ऐसी दशा में उसे रस क्यों माना जाय ? यों देखा जाय, तो भक्तिरस में अन्य रसों का किसी-न-किसी अंश में समावेश हो जाता है। प्रो० पंगु का यह कथन भी यौक्तिक नहीं है कि पाषाणमूर्ति में सजीव के समान कैसे समान निष्ठा जाग्रत हो सकती है। इसके विरोध में समस्त साहित्य प्रमाण-स्वरूप है। भक्त के लिए काष्ठ और पाषाण का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। यदि यह कहा जाय कि अद्वैत की स्थिति में शब्दोच्चार कैसे हो सकता है, तो यह आपत्ति अद्वैत सिद्ध करने वाले शान्तरस पर भी उतनी ही लागू होती है और साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि समाधि की व्युत्थान दशा में अद्वैतानुभव का स्मरण करके ऐसा किया जाता है। इसीके साथ एक और आपत्ति की कल्पना की जा सकती है। कहा जा सकता है कि यदि भक्ति रस के अन्तर्गत सभी रस आते हैं, तो उन्हें मानते हुए एक नये रस की कल्पना की आवश्यकता ही क्या है ? माता का वात्सल्य केवल इहलौकिक रक्षा कर सकता है, किन्तु पारलौकिक रक्षा और आनन्द के लिए तो भक्ति रस का ही सहारा लेना पड़ेगा। परमेश्वरीय स्पर्श से सभी भाव नवीन प्रकाश से प्रकाशित हो जाते हैं और उत्कट आस्वाद्यता से पूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार अनेक भावनाओं के सम्मिश्रण से तो रस अधिकाधिक आस्वाद्य बनता है। शृंगार तथा करुण इसीलिए भयानक या बीभत्स से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और आस्वाद्य जान पड़ते हैं। जिस रस में जितना ही भावनाओं का संघ बनेगा वह उतना ही प्रभावशाली होगा। अतः भक्ति रस में यदि अनेकानेक भावनाओं का सम्मिश्रण है तो वह उसका भूषण ही है, दूषण नहीं। इसके अतिरिक्त देखा जाय तो मनुष्य में अभिमुख तथा विमुख नामक दो विशेष वृत्तियाँ पाई जाती हैं, जो आकर्षण और विकर्षण या राग तथा द्वेष के नाम से संबोधित की जा सकती हैं। राग ही प्रेम है और यह भिन्न रूपात्मक है, भिन्न विषयात्मक है। इसके द्वारा अनेक अभिमुखवृत्तियों का संकेत मिलता है। ऐसी स्थिति में ही लोगों ने प्रेम रस की कल्पना भी की, किन्तु एक ही वृत्ति के आधार पर भिन्न रूपात्मक रस मान लेना भी अनुचित नहीं है। प्रेम या रति कान्ता-विषयक, देवतादि-विषयक और अपत्य-विषयक होने से क्रमशः यदि शृंगार, भक्ति तथा वात्सल्य रस कहलाती है, तो कोई हानि नहीं है। सारांश यह है कि भक्ति रस के समान आस्वाद्य, मोक्षोपकारक, बहुजनसुलभ, वाङ्मय-परिपुष्ट व संस्कृत साहित्य-शास्त्र तथा मानस-शास्त्र की कसौटी पर पूर्णतया खरा उतरने वाला रस न मानने का कोई कारण नहीं है। विपुल धार्मिक तथा साहित्यिक सामग्री भक्ति के सम्बन्ध में होते हुए

भी जो रस को अस्वीकार किया जाता रहा है, उसका एक-मात्र कारण परम्परा-भिमान ही हो सकता है, अन्य नहीं। निश्चय ही परम्पराभिमान साहित्य के नवीन पथों को अवरुद्ध करके उसकी गति को रोक सकता है, अतएव उपेक्षणीय है।[1]

वात्सल्य-रस

पितृ-भक्ति के समान ही पुत्र के प्रति माता-पिता की अनुरक्ति या उनका स्नेह एक अवस्था उत्पन्न करता है, जिसे विद्वानों ने वात्सल्य रस माना है। इस भाव में स्वाभाविकता है, अतः इसे पृथक् रस रूप में पुष्ट होने वाला मानने का हम समर्थन करते हैं। पुत्र के प्रति माता-पिता के मन में उसके जन्म से पूर्व से अभिलाषा रहती है। सन्तान सभी को प्रिय लगती है। निपूता कौन रहना चाहता है? माता गर्भ के बच्चे के प्रति भी एक मोह पालती रहती है और उसकी रक्षा का पूर्ण विचार रखती है। बच्चे के जन्म पर माता के स्तनों से पयधार का प्रवाहित होना भी स्वाभाविक है। बहुत दिन बाद मिलने पर भी माता के स्तन स्रवित होने लगते हैं। इसी प्रकार रोमांच, गद्गद् आदि सात्विकों का अनुभव भी होता है। तात्पर्य यह कि इस स्नेह में बड़ा बल है। अतएव इसे प्रभावशालिता, व्यापकता, स्वाभाविकता आदि सभी दृष्टियों से रस माना जा सकता है। हरिऔधजी ने तो रस के सम्बन्ध में कथित 'काव्य-प्रकाश' में वर्णित सभी रस लक्षणों से वात्सल्य को युक्त मानते हुए कहा है कि इसे अवश्य रस स्वीकार करना चाहिए। ये लक्षण इस प्रकार हैं: (१) रसास्वाद पानक रस के समान है; (२) वे स्पष्ट झलक जाते हैं; (३) हृदय में प्रवेश करते हैं; (४) सर्वांग को सुधारस से सिंचित करते हैं; (५) अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते हैं; (६) ब्रह्मानन्द के समान अनुभूत होते हैं; तथा (७) अलौकिक चमत्कृति रखते हैं। वात्सल्य में इन सभी बातों का समावेश हो पाता है कि नहीं, इसके लिए सूर का बाल-वर्णन पढ़ना पर्याप्त होगा।

विश्वनाथ कविराज ने इस रस का स्थायी वत्सलता या स्नेह माना है। पुत्रादि सन्तान इसका आलम्बन है। उसकी चेष्टाएँ, उसकी विद्या-बुद्धि तथा शौर्यादि उद्दीपन हैं और आलिंगन, स्पर्श, शिरश्चुम्बन, एकटक उसे देखना, पुलकादि अनुभाव तथा अनिष्ट-शंका, हर्ष, गर्व, आदि उसके संचारी बताये हैं। प्रस्फुट चमत्कार के कारण वह इसे स्वतन्त्र रस मानते हैं। इसका वर्ण पद्मगर्भ छवि के समान तथा इसके देवता जगदम्बा हैं।[2]

१. र० वि०, पृ० २६६-२६८।

२. सा० द०, ३।२५१-२५४।

इसका सर्वप्रथम उल्लेख रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में [1] किया है। किन्तु उद्भट् इसे केवल अलंकार मानते हैं। उन्होंने इसे भावकाव्य की श्रेणी में रखा है। भामह तथा दण्डी ने इसे प्रेम का प्रियतर रूप माना है:—**'प्रेयः प्रियतराख्यानम्'**। किन्तु इन सब आचार्यों ने वात्सल्य रस का नाम न लेकर उसके स्थान पर प्रेयस् रस नाम लिया है। आगे चलकर भामह द्वारा कथित रति प्रेयस् के रूप में स्वीकृत हुई है। दण्डी ने इसे शृंगार के समतुल्य मानकर पृथक् रखना उचित समझा। अन्तर इतना है कि शृंगार का स्थायी भाव रति है और प्रेयक् का स्थायी है प्रीति। उद्भट द्वारा 'प्रेयस्' के प्रसंग में किये गए उदाहरण **'सुतवाल्लभ्यान्निर्विशेषा स्पृहावती'** से वात्सल्य का ही चित्र उपस्थित होता है। वे रुद्रट के पूर्ववर्ती हैं। बाद में अभिनवगुप्त ने **'बालस्य माता पित्रादौ स्नेहो-भये विश्रान्तः'** कहकर वत्सलता को भय में अन्तर्भुक्त सिद्ध किया और उसे भाव-मात्र माना। मम्मट ने देवादि विषयक रति को भाव मानकर उन्हींका अनुगमन किया है। किन्तु भोजराज ने अन्य रसों के साथ 'वत्सल' रस को भी स्पष्टतथा परिगणित किया है (शृं०प्र० १:६)। विश्वनाथ ने उसकी विशेष पुष्टि कर दी है।

'मन्दारमरन्दचम्पू' के लेखक ने वात्सल्य का स्थायी 'कारुण्य' को बताया है।[2] और कविकर्णपूर ने यशोदा के वात्सल्य का निरूपण करते हुए 'ममकार' को इसका स्थायी माना है।[3] वह रति को काम-रति—साम्प्रयोगिकी प्रीति—मैत्री, सौहार्द आदि भेदों में बाँटते हैं (पृ० १२४)। इनमें 'भाव' संज्ञक रति को भक्ति का स्थायी बताया गया है।[4] इन विचारकों के मत के विपरीत अभिनव तथा धनंजय आदि कुछ विद्वानों ने इन भावों का अन्य भावों में अन्तर्भाव कर लिया है, जिसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। 'दशरूपक' में प्रीति तथा भक्ति को पृथक् मानकर भी उन्हें भाव ही माना गया है।[5] यही दशा शार्ङ्गदेव आदि की है।[6]

स्थायी भाव

१. 'काव्यालंकार, १२।३।
२. म० म० च०, काव्यमाला, पृ० १००। 'नम्बर ऑफ रसेज़' में उद्धृत, पृ० १०६।
३. अ० कौ०, वरेन्द्र सं०, पृ० १४८।
४. वही, पृ० १२४।
५. द० रू०, ४।८३।
६. सं० र०, पृ० ८३६।

"सोमेश्वर की सम्मति है कि स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्य लोगों की परस्पर रति का नाम स्नेह, उत्तम में अनुत्तम की रति का नाम भक्ति और अनुत्तम में उत्तम की रति का नाम वात्सल्य है। आस्वाद्यता की दृष्टि से ये सभी भाव कहलाते हैं।[1] किन्तु वात्सल्य का क्षेत्र ऐसा व्यापक है कि उसमें कहीं प्रेम व्यक्त रहता है, कहीं कारुण्य और कहीं अतृप्त आकांक्षा। कहीं वीर रस की, कहीं शृंगार रस की और कहीं हास्य रस की छटा दीख पड़ती है। जैसे :

आरसी देखि जसोमति जूसों कहै तुतरात यों बात कन्हैया।
बैठे ते बैठै, उठै ते उठै, और कूदे ते कूदै चले ते चलैया।।
बोलेते बोलै, हँसेते हँसै मुख जैसे करों त्यों ही आपु करैया।
दूसरो को तो दुलारो कियो यह को है जो मोहि खिझावत मैया।

इस वात्सल्य में हास्य का भी पुट है, जो उसे और पुष्ट करता है।[2]

"वात्सल्य में सौन्दर्य-भावना, कोमलता, आशा, शृंगार-भावना, आत्माभिमान आदि अनेक भाव रहते हैं जिनके सम्मिश्रण से वात्सल्य अत्यन्त प्रबल हो उठता है।"[3] स्ववंशरक्षण, चमत्कार तथा भावोत्कटता तीनों ही इस रस में उपलब्ध होते हैं। माता-पिता, अपरिचित, कुमारिका, नववधू सभीमें इसकी सत्ता विद्यमान रहती है। इतना ही नहीं, मनुष्य-जगत् के सीमित क्षेत्र से निकलकर इसका प्रसार पशु-जगत् तक देखा जाता है। न केवल पशुओं में ही अपत्यस्नेह वर्तमान रहता है, अपितु मनुष्य भी पशुओं के बच्चों के प्रति अपनी वात्सल्य-भावना का प्रकाशन करता पाया जाता है।

इनमें से 'वत्सल' को ही स्थायी मानना उपयुक्त दीख पड़ता है। इस नाम के ग्रहण करने से तुरन्त ही उसके अन्तर्गत आने वाली विषय-वस्तु का ज्ञान हो जाता है। किन्तु प्रीति कहने से मित्रों की प्रीति, भाई-बहन की प्रीति या पिता तथा माता की पुत्र के प्रति प्रीति इन भेदों में से एक विशेष का ज्ञान स्पष्टतया नहीं हो पाता। इसी प्रकार कारुण्य भी अस्पष्ट है। कारुण्य किसी की दीन दशा देखकर उमड़ सकता है और किसी के प्रति विशेष अनुराग को आर्द्रता रूप में देखकर कारुण्य कहा जा सकता है। कारुण्य के साथ कृपा-भाव मिला हुआ है, किन्तु वात्सल्य रस में कृपा-भाव उतना नहीं रहता, या कहें व्यक्त नहीं होता, जितना कि विनोद और आनन्द-मिश्रित स्नेह का भाव रहता है। अन-

१. हि० का द०, पृ० २८७।
२. वही, पृ० २८६।
३. वही, पृ० २८८।

कारुण्य भी उचित नाम नहीं। इसी प्रकार ममकार में स्वामित्व तथा लोभ का मिश्रण अवश्य रहता है, जो वात्सल्य रस में अनाकांक्षित है। 'वत्सल' शब्द के द्वारा, जो वत्स के प्रति आकर्षण है उसका अच्छा परिचय मिलता है। विशुद्ध निस्वार्थ प्रेम और बलिहारी जाने की जो स्पष्ट अभिव्यक्ति 'वत्सल' स्थायी में है, वह किसी और नाम में नहीं। अतएव उसे ही वात्सल्य रस का स्थायी मानना उपयुक्त होगा।

वात्सल्य रस के मूल में भी रति ही विद्यमान है। पुत्र के प्रति होने के कारण, उसकी भिन्नता दिखाने की इच्छा से उसे वत्सल स्थायी कह दिया जाता है। जिस प्रकार शृंगारान्तर्गत आई रति के संयोग तथा वियोग दो पक्ष दिखाये जाते हैं, उसी प्रकार वात्सल्य रस के भी दो पक्ष मानने उचित जान पड़ते हैं। वत्सल भाव में भी उतनी ही तीव्रता है और वह भी उतना ही व्यापक है, जितना शृंगार का स्थायी भाव रति माना जाता है। माता-पिता का पुत्र के प्रति ऐसा उत्कट प्रेम होता है कि वह उसके समीप रहते हुए भी छलकता है और वियोग में और भी तीव्रतर हो जाता है। यहाँ तक कि वियोग में शृंगारान्तर्गत गिनाई गई सभी दशाएँ भी वात्सल्य के वियोग-पक्ष में दीख पड़ती हैं। वह भी करुण विप्रलम्भ के सदृश ही करुण दशा तक पहुँचा हुआ होता है। अतः उत्कटता और अनुभवगोचरता के विचार से वात्सल्य के भी संयोग तथा वियोग नामक दो भेदों की कल्पना की जा सकती है। साथ ही वियोग-वात्सल्य के अन्तर्गत प्रवास दशा को स्वीकार करके उसके क्रमशः गच्छत्प्रवास वात्सल्य, प्रवासस्थित वात्सल्य तथा प्रवास-आगत-वात्सल्य यह तीन भेद स्वीकार किये जा सकते हैं। करुण-विप्रलम्भ के समान करुण-वात्सल्य को भी स्वीकार करना युक्तियुक्त ही है। इस प्रकार वात्सल्य के निम्न भेद माने जायँगे।

वात्सल्य रस के भेद

१—संयोग वात्सल्य,

२—वियोग-वात्सल्य :

(क) गच्छत्प्रवास वात्सल्य,

(ख) प्रवासस्थित वात्सल्य,

(ग) प्रवासागत वात्सल्य,

(घ) करुण वात्सल्य।

उदाहरणतः निम्न छन्द संयोग वात्सल्य का कहा जायगा। इसमें आलम्बन बालक, आश्रय माता, पारिवारिक व्यक्ति, अन्य सम्बन्धी आदि, उद्दीपन बालक

का शारीरिक सौन्दर्य, बुद्धि-चातुर्य, बाल-केलि आदि, अनुभाव प्रसन्नता, हास्य गद्‌गद् हो जाना और संचारी भाव हर्ष-विस्मय आदि हैं ।[1]

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की ।
धूसरधूरि घुटुरुवनि रेंगनि बोलनि बचन रसाल की ॥
छिटकि रहीं चहुँ दिशि जु लटुरियाँ लटकन लटकत भाल की ।
मोतिन सहित नासिका नथनी कण्ठ कमल दल माल की ॥
कछुके हाथ, कछुक मुख माखन, चितवनि नैन विशाल की ।
सूरज प्रभु के प्रेम मगन भई ढिंग न तजति ब्रजबाल की ॥

। ७२३ 'सूरसागर' ।

गच्छत्प्रवास वात्सल्य के लिए सूर का निम्न छन्द उत्कृष्ट उदाहरण है :

यशोदा बार-बार यों भाखे ।
है कोऊ ब्रज में हितू हमारो, चलत गुपालहिं राखे ॥
कहा काज मेरे छगन मगन कौं, नृप मधुपुरी बुलायौ ।
सुफलक-सुत मेरे प्रान हरन कौं, काल-रूप ह्वै आयौ ॥
बरु यह गोधन हरौ कंस सब, मोहि बंदी लै मेलौ ।
इतनोई सुख कमल-नयन मेरो, अँखियनि आगें खेलौ ॥
बासर बदन बिलोकत जीवौं, निसि निज अंकम लाऊँ ।
तिहि बिछुरत जौ जिऊँ कर्मबस, तौ हँसि काहि बुलाऊँ ॥
कमल-नयन गुन टेरत-टेरत, अधर बदन कुम्हिलानी ।
सूर कहाँ लगि प्रगट जनाऊँ, दुखित नन्द जु की रानी ॥

। पृ० १२७३, सू० सा० ।

उक्त छन्द की अन्तिम पंक्तियों में स्मरण तथा मूर्च्छा की दशा का भी वर्णन हो गया है । यशोदा का यह निवेदन हृदयावर्जक है ।

प्रवासस्थित वात्सल्य के उदाहरण के लिए तुलसीदासजी का 'गीतावली' में लिखित निम्न उदाहरण दिया जा सकता है :

राघौ एक बार फिरि आवौ ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरो बनहिं सिधावौ ॥

करुण वात्सल्य का एक श्रेष्ठ उदाहरण 'सूरसागर' से नीचे दिया जाता है :

माखन खाहु लाल मेरे आई । खेलत आजु अबार लगाई ॥
बैठहु आइ संग दोउ भाई । तुम जेंवहु मैया बलि जाई ॥
सद माखन अति हित मैं राख्यौ । आजु नहीं नेकहु तुम चाख्यौ ॥

१. 'सूर-सौरभ', पृ० ४६६ ।

प्रातहि तैं मैं दियो जगाइ। दतुवनि करि जु गये दोउ भाइ ।।
मैं बैठी तुव पंथ निहारौं। आवहु तुम पर तन-मन वारौं ।।
ब्रज जुवती सुनि-सुनि यह बानी। रोवति धरनि परीं अकुलानी ।।
सोक-सिंधु बूड़ी नन्दरानी। सुधि-बुधि तन की सबै भुलानी ।। पृ० ४४८।

अन्तिम पंक्ति इस पद को करुण-वात्सल्य का ही सिद्ध करती है। इस प्रकार वात्सल्य न केवल रसों में परिगणन योग्य ही है, अपितु व्यापकता के विचार से शृंगार के समान ही भेदोपभेदों में उपस्थित किया जा सकता है।

कतिपय अन्य रस

उक्त ग्यारह रसों के अतिरिक्त अन्य रसों की भी कल्पना की गई थी, इस का संकेत 'अभिनवभारती' तथा अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है। ऐसे रसों के स्थापकों ने वस्तुतः रुचि-मात्र को रस मान लेने की भूल की थी, वे रस के वास्तविक स्वरूप को न समझ सके थे। अतः कभी-कभी तो इन रसों में रसाभास-भावाभास के अन्तर्गत आने वाले वर्णनों को किसी रस का नाम दे दिया गया और कभी रुचि-विशेष के आधार पर किसी खेल आदि को ही रस बता दिया गया। 'अभिनवभारती' में इसी प्रकार गर्ध स्थायी वाले लौल्य रस की चर्चा करके उसका खण्डन भी प्रस्तुत किया गया है। खेल-सम्बन्धी मृग तथा अक्ष का अभिनव तथा धनंजय दोनों ने ही उल्लेख किया है। नाट्यदर्पणकार ने आसक्ति स्थायी वाले व्यसन, अरति स्थायी वाले दुःख तथा सन्तोष स्थायी वाले सुख रसों का वर्णन किया है। भोज ने उदात्त तथा उद्धत के साथ-साथ अन्य पूर्व-कथित रसों का भी उल्लेख किया है। इसी प्रकार अनेकानेक रसों का प्रचलन करके नई स्थापना का अहंकार प्रदर्शन होता रहा है। भानुदत्त ने भी लौकिक-अलौकिक, औपनायिक आदि कई नये भेद उपस्थित किये हैं। हम संक्षेप में इनकी चर्चा करेंगे।

अभिनवभारती-कृत 'प्रत्याख्यान' (पृ० ३४२) से पता चलता है कि लौल्य का स्थायी गर्ध बताया गया है। यह लालसा-रूप है इसका प्रदर्शन वस्तुतः हीन पात्रों अथवा प्रतिनायक की ओर से ही सकता है।

लौल्य, मृग्य या अक्ष उनकी किसी ऐसी वस्तु की कांक्षा या लालच का वर्णन जिसके पाने के वह सर्वथा अयोग्य हैं, लौल्य रस के अन्तर्गत आता है। उदाहरणतः, रावण द्वारा सीता के प्रति वासनात्मक उक्ति, लौल्य में गिनी जानी चाहिए। किन्तु रस-पद्धति के विचार से स्पष्ट हो चुका है कि ऐसे वर्णन रसाभास माने जाते हैं।

इसी प्रकार दशरूपक (४।८३) द्वारा सूचित मृग्य तथा अक्ष केवल खेल-

विशेष के प्रति रुचि-विशेष तो हो सकते हैं, किन्तु उनसे किसी भाव का उद्बोधन, उद्दीपन तथा रस-रूप में परिवर्तन संभव नहीं है। उनसे हमारे संस्कारों का भी सम्बन्ध नहीं है, कि हम उन्हें स्थायी या संचारी ही मान सकें। मृगया या द्यूत खेलना व्यक्ति-विशेष पर निर्भर है और इनकी तीव्रता आदि के विचार से भयानक आदि अन्य रस तो उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु यह स्वयं रस नहीं हो सकते। उदाहरणतः, 'शाकुन्तल' में वर्णित दुष्यन्त का मृगया का दृश्य भयानक का ही उपस्थापक है मृगया रस का नहीं, अथवा स्वर्गीय प्रेमचन्द द्वारा लिखित 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी में शतरंज का खेल नामक कोई रस न होकर रौद्रादि की ही सिद्धि होती है। सारांश यह है कि मृगया आदि केवल विभाव-सामर्थ्य वाले हैं, रस-रूप धारण करने में समर्थ नही हैं।

नाट्यदर्पणकार द्वारा प्रस्तुत व्यसन, दुःख तथा सुख नामक रसों के क्रमशः आसक्ति, अरति तथा सन्तोष नामक स्थायी भाव बताये गए हैं।

व्यसन, दुःख, सुख, उदात्त, उद्धत

व्यसन तो पूर्वोक्त लौल्य, मृग्य तथा अक्ष के समान ही हैं। किसी दूसरे की आसक्ति देखकर सामाजिक को रति आदि भावों का अनुभव हो सकता है, स्वयं किसी व्यसन नामक रस का अनुभव नहीं होता है, अतः यह विभाव-मात्र है। इसी प्रकार अरति क्रोध, घृणा, भयादि की प्रवर्त्तक हो सकती है। निःसन्देह लौकिक व्यवहार में अरतिपूर्ण दृश्य से दुःख होता है, किन्तु ध्यान दिया जाय तो वह दुःख भी किसी-न-किसी स्थायी भाव से ही सम्बन्ध रखता है। उसके काव्यात्मक होने के कारण ही उसकी अनुभूति को रसात्मक कहा जाता है, दुःख या सुखात्मक नहीं। अरति या सन्तोष से किसी दुःख या सुख की नहीं उनके किसी विशेष भेद की सृष्टि होती है, जो निश्चित स्थायी भावों में से ही किसी के आधार पर होगा। अतएव इन्हें रस नहीं माना जा सकता।

भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' (५।१६४) तथा 'शृंगार प्रकाश' में कई नये रसों का नाम लिया है। उदात्त तथा उद्धत उन्हींमें से दो हैं। भोज ने उदात्त का स्थायी भाव मति तथा उद्धत का गर्व माना है। उदात्त को ही वे ऊर्जस्विन् भी कहते हैं। किन्तु इन रसों की स्वीकृति में भी बाधा दिखाई देती है, क्योंकि ये रस वस्तुतः स्वभाव-भेद को बताते हैं। भोज ने 'शृंगारप्रकाश' में यह स्पष्ट भी कर दिया है कि उन्होंने नायक भेद के विचार से ही इनको स्वीकार किया है, अर्थात् धीरशान्त नायक में शान्त, धीरललित में प्रेयस्, धीरोदात्त में उदात्त

तथा धीरोद्धत में उद्धत रस की स्थिति मानी जा सकती है।[1] हमारा विचार है कि एक तो यह दोनों रस नवरसों के ही दो मोटे भेद हैं, अर्थात् इन भेदों में उनकी पृथक्-पृथक् गणना सम्भव है, दूसरे यह भी अनिवार्य नहीं है कि जिन नायकों में भोज ने इनकी स्थिति मानी है, उनमें इनके अतिरिक्त दूसरे भेद की स्थिति होती ही नहीं। निःसन्देह स्वभाव की प्रधानता का प्रभाव इन रसों की नायक में स्थिति को प्रभावित करता है, किन्तु राम या रावण में सदैव उदात्त या उद्धव रस ही विद्यमान रहता हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। परिस्थिति के अनुकूल राम भी शृंगार, हास्य, करुण, वीरादि रसों के आश्रय बनते दीख पड़ते हैं और रावण भी रौद्र के अतिरिक्त अन्य रसों का आश्रय बनता है। अभिप्राय यह कि चरित्र के अनुकूल रसों की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती, अतएव उदात्त तथा उद्धत भेद भी निर्मूल सिद्ध होते हैं।

शिंगभूपाल ने इन रसों की असमर्थता भली-भाँति प्रकट कर दी है। भोज का उद्धत रस का उदाहरण दण्डी के 'ऊर्जस्वी' अलंकार का ही उदाहरण है। उनके द्वारा दिया गया गर्व का उदाहरण भी गर्व का नहीं, अपितु पौरुष सात्विक का ही उदाहरण है। वस्तुतः वहाँ गर्व तो संचारी के रूप में ही आया है, स्थायी है क्रोध।[2] इसी प्रकार मति का उदाहरण भी संचारी मति का ही उदाहरण है अथवा उत्साह के भेद-मात्र कहा जा सकता है। उसे स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता।[3] गर्व, धृति या मति तीनों ही स्थायी नहीं बन सकते,

१. न च अष्टावेवेति नियमः, यतः शान्तम् प्रेयांसम् उद्धतम् ऊर्जस्विनं च केचिद्रसमाचक्षते। तन्मूलाश्च किल नायकानां धीरशान्त-धीरललित-धीरोद्धत-धीरोदात्तव्यपदेशः। न० ऑफ र०, पृ० १२२ पर उद्धृत।

२. न तावदत्र गर्वः, पूर्वं अपकर्तारं पश्चाद् भीतं द्विषन्तम् आलोक्य जातया समरविमुखं न हन्मि मा भैषीरिति वाक्यसूचितया नीचे दयया कस्यचिद् वीरसार्वभौमस्य शोभनः पौरुषसात्विकभावः प्रतीयते। यदि वा, अभीतमपि शत्रुं भीतो यदि, तर्हि पलायस्वेत्यधिक्षिपति इति गर्व इति चेत्, अस्तु वा गर्वः। तथापि असत्यभीतिकल्पनारूपचित्ताध्यवसायप्रकाशनद्वारेण शत्रुवध-क्रोधमेवपुष्णाति। किंच विमुखा प्रहाररूप-आत्मसंभावनारूप गर्वस्य असत्य-भीतिकल्पनोपबृंहणादेष भावकानां वैरस्याय न केवलं, स्वादाभावाय चेति, नास्मिन्नुदाहरणे गर्वस्यस्थायित्वम् उपपद्यते। र० सु०, पृ० १७०।

३. अत्र तावत् सीताविषया आत्मस्वीकारयोग्यत्वनिश्चयरूपा रामस्य मतिस्तु रतेरुत्पत्तिमात्रकारणमेव, तदनिश्चये रतेरनौचित्यात्। अत्र न्यायः। साधारणनिश्चयो मतिः। तस्याः स्थायित्वमिच्छामः इति चेत्। सा हि रावण-

क्योंकि उनका अपेक्षित परितोष संभव नहीं दिखाई पड़ता।[1]

शिंगभूपाल द्वारा कथित आपत्तियों के अतिरिक्त विचार करें तो एक आपत्ति और दिखाई देती है। वह यह कि धीरशान्त के साथ शान्त रस का या अन्य रसों के साथ अन्य प्रकार के चरित्रों का सम्बन्ध, जिनका विचार भोज ने किया है, नहीं जोड़ा जा सकता, क्योंकि यह चारों प्रकार के पात्र शृंगार रस के नायक माने गए हैं न कि सभी रसों के। उदाहरणतः, धीरशान्त नायक शान्त रस के उद्देश्य, मोक्ष के लिए प्रयत्नशील रहता हो, यह नहीं माना गया है, अपितु ब्राह्मण अथवा वैश्य जाति का शृंगार-नायक ही धीरशान्त कहा गया है। भोज का तात्पर्य, वस्तुतः यह प्रतीत होता है कि एक सद्गृहस्थ भी मोक्ष के लिए प्रयत्नशील हो सकता है; अतः मोक्ष भी शृंगार से ही सम्बन्ध रखता है। इसी-लिए उन्होंने मोक्षशृंगार नामक भेद भी प्रस्तुत किया है। किन्तु इस प्रकार भेदोपभेद प्रस्तुत करना खींच-तान के अतिरिक्त कुछ और नहीं जान पड़ता। यों भी मोक्षोपलब्धि के लिए शृंगार ही एक-मात्र साधन नहीं है। यह बात शान्त के अनेक स्थायी भावों के विचार के अन्तर्गत प्रकट की जा चुकी है। इसी प्रकार प्रेयस् रस का भोज ने धीरललित नायक से सम्बन्ध माना है। धीर-ललित नायक रति-शृंगार या काम-शृंगार से सम्बन्धित है, उसे प्रेयस् या वात्सल्य रस, जिसमें नारी-निरपेक्ष प्रीति स्वीकृत है, से जोड़ना उपयुक्त नहीं। धीरललित नायक उदयन के समान कोई शृंगार-नायक हो सकता है। किन्तु यहाँ कठिनाई यही है कि भोज ने प्रेयस् को रति तथा प्रीति दोनों का मूलाधार मानकर उसमें रति-भावना को सम्मिलित कर लिया है। जो हो, भोज के लिए यह एकीकरण महत्त्वपूर्ण हो सकता है, किन्तु इससे स्पष्टता और सूक्ष्म-विश्ले-षण को अवश्य ही आश्रय नहीं मिलता।

भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में वीर रस के साथ '"अत्र वीर औद्धत्य-स्वातन्त्र्यरसानाम् आनन्दप्रशम-पारवश्यरसैः"[2], "साध्वसविलास-अनुराग संगमरसैः"[3] तथा 'लावण्यविलासवर्णनीयरसयोश्च[4] या चत्वारश्च' रत्यमर्ष

विषय लक्षणासयादोषनिराकरणद्वारेण कार्यकरणा परांमुखीभोवलक्षण-लोकोत्तरत्वप्राप्तिव्यवसायरूप रामोत्साहं भावकास्वादयोग्यतया प्रोत्साह-यति। र० सु०, पृ० १७२।

१. अन्ये पोषासहिष्णुत्वान् नैव स्थायिपदोचितः। वही, पृ० १७०।

२. स० क०, पृ० ७१६।

३. वही, पृ० ७२२।

४. वही।

भोज द्वारा स्वीकृत अन्य पारवश्यादि रस

विषादजुगुप्सात्मानो 'रसः'',[1] ''रसस्तु निर्वेद एवैकः''[2] कहकर एक साथ कई नये रस प्रस्तुत किये । हो सकता है उल्लिखित रति, अमर्ष, विषाद, जुगुप्सा रसों के द्वारा वे शृंगार, रौद्र, करुण तथा बीभत्स की सूचना देना चाहते हों, किन्तु अन्य रसों की गणना तो सर्वथा नई सूझ है । इसी प्रकार उन्होंने बीस संचारी भावों से अधिक को रस के अन्तर्गत रखा है । यथा, **'रसास्तु रत्युत्कर्षधृत्युत्कण्ठावेगविस्मयमति वितर्क चिन्ता चपलताहासोत्साहस्तं भगद्गदोन्मादव्रीडावहित्थभयशंकाः विंशति'**[3], **भयोशोकविस्मयक्रोधहर्षैः अपि रसान्तरैः'**[4] या **'अत्र योषितिरोषाख्यरसान्तरतिरस्कारात्'**[5] एवं **रतावेव लज्जारोषरूपसांतरयोः प्रश्मो यथा'**[6] आदि पंक्तियों में लज्जा, रोष आदि को रस मान लिया है । भोज ने रस का विस्तार सात्विक भाव तक किया है और इस प्रकार उन्हें रसरूप में परिवर्तन में समर्थ माना है । किन्तु, इन सबको रस मानने में नवीनता प्रदर्शन की चेष्टा ही अधिक दिखाई देती है, सक्षम तर्क का प्रायः अभाव है ।

इन रसों को हम 'रस' शब्द के अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं, विशिष्ट अर्थों में नहीं । यदि रस को केवल चमत्कार-मात्र मान लिया जाय तो पारवश्य, स्वातन्त्र्य या विलासादि को स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा ये या तो अत्यन्त नगण्य हैं या किसी महत् दशा का बोध कराते हैं । उदाहरणतः, विलास को भरत के समान नायिका का अलंकार-मात्र कहेंगे और संगम रस को शृंगार—लौकिक रति—का ही पराकाष्ठापन्न रूप मानने से काम चल जायगा । इन सभी के स्थायी भावों का कोई पता नहीं चल सकेगा । स्वयं भोज ने इनके स्थायी भावों का उल्लेख नहीं किया है । वे निर्वेद को रस तो मानते हैं, परन्तु उसका स्थायी भी निर्वेद ही बताते हैं । स्थायी और रस दोनों एक ही नहीं हो सकते । इसी प्रकार अनुराग रस शृंगार रस से भिन्न नहीं है । साध्वस का वर्णन पहले भयानकादि प्रसंग में आ चुका है, वह त्रास का व्यक्त रूप है । शेष पारवश्यादि रस केवल अनुभाव हैं । उनकी गणना सम्भव न होने से ही उन्हें भरतादि ने अनुभावों के अन्तर्गत अलग-अलग नहीं गिनाया

१. स० क०, पृ० ७२३ ।
२. वही ।
३. वही, ७२४ ।
४. वही, पृ० ५७४ ।
५. वही, पृ० ५७५ ।
६. स० क०, पृ० ५७६ ।

है। इनमें से कई तो भाव-मात्र भी नहीं हैं, अपितु मृगय आदि के समान क्रियाएँ-मात्र हैं। इनमें से कई के पृथक् रूप से व्यभिचारी आदि का वर्णन सम्भव नहीं है। अतः रससूत्र के अनुसार इनकी निष्पत्ति नहीं दिखाई जा सकती। सारांश यह है कि भोज ने जिन अनेकानेक रसों का नाम लिया है वे क्षण-भर के लिए चौंकाने वाले अवश्य हैं, किन्तु जब तक 'रस' शब्द का व्यवहार बहुत ही व्यापक न बना दिया जाय, अर्थात् आस्वाद में योग देने वाले प्रत्येक अंश को रस न मान लिया जाय, तब तक इन सबको रस मानना उचित नहीं दिखाई देता। विभावादि को पृथक् रूप में हम रस क्यों नहीं मान सकते, इसका वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है।

कार्पण्य रस

भानुदत्त ने छठी तरंग के आरम्भ में ही **'आर्द्रताभिलाषश्रद्धस्पृहाणां स्थायीभावानाम् तत्र सत्वादिति चेन्न'**[1] कहकर वात्सल्य, लौल्य, भक्ति आदि रसों के साथ कार्पण्य नामक रस का भी उल्लेख किया है। इसका स्थायी भाव 'स्पृहा' बताया गया है। किन्तु जिस प्रकार लौल्य रस रस न होकर अनौचित्य के कारण हास्य रस मान लिया गया है, उसी प्रकार कार्पण्य को भी रस न कहकर हास्य आदि के विभाव के रूप में ही मान लेना चाहिए। किसी के दैन्य का वर्णन करके किसी के मन में कार्पण्य नहीं जगाया जा सकता। यदि दैन्य किसी अनुपयुक्त पात्र के प्रति प्रकट किया गया है, तो पाठकों में यह वर्णन हास्य का संचार करेगा। यदि वह दीनता प्रभु के प्रति प्रकट है तो भक्ति का रूप खड़ा होगा, और यदि वास्तविक दशा का चित्रण है तो करुण या दयावीर को आलम्बन तथा आश्रय-सम्बन्ध से उपस्थित करेगा। परन्तु स्वयं कार्पण्य को पृथक् रस मानना उचित नहीं होगा।

भरत ने व्रीडा को एक संचारी भाव-मात्र माना है। भोज ने लज्जा नाम से अलग एक रस का उल्लेख किया है (स०क०पृ० ५७६), यह भोज के विचारों का उल्लेख करते हुए हम दिखा आए हैं।

व्रीडनक रस

जैनियों के 'अनुयोगद्वार सूत्र' ग्रन्थ में व्रीडा संचारी के आधार पर ही व्रीडनक रस की कल्पना मिलती है। उक्त ग्रन्थ में भयानक रस के स्थान पर इस नवीन रस की कल्पना कर ली गई है।[2] इसका लक्षण निम्न प्रकार दिया गया है :

१. र० त०, पृ० १२५।

२. **णव कव्व रसा पण्णत्ता, तं जहा···**

वीरो सिंगारो अब्भुओ अ रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो।

विनयोपचारगुह्य गुरुदारमर्यादाव्यतिक्रमोत्पन्नः ।
व्रीडनको नाम रसो लज्जाशंकाकरणलिंगः ॥

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि व्रीडनक लज्जा का ही दूसरा नाम है। इसका क्षेत्र भयानक रस है। मलधारी हेमचन्द्र ने इस बात को स्पष्ट रूप से बता दिया है कि व्रीडनक को कुछ लोग भयानक रस मान लेते हैं, किन्तु सूत्रकार ने भयानक रौद्र के अन्तर्गत मानकर उसका पृथक् वर्णन नहीं किया है। अतएव व्रीडनक को पृथक् रूप से प्रस्तुत करने की आवश्यकता हुई।[1] हेमचन्द्र का यह तर्क जहाँ एक ओर व्रीडनक रस की पृथक्ता की पुष्टि करता जान पड़ता है वहीं उससे यह भी प्रतीत होता है कि यदि भयानक रस को पृथक् रस मान लिया जाय तो व्रीडनक को अलग मानने की आवश्यकता न रहेगी। हमारा विचार है कि व्रीडा भयानक से लेकर शृंगार तक व्याप्त है, अतएव उसे केवल भयानक में सीमित कर देना भी उचित न होगा। दूसरे, व्रीडा के विभाव आदि पर विचार करें तो वह या तो शृंगार रस का रूप उपस्थित करेंगे या भयानक का। व्रीडा स्वयं कोई निरपेक्ष रस नहीं हो सकता। उसमें स्थायी होने की भी शक्ति नहीं है। भरत ने इसी कारण उसे संचारियों में स्थान दिया है, जो उचित ही है।

डॉ० राघवन ने हरिपाल नामक किसी लेखक के अप्रकाशित ग्रन्थ 'संगीत-सुधाकर' के आधार पर तीन नये रसों—ब्राह्म, सम्भोग तथा विप्रलम्भ—का

ब्राह्म, प्रशान्त तथा माया रस

उल्लेख किया है।[2] हरिपाल द्वारा प्रस्तुत सम्भोग तथा विप्रलम्भ का विचार हम अन्यत्र कर चुके हैं। यहाँ ब्राह्म रस का विचार किया जायगा। इस रस को लेखक शान्त रस से पृथक् रस मानता है। वह शान्त का स्थायी भाव निर्वेद तथा ब्राह्म रस का स्थायी आनन्द मानते हैं।[3]

वेलणओ बीभच्छो हासो कलुणो पसन्तो अ। न० ऑफ र०, पृ० १४०।

१. व्रीडयति लज्जामुत्पादयति लज्जनीयवस्तुदर्शनादिप्रभवो मनोव्यलीकतादि-स्वरूपो व्रीडनकः। अस्य स्थाने भयजनकसंग्रामादिवस्तुदर्शनादिप्रभवः भयानको रसः पठ्यतेऽन्यत्र। स चेह रौद्ररसान्तरभावविवक्षणात् पृथङ् नोक्तः। वही, पृ० १४१।

२. शान्तो ब्रह्ममिथःपश्चाद् वात्सल्याख्यस्ततः परम्।
सम्भोगो विप्रलम्भः स्याद् रसास्तवेते त्रयोदशाः ॥ न० ऑफ र०, पृ० ५५।

३. निर्वेदश्च तथानन्दः प्रीतीरत्यरती तथा।
प्रत्येकं स्थायिनो भावाः क्रमात् प्रत्येकमीरिताः। वही।

शान्त तथा ब्राह्म में केवल नित्यता-अनित्यता का अन्तर है—शान्त अनित्य है और ब्राह्म नित्य। ब्राह्म सर्वप्रपंचोत्तीर्ण रस है।[1] वह शान्त का सम्बन्ध इहलोक तक मानते हैं, मोक्ष से उसका सम्बन्ध उन्हें स्वीकार नहीं है। लौकिक पदार्थ के प्रति औदासीन्य की सिद्धि के साथ मोक्ष-कामना ही ब्राह्म का मुख्य लक्षण प्रतीत होता है। किन्तु, हरिपाल के स्पष्ट विचारों के अभाव में शान्त का तिरस्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि शान्त की सिद्धि के लिए भी विद्वानों ने यही लक्षण बताए हैं और मोक्ष ही उसका भी उद्देश्य कहा गया है। अभिनवगुप्त ने जो उसे परमोत्कृष्ट मान लिया है, उसका भी यही कारण है कि वह मोक्ष की प्राप्ति का साधक है। तात्पर्य यह कि ब्राह्म नामक नये रस की कल्पना में कोई सार नहीं है।

ब्राह्म के समान ही 'अनुयोगद्वार सूत्र' द्वारा दिया गया 'प्रशान्त'[2] रस भी महत्वपूर्ण नहीं है। उसमें घटने वाले निर्दोषमन, अविकारितादि लक्षण शान्त रस के भी लक्षण होते हैं। बिना इन लक्षणों के शान्त की स्थिति ही सम्भव नहीं है। अतएव इस रस का उसीमें अन्तर्भाव मान लेना चाहिए। यह उससे पृथक् नहीं है।

भानुदत्त ने माया रस की नवीन कल्पना प्रवृत्ति तथा निवृत्ति को आधार मानकर की है। वे उसका स्थायी भाव मिथ्या-ज्ञान मानते हैं, सांसारिक भोगार्जक धर्माधर्म उसके विभाव हैं तथा अनुभाव हैं, पुत्र, कलत्र, विजय एवं साम्राज्यादि।[3] भानुदत्त ने इस रस की कल्पना शान्त रस की कल्पना के सन्तुलन में की है। यदि निवृत्तिपरायण शान्त रस को स्वीकार किया जा सकता है और ज्ञान, भक्ति, शम-दमादि उसके आधार माने जा सकते हैं, तो काम-क्रोधादि के आधार पर उत्पन्न मिथ्याज्ञान को शान्त के तत्त्व-ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान के सदृश मायारस का स्थायी क्यों न मान लिया जाय? यही एक-मात्र तर्क भानु-

१. ब्राह्मो नाम रसः सर्वप्रपंचोत्तीर्णरूपकः। नित्यः स्थिरो त एवायं पार्थक्येन प्रकीर्तितः। 'न० आव र०', पृ० ५६।

२. प्रशाम्यति क्रोधादिजनितौत्सुक्यरहितो भवत्यनेनेति प्रशान्त। परमगुरुवचःश्रवणादिहेतुसमुल्लसित उपशमप्रकर्षात्मा प्रशान्तो रस इत्यलं विस्तरेण। तथा, वही, पृ० ५८।

निर्दोषमनः समाधानसम्भवो यः प्रशान्तभावेन।
अविकारलक्षणः स रसः प्रशान्त इति ज्ञातव्यः॥ वही।

३. 'रसतरंगिणी', पृ० १६१।

दत्त की आधारभूमि ज्ञात होता है। भानुदत्त की विचित्रता यह भी है कि उन्होंने समस्त अन्य स्थायी भावों को इस रस का संचारी भाव मान लिया है, जो विद्युत् के समान आते और विलीन हो जाते हैं।[1] 'मन्दारमरन्द चम्पू' के लेखक ने भानुदत्त का ही अनुसरण करके प्रवृत्तिपरक मायारस तथा निवृत्तिपरक शान्त रस का वर्णन किया है। किन्तु हमें इस प्रकार नवीन रस के रूप में यह रस ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि माया रस के अन्तर्गत जिस किसी भी दशा का वर्णन किया जायगा, वह निश्चित रूप से पूर्वोक्त समस्त रसों में से किसी-न-किसी एक के क्षेत्र में जा पड़ेगा। माया प्रवृत्तिपरायण है और प्रवृत्ति सांसारिक विषय-वस्तु के प्रति होती है। इसका परिणाम ही काम-क्रोधादि रूपों में प्रकट होता है। अतः यह रस भी मिला-जुलाकर इन्हीं रसों की समष्टि है। परन्तु समष्टि के एकत्व की-सी स्थिति यहाँ नहीं मानी जा सकती, क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थितियों से भिन्न-भिन्न वस्तुओं के आधार पर ठगिनी माया भिन्न आकार-प्रकार प्रकट करेगी, जिससे उसी प्रकार के भाव का उद्बोधन होगा। इस प्रकार अन्ततः पृथकत्व की ही घोषणा करनी होगी। दूसरी बात यह है कि माया रस नाम स्वयं भ्रामक है, क्योंकि जो व्यक्ति यह समझेगा कि यह माया है, वह उस स्थिति के साथ चित्त-संवाद न कर सकेगा। सारांश यह है कि हर प्रकार से माया रस कोई पृथक् अस्तित्व रखने वाला रस स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में चिरंजीव[2] भट्टाचार्य के समान यह कहना कि रस नित्य, आनन्दस्वरूप तथा ब्रह्मस्वरूप होता है, जबकि मिथ्याज्ञान पर आधारित माया तुच्छ और विनाशशील होती है, अतएव रस नहीं कहला सकती, बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है; क्योंकि शृंगारादि सभी रस माया के ही नाना भेद हैं। अतएव केवल उपरिलिखित तर्क का ही सहारा लिया जा सकता है।

मराठी-लेखक कवि अनिल तथा श्री जावडेकर ने क्रमशः इन दो नवीन रसों का वर्णन किया है।[3] इन रसों की स्वीकृति भी संभव नहीं है। यह ठीक

१. रसतरंगिणी, पृ० १६१।

२. अत्रेदं चिन्त्यं—मायाया अनादित्वेन अजन्यत्वात् रसत्वासम्भवः। रसास्तु सर्वे जन्या एव। कथं वा कथयेत् मिथ्याज्ञानादिः मायायाः कारणमिति, शास्त्र विरुद्धत्वात्। वस्तुनस्तु आलंकारिकाणाम् मते रसो नित्यः आनन्द-रूपः। अतोऽस्य ब्रह्म स्वरूपत्वेन मायाया रसत्वासंभवः। माय हि तुच्छा बिनाशशालिनी ब्रह्मभिन्नैवेतिदिक्। 'काव्य विलास', से न० ऑफ र० में उद्धृत, पृ० १३६।

३. देशपांडे का लेख, आलोचना', वर्ष २ अंक ३।

प्रक्षोभ तथा क्रान्ति रस

है कि आज के युग में क्रान्ति की चेतना सर्वव्यापी होती जा रही है, किन्तु क्रान्ति हमारा सहजात भाव नहीं है। यह स्वभाव हो सकता है, किन्तु यह अर्जित-मात्र ही है, और स्वभाव तथा स्थायी भाव दोनों एक नहीं हैं। क्रान्ति से अधिक प्रभावशाली प्रक्षोभ ज्ञात होता है। किसी की नीचता, अपात्रता, असत्य, स्वार्थ, अन्याय आदि को देखकर सभी सज्जनों के मन में प्रक्षोभ उत्पन्न होता है। यह एक सहज व्यापार है। किन्तु इसे भी हम रसरूप में स्वीकार्य नहीं मानते। कारण यह है कि इसका अन्तर्भाव रौद्र रस में हो सकता है। रौद्र रस का सम्बन्ध भरतादि ने राक्षसी वृत्ति से माना है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु, इस आधार पर प्रक्षोभ को पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं। हमारे विचार से भरतादि ने रौद्र के वास्तविक दार्शनिक स्वरूप का ही व्याख्यान किया है, तथापि रौद्र का स्थायी क्रोध दो प्रकार से उत्पन्न हो सकता है। क्रोध तामसी वृत्ति के कारण शत्रुता आदि के आधार पर भी उत्पन्न होता है और किसी को कष्ट पहुँचाते हुए देखकर उस दुष्ट के प्रति भी होता है। दोनों में थोड़ा अन्तर है। एक स्वार्थ-सम्बन्ध पर आधारित है और दूसरा परोपकार-वृत्ति पर। एक का कारण तमस् है और दूसरे का कारण सत्व। अतः एक ही क्रोध के, सूक्ष्मता से विचार करने पर, दो भेद प्रतीत होते हैं : १. सत्वज क्रोध तथा २. तमस-जनित क्रोध। तात्पर्य यह है कि यदि किसी पर होते अन्याय को देखकर अथवा किसी की असत्य उक्ति को सुनकर क्रोध उत्पन्न होता है, जिसे आप प्रक्षोभ कहना चाहें, तो भी उसे रौद्र रस में ही रखेंगे। और यदि ऐसे दृश्य को देखकर हमारे मन में एक को दण्ड देने तथा दूसरे को बचाने की बात एक-साथ उत्पन्न होती है, तो उसे संचारी-भावावस्था-मात्र कहेंगे। अतः प्रक्षोभ रस को पृथक् रस मानने में कोई युक्ति काम नहीं देती। एक बात और है, प्रो० जोग[1] के समान प्रक्षोभ को हम वीर रस में ही अन्तर्भूत करने के पक्ष में भी नहीं है। वीर रस का स्थायी भाव उत्सार है जो प्रक्षोभ के रहते नहीं रह सकता। ध्यान देने पर प्रतीत होगा कि वीर रस की स्थिति क्षोभ की प्रबलता के कारण रौद्र में परिणत होती है। प्रो० जोग का कथन है कि प्रक्षोभ तथा वीर रस को इसलिए पृथक् नहीं मानना चाहिए कि वीर में हिंसा हो जाती है और प्रक्षोभ में ऐसा नहीं होता, क्योंकि वीर के दयावीरादि भेदों मे हिंसा नहीं होती। यही सही, किन्तु दयावीरादि में उत्साह और स्थिरता बनी रहती है, चंचलता तथा रोषादि नहीं रहते, जो प्रक्षोभ के आवश्यक अंग हैं। यदि प्रक्षोभ केवल विकलता के रूप में है, प्रतिकार

१. अ० का०, पृ० १२३-१२४।

करने की चिन्ता के रूप में है, तो उसे संचारीभाव कहना संगत प्रतीत होगा और यदि वही प्रबल होकर प्रतिकार करा बैठती है, तो उसे रौद्र के अन्तर्गत क्रोध का एक रूप मान लिया जायगा। वीर के साथ जिस उत्साह का अनिवार्य सम्बन्ध है, वह प्रक्षोभ की दशा में संभव नहीं है। प्रो० जोग ने जिन 'ऐंगर', 'एनौयैंस' 'फ्यूरी' तथा 'इरिटेशन' अवस्थाओं का वीर से सम्बन्ध बताया है, वह भी वीर से उतनी सम्बधित नहीं, जितनी कि रौद्र से हैं। अतः हर प्रकार से इसे रौद्र के अन्तर्गत मानना ही उपयुक्त होगा। प्रक्षोभ की व्यंजना असूया तथा अमर्ष द्वारा भी हो सकती है। अतएव इसे भी नवीन रसों में परिगणित नहीं किया जा सकता।

प्रसिद्ध विद्वान् श्री काका कालेलकर ने 'रसों का संस्कार' शीर्षक से एक लेख लिखकर एक नवीन 'प्रेम रस' की कल्पना की है और शृंगार को उसका आलम्बन-मात्र माना है। वे कहते हैं कि "सृष्टि की रचना ही कुछ ऐसी है कि काम-वृत्ति का आरम्भ अहं-प्रेम, अर्थात् वासना से होता है। लेकिन काम, अगर धर्म के पथ से चले, तो वह विशुद्ध प्रेम में परिणत हो जाता है। विशुद्ध प्रेम में आत्म-विलोपन, सेवा और आत्म-बलिदान की प्रधानता रहती है। काम विकार है, पर प्रेम को कोई विकार नहीं कहता, क्योंकि उसके पीछे हृदय-धर्म की उदात्तता रहती है। यहाँ रूढ़ि-धर्म या शास्त्र-धर्म को मैं धर्म नहीं कहता। मेरा मतलब है आत्मा के विभावानुसार प्रकट हुए हृदय-धर्म से।

प्रेम तथा विषाद रस

"शृंगार आरम्भ में भोग-प्रधान होता है, पर, हृदय-धर्म की रासायनिक क्रिया से यह भावना-प्रधान बन जाता है। यह रसायन और परिणति ही काव्य और कला का विषय हो सकती है। इसे हम 'प्रेम रस' कह सकते हैं।"[1]

काका साहब से पूर्व संस्कृत-विचारकों के मध्य भी इस विषय पर विचार उपस्थित किये गए थे। कवि कर्णपूर गोस्वामी[2] ने स्पष्टतः वात्सल्य, भक्ति

१. सा० शि०, पृ० ११२-११३।

२. अत्र चित्तद्रव : स्थायी। स चोभयनिष्ठः। आलम्बनमन्योन्यम्। उद्दीपन-मन्योन्यगुणपरिमलः अनुभावो विशिष्य निर्वचनाभावः। व्यभिचारी मत्यौत्सुक्यादिः। परोक्षः श्री कृष्णराधयोः, सामाजिकानां प्रत्यक्षः। प्रेम रसे सर्वे रसा अन्तर्भवन्तीत्यत्र महीयानेव प्रपञ्चः।···वयन्तु प्रेमाऽङ्गी, शृंगारोऽङ्गमिति विशेषः। तथा च—

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्न्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च तरङ्गा इव वारिधौ।। अ० कौ०, पृ० १४८–४६

आदि रसों को मानने के साथ-साथ प्रेम रस की भी स्थापना की है। काका साहब के समान गोस्वामी भी प्रेम को अंगी रस स्वीकार करते हैं और शृंगारादि को अंग रस के रूप में मानते हैं। उन्होंने कहा है कि प्रेम रस अखण्ड रस-सागर है, जिसमें अन्य सभी रस-भाव तरंग के सदृश उन्मज्जन या निमज्जन करते रहते हैं। उनका विचार है कि इस रस का स्थायी 'चित्तद्रव्य' है, जो उभयनिष्ठ (राधा-कृष्णनिष्ठ) है। दोनों एक-दूसरे के लिए आलम्बन हैं। अन्योन्य गुण ही उद्दीपन है। मति, औत्सुक्यादि व्यभिचारी भाव हैं और राधाकृष्ण-सम्बन्ध से वह परोक्ष तथा सामाजिक सम्बन्ध से प्रत्यक्ष माना जाता है। इसीमें समस्त रसों का अन्तर्भाव हो जाता है। शास्त्रीय विकास को देखने से इस प्रकार के अन्तर्भाव करने वाले प्रयत्नों की एक अलग ही कथा है। इसी प्रकार प्रेम रस की कल्पना भी है। इस रस की कल्पना भी व्यापक मानवीय एकता की भावना के आधार पर की गई है, किन्तु इस प्रकार यदि मानने लगेंगे तो हम केवल राग-द्वेषात्मक द्वैत स्थिति तक ही रह जायंगे और तब केवल दो ही रस सिद्ध होंगे। इसी प्रकार की कल्पना के कारण 'विषाद रस' की कल्पना का भी जन्म हुआ है। रस-विवेचन के समय हमें धार्मिक दृष्टि की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टि का सहारा अधिक लेना चाहिए। उस दृष्टि से देखें तो मानवीय एकता की स्थापना करने वाले साहित्य का भी आनन्द हमें विश्लेष-पद्धति से ही मिलता दिखाई देगा। हम जीवन की जटिल परिस्थितियों का अनुभव पृथक् और सूक्ष्म रूप से करते हैं, अतएव किसी अखण्ड रस का महत्त्व उतना नहीं है, जितना भिन्न व्यवहारों पर उठे हुए रसों का। हम भिन्न भावों के रूप में ही आस्वाद करते हैं, भले ही उसका परिणाम मानवीय एकता ही हो।

काका कालेलकर के अनुसार रसों का शुद्धीकरण वांछनीय है। शृंगार को वह काम पर आधृत होने के कारण गौण मानते हैं। प्रेमरस का सम्बन्ध उनके विचार से शुद्ध-बुद्ध आत्मा से है और उसका परिणाम होता है आत्म-बलिदान या तादात्म्य। भरत ने शृंगार 'उज्ज्वल वेषात्मक' कहा है। वे उसमें पारस्पर्य को ही प्रमुख मानते हैं, शृंगार में एकांगिता सह्य नहीं है। जिस प्रकार परलोक-साधना के साथ-साथ इहलोक-साधना भी किसी सीमा तक आवश्यक है, उसी प्रकार शृंगार का यह मिथुन-भाव, जो सृष्टि का आदि कारण है, भी तिरस्करणीय नहीं है। यह बात दूसरी है कि उसके नितान्त नग्न रूप का वासनात्मक चित्रण निन्दनीय हो। कामुकता उत्पन्न करने वाली रचना साहित्य नहीं, किन्तु शृंगार के उज्ज्वल रूप का चित्रण करने वाला साहित्य भी तिरस्कार्य नहीं है। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि उसी मधुर भाव पर आश्रित

वैष्णव कवियों के अनन्त छन्द सहृदय को किस प्रकार मोह लेते हैं और कालुष्य को पास भी नहीं फटकने देते। कालुष्य तो बहुत-कुछ सहृदय की अपनी मानसिक अवस्था पर भी निर्भर करता है। अतएव केवल काव्य पर इस प्रकार का दोषारोप बहुत संगत नहीं जान पड़ता। इस दृष्टि से शृंगार की आवश्यकता तो बनी ही रहती है, प्रेम भी बहुविध होकर भिन्न नामों से उपस्थित हुआ करता है। एक-मात्र 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना की स्पष्ट प्रतीति तो काव्य से नहीं होती, न उसका वह अनिवार्य लक्षण ही है। साहित्य में इस प्रकार का पूर्ण शुद्धिवाद प्रचलित करना कठिन है।

इसी प्रकार हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार लेखक श्री इलाचन्द्र जोशी ने अपनी ओर से एक नवीन 'विषाद' नामक रस की कल्पना को जन्म दिया है। और उसे सभी काव्यों में व्याप्त मूलतत्त्व के रूप में खोज निकाला है। संसार के समस्त उत्तम काव्यों में उन्हें विषाद-रस ही रमा हुआ दिखाई देता है। जोशी जी लिखते हैं : "विषाद रस अलंकार-शास्त्र के करुण रस से अभिव्यक्त नहीं हुआ है, बल्कि करुण रस ही इस महारस का एक अंग है। जब कवि प्रतिदिन के सुख-दुःख का तथा महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में मनुष्य को पग-पग पर प्राप्त होने वाली बाधाओं का चित्र अंकित करने बैठता है, तब उस चित्रांकन से जो रस उद्वेलित होता है वही विषाद रस है।[1]

जोशीजी की यह कल्पना हमारे विचार से भानुदत्त की माया रस की कल्पना अथवा काका कालेलकर महोदय की प्रेम-रस की कल्पना के समान है और उनकी उक्ति की तुलना पंतजी की निम्न अतिव्याप्तिमूलक पंक्तियों से सहज ही की जा सकती है कि :

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान ॥

किन्तु, जिस प्रकार पंतजी का कथन सभी कवियों के लिए सभी कालों में निश्चय ही सत्य नहीं है, उसी प्रकार जोशीजी की कल्पना भी सत्य नहीं है। करुण रस के अन्तर्गत केवल मृत्यु ही नहीं वर्णित होती, अपितु इष्ट-नाश के अन्तर्गत स्पष्टतः विभव-नाश, वध, कैद तथा दुःखानुभूति को भी स्वीकार किया गया है। अतः करुण को यदि इस व्यापक रूप में देखा जाय, तो विषाद

१. 'विश्लेषण', पृ० १४६।

रस की चिन्ता न करनी पड़ेगी। उसे रस मानते ही इसके स्थायी भाव का भी परिचय देना होगा, जो संभव नहीं जान पड़ता या कम-से-कम जोशीजी ने इसकी चर्चा नहीं ही की है। जहाँ तक विषाद की व्याप्ति का प्रश्न है, वह केवल करुण में ही नहीं, शान्त तथा भयानक में भी संचारी बनकर उपस्थित हो सकता है, किन्तु वहाँ विषाद की छाया इतनी गहरी नहीं होती कि वह इनके स्थायी भावों को ढक दे। इसी प्रकार 'महाभारत' आदि में चाहे विषाद की परिव्याप्ति कितनी ही क्यों न हो, फिर भी वह कर्त्तव्य-कर्म के प्रति जाग्रत उत्साह आदि को दबा नहीं सका है। परिणति की अवस्था में भी विषाद की रेखा के साथ-साथ कर्त्तव्य की उज्ज्वलता का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यह तो प्रधान रसों की संचारी दशाएं-मात्र हैं, अतः विषाद को अलग एक रस मानने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

इस प्रकार नवीन रसों की उद्‌भावना के आधारभूत सिद्धान्तों का रस-परिपाक की दृष्टि से विचार करते हुए हम शान्त, भक्ति तथा वात्सल्य को अष्टेतर रस मानते हैं, किन्तु शेष अनेकानेक नये नामों में शास्त्रीय दृष्टि से आकर्षण नहीं जान पड़ता। अतएव अब हम आचार्यों द्वारा स्वीकृत परिनिष्ठित शेष आठ रसों का वर्णन करते हुए उनके अन्तर्गत उपस्थित होने वाले कतिपय मुख्य प्रश्नों पर विचार करेंगे। विस्तृत परिचय के लिए पाठक किसी अन्य ग्रन्थ का सहारा ले सकते हैं।

परिनिष्ठित रस

शृंगार रस

स्वरूप-निरूपण

शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है। भरत ने इसे उज्ज्वलवेषात्मक, शुचि और दर्शनीय बताया है।[1] उत्तम प्रकृति के युवक-युवती की रति ही शृंगार का वर्ण्य विषय है। शृंगार शब्द की रचना 'शृंग' तथा 'आर' इन दो शब्दों के योग से हुई है। 'शृंग' का अर्थ है कामोद्रेक; और 'ऋ' धातु से व्यवस्थित 'आर' शब्द गत्यर्थक है। अतः कामोद्रेक की गति अथवा प्राप्ति को शृंगार का वर्ण्य विषय मानने का कारण इसके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। साहि-साहित्यदर्पणकार ने बताया है कि कामदेव के उद्‌भेद अर्थात् अंकुरित होने को शृंग कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस 'शृंगार' कहलाता है। पर-स्त्री तथा अनुराग-शून्या वेश्याओं के अतिरिक्त

१. ना० शा० चौ०, पृ० ७३।

अन्य नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के आलम्बन विभाव, चन्द्रमा चन्दन, भ्रमर आदि उद्दीपन विभाव, अनुरागपूर्ण भ्रकुटि-भंग तथा कटाक्ष अदि अनुभाव एवं उग्रता, मरण, आलस्य तथा जुगुप्सा के अतिरिक्त अन्य निर्वेदादि इसके संचारी भाव होते हैं। इसका स्थायी भाव रति है और देवता स्वयं भगवान् विष्णु हैं। वर्ण श्याम है।

मुख्यतः नायक-नायिका के सम्बन्धों की कल्पना करके उनका संयोग और वियोग अथवा सम्भोग तथा विप्रलम्भ नामक भेदों में विभाजन किया गया है। साहित्यिक क्षेत्र में इसी वर्णन के भेदोपभेदों का वर्णन किया जाता है। इन भेदों के अतिरिक्त चतुर्वर्ग के आधार पर भी इसका वर्गीकरण किया गया है, किन्तु उसका प्रचलन नहीं दीख पड़ता।

भेद-वर्णन

नायक-नायिका के परस्पर अनुकूल दर्शन, स्पर्शन तथा आलिंगनादि व्यवहार को संयोग कहते हैं। बहिरिन्द्रिय-संयोग ही संयोग के नाम से वर्ण्य है[1], किन्तु शृंगार के अन्तर्गत इसका तभी ग्रहण होता है जब यह अन्योन्य तथा अनुकूल रूप में उपस्थित किया जाता है। बलात्कार के समान अनुचित संयोग का वर्णन अथवा किसी एक की ओर से रति का अधिक अथवा न्यून प्रदर्शन संयोग शृंगार का उदाहरण न बनकर केवल शृंगार-रसाभास का प्रदर्शक बना रह जाता है।[2] इसके विपरीत पंचेन्द्रियों के सम्बन्धाभाव को वियोग-शृंगार कहते हैं।[3] पंचेन्द्रिय-सम्बन्धाभाव का अभिप्राय केवल समागम-अभाव नहीं है, अपितु उससे दर्शन आदि समागम विरहित स्थिति की भी सूचना मिलती है। अतएव विप्रलम्भ केवल समागम-अभाव की दशा नहीं है, बल्कि वह सम्मिलनाभाव की दशा है।

आरम्भकर्त्ता, प्रकाशन तथा स्तर-भेद के विचार से संयोग के कई भेदों

१. तत्र दर्शनस्पर्शनसंलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं सुखं परस्पर संयोगेनोत्पद्यमान आनन्दो वा संयोगः। संयोगो बहिरिन्द्रियसम्बन्धः।
र० त०, पृ० १२८।

२. यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वा शृंगारः। यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रतेर्वाधिक्ये न्यूनतायां व्यतिरेके वा परिपूर्तेरभावात् रसाभासत्वमिति। वही।

३. यूनोरन्योन्यं मुदितानां पंचेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽभीष्टाप्राप्तिर्वा विप्रलम्भः। र० त०, पृ० १३६।

का वर्णन किया गया है। यह भेद संयोग की व्यापक स्थितियों को देखते हुए मोटे तौर पर समझने के लिए ही स्वीकार किये जा सकते हैं, आत्यन्तिक नहीं माने जा सकते। वस्तुतः संयोग की अगणित अवस्थाओं के कारण इसके भेद भी अगणेय हैं। आरम्भकर्त्ता के विचार से इसके नायकारब्ध तथा नायिकारब्ध, प्रकाशन के विचार से प्रकाश और प्रच्छन्न अथवा स्पष्ट और गुप्त एवं स्तर-भेद के विचार से संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्नतर तथा समृद्धिमान नामक भेद किये गए हैं।

संयोग शृंगार के भेद

आरम्भकर्त्ता के विचार से किये गए पूर्वोक्त दो भेदों में हम उभयारब्ध एक और भेद जोड़ना चाहते हैं, जिसका उपयोग ऐसे स्थलों पर किया जा सकता है, जहाँ निम्न छन्द की भाँति आरम्भकर्त्ता का निश्चित संकेत न मिलता हो।

दोऊ जने दोऊ के अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छबि-सागर को छोर हैं।
'चिन्तामनि' केलि के कलानि के बिलासनि सों,
दोऊ जने दोउन के चित्तन के चोर हैं॥
दोऊ जने मन्द मुसकानि सुधा बरसत,
दोऊ जने छके मोद मद दुहूँ ओर हैं।
सीताजी के नैन रामचन्द्र के चकोर भये,
राम-नैन सीता-मुखचन्द्र के चकोर हैं॥

श्रीमदच्युताचार्य ने संयोग तथा वियोग शृंगार के स्वकीया तथा परकीया नायिका-सम्बन्ध से स्पष्ट तथा गुप्त नामक दो-दो भेद माने हैं। स्वकीया के प्रति अथवा उसके द्वारा किया गया प्रेम सभी की जानकारी की बात है, अतः वह स्पष्ट है, किन्तु परकीया से गुप्त प्रेम ही सम्भव हो सकता है या होता है, इस विचार से वह गुप्त कहलाता है। युवक-युवती के सम-विषम होने पर यह भी आठ प्रकार का हो जाता है।[1]

आचार्य केशव ने प्रियतम, प्रिया तथा अन्तरंग सखी की जानकारी तक सीमित रहने वाले शृंगार को प्रच्छन्न तथा जिसे सब अपने-अपने चित्त में जानते हैं उसे प्रकाश शृंगार की संज्ञा दी है।[2] वस्तुतः न तो स्वकीया-परकीया के आधार पर किया जाने वाला भेद ही उचित जान पड़ता है और न केशव-कृत भेद ही। परकीया-प्रेम भी सदैव छिपा नहीं रहता, अन्यथा ईर्ष्या-

१. सा० सा०, ४।६६।
२. र० प्रि०, पृ० ११।

मान के वर्णन की आवश्यकता ही न होती। इसी प्रकार प्रौढ़ा स्वकीया का प्रेम सभी पर प्रकट होता है, उसे छिपाव की आवश्यकता नहीं रहती, अतएव केशव-कृत भेद भी पूर्णतया स्थिर भेद के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के भेद-वर्णन का कोई विशेष महत्त्व नहीं जान पड़ता।

स्तर-भेद से शृंगार-भेद का उल्लेख शिंगभूपाल ने किया है। शारदातनय को भी ये भेद मान्य हैं।[1] शील-संकोच के कारण लज्जादि उपचारों से अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति संक्षिप्त, किसी त्रुटि के कारण संकोचसहित अपने भावों का प्रकाशन संकीर्ण, भय, त्रुटि अथवा संकोचविरहित भाव प्रकाशन सम्पन्नतर तथा सम्भोग की बार-बार इच्छा का प्रकाशन समृद्धिमान कहलाता है। इन भेदों को हम मुग्धा से प्रौढ़ा तक की परिवर्तित नाना अवस्थाओं के आधार पर भी स्वीकार कर सकते हैं और किंचित् भेद के साथ इन्हें संयोग के सोपान भी कह सकते हैं। हमारे विचार से इनके भी नायक-नायिका के सम्बन्ध से दो-दो भेद किये जा सकते हैं। फिर भी नायक-नायिका के विचार से किये जाने वाले इन भेदों को महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शृंगार के सभी भेदों के इस दृष्टि से भेद गिनाये जा सकते हैं, चाहे संयोग-वर्णन हो अथवा वियोग-वर्णन।

विप्रलम्भ के भेद

विप्रलम्भ शृंगार के भेदों के सम्बन्ध में भी पर्याप्त भिन्नता देखने में आती है। ध्वन्यालोककार यदि अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास, देश-काल, आश्रय तथा अवस्थादि भेद से विभक्त करते हैं और फिर भी उसे अपरिमेय कहते हैं[2] तो भानुदत्त देशान्तरगमन, गुरुजनाज्ञा, अभिलाष, ईर्ष्या, शाप, समय, देव, उपद्रव के विचार से आठ प्रकार का मानते हैं।[3] काव्यप्रकाशकार यदि अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप हेतुक मानते हैं[4] तो साहित्यदर्पणकार पूर्वानुराग, प्रवास, मान और करुणात्मक नामक भेद उपस्थित करते हैं।[5] वस्तुतः 'ध्वन्यालोक' तथा 'रसतरंगिणी' में कथित भेदों को कारण-मात्र मानकर प्रवास आदि मुख्य भेदों में अन्तर्भुक्त करने से काम चल जायगा, अतः इन नामों के फेर में पड़कर दृष्टिभ्रम से ग्रस्त होने की आवश्यकता नहीं। शास्त्रों में की

१. र० सु०, छं० २२१-२२५। भा० प्र०, पृ० ८७।
२. 'ध्वन्यालोक', पृ० २१७।
३. र० त०, पृ० १३६।
४. का० प्र०,।
५. सा० द०, हि०।

गई विस्तृत चर्चा से सामान्य पाठक की जानकारी को ध्यान में रखकर हम यहाँ इन भेदों के पृथक् वर्णन से बचकर केवल कुछ मुख्य बातों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। संकेत के लिए विप्रलम्भ के भेदों को निम्न रूप में प्रदर्शित किये देते हैं :

विप्रलम्भ शृंगार —

- १. पूर्वानुराग
  - (१) श्रवण : गुण–श्रवण
  - (२) दर्शन : प्रत्यक्ष, चित्र, स्वप्न, इन्द्रजाल।
- २. मान —
  - (१) प्रणयमान : नायकगत, नायिकागत, उभयगत।
  - (२) ईर्ष्या या सहेतुक मान : केवल नायिकागत ॥
    - लघु
    - गुरु
    - मध्यम
- ३. प्रवास —
  - (१) कार्यज–
    - यास्यत्प्रवास
    - गच्छत्प्रवास
    - गतप्रवास
  - (२) शाप–
    - ताद्रूप्य
    - वैरूप्य
  - (३) संभ्रम–
    - उत्पात, मानुष, दिव्य, बात, परचक्र आदि जन्य
- ४. करुण
- ५. विरह-हेतुक

इन भेदों का भी सूक्ष्म विचार करने में अनेक शास्त्रकार प्रवृत्त रहे हैं और नवीन उपभेदों की समयानुकूल स्थापना करते रहे हैं। उदाहरणतः, राय शिवदास[1] नामक हिन्दी लेखक ने 'सरस ग्रन्थ' के षष्ठ विलास में श्रवण के बोल-श्रवण, पत्र-श्रवण, नाद-श्रवण तथा धुनि-श्रवण नामक अतिरिक्त भेदों

---

१. विशेष परिचय के लिए देखिए हमारा लेख, 'सम्मेलन पत्रिका', भाग ४३ संख्या ४।

का उल्लेख किया है। चित्र-दर्शन को उन्होंने दर्पण, जल तथा मणि के विचार से तीन प्रकार का बताया है और साक्षात् दर्शन के पटान्तर-दर्शन तथा जवनिकान्तर दर्शन दो भेद किये हैं। इसी प्रकार कविकर्णपूर गोस्वामी ने 'अलंकारकौस्तुभ' में पूर्वानुराग की नीली, कुसुम्भ, मंजिष्ठा नामक तीन अवस्थाओं के साथ 'हारिद्र' नामक एक अन्य अवस्था का वर्णन किया है और उनके टीकाकार का कथन है कि इसे अन्य लोग 'श्यामाराग' कहते हैं। यह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और शोभित भी नहीं होता।[1] इस प्रकार के अनेक कारणों या सहायक उपादानों को ध्यान में रखकर इन भेदों की संख्या बढ़ाई जा सकती है। परन्तु यहाँ हम मान तथा प्रवास विप्रलम्भ के भेदों के सम्बन्ध में विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। विप्रलम्भ के इन दोनों भेदों के उपभेदों के सम्बन्ध में दी गई परिभाषाओं आदि से पर्याप्त मतभेद का पता चलता है, उदाहरणत: मान के लघु, मध्यम तथा गुरु नामक भेदों के केशव, मतिराम आदि के लक्षण नहीं मिलते। केशवदास के अनुसार अन्य नारी की ओर प्रियतम को देखते हुए पाकर अथवा सखी द्वारा नायक की परस्त्री में अनुरक्ति की सूचना पाकर किया जाने वाला मान लघु मान कहलाता है। प्रियतम को परस्त्री से बात करते देखकर किया गया मान मध्यम मान तथा गोत्रस्खलन, उत्स्वप्नायित अथवा भोगांक-दर्शनजन्य मान गुरु मान होगा।[2] किन्तु मतिराम प्रियतम के मुख से परस्त्री का नाम सुनकर किये जाने वाले मान को मध्यम मान ही मानते हैं।[3] 'रसमोदक हजारा'[4] तथा 'रसकलिका'[5] के लेखक भी मतिराम के लक्षण का ही अनुकरण करते हैं। कवि देव ने एक दोहे में ही इन तीनों को समेटते हुए कहा है कि देखते देखकर किया गया मान लघु, नाम-श्रवणजन्य मान मध्यम तथा भोगांक-दर्शनजन्य मान गुरु कहलाता है।[6] हमारा विचार है कि भेद का मूल आधार अपराध की गहनता तथा मान का स्थायित्व होना चाहिए। जितना ही गम्भीर अपराध होगा, उतना ही मान भी तीव्र और

१. 'अलंकार-कौस्तुभ', पृ० १६६।
२. र० प्रिया०, ६।१५।३।
३. 'रसराज', पृ० ६८।
४. र० मो० ह०, पृ० २८७।
५. 'रसकलिका', पृ० ७८।
६. पति पै रति तिय चिन्ह लखि, करे पिया गुरु मान।
मध्यम ताको नाम सुनि, दरसन ता लघु मान॥
'नरवस' में उद्धृत, पृ० ३७५।

स्थायी होगा। तीव्र मान कभी क्षण स्थायी बनकर नहीं रह सकता। इस दृष्टि से दृष्ट-सम्भोग अथवा भोगांक-दर्शन-जन्य मान अन्य प्रकार के मान से अधिक तीव्र तथा स्थायी होगा। प्रामाणोपलब्धि ही वहाँ मान का कारण है। इसी प्रकार श्रवण के दो भेद करते हुए हम कह सकते हैं कि यदि प्रियतमा अपने कानों से प्रियतम को परस्त्री से प्रेमालाप करते हुए सुन लेती है, तो उसका प्रभाव भी प्रत्यक्ष के समान ही तीव्र होगा और उस अवस्था में होने वाला मान भी गुरु मान होगा, किन्तु सखी अथवा दासी से इस प्रकार की सूचना पाकर किया जाने वाला मान इस प्रकार का न होगा। इस अवस्था में निश्चय और विश्वास को अनुमान का सहारा लेना पड़ेगा। इसी प्रकार गोत्रस्खलन तथा उत्स्वप्नायित कारणजनित मान भी साक्षात् दर्शन के समान प्रभावशाली न होगा, साथ ही एकदम अनिश्चित भी न होगा। अतएव इसे मध्यम मान कहा जा सकता है। शेष लघु कहलायगा।

मान-विप्रलम्भ के समान ही प्रवास-विप्रलम्भ के सम्बन्ध में भी एकाध बात विचारणीय है। दशरूपककार ने प्रवास की सम्भावना, तदर्थ उद्यतता तथा सम्पन्नता के विचार से क्रमशः यास्यत्प्रवास, गच्छत्प्रवास एवं गतप्रवास नामक भेद उपस्थित किये थे, जिन्हें भावी, भवन् और भूत अथवा भविष्यत्-वर्त्तमान एवं भूत प्रवास भी कहा जाता है। इनमें से वर्त्तमान तथा भूतप्रवास का भेद हिन्दी के एकाध लेखक ठीक से नहीं कर सके हैं। उदाहरणतः श्री हरिशंकर शर्मा ने मतिराम के निम्न छन्द को, जो कि वस्तुतः प्रवास की सम्पन्नता के कारण भूत प्रवास का उदाहरण है, वर्त्तमान प्रवास का उदाहरण मान लिया है।[1] वर्त्तमान शब्द से उन्होंने वर्त्तमान काल का अर्थ ग्रहण करके ही ऐसा किया है। वस्तुतः वर्त्तमान का अर्थ है, जो अभी हो ही रहा है, जिसमें जाने का उद्योग दिखाया गया है, न कि यह कि प्रवास हो चुका है। 'मतिराम' का छन्द इस प्रकार है :

> **धुरवानि की धावनि मानो अनंग की तुंग धुजा फहरान लगी।**
> **'मतिराम' समीर लगे लतिका बिरही बनिता बहरान लगी॥**
> **मन में अलि ह्वै छिति में अलकै चपला की छटा छहरान लगी।**
> **परदेस में पीउ सँदेस न पायो पयोद घटा घहरान लगी।**

इसी प्रकार बाबू गुलाबरायजी ने भी इन्हीं नामों के कारण वर्त्तमान प्रवास के निम्न उदाहरण को भविष्यत् प्रवास का उदाहरण मान लिया है।[2] किन्तु

१. र० र०, पृ० ४८६।
२. 'नवरस,' पृ० ३८६।

शिगभूपाल इसे स्पष्ट रूप से वर्त्तमान-प्रवास का ही उदाहरण मानते हैं।[3] कारण यह है कि यहाँ प्रिय जाने को उद्यत दिखाया गया है, भविष्यत् काल में जाने वाला नहीं है। श्लोक है :

यामीति प्रियपृष्टायाः प्रियायाः कण्ठवर्त्मनि ।
वचो जीवितयोरासीत् पुरो निस्सरणे रणः ॥

संयोग तथा विप्रलम्भ के अतिरिक्त शृंगार के दो प्रकार के भेद और किये गए हैं। एक का सम्बन्ध अभिनय से है और दूसरे का फलप्राप्ति से।

त्रिविध शृंगार

प्रथम के अन्तर्गत वाक्, नेपथ्य तथा क्रियात्मक नामक तीन भेद आते हैं और दूसरे के अन्तर्गत चतुर्वर्ग के आधार पर धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक चार भेद।

शारदातनय ने अभिनयाश्रित भेदों को समझाते हुए कहा है कि "भावगर्भ, रहस् संयुत, मधुर, नर्म, पेशल, सुवृत्त शृंगार वाचिक होता है। वस्त्र, अंग-राग, माला आदि से युक्त शरीर तथा यौवन-सम्पन्न अंगों से प्रकट होने वाला शृंगार आंगिक तथा दन्तच्छेद, सीत्कृत, चुम्बन, चूषण, भाव, हेला, केलि, शयनादि उपचार तथा संगीत आदि के सहारे प्रदर्शित शृंगार को क्रियात्मक कहते हैं।"[1] मातृगुप्त ने रसानुरूप आलाप, श्लोक, वाक्य या पद-पाठमयी नाना अलंकारयुक्त वाणी को वाचिक बताया है। कर्म, रूप, वय, जाति, देशकाल का अनुवर्त्तन करने वाली वस्तुओं या माला, आभूषण तथा वस्त्र आदि धारण करने से नेपथ्य अथवा आंगिक शृंगार की सृष्टि होती है और रूप, यौवन, लावण्य, स्थैर्य, धैर्य आदि गुणयुक्त शृंगार स्वाभाविक कहलाता है। यही नाट्य में प्रशंसनीय होता है।[3] इसे क्रियात्मक भी कह सकते हैं। ध्यान से देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका सम्बन्ध नाट्य-प्रसंगों से अधिक है और ये आन्तरिक दशाओं के बाह्य-प्रकाशन-मात्र हैं और अनुभावों के अन्तर्गत आते हैं।

इसी प्रकार धर्मपूर्वक व्रत-नियम आदि के पालन के कारण अत्यधिक प्रार्थित तथा हितकर वस्तु की अनेक प्रकार से प्राप्ति धर्म-काम है, जिसे शारदातनय भोग-शृंगार भी कहते हैं।[4] अर्थ-शृंगार दो रूपों में उपस्थित होता है।

१. र० सु०, श्लोक २१७ के उदाहरणस्वरूप।
२. भा० प्र०, पृ० ६४।
३. न० आ० र०, पृ० १५३।
४. ना० शा० चौ०, २०।७७, तथा भा० प्र०, पृ० २४६।

इसमें या तो अर्थ-प्राप्ति दिखाई जाती है अथवा अर्थ-प्राप्ति के विचार से स्त्री-सुखोपभोग दिखाया जाता है।[1] शारदातनय उसी काम को अर्थ-शृंगार की संज्ञा देते हैं जो अर्थावाप्ति के कारण विभव, भोग तथा आस्वाद-सुख उत्पन्न करता है।[2] इस प्रकार वह दोनों रूपों को एक में मिला देते हैं। काम-शृंगार के अन्तर्गत कन्या-विलोभन, रमण आदि का वर्णन आता है।[3] शारदातनय ने परदारा-प्रेम, द्यूत, सुरा-पान, मृगया आदि के भोग को इसीमें जोड़कर इसे 'ललित' की संज्ञा दी है। मोक्ष-कामना की तृप्ति ही मोक्ष-शृंगार है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र तथा दामोदरगुप्त का विचार है कि अपनी पत्नी के प्रति प्रदर्शित शृंगार धर्म-शृंगार का रूप धारण कर लेता है, उसका सम्बन्ध धार्मिक होता है। इसी प्रकार गणिका के साथ हमारा सम्बन्ध पापमय न कह-लाने के कारण धर्म का ही क्षीण रूप उपस्थित करता है। वस्तुतः काम-शृंगार की सिद्धि परस्त्री तथा कन्या के सम्बन्ध में होती है। वेश्याओं के साथ अर्थ-सम्बन्ध होने के कारण वह शृंगार हीन सिद्ध होता है। परकीया का प्रेम उप-लब्ध करना, उससे सम्बन्ध स्थापित करना और उसकी स्वीकृति पाना बड़ा ही कष्टसाध्य होने के कारण अन्त में आनन्ददायक होता है। दामोदरगुप्त, नील-कण्ठ दीक्षित तथा अन्य विचारक इस विषय में एकमत हैं।[4] इसलिए काम-शृंगार का वास्तविक महत्त्व इसे ही प्रदान किया जाना चाहिए।

भोज भी काम-शृंगार को रति-शृंगार का पर्याय मानते हैं। उन्होंने अहंकार-शृंगार तथा रति-शृंगार दोनों के ये चार भेद किये हैं। 'शृंगार-प्रकाश' में १८वें अध्याय से २१वें अध्याय तक भरत से मिलता-जुलता अहंकार-शृंगार का वर्णन किया गया है। मोक्ष-शृंगार के सम्बन्ध में उनका मत विशेष उल्लेखनीय है। मोक्ष विक्रियाहीन निर्विशेष अवस्था है। अतएव भोज मोक्ष-प्राप्ति के प्रयत्न में ही मोक्ष-शृंगार की सिद्धि मानते हैं। इसका सम्बन्ध उन्होंने ज्ञानी, कर्मयोगी, संन्यासी तथा मुमुक्षु-गृहस्थ से माना है। मुमुक्षु-गृहस्थ धीर-प्रशान्त नायक होता है और वैदिक रीति से विवाहित उसकी प्रिया नायिका कहलाती है। इसी प्रकार धर्म-काम-शृंगार का सम्बन्ध एकपत्नीव्रती सद्-गृहस्थ की उदात्त काम-भावना से है। अर्थ-काम व्यक्ति की भौतिक वैभव की प्राप्ति-इच्छा से सम्बन्धित है और उदयन-जैसे नायक में दिखाई देता है।

१. ना० शा० चौ०, २०।७८।

२. वही, २०।७९।

३. भा० प्र०, पृ० २५०।

४. राघवन, शोध-प्रबन्ध, पृ० ४८६-७।

स्वास्थ्य तथा वैभव की हानि न होने तक ही इसको ग्राह्य माना जाता है, इस कारण स्वप्रिया के अतिरिक्त अन्यत्र इसकी स्थिति चिन्तनीय ही कही जायगी। काम-शृंगार को भोज सभी स्त्रियों के प्रति मानते हैं। इसका नायक धीर-ललित होता है। धर्म-शृंगार मोक्ष-शृंगार का हल्का रूप है, जिसमें सद्गृहस्थ पत्नी सहित धर्म-कार्य में प्रवृत्त दिखाई देता है।[1]

आस्वाद की दृष्टि से देखें तो शृंगार के चतुर्वर्ग पर आश्रित उक्त भेद व्यापक अर्थ में काम और रति पर आधारित होते हुए भी भिन्न रस-भूमियों में जा पड़ते हैं अथवा संयोग-वियोग की अनेकानेक स्थितियों में सिमट जाते हैं। मोक्ष-शृंगार को शान्त और भक्ति-रस में समेटा जा सकता है और अन्य भेदों को शृंगार के उपभेद के रूप में अनेक परिस्थितियों के बीच स्वीकार किया जा सकता है।

डॉ० राघवन ने 'नम्बर ऑव रसाज़' में हरिपाल नामक लेखक के नाम से शृंगार, संभोग तथा विप्रलम्भ नामक तीन भेदों की चर्चा की है। यह लेखक

हरिपाल तथा रुद्रभट्ट-कथित शृंगार के भेद

संभोग तथा विप्रलम्भ नामक प्रचलित भेदों को 'असाम्प्रतम्' कहकर त्याग देता है। हरिपाल का विचार है कि शृंगार अनित्य है और किसी में दिखाई देता है और किसी में नहीं। पशु-पक्षी आदि में वह दिखाई ही नहीं देता। संभोग नित्य है और उसका प्राणि-मात्र से सम्बन्ध है। अतः वह शृंगार से भिन्न है। इसी प्रकार विप्रलम्भ दुखकारी और अप्रियावह है, किन्तु शृंगार उज्ज्वल तथा शुचि माना जाता है, जिसके कारण विप्रलम्भ को शृंगार का भेद नहीं माना जा सकता।[2] रुद्रभट्ट भी विप्रलम्भ की दुखात्मकता के समर्थक हैं।[3] इनके स्थायी भाव भी पृथक् रूप से मानने होंगे, जैसे शृंगार का स्थायी भाव है आह्लाद, संयोग का रति तथा विप्रलम्भ का अरति।[4]

विचार करने से पता चलेगा कि हरिपाल संयोग को साधारण रूप में सर्व-जन्तु-सम्बन्धी भोग या विषय-भोग मानते हैं। हमारे यहाँ शास्त्रों में पशु-पक्षी-सम्बन्धी इस स्थिति को रसाभास के अन्तर्गत रखा गया है। इसी प्रकार विप्रलम्भ दुःखकारक भले ही हो उसका स्थायी भाव अरति नहीं माना जा सकता, क्योंकि सौ तरह के कष्ट उठाने पर भी प्रेमी का ध्यान अपने प्रिय की ओर ही लगा

१. राघवन, शोध-प्रबन्ध पृ० ४८५-७।
. न० ऑ० र०, पृ० १४४-५।
३. वही, पृ० १४६।
४. वही, पृ० १४६।

रहता है। उसके प्रति प्रेम, आसक्ति, विश्वास आदि का अभाव नहीं होता, बल्कि इसके विपरीत यह सब अधिकाधिक बढ़ते ही हैं। इसी कारण आचार्यों ने विप्रलम्भ को संयोग के लिए आवश्यक बताया है। रति ही उसका मूल कारण है, जिसके परिणामस्वरूप उसके अन्तर्गत मरण तक की दशा ग्रहण की जाती है। ऐसी स्थिति में हरिपाल द्वारा दिये गए तीनों भेदों का कोई महत्त्व नहीं है। विप्रलम्भ को न तो हरिपाल के समान 'मलिन' ही कहा जा सकता है और न 'अप्रियावह' ही। यदि हरिपाल मनुष्य तथा पशु-पक्षी-भेद से शृंगार तथा संभोग के नाम से दो भेद करते हैं, तो उसी आधार पर उन्हें विप्रलम्भ की भी दो स्थितियाँ स्वीकार करनी चाहिएं। हरिपाल ने ऐसा नहीं किया। इसके अतिरिक्त विप्रलम्भ का स्थायी भाव 'अरति' मानें तो करुणा से उसका भेद किस आधार पर किया जा सकेगा? अभिप्राय यह है कि हरिपाल के इस वर्गीकरण में कई प्रकार की वैचारिक भ्रान्तियाँ है, अतएव इस मत को मान्य नहीं ठहराया जा सकता।

काम-दशाएँ

शृंगार के भेद-वर्णन के अतिरिक्त पूर्वानुराग के अन्तर्गत आने वाली काम-दशाओं के सम्बन्ध में भी एकाध बात विचारणीय है। हम यहाँ केवल उन्हींका संक्षिप्त रूप में विचार करेंगे।[1]

कुछ विचारकों ने अभिलाष, चिन्तन, अनुस्मृति, गुण-कीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण नामक दश अवस्थाओं के पूर्व इच्छा तथा उत्कण्ठा को जोड़ देना उचित समझा है और कुछ ने मरण को अप्रदर्शनीय मानकर उसके स्थान पर मूर्च्छा को रखना पसन्द किया है। इसके अतिरिक्त कुछ विचारकों ने इन नामों के स्थान पर चक्षुप्रीति, मनःसंग, स्मरण, निद्राभंग, तनुता, व्यावृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण नाम रखकर नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण'[2] 'दशरूपक'[3] 'साहित्यदर्पण'[4] तथा 'प्रतापरुद्रीय'[5] एवं 'सरस्वतीकण्ठाभरण'[6] में इन नामों का उल्लेख मिलता है

१. विशेष विस्तार के लिए देखिए हमारा लेख 'विष्णुधर्मोत्तरपुराणगत रस-चर्चा,' 'अजन्ता' मासिक, अप्रैल १९५३।

२. वि० ध० पु०, तृ० खण्ड, अध्याय ३१।

३. 'दशरूपक', पृ० १७१।

४. सा० द०, काणे, पृ० ३४।

५. प्र० रु०, पृ० १९४।

६. स० क०, पृ० ५६६।

और कहीं-कहीं वर्णन भी किया गया है। 'प्रतापरुद्रीय' में ये दशाएँ बारह कर दी गई हैं। उसमें स्मरण के स्थान पर संकल्प को रखकर प्रताप तथा संज्वर नामक दो अन्य अवस्थाएँ बढ़ा दी गई हैं।

इच्छा तथा उत्कण्ठा के विषय में शारदातनय का विचार है कि नेत्र का सुन्दर वस्तु के प्रति आकृष्ट होना तथा मन की निश्चलता का नाम इच्छा है। जहाँ समस्त इन्द्रियाँ सुख-साधन की प्राप्ति की इच्छा का संकल्प प्रदर्शित हों, वहाँ उत्कण्ठा होती है। इसके अन्तर्गत अन्तःसंयोग-संकल्प, प्रेमी के मार्ग का निरन्तर अवलोकन अथवा प्रतीक्षा, अंगग्लानि, मनोरक्ति, मनोरथ-चिन्तन, जानु मोड़कर हाथों पर कपोल रखना, प्रसन्नवदन, स्वेद, उष्ण निश्वास, गद्गद् वाणी आदि अनुभाव होते हैं। इच्छा मन का आकर्षण-मात्र है, उत्कण्ठा आकर्षण के साथ संकल्प के योग की अवस्था है। अभिलाषा संकल्पेच्छा का प्रयत्न-रूप है।[1] निश्चय ही इन्हें क्रमिक अवस्थाएँ मानकर थोड़े-थोड़े अन्तर के कारण स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। इसी प्रकार मूर्च्छा को भी स्वीकार किया जा सकता है। यह एक सन्देहात्मक अवस्था है और इसीलिए मर्मभेदक भी है। उसका अभिनय भी मरण से सुकर है। 'प्रतापरुद्रीय' में वर्णित संकल्प नामक दशा उत्कण्ठा के अन्तर्गत ग्रहण की जायगी और प्रलाप तथा संज्वर प्रसिद्ध विलाप तथा व्याधि के नामान्तर हैं। इनके अतिरिक्त दशाओं को पुरानी मान्य दशाओं का केवल नामान्तर मानना चाहिए। परस्पर तुलना करने से यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जायगी।

चक्षुप्रीति, भरत के अभिलाष से भिन्न नहीं है। भरत ने बताया कि इस अवस्था में प्रेमी अपने प्रिय के दर्शनपथ में आने का प्रयत्न करता है, कभी उस स्थान पर जाता है, जिस स्थान से प्रेम का सम्बन्ध होता है। कभी वहाँ से होकर निकलता है और अपने प्रेम को इस रूप में व्यक्त करने का प्रयत्न करता है।[2] 'रत्नापण' के लेखक ने चित्र तथा स्वप्नादि-दर्शन को अभिलाष के अन्तर्गत माना है।[3] भरत के वाक्यांश **'तिष्ठति च दर्शनपथे'** से इसी चक्षुप्रीति का संकेत मिलता है। इसी प्रकार मनःप्रीति अथवा संगेच्छा चिन्ता का दूसरा नाम प्रतीत होता है। भरत के अनुसार चिन्ता का लक्षण है यह विचारना कि किस प्रकार प्रिय मेरा हो जाय अथवा दूती से अपने प्रिय के सम्बन्ध में अथवा अपनी इच्छा

१. भा० प्र०, पृ० ८८।

२. ना० शा० चौ०, २४।१६४।

३. प्र० रु०, पृ० १६५।

के सम्बन्ध में निवेदन करना।[1] हम समझते हैं संगेच्छा का रूप यही है। व्यावृत्ति, भरत के अनुस्मृति लक्षण के अन्तर्गत आती है। भरत ने उस दशा को अनुस्मृति कहा है जिसमें कोई व्यक्ति बार-बार निःश्वास लेता हुआ, प्रेमी के सम्बन्ध में पुनः-पुनः चिन्तन करता हुआ अन्य कार्यों की ओर से विमुख हो जाता है। भरत द्वारा कथित 'प्रद्वेषस्त्वन्यकार्याणां' लक्षण व्यावृत्ति का स्वरूप अंकित करता है।[2] वि० ध० में आयी हुई अर्द्ध-पंक्ति 'व्यावृत्तिविषयेभ्यस्तु' और अनुस्मृति के इस लक्षण में कोई अन्तर नहीं। लज्जाप्रणाश, उन्माद की एक अन्तर्दशा-मात्र है। भरत द्वारा दिये गए उन्माद के लक्षण[3] इस पर पूर्णतया घटित होते हैं। लज्जा छूटने पर भी अनिमिष देखना, दीर्घ निःश्वास लेना, ध्यान-मग्नता, विहार-काल में रुदन आदि की संभावना की जा सकती है। इसी प्रकार तनुता को व्याधि कहना अनुचित न होगा। शरीर का क्षीण होना एक प्रकार की व्याधि है। निद्राभंग को व्याधि में अन्तर्भूत मानना चाहिए। तात्पर्य यह कि मूर्च्छा के अतिरिक्त थोड़े-बहुत रूप में यह सभी दशाएं भरत-कथित दशाओं में सिमट आती हैं। किन्तु भरत द्वारा कथित दशाओं में से कई का अन्तर्भाव इनमें नहीं होता। पुराण में उद्वेग, विलाप या प्रलाप तथा जड़ता का कहीं नाम भी नहीं लिया गया है। तनुता तथा निद्राभंग दोनों मिलकर व्याधि के व्यापक रूप को उपस्थित नहीं करतीं। इस प्रकार मूर्च्छा, इच्छा तथा उत्कण्ठा को लेकर ये दशाएँ हमारे विचार से तेरह तक पहुँचती हैं। विद्वानों ने इनके वर्णन द्वारा मानव-मन को पढ़ने का बड़ा अनूठा काम किया है। विरह-विच्छेद के कारण होने वाली मनःदशाओं तथा शारीरिक स्थितियों का उन्होंने इस रूप में अच्छा वर्णन किया है। शारीरिक दशाओं का वर्णन करते हुए उनका ध्यान मुख्यतः विरही की मानसिक दशा पर रहा है। उन्होंने इन्हें मनःविकृति के क्रम में उपस्थित करने की चेष्टा की है, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है।

भोजराज का शृंगार-सम्बन्धी दृष्टिकोण

शृंगार रस के विवेचन में सबसे अधिक नवीनता से काम लिया है भोजराज ने। उनकी दृष्टि सबसे पृथक् मार्ग का अनुसन्धान करने में लगी और उन्होंने समग्र जीवन के मूल प्रेरक तत्त्व को खोजकर हमारे चरित्र, हमारी प्रवृत्तियों और हमारे आनन्द के रहस्य को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया। अतएव उनका मत पृथकतया उल्लेखनीय है।

३. ना० शा० चौ०, २४।१६५।

४. ना० शा० चौ०, २४। १६७।

५. वही, २४।१७६।

भोज ने मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों के मूल में अहंकार अथवा अभिमान को निहित माना और उसीसे समस्त सांसारिक प्रपंच का विकास सिद्ध किया। उन्होंने श्रुति के वाक्य "**कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्।**" अथवा "**सोऽकामयत् बहुस्याम् प्रजायेय**" अथवा बृहदारण्यक उपनिषद् की "**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**" पंक्ति का सहारा पाकर तथा सांख्य-दर्शन से प्रभावित होकर अहंकार और शृंगार को पर्याय के रूप में उपस्थित कर दिया और शृंगार को ही एक-मात्र रस माना। उनका कथन है कि यदि कवि शृंगारी होगा तो सारा जगत् रसमय हो जायगा, उसके प्रभाव से न केवल उसकी सृष्टि रसमय होगी, अपितु उसका पाठक अथवा श्रोता भी रसमय हो उठेगा, किन्तु यदि कवि अशृंगारी हुआ तो सब-कुछ नीरस हो जायगा।[1] उनका विचार था कि अहंकार शब्द आत्म-प्रेम, आत्म-विश्वास और आत्मानुराग का द्योतक है, साधारण अर्थ में प्रयुक्त गर्व या मद के अर्थ में उसका प्रयोग नहीं हुआ है। यही मनुष्य में पूर्ण चरित्र का निर्माणकर्त्ता और उसका उद्घाटक भी है। आत्मानुराग ही विविध रूपों में प्रकट होता है और उसीके कारण हमें दुःख भी मनोनुकूल होने पर सुखद प्रतीत होता है, क्योंकि उस समय हमें आत्मगत सुखद अभिमान की प्रतीति हुआ करती है।[2] यह आत्मस्थित अहंकार नामक गुण-विशेष, जिसे शृंगार भी कहा जाता है, प्राणी की आत्मा का प्रकाशक है और इसी आत्मशक्ति से पात्र, अभिनेता, स्वयं कवि और रसिक सभी रस का आस्वाद करते हैं।[3] आत्म-शक्ति के आस्वाद को उदाहरण से समझाएँ तो कह सकते हैं कि इसकी स्थिति ऐसी है, जैसे किसी स्त्री को देखकर कोई व्यक्ति प्रसन्नता से विभोर हो उठे और अपने-आपको कृतकृत्य माने और यह समझे कि वह उस सुन्दरी का स्नेहभाजन है, क्योंकि इसने उसकी ओर देखा है, वैसे ही किसी काव्य आदि को पढ़कर हम अपने अन्दर स्थित अहंकार का अनुभव करके

१. **शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।**
स एव चेदशृंगारी नीरसं सर्वमेव तत्॥ ५।३। स० क०। 'ध्वन्यालोक' [३।४३ (वृत्ति) तथा 'अग्निपुराण' ३३६।८ में भी यही भाव व्यक्त किया गया है।

२. **मनोनुकूलेषु दुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानः रसः।** रा०, शोध प्रबन्ध, पृ० ४६६।

३. **आत्मस्थितं गुणविशेषमहंकृतस्य, शृंगारमाहुरिह जीवितमात्मयोनेः।**
तस्यात्मशक्ति रसनीयतया रसत्वं, युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः॥
स० पृ०, श्रीरंगम् सं०, १।३।

मग्न हो उठते हैं।[1] यही रस कहलाता है। इसे शृंगार कहने का कारण यह है कि यह मनुष्य को सुख की पराकाष्ठा तक पहुँचाता है, उसे परिपूर्ण बनाता है। यही एक-मात्र रस है, जो सबके मूल में विद्यमान है और यही आरम्भिक अवस्था से मध्यमावस्था को पार करता हुआ पराकोटि को प्राप्त होता है। शास्त्रों में कथित नवरस तो इसकी मध्यमावस्था-मात्र हैं। इनका रस नाम औपचारिक या औपाधिक मात्र है, अन्यथा ये भी हैं भाव ही। जिन्हें आचार्यों ने स्थायी भाव कहा है। और जिनसे रस की निष्पत्ति सम्भव मानी है, उन्हें भोज के मतानुसार स्थायी कहकर महत्त्व देना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जैसा रस-सामग्री प्रकरण में कहा जा चुका है, भोज अनेक नये स्थायी तो मानते ही हैं, संचारी तथा सात्विकों तक में स्थायी बनने की सामर्थ्य स्वीकार करते हैं। अतएव इन स्थायी भावों से नहीं, अपितु शृंगार नामक भोज-कथित रस से इनकी उत्पत्ति माननी चाहिए। इसीलिए भोज ने कहा है "रसाद् भावाः एकोनपंचाशत्।" वस्तुतः इनकी दशा तो अग्नि से उत्पन्न ज्वालमाल की भाँति है, जो अग्नि से ही उत्पन्न होकर उसीमें समा जाती हैं, और जो अग्नि को चारों ओर से घेरकर उसे प्रकाशित करती हैं। उसी प्रकार शृंगार से भावों की उत्पत्ति होती है, उसी में ये समाते भी हैं और अपने प्रसार से उसी शृंगार को अधिकाधिक प्रकाशित भी करते हैं।[2] भोज ने इस सहयोग को समझाने के लिए एक अन्य उपमा का सहारा लिया है। जिस प्रकार राजा का सहयोगी सामन्तवर्ग उसके अधीन रहकर भी उसे चारों ओर से परिरक्षित रखता और उसके प्रभाव को बढ़ाता हुआ भी वह उसीके अधीन रहता है, उसी प्रकार शृंगार रस और भावों का भी सम्बन्ध समझा जा सकता है।[3] इनकी सारी शक्ति अहंकार-रूप रस के प्रकाशन में ही व्यय हो जाती है, इसलिए ये रस नहीं भाव ही कहलाने योग्य रह जाते हैं। यह भावना-दशा से ऊपर नहीं उठ पाते, जबकि रस भावनातीत अनुभूति है; और यदि इन्हें भी रस कहना ही पसन्द है तो सभी

१. अहो अहो नमो मह्यम् यदहं वीक्षितोऽनया।
मुग्धया त्रस्तसारंगतरलायतनेत्रया॥ रा० शो० प्र०, पृ० ४६४।

२. रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि, भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति।
शृंगारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः, सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति॥
शृं० प्र०, १।६।

३. प्रकृतिजमभिमानसंज्ञं सममनुभावविभाववर्गः।
स्वमवसरमुपेयिवानुपास्ते नृपतिमिवाधिकृतेषुनीतिवर्गः॥
रा०, शृं० प्र०, पृ० ४७१।

४६ भावों को कहना चाहिए, क्योंकि भोज के अनुसार सभी में आनन्ददान की शक्ति है।[1] यों काव्य के चरम लक्ष्य की सिद्धि इनसे नहीं होती, क्योंकि काव्य का चरम लक्ष्य साधारण आनन्ददान नहीं है, अपितु आत्माभिमान या अहंकार को जगाकर आत्मलाभ-रूप आनन्द ही उसका लक्ष्य है। इसीलिए भोज ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अहंकार अनुप्रवेश के द्वारा रति आदि की प्रकर्षावस्था का आस्वाद किया जाता है। इस आस्वाद को केवल उपचार से रस कह सकते हैं।[2] इन औपचारिक रसों (हास्य, वीरादि) की भी भावरूप, प्रकृष्ट तथा आभास नामक तीन अवस्थाएँ बताई जा सकती हैं।[3] इन औपचारिक रसों के अन्तर्गत आने वाला शृंगार भोज के अहंकार-रूप शृंगार से भिन्न है, जिसे भोज रतिप्रकर्षात्मक कहते हैं और अहंकार-शृंगार को पारमार्थिक मानते हैं।[4] उनका स्पष्ट विचार है कि यदि रतिप्रकर्षात्मक अवस्था को रस कहा जा सकता है तो बेचारे हर्षादि का ऐसा कौन-सा अपराध है कि उन्हें रस न कहा जाय।[5]

इस प्रकार अपने सिद्धान्त को उपस्थित करते हुए भोज ने रस की तीन कोटियों की स्थापना की है। इनमें सबसे पहली अवस्था को वह पूर्वकोटि कहते हैं। यही रूढ़ाहंकारता भी कही जाती है। इस अवस्था में मानव-मन

१. ते तु भाव्यमानत्वाद् भावा एव न रसाः। यावत्संभवं हि भावनया भाव्यमानो भाव एवोच्यते, भावनापथमतीतस्तु रसः। मनोऽनुकूलेषुदुःखादिषु आत्मनः सुखाभिमानो रसः। स तु पारम्र्येण सुखहतुनत्वाद् रत्यादिभूमसु उपचारेण व्यवह्रियते। अतो न रत्यादीनां रसत्वम्, अपितु भावनाविषकत्वाद् भावत्वमेव। वही, पृ० ५१७। तथा
"आभावनोदयमनन्यधिया जनेन, यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्त्तमानः, साहंकृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ॥"
वही, पृ० ५२०।

२. रत्यादीनामेकोनपञ्चाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता। वही, पृ० ४५०।

३. स शृंगारः, सोऽभिमानः, स रसः। तत एते रत्यादयो जायन्ते। ...तदुपाधिश्चायमुपजायमानो रसः त्रिधाविख्यायते प्रकृष्टो, भावरूपः, आभासश्च।
वही पृ० ४७५।

४. वही, पृ० ४८२।

५. रत्यादयो यदि रसाः स्युरतिप्रकर्षे।
हर्षादिभिः किमपराद्धमतद्विभिन्नैः। वही, पृ० ४८४।

में अहंकार की अवस्थिति-मात्र को स्वीकार किया गया है। दूसरी स्थिति है ४६ भावों की परकर्षता की, जिसे भोज मध्यमावस्था भी कहते हैं। इस अवस्था में भाव प्रकर्ष प्राप्त करके भी विषय-संसर्ग के कारण भावना-दशा तक रह जाते हैं। अतएव विषयानुकूल उन्हें भिन्न-भिन्न नाम दिये जा सकते हैं और उनकी सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं। भावनातीत रस का कोई नाम नहीं दिया जा सकता। इसीलिए वह अलौकिक कहलाता है। वह मानवात्मा का अंश होता है। उसीके द्वारा उसका आस्वादन भी होता है। अतएव विषय-संसर्गजनित प्रकर्षदशा को उससे पूर्व की और मूल दशा से बाद की देखकर मध्यमावस्था तथा व्यावहारिकता के कारण उसे व्यवहार-दशा कहा जाता है। इसके पश्चात् तीसरी कोटि ही अलौकिक रस की कोटि है। यही अन्तिम है और इसीलिए उसे पराकोटि कहते हैं। उत्तराकोटि भी इसीका नाम है। इसीके कारण अहंकार-शृंगार कहलाता है। यहाँ अहंकार प्रेमन् में बदल जाता हैं।[1] सभी कुछ आत्माभिमान और आत्म-लाभ की दृष्टि से मुखकर हो जाने से प्रेम का रूप उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार अहंकार की मूल स्थिति से चलकर भाव पुनः उसीमें समाहित हो जाते हैं और रस कहलाते हैं। भोज के द्वारा 'प्रेमन्' शब्द के प्रयोग से ऐसा संकेत मिलता है कि सम्भवतः उन्होंने दण्डी के श्लोक से[2] प्रभावित होकर ही अहंकार-सिद्धान्त तथा प्रेमन् में उसके पर्यवसान का नाम लिया है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि भोज से प्रभावित होकर 'अलंकारकौस्तुभ' के लेखक कवि कर्णपूर गोस्वामी ने प्रेम रस की स्थापना का प्रयत्न किया है।[3]

भोज के इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने शृंगार को अन्य शास्त्रकारों द्वारा कथित शृंगार के अर्थ में नायक-नायिका-सम्बन्ध वाला शृंगार नहीं माना है, अपितु मानव-मन के मूल रहस्य को अहंकार, अभिमान या शृंगार के नाम से पुकारा है और एक व्यापक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के

१. एतेन रूढाहंकारता रसस्य पूर्वा कोटिः। रत्यादीनामेकान्नपञ्चाशतोऽपि विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यवदेशार्हपता रसस्यैव मध्यमावस्था। प्रेयः प्रियतराख्यानमिति उपलक्षणेन यथा रतेः प्रेमरूपेण परिणतिः तथा भावान्तराणामपि परम परिपाके प्रेमरूपेण परिवर्तो रसैकायनमिति रसस्य परमाकाष्ठा इति प्रतिष्ठितं भवति। वही, पृ० ४६३।

२. प्रेयः प्रियतराख्यानम् रसवद् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम्॥ 'काव्यादर्श', २।२७५।

३. अलं० कौ०, किरण ५, श्लोक ११, पृ० १४८ (वरेन्द्र सं०)।

अग्निपुराण और भोजराज

साथ-ही-साथ मानव-मन और चरित्र को उद्घाटित किया है। इस प्रकार उन्होंने रस को एक ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। जैसा कि डॉ० राघवन ने[1] कहा है, सम्भवतः भोज का प्रभाव 'अग्निपुराण' पर पड़ा होगा, जिसके कारण उसमें अहंकार-सिद्धान्त का प्रतिपादन उपलब्ध होता है। 'अग्निपुराण' में वेदान्त तथा सांख्य दोनों दर्शनों का सम्मिश्रण-सा कर दिया गया है। वेदान्त में अक्षर, परमब्रह्म, सनातन, अज तथा विभु को चैतन्य कहा गया है और आनन्द उसका सहजात बताया जाता है। यही आनन्द अभिव्यक्ति पाकर चैतन्य-चमत्कार अथवा रस कहलाता है। इस चमत्कार अथवा रस का आदि-विकार अहंकार कहलाता है। अहंकार से अभिमान तथा अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। यह रति परिपोष को प्राप्त होकर शृंगार रस कहलाती है। हासादि जो अनेक रस कहे गए हैं, वे सब इसी रति अथवा काम के भेद हैं। रति ही अपनी राग, तैक्षण्य, अवष्टम्भ और संकोच नामक दशाओं के कारण क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रस का रूप ग्रहण कर लेती है।[2] स्पष्ट है कि अग्निपुराणकार भी भोज के समान ही आत्मा की आदि-विकृति को अहंकार की संज्ञा देते हैं। फिर भी वे भोज का पूर्ण अनुकरण नहीं कर पाते, क्योंकि भोज सत्वोद्भूत अहंकार से केवल रति का ही नहीं, सभी भावों का जन्म स्वीकार करते हैं। दूसरे, अग्निपुराणकार ने अभिमान तथा अहंकार शब्दों का प्रयोग करके भी भोज के समान 'शृंगार' शब्द को उनका पर्याय नहीं बनाया है। उन्हें रति-शृंगार के धर्मादि भेद तो स्वीकृत हैं (अध्याय ३४२), किन्तु अहंकार के इन भेदों का कोई उल्लेख उन्होंने नहीं

१. शृं० प्र०, डॉ० राघवन का शोध-प्रबन्ध, पृ० ५०६।

२. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दस्सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद् रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्यात्ते शृंगार इति गीयते।
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।

अ० पु०, अध्याय ३३९, श्लोक २६–९

किया है। जहाँ भोज ने रति, हास आदि को प्रेमन् में समाहित होते सिद्ध किया है और अन्ततः इन सबका समावेश अहंकार में माना है, वहाँ अग्निपुराणकार केवल रति-शृंगार में ही हासादि का समावेश मानकर अहंकार में उनकी परिणति स्वीकार करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अग्निपुराणकार ने भरत तथा दशरूपककार का मार्ग भी अपना लिया है, जिसके कारण वह भरतोक्त रस-सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं और केवल नौ ही रस मानते हैं, भोज के समान सभी भावों को नहीं।

हास्य रस

स्वरूप : कारण भारतीय मत

शास्त्रीय विचारकों में आद्याचार्य भरत ने हास स्थायी भाव के आधार पर व्यक्त होने वाले हास्य रस का मूल कारण विकृति बताया है। नवरसों में यह सबसे अधिक सुखात्मक है। इसकी उत्पत्ति शृंगार रस से (६। ३९ ना० शा०) उसकी अनुकृति द्वारा (६। ४०) होती है। शृंगार से उत्पन्न होने पर भी उसका वर्ण शृंगार के श्याम वर्ण के विपरीत श्वेत है। शृंगार के देवता 'विष्णु' के स्थान पर इसके देवता 'प्रमथ' अर्थात् शिवगण बताये गए हैं (६-४२, ४४)। विकृत वेश, विकृत अलंकार दोनों ही हास्य रस के विभाव हैं, साथ ही धृष्टता, लौल्य, प्रलाप, व्यंग-दर्शन तथा दोष-उदाहरण आदि भी उसके विभाव कहे गए हैं।[1] इस प्रकार भरत मुनि ने यद्यपि विकृति सिद्धान्त को महत्त्व दिया, किन्तु साथ ही अनौचित्य तथा असंगति को स्वीकार करने के लिए अन्य विभावों की भी गणना की। उन्होंने ओष्ठ दंशन, नासिका तथा कपोल का स्पन्दन, दृष्टि-व्याकोश या आकुंचन आदि को अनुभाव के तथा आलस्य, अवहित्था, तन्द्रा, निद्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया आदि को व्यभिचारी भाव के अन्तर्गत रखा है। नाट्य के प्रसंग में ही शारदातनय ने इस सम्बन्ध में वासुकि का मत प्रतिपादित करते हुए कहा है कि शृंगार-सम्बन्धी रति और प्रीति में से प्रीति द्वारा होने वाला चित्त-विकार ही हास का साधन है। उन्होंने शृंगार के ललित भाव के आभास के साथ विभाव, भाव तथा सत्वाभिनय के प्रकर्ष से रजस् तथा तमस् गुणों को प्रभावित होते माना है और उसीके परिणाम-स्वरूप हास्य की उत्पत्ति बताकर उसका सम्बन्ध मानो रजोगुण तथा तमोगुण से जोड़ दिया है, यद्यपि वह प्रीति की भावभूमि पर उत्थान पाता है।[2] नारद के पक्ष से उनका कथन है

१. ना०शा० चौ०, पृ० ७४।

२. यदा तु ललिताभासा भावैः स्वोत्कर्षहेतुभिः।
सत्वादिभिश्चाभिनयैः स्थायिनं वर्धयन्ति ते॥

कि रजोगुण का विनाश होने पर सत्वगुण की अवस्थिति हास्य के लिए उचित है।[1] स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वासुकि तथा नारद के इन सिद्धान्तों में मानस-विवेचन की ओर ध्यान रखा गया था कि नहीं, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वासुकि उसका सम्बन्ध तमोगुण से मानकर उसे हीन अथवा समाज में निम्न स्तर के समझे जाने वाले व्यक्तियों से हास्य का सम्बन्ध बिठाते से जान पड़ते हैं, अथवा मनुष्य-मात्र में इस हीनता के उद्भव के परिणामस्वरूप हास्य का उद्भव स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत नारद ने उसे सत्व से सम्बन्धित मानकर उसकी महत्ता बढ़ा दी और उसे निम्न जातीयता से उठाकर कौलीन्य प्रदान कर दिया। इसके अतिरिक्त यह बात और ध्यान देने की है कि प्रीति-सिद्धान्त और शृंगार रस की विकृति के सिद्धान्त से इसकी उत्पत्ति मानने में यह रहस्य भी प्रतीत होता है कि भारतीय मतानुकूल हास्य प्रेम की शक्ति का ही यत्किंचित् परिवर्तित रूप है। अतः भारतीय दृष्टि से फ्रायड तथा हाब्स् नामक यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित घृणा और विद्वेष के सिद्धान्त अमानित ही रहने चाहिएँ। भारतीय दृष्टि हास्य को राग-प्रधान मानकर ही चलती है, किसी की हानि से तृप्त होने की एक-मात्र भावना उसमें नहीं होती।

आलंकारिकों में सामान्यतः हास्य को भामह, उद्भट तथा दण्डी ने अलंकार के अन्तर्गत और वामन ने गुण के अन्तर्गत समेट लिया और जैसे रस-सामान्य पर कोई विशेष विचार प्रकट नहीं किया, उसी प्रकार इसे भी छोड़ दिया। एक-मात्र रुद्रट ने भरत के विकृति-सिद्धान्त के साथ-साथ अधोगति-सिद्धांत को भी अपनाकर इसका विचार किया और शारीरिक कुरूपता, असाधारण वेष या अनौचित्यपूर्ण कार्य के आधार पर पनपने वाले इस रस का मुख्यतः स्त्री, अशिक्षित या असभ्य व्यक्ति या बालकों से सम्बन्ध माना। शिष्टता और अशिष्टता के अनुकूल ही हास्य के उत्तम या अधम भेदों की कल्पना संभव है। इस सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रुद्रट महाशय ने हास्य को पहली बार सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न किया है। किन्तु राजशेखर महो-

---

तदा मनः प्रेक्षकाणां रजः स्पृष्टं तमोन्वयि ।
चैतन्याश्रयि तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ॥
स हास्यरस इत्याख्यां लभते रस्यते च तैः। भा० प्र०, पृ० ४४।

१. बाह्यार्थालम्बनवतो मनसो रजसि स्थितात् ।
साहंकाराद्विकारो यः स शृंगार इतीरितः ॥
तस्मादेव रजोहीनात्समत्वाद्धास्य संभवः ।
भा० प्र०, पृ० ४७ पंक्ति १३–१५

न्दय ने इसे वक्रोक्ति के अन्तर्गत जा बिठाया और उसके शाब्दिक व्याख्यान में ही प्रवृत्त रहे। इस प्रकार उन्होंने हास्य का सम्बन्ध काकु, श्लेष और व्यंजना तीनों से स्थापित किया।

हास्य-विवेचन के क्षेत्र में भरत के बाद महत्त्वपूर्ण स्थान अभिनवगुप्त का है, जिन्होंने आभास-सिद्धान्त की अवतारणा के प्रसंग में सभी रसों के आभास से हास्य की सिद्धि स्वीकृत की। इसके द्वारा उन्होंने अनुकृति-सिद्धान्त को भी मान्यता प्रदान की। भरत द्वारा कथित शृंगारानुकृति को हास्य का कारण मानते हुए भी इन्होंने आभास सिद्धान्त को विशेष स्फुटता के साथ प्रस्तुत करते हुए हास्याभास तक का वर्णन किया है।[1] शृंगार से ही नहीं, वे शोक से भी हास्य की उत्पत्ति मानते हुए कहते हैं कि अबन्धु के प्रति शोक की अवस्था हास्य में परिणत हो जाती है।[2] अनौचित्य ही इसका मूल कारण है, किन्तु अनौचित्य की सिद्धि भी प्रसंगोपात्त दशा पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त ने पहली बार काव्यगत प्रसंग की अनुकूलता-अननुकूलता के साथ रसों का स्पष्ट विचार किया। उन्होंने बताया कि यदि हम निम्न श्लोक को पूरे प्रसंग की पृष्ठभूमि पर देखें, तो इससे अवश्य ही हास्य की सिद्धि होगी : सीता इसमें विभाव; दैन्य, चिन्ता और मोह व्यभिचारी भाव; अश्रु, दीर्घश्वास आदि रावण के अनुभाव उसकी अवस्था और परिस्थिति के प्रतिकूल होने के कारण अनौचित्य-प्रवर्तित होकर हास्य की सिद्धि कर रहे हैं :

> दूराकर्षण मोहमन्त्र इव ते तन्नाम्नि याते श्रुतिं।
> चेतः काल कलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां बिना।
> एतैराकुलितस्य विक्षतरतेरंगैरनंगातुरैः
> सम्पद्येत् कथम् तदाप्तिसुखमित्येन्नवेद्मिस्फुटम्।। अ० भा० १, पृ० २९२।

अनौचित्य और आभास की आधारभूमि पर अधिष्ठित हास्य रस के इस व्याख्यान से अभिनवगुप्त की दृष्टि का नवीन उन्मेष झलकता है। अनौचित्य की सीमा केवल विकृत वेष तक ही नहीं रही, अपितु सभी सामाजिक सम्बन्धों को ध्यान में रखकर चली। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने केवल विकृति और अनुकरण सिद्धान्त से आगे बढ़कर रसों को सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। रसों के प्रकाश में प्रत्येक रस के अन्तर्गत आने वाले अननुकूल विभावादि को अनुचित अतः विभावादि का पृथक् रूप में आभास बताते

१. अ० भा० १, पृ० २९६।

२. एवं यो यस्य न बन्धुस्तच्छोके करुणोऽपि हास्य एवेति सर्वत्र योज्यम्। भा० प्रा०, पृ० २९६

हुए उन्होंने इस सिद्धान्त को व्यापक पृष्ठभूमि पर देखा। यह कहा जा सकता है कि भरत के विकृति-सिद्धान्त के मूल में भी यही अनौचित्य-सिद्धान्त था, किन्तु यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अभिनवगुप्त ने उस सिद्धान्त के संकेतों को पकड़कर सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया और व्याख्यान-बुद्धि के द्वारा उसे महनीय व्यापकता दी।

अभिनवगुप्त के पश्चात् इस क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय किसी आचार्य का नाम नहीं जान पड़ता। अब तक के इस विवेचन पर ध्यान दें, तो निष्कर्ष यह निकलता है कि हमारे यहाँ हास्य का नाट्य-प्रकरण में ही विशेष विचार होने से उसके प्रायोगिक रूप की ओर विशेष ध्यान जा सका है, जिसके परिणाम-स्वरूप प्रसंग, अनुकूल-प्रतिकूल वेश-विन्यास और आचार-व्यवहार के साथ-साथ सम्वाद के अनुरूप शाब्दिक चमत्कार की ओर विशेष ध्यान आकर्षित हुआ है। गद्य के अप्रयोग ने हास्य के समुचित विकास में बाधा पहुँचाई है। साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि हमारे यहाँ हास्य घृणा और विद्वेष की भूमि पर अंकुरित होता नहीं माना गया है, बल्कि सामाजिक सम्बन्धों के विपरीत अनौचित्य-प्रवर्तित कार्यों को ही हास्य का आलम्बन बनाकर सामाजिक का मन व्यापक प्रेमानुभूति और सहज उल्लास में बोरने का प्रयत्न किया गया है। शृंगार के साथ सम्बन्ध में बँधे इस हास्य को सुखात्मक स्थिति से हटाकर रखना भारतीय दृष्टि को अनुकूल मालूम नहीं हुआ।

यूरोप में हास्य-प्रवर्त्तन के मूल में मनुष्य की दूसरों की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता की भावना को अधिक महत्त्व दिया गया है। यूनानी विचारक हास्य का सम्बन्ध विशेषत: निम्न अथवा हीन कोटि के लोगों से जोड़ते हैं और दुःख अथवा पीड़ा की भावना से शून्य शारीरिक कुरूपता अथवा दोष से हास्य की सिद्धि में विश्वास प्रकट करते हैं। किन्तु टॉमस हॉब्स नामक विद्वान् इससे आगे बढ़कर दूसरे की हीनावस्था से मनुष्य में हास्य की उद्भावना मानते हैं। इनका विचार है कि दूसरे को अपनी अपेक्षा हीन देखकर मनुष्य की गर्व-भावना को तृप्ति मिलती है और उसके परिणामस्वरूप वह अपनी श्रेष्ठता दिखाता हुआ हँसा करता है। जितनी ही तीव्र यह श्रेष्ठत्व-भावना होगी, उतना ही प्रबल हास्य होगा यह प्रबलता अट्टहास के रूप में अकस्मात् भी प्रदर्शित हो सकती है। यों साधारणतः मुस्कान से क्रमशः इसके विकास की कल्पना की जाती है। इस प्रकार यूनानी विवेचकों की शारीरिक गठन तक सीमित दृष्टि को इस विद्वान् ने एक मानसिक धरातल पर प्रतिष्ठित सिद्धान्त के प्रकाश में देखने की

पाश्चात्य दृष्टि

चेष्टा की। कुरूपता दोनों को मान्य है, ठीक उसी तरह जैसे भारतीय मत भी उसे स्वीकार करता है, किन्तु अन्तर यही है कि हॉब्स कुछ आगे बढ़कर उसका मानसिक आधार ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। किन्तु सहज ही इस सिद्धान्त की त्रुटि लक्षित की जा सकती है। यदि हम गर्व को ही महत्त्व दें तो मित्र-शत्रु के भेद से हममें हँसी का अभाव या आविर्भाव मानना पड़ेगा, अर्थात् मित्र के प्रति हँसी उत्पन्न न होगी और शत्रु के प्रति रोके न रुकेगी। किन्तु व्यावहारिक जगत् में हँसी के लिए इस प्रकार की रोक-टोक नहीं देखी जाती। इसी प्रकार प्रेमियों के बीच होने वाली अनेक शृंगारिक वार्ताओं में भी हँसी की फुहार छूटती रहती है, वह इस सिद्धान्त के द्वारा समझाई न जा सकेगी। कहीं-कहीं गर्व की भावना ही नहीं, द्वेष की भावना भी हँसी ला सकती है। कभी केवल सहज वैचित्र्य भी हास्य उत्पन्न करता है, जैसे बच्चों के खेल में या उनके तुतलाकर बोलने से। इसी प्रकार पारस्परिक सम्बन्ध हास्य के प्रकाशन में सहायक या बाधक हो सकते हैं। अपरिचित को केले के छिलके पर फिसलते देखकर हमें हँसी आ सकती है, किन्तु उसके साथ चलने वाले उसके भाई अथवा पुत्र को हँसी न आयगी। अतएव परिस्थितियों और सम्बन्धों का हास्य के प्रवर्त्तन में विशेष हाथ है, केवल गर्व या विद्वेष की भावना के जाग्रत होने का नहीं। सम्भवतः इसीलिए अलेक्जेण्डर बेन महाशय ने यह विचार प्रस्तुत किया कि स्वयं गर्वित व्यक्ति को ही अधोगति को प्राप्त होते देखकर हमें हँसी आती है। इस प्रकार बेन ने सामाजिक में मानी गई गर्व-भावना की प्रतिष्ठा स्वयं आलम्बन में कर दी। बेन महाशय के विचारों में बहुत-कुछ संगति तो है, किन्तु पूर्णता नहीं। जैसे, यदि हमारे सामने कोई व्यक्ति अपनी पहलवानी की बढ़-चढ़कर डींग हाँकता रहा हो और कभी किसी कुश्ती में उससे कम बलवान दीखने वाला कोई नौसिखिया पहलवान उसे झपटकर एक ही दाँव में पटकी खिला दे, तो हमारी हँसी उसकी ऐसी अधोगति देखकर बरबस फूट निकलेगी। किन्तु, बन्दर का नाच देखकर भी जब हमें हँसी आती है, अथवा बँदरिया को घाघरा पहने, ओढ़नी लपेटे, हाथ में छड़ी लिये चारों ओर नाराजगी से घूमकर सास के यहाँ जाने से मना करते हुए देखकर जब हम हँस पड़ते हैं, तब बेन महाशय के सिद्धान्त द्वारा इस हँसी का समाधान नहीं हो पाता। ऐसे स्थल पर केवल वैषम्य या अनुकृति ही हास्यकारक होती है।

केवल मानसिक क्षेत्र का ध्यान रखने का परिणाम यह हुआ कि काण्ट महाशय विफल आशा को ही हास्य का कारण मान बैठे। काण्ट ने बताया कि दीर्घकाल से उठी हुई किसी अपेक्षायुक्त कल्पना के आकस्मिक अनस्तित्व से जो

मनोविकार उत्पन्न होता है, वही हास है। निश्चय ही इस सिद्धान्त के द्वारा काण्ट विषयगत असम्बद्धता अथवा असंगति या वैषम्य-सिद्धान्त को हास्य का कारण सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु केवल विफलता के द्वारा हास्य का प्रादुर्भाव प्रायः सम्भव नहीं होता और उससे तभी अपने को हँसी आ सकती है जब कोई हानि होने के स्थान पर केवल अपनी मूर्खता का किंचित् प्रदर्शन ही होकर रह जाय। यदि विशेष हानि होती दिखाई पड़ेगी, तो विफलता हास्यकारक न होकर करुणोत्पादक होगी। कभी-कभी अप्रत्याशित रूप से हानिशून्य विफलता सामने आने पर आश्चर्य भी उत्पन्न होता है, जिससे अद्भुत की व्यंजना हो सकती है। इस प्रकार काण्ट का यह दृष्टिकोण बहुत सीमित है और मानसिक क्षेत्र से बाहर परिस्थितियों पर ध्यान नहीं देता। शोपेनहॉवर महाशय ने कुछ आगे बढ़कर बताया है कि अपनी कल्पना में आई हुई तथा वास्तविक वस्तु में किसी प्रकार की असमानता देखकर हास उत्पन्न होता है। किन्तु, यह विचार भी पूर्ण संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अपनी कल्पना और विषयवस्तु की समानता का अभाव हमारे हृदय को केवल तभी प्रसन्नता देता है, जब हम किसी लक्ष्य-विशेष को न रखते हुए निरपेक्ष कल्पना करते हैं। साकांक्षकल्पना की असमानता हमें एक धक्के के समान लगती है, विषाद और करुणा को जगाती है, हास्य को नहीं। अतएव असम्बद्धता के गुण-दोष का विचार केवल योजना-हेतु और उसके परिणाम को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। शापेनहॉवर का यह मत इसलिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है कि यह असमानता के अतिरिक्त उद्भूत परिस्थितियों में जनित हास्य का विचार नहीं करता। यदि इस सिद्धान्त को केवल इस रूप में ग्रहण करें कि हमारे चित्त में उन्हीं वस्तुओं की कल्पना उत्पन्न हुआ करती है, जो प्रतिच्छवि अंकित किये रहती हैं, और उनकी कल्पना तथा विषय-वस्तु में असमानता देखकर हमें हँसी आती है, तो भी इसे युक्तियुक्त एवं पूर्ण सिद्ध न किया जा सकेगा, क्योंकि वैसा मानने से मानवीय कल्पना-शक्ति पर नियन्त्रण सिद्ध होता है और फिर भी उन स्थितियों का समाधान नहीं हो पाता जिनमें किसी विदूषक की बातों पर हमें हँसी आती है। हमारे मन में पहले से उसकी कोई प्रतिच्छवि अंकित नहीं रहती कि उसकी आकस्मिक असमानता से हमें हँसी आ जाती हो।

इस सम्बन्ध में हैनरी बर्गसाँ का मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे चेतन की यन्त्रचालित अथवा जड़वत् क्रियाओं के कारण हास्य की उत्पत्ति मानते हैं। केले के छिलके पर पैर फिसलने से गिर जाने वाला व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र शक्ति छोड़कर यन्त्रचालित-सा अकस्मात् गिर पड़ता है, इसलिए हँसी आती है। मूल

रूप में देखा जाए तो यह वैपरीत्य का ही सिद्धान्त है। जब हम कोई काम वास्तविक शक्ति के प्रतिकूल होते देखते हैं और एक प्रकार से अपने से हीन दशा में पाते हैं, तभी हँसी आती है। किन्तु, इस प्रकार के हास्य के उत्पादन में एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में आती है, वह यह कि बर्गसाँ का कथन है कि हास्य का आलम्बन समाजप्रिय न हो। वैसा होने से उस पर हँसना सम्भव न होगा, क्योंकि उससे हममें उसके प्रति या तो आदरवश दुःख का भाव जागेगा अथवा हम स्तब्ध-से रह जाएँगे। दूसरी बात हास्य के प्रकाशन के लिए आवश्यक है आलम्बन का अपनी स्थिति से अपरिचित होना, तीसरे यान्त्रिकता। यदि आलम्बन उलटा पाजामा और उलटी कमीज़ पहनकर अनजाने आपके सामने आता है, तो वह हँसी का आलम्बन हो सकता है। इसी प्रकार यदि वह यन्त्र के समान खाता-पीता या बोलता और चलता है, तो उसकी इन क्रियाओं से हँसी आएगी। इस प्रकार बर्गसाँ का सिद्धान्त मूलतः असंगति या वैपरीत्य पर आधारित है और साथ ही आलम्बन के लिए उपयुक्त स्वरूप निर्धारित करता है। इस दृष्टि से यह अधिक व्यापक और सुलझा हुआ सिद्धान्त ज्ञात होता है।'इधर मनोविज्ञान के क्षेत्र से एक और सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है। यह सिद्धान्त है क्रीड़ा-सिद्धान्त; जिसके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि बाल्य-काल से ही सभी प्राणियों में यह प्रवृत्ति दिखाई देती है और इसकी स्थिति किसी-न-किसी रूप में वृद्धों में भी बनी रहती है। बालकों और बन्दरों की उछल-कूद, प्रौढ़ों और वृद्धों की वक्रोक्ति, युवकों और युवतियों की चुहल, लुका-छिपी, भाग-दौड़, छद्म-वेश, कुटिल कार्य आदि सभी में यही क्रीड़ा-प्रियता काम करती जान पड़ती है और इसीसे हास्य उत्पन्न होता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत इसके पोषकों ने गम्भीर स्थितियों में उत्पन्न हास्य, अश्लील अथवा अशिष्ट के प्रति उत्पन्न हास्य आदि सभी को घसीट लेने का प्रयत्न किया है। फिर भी क्या यह कहा जा सकता है कि मानव-जीवन के समस्त क्षेत्र और क्रिया-कलाप केवल क्रीड़ा-सिद्धान्त के द्वारा सचमुच विचारणीय ठहरते हैं और क्या उनमें तनिक भी घृणा या विद्वेष अथवा सहानुभूति का लक्षण नहीं मिलता? उपहास के समय, शत्रु को अपने सामने विवश भाव से विनत खड़े देखकर अथवा ऐसे ही अन्य समयों पर क्या हमारा मन केवल क्रीड़ा की भावना से ही भरा रहता है, अपने गौरव-गर्व से भरपूर नहीं रहता? अस्तु, समस्त सिद्धान्तों पर ध्यान देने से ऐसा लगता है कि सामाजिक धरातल के परिवर्तन के साथ-साथ मानवीय मूल्यों में जो परिवर्तन आए हैं, उनको देखते हुए बर्बर युग के विजय-दर्प से उत्थित हास और परवर्ती काल के सहानुभूति आदि अनेक कारणों पर आश्रित हास्य को

किसी एक कारण से उत्पन्न नहीं माना जा सकता। सभी सिद्धान्त जीवन के प्रायोगिक पक्ष पर निर्भर करते हैं, और जीवन सामाजिक मूल्यों के साथ चलता है। हास्य स्वयं सामाजिक महत्त्व रखता है, अतएव उसका विचार वैयक्तिक भूमि पर नहीं, सामाजिक परिवर्तन के आधार पर किया जाए तो उसे किसी एक सिद्धान्त से बाँधा नहीं जा सकता। यों असंगति और अनौचित्य उसके सहज-प्रसारक जान पड़ते हैं और सभी सिद्धान्तों की मूल भित्ति माने जा सकते हैं। असंगति केवल व्यवहार की ही नहीं, वाणी की भी होती है और विचारों की भी। इसी प्रकार अनौचित्य सामाजिक मूल्यों का ध्यान रखकर निश्चित किया जाता है। इस रूप में इन सिद्धान्तों से हम हास्य के व्यावहारिक, सामाजिक तथा मानसिक स्तरों का विचार कर सकते हैं और प्रसंग तथा परिस्थिति का महत्त्व बनाए रह सकते हैं।

यदि हम समग्र जीवन पर ध्यान दें और उसके व्यावहारिक, बौद्धिक, मानसिक आदि क्षेत्रों की खोज करें, तो अनेकानेक परिस्थितियों और कारणों से हास्य की छटा खिलती मिलेगी। भरत ने 'विकृति' शब्द का प्रयोग करके ऐसी अनेक स्थितियों का उसीमें अन्तर्भाव कर लिया है, उसके विशद विवेचन में वे नहीं पड़े हैं। असंगति तथा अनौचित्य का नाम ही 'विकृति' है, जिसे अंग्रेज़ी में 'इनकाँग्रुअस' कहेंगे। यदि कोई व्यक्ति हाथ का कंगन पैर में छल्ले की तरह पहनने लगे, एक ही समय में दो भिन्न-भिन्न आकार अथवा रंग के मोज़े पहन ले, एक पैर में चप्पल और दूसरे में जूता पहने, कुरते-धोती पर टाई लगाये दीख पड़े तो लोग उसे मसखरा कहकर हँसेंगे ही। यह हंसी उसकी बेढंगी बातों और असंगत पहनावे के कारण उत्पन्न होगी। यह विकृति साधारण नियमों के अनुकूल न होने के कारण एक तो कुरूपता उत्पन्न करती है और दूसरे उससे आकस्मिकता या वैचित्र्य को सहारा मिलता है। कभी-कभी किसी की ऊटपटाँग बातें सुनकर क्रोध के स्थान पर हँसी आती है और कभी उसके विशेष आचार-व्यवहार या 'मैनरिज़्म' से हास उत्पन्न होता है। किसी को बार-बार 'जो है सो', 'वास्तव में' आदि वाक्यांशों को तकिया-क़लाम की भाँति प्रयोग करते देखकर अथवा 'अस्तु खैर,' 'अर्थात् यानी,' 'पुनः फिर' आदि बेढंगे पुनरुक्ति प्रयोगों को सुनकर भी हमें हँसी आती है। इसी प्रकार यदि कोई पण्डितों की सभा में अशुद्ध उच्चारण करता सुनाई पड़े और 'वैशाली की नगरवधू' नामक उपन्यास को 'विशाला की नगरवधू' या 'राहुल सांकृत्यायन' को 'राहुल सांस्कृत्यायन' कहे तो जानकारों को स्वभावतः उसकी ऐसी अज्ञानता पर हंसी आ ही जाती है। अतएव

(Side heading: हास्य के भेद)

मूर्खता या अज्ञानता भी हँसी का कारण है। यह मूर्खता जहाँ शब्दोच्चारण के के साथ लगी हुई है, वहाँ किसी बात, घटना अथवा वस्तु को न समझने के साथ भी है। स्फटिक को न पहचानकर बार-बार टक्कर खाने वाले दुर्योधन पर द्रौपदी की व्यंगपूर्ण हँसी इतिहास-प्रसिद्ध है। भिन्न आचार-विचार वाले व्यक्ति भी एक-दूसरे पर हँस सकते हैं। यथा, गाँव वाले शहर वालों पर, योरप वाले एशियावासियों पर, उनकी वेश-भूषा तथा आचार-विचार की भिन्नता पर हँस सकते हैं। भिन्न भाषा-भाषी भी एक-दूसरे की मखौल उड़ाते हैं, जैसे कोई देहाती अंग्रेज़ी बोलते हुए व्यक्ति को देखकर कहने लगता है कि वह गिट-पिट कर रहा है। कभी-कभी अनुकरण की विकृति—कैरीकेचर—भी हँसी उत्पन्न करती है। श्लेषादि के द्वारा भिन्नार्थक प्रयोग—वर्बल जगलरी—से भी हास उत्पन्न होता है। किसी को चतुराई-भरी बात कहते सुनकर अथवा किसी पर व्यंग करते देखकर भी हमें हँसी आती है। किसी का अनिष्ट न हो, किन्तु उसकी दुर्गति हो जाए, तो उसे देखकर भी हमारी हँसी फूट पड़ती है। इसी तरह किसी को पत्नी की आज्ञा में कठपुतली बना देखकर भी हम उसकी हँसी उड़ाते हैं। राग-द्वेष की अनेक भूमियों पर हास्य प्रसार पाता है, किन्तु हास्य का वास्तविक आनन्द वहीं है जहाँ हँसने वाला आलम्बन में भी उसी भाव को उत्पन्न कर सके। वहाँ हास्य अधिक खिला हुआ ज्ञात होता है। ऐसी प्रवृत्ति सामूहिकता को जन्म देती है और मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह समाज बनाकर रहे। पहले प्रकार का हास घृणा, विद्वेष, शत्रुता, असामाजिकता और विश्लेष को जन्म देता है। अतएव वह अनेक बार अग्राह्य और उपेक्षणीय हो सकता है। शुद्ध हास्य में किसी को हानि नहीं पहुँचाई जाती—अपने यहाँ नाटकों में विदूषक का हास्य अथवा उसके कार्य-कलापों द्वारा उत्पन्न हास्य इसी हानिरहित शुद्ध हास्य के अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार सरकस आदि में 'जोकर' के कृत्यों पर उत्पन्न होने वाला हास्य भी अहानिप्रद अतः निरपेक्ष हास्य होता है। उसकी बेढंगी बातों पर हम हँसते हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें कहकर टीका-टिप्पणी करते हैं। किन्तु उन बातों में उसे हानि पहुँचाने की चेष्टा नहीं रहती। वह स्वयं भी उस समय तक हास्य को प्रवृत्त करने वाले कार्य करता है, जब तक कि उसे कोई असहनीय अप्रासंगिक अश्लील अथवा दुष्ट बात कहकर चिढ़ा ही नहीं देता, अथवा उसे किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता। वही 'जोकर', जो अपनी ओर से जान-बूझकर दूसरों को हँसाने के लिए बेढंगी बातों का प्रदर्शन करता है, उस समय हास्य का विभाव नहीं रह जाता, जब खेल-ही-खेल में अचानक उसे चोट लग जाती है। यदि हँसते-हँसते कूद-फाँद में अचानक उस

विदूषक की टाँग टूट जाए अथवा जिस छड़ को वह हँसी के लिए अपनी आँख रखकर मोड़ने का प्रयत्न करता है, वही उसकी आँख में घुस जाए, तो हमारी हँसी गुम हो जाती है। हम सहानुभूति और करुणा से उद्वेलित हो उठते हैं। अभिप्राय यह है कि किसी को चोट पहुँचाने का क्षेत्र हास्य का क्षेत्र नहीं है। जब चोट पहुँचाने की भावना अथवा व्यंग की तीव्रता इस स्थिति में पहुँच जाती है कि उससे चोट पहुँचाए जाने वाले व्यक्ति को सचमुच हानि का अनुभव होने लगता है तो हास्य की सिद्धि नहीं हो पाती। उस समय सभी रसिक उपहास या व्यंग करने वाले व्यक्ति का साथ नहीं दे सकते। उसे वे हास्य का प्रवर्त्तक न मानकर शिष्टता की सीमा का उल्लंघक मानने लगते हैं। अतः शिष्टतापूर्ण व्यंग तो हास्य के अन्दर स्वीकार्य हो सकता है, किन्तु विद्वेष का स्पष्ट प्रदर्शन हास्य को उत्पन्न नहीं करेगा। हास्य का आनन्द इसीमें है कि वह हास्य के आलम्बन को भी हँसा सके। इसे ही हम शुद्ध हास्य कहेंगे। इसलिए विकृति-विशेष को ही हास्य का जनक माना गया है। इस सम्बन्ध में यदि हास्य के अनेकानेक भेदों पर दृष्टिपात किया जाए, तो बात अधिक स्पष्ट हो सकेगी। अतएव हम नीचे उन भेदों का उल्लेख कर रहे हैं।

भरत ने हास्य के दो प्रकार के भेद किये हैं। एक भेद के अनुसार हास्य आत्मस्थ और परस्थ दो प्रकार का होता है। जब व्यक्ति स्वयं हँसता है तो आत्मस्थ हास्य और दूसरे को हँसाता है, तो परस्थ हास्य कहलाता है। **'यदा स्वयं हसति तदा आत्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः'**।[1] किन्तु रस-गंगाधरकार ने इन भेदों की दूसरे प्रकार से व्याख्या की है। उनके मतानुसार हास्य-विषय को देखने से उत्पन्न हास्य आत्मस्थ और दूसरे को हँसता देखकर हँसने से परस्थ हास्य की सिद्धि होती है। आत्मस्थ को ही दूसरे विद्वानों ने 'स्वसमुत्थ' और परस्थ को 'परसमुत्थ' कहा है। अभिनवगुप्त ने उन विचारकों का विरोध किया है जो आत्मस्थ और परस्थ भेदों का अर्थ यह समझते हैं कि आत्मस्थ में विकृत वेशादि विभावों के कारण विदूषक स्वयं हँसता है और परस्थ में दूसरों को हँसाता है।[2] वस्तुतः रसगंगाधरकार का ही मत उचित ज्ञात होता है।

दूसरे प्रकार का भेद भरत ने हास्य की स्फुटता के विचार से प्रस्तुत किया

१. ना० शा०, चौ० सं०, पृ० ७४।

२. **आत्मस्थैर्विभावैर्विवृत्तवेषादिभिर्विदूषकः स्वयं हसति स तस्यात्मस्थः। देवीं च हासयतीति तस्याः परस्थः'''तदिदमसम्॥**

अ० भा०, पृ० ३१३।

है। इस भेद के अन्तर्गत हास्य के भरतकृत (१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) उपहसित, (५) अपहसित, तथा (६) अतिहसित नामप्रकार-भेद आते हैं। यद्यपि भरत ने "स्त्रीनीच प्रकृतावेष भूयिष्ठं दृश्यते रसः" कहकर हास्य का सम्बन्ध स्त्री और नीच पुरुषों से ही जोड़ दिया है, तथापि उन्होंने मनुष्य-प्रकृति के विचार से उत्तम, मध्यम और अधम तीन भेदों के अन्तर्गत उक्त छै प्रकार-भेद सीमित कर दिए हैं। स्मित तथा हसित उत्तम प्रकृति वाले मनुज में पाए जाते हैं; विहसित, उपहसित मध्यम प्रकृति व्यक्ति में और अपहसित तथा अतिहसित अधम प्रकृति में। इन प्रकार-भेदों के लक्षणों पर ध्यान देने से भरत के विभाजन की समीचीनता स्पष्ट हो जाएगी। स्मित हास अंग्रेज़ी के 'स्माइल' शब्द का पर्याय कहा जा सकता है। कपोलों की हलकी रक्ताभा, सौष्ठवपूर्ण कटाक्ष तथा अलक्षित दन्त-पंक्ति आदि लक्षणों को 'स्मित' के अन्तर्गत माना जाता है। साधारण बोल-चाल में भी दाँत फाड़कर हंसना अच्छा नहीं समझा जाता। अतएव उत्तम व्यक्ति से सम्बन्धित स्मित के अन्तर्गत अलक्षित दन्त-पंक्ति आदि का वर्णन उचित है। स्मित को मुस्कान-मात्र कह सकते हैं। यह मुस्कान ही निरन्तर राम और कृष्ण के मुख पर खेलती रहती थी। अतएव स्मित की मृदुता और सहज-आकर्षकता के उत्तम-प्रकृति-जनोचित होने के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। यह हास का प्रारम्भिक रूप है। इसीसे आगे जब मुख और नेत्र कुछ उत्फुल्ल-से दिखाई देने लगते हैं, तब उस अवस्था को 'हसित' कहा जाता है। इसके आगे आँख और कपोलों का आकुंचन उपस्थित होने पर जब उसके साथ मधुर शब्द भी मिला रहता है और मुखाकृति लाल हो जाती है, तो 'विहसित' अवस्था उपस्थित होती है। 'उपहसित' अवस्था में कपोलादि के सहज फड़कने को छोड़कर नासिका-रन्ध्र फूल उठते हैं, कन्धे और सिर का आकुंचन होने लगता है तथा हंसने वाला व्यक्ति इधर-उधर और लोगों पर भी दृष्टिपात करने लगता है। 'अपहसित' वह अवस्था है जिसमें अस्थान ही इस प्रकार हँसा जाता है कि आँखों में पानी भर आए और कन्धा तथा शरीर ज़ोर-ज़ोर से हिलने लगें। अन्तिम अवस्था का नाम 'अतिहसित' है। इस अवस्था में नेत्रों से अबाध और अत्यधिक पानी निकलने लगता है, तीव्र और उद्धत स्वर उत्पन्न हो जाता है तथा हँसी के वेग के कारण सहज ही उसे रोकने में असमर्थ होकर व्यक्ति अपने दोनों पार्श्व दबाने लगता है। इन लक्षणों से स्पष्ट होता है कि ये भेद हास के वेग के आधार पर किये गए हैं। जितना ही सभ्य अथवा शिष्ट व्यक्ति होगा वह इन आवेगों को उतना ही संयमित करने में समर्थ होगा। अतएव इन्हें उत्तमादि भेदों में बाँटना उचित ही

है। इससे यह बात भी प्रकट होती है कि भारतीय विचारक हास्य के अन्तर्गत आने वाले व्यंग आदि कटूक्ति-मिश्रित कथनों को उत्तम प्रकृति का नहीं मानते। इनमें से स्मित, विहसित, अपहसित को आत्मस्थ या स्वसमुत्थ की संज्ञा दी गई है और शेष को परस्थ या परसमुत्थ की।

भरत ने हास्य के अंग नेपथ्य और वाक्य के अनुसार तीन और भेदों का भी उल्लेख किया है।[1] अन्य रसों के इन्हीं भेदों के समान इन्हें भी समझा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्य में हास्य के विभागों का उल्लेख मुख्यतः शारीरिक आधार पर किया गया है। विदूषक के सम्बन्ध में भी विकृत वेश-भूषादि को स्थान देकर इसी शारीरिक विकृति का ध्यान रखा गया है। भरत ने कलहास, प्रलाप, व्यंग अथवा दोष-दर्शन आदि जिन मानसिक आधारों का उल्लेख विभावों के अन्तर्गत किया है उनका विकास साहित्य-शास्त्रों में नहीं किया गया। यहाँ तक कि 'आत्मस्थ' हास्य-भेद के द्वारा भरतमुनि ने जिस मानसिकता और स्मरण-शक्ति का संकेत किया था उसे रुद्रट जैसे महानुभावों ने उल्लेख-योग्य ही नहीं समझा। उन्होंने भरत-कथित छै भेदों में से केवल चार ही स्वीकार किये। मध्यम तथा अधम हास्य के केवल विहसित तथा अतिहसित भेदों को स्वीकार करके उन्होंने उपहसित तथा अपहसित को त्याग दिया। भोज ने और भी आगे बढ़कर केवल स्मित, हसित और विहसित को ही स्वीकार करके उसे तीन तक सीमित कर दिया। कुछ आचार्यों ने भरत-कथित इन छै भेदों में से प्रथम तीन को आत्मसमुत्थ तथा पिछले तीन को परसमुत्थ कहा है। वस्तुतः ये स्थितियाँ हास्य की तारतमिक दशाओं-मात्र की सूचक हैं।

हिन्दी आचार्यों में केशवदासजी ने हास्य के क्रमशः मन्दहास, कलहास, अतिहास तथा परिहास नामक चार भेद किये हैं (र० प्रि०, १४।३,८,१२,१५)। इनमें प्रथम तीन भेद भरत के प्रथम तीन भेदों के समान हैं, किन्तु 'परिहास' स्थिति-सापेक्ष अवस्था है, तारतमिक दशा नहीं।

पाश्चात्य देशों में हास्य के जिन अनेक भेदों का उल्लेख हुआ है उनमें गुण तथा उद्देश्यादि का भी समावेश हो जाता है। पाश्चात्य विवेचन में हास्य-सम्बन्धी कई शब्दों का प्रयोग होता है; यथा, 'विट' या विदग्धता, 'ह्यूमर' या विनोद, 'जोक' या परिहास, 'आइरॉनी' या विद्रूप या वक्रोक्ति, 'फ़न' अथवा

पाश्चात्य विवेचन

१. ना० शा० चौ०, ६–६७।

चापल्य, 'जेस्ट' अथवा उपहास, 'सरकाज़्म' अथवा व्यंगोक्ति, 'सैटायर' अथवा सोद्देश्य व्यंग, 'पैरोडी' अथवा विडम्बन काव्य, 'सारडॉनिक स्माइल' अथवा कटु हास आदि कई शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं। ये सभी मानसिक दृष्टि को स्पष्ट करते हैं।

'विट' का सम्बन्ध बुद्धि से है। किसी उक्ति में गर्भित बुद्धिग्राह्य अर्थ से भी एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न होता है, जो हमारे यहाँ श्लेष अलंकार से विशेष सम्बन्ध रखता है। किसी परिचित शब्द के अर्थ को अनपेक्षित रूप में रखकर उसके द्वारा भिन्न अर्थ की व्यंजना कराना ही 'विट' या विदग्धता है। किन्तु, इसकी सीमा वहीं तक है, जहाँ तक कि किसी पर दोषारोपण नहीं होता अथवा किसी को क्षति नहीं पहुँचती। उपालम्भ काव्य में भी इस प्रकार की विदग्धता दर्शनीय होती है। वह विदग्धता एक ओर वक्ता की बुद्धिशीलता और प्रत्युत्पन्नमतिता को प्रकट करती है, दूसरी ओर श्रोता से भी इन्हीं योग्यताओं की अपेक्षा रखती है। इससे शक्ति में जितनी गूढ़ता सन्निविष्ट होती है उतनी ही चमत्कार की मात्रा भी बढ़ती जाती है। कभी-कभी सरल उक्तियों में भी ऐसी विदग्धता छिपी रहती है कि जिस व्यक्ति को लक्षित करके बात कही जाती है, वह निरुत्तर हो जाता है। सूरदास, नन्ददास, रत्नाकर आदि की गोपिकाओं ने अनेक बार अपनी विदग्धता से ज्ञानी उद्धव को परास्त किया है। सूरदास की गोपिकाएँ

'निर्गुण कौन देस कौ बासी।
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दै पूछति साँच न हाँसी॥

कहकर न केवल उद्धव के उपदेश को हवा में भुस की तरह उड़ा देती हैं, बल्कि विश्वास का ऐसा आभास भी पैदा करना चाहती हैं, जिसमें वह अपनापन ही भूल जाए। चापल्य के साथ-साथ विदग्धता का यह एक अच्छा नमूना है।

विदग्धता में सत्य और प्रौढ़ अर्थ का सन्निवेश आवश्यक है। उक्ति-चमत्कार में आनन्द का सन्निवेश ही वास्तविक विनोद के स्वरूप को प्रकाशित करता है। विदग्धता की स्थिति में हास्य का स्वरूप 'स्मित' तक सीमित रहता है। आनन्द की मात्रा मिलते ही वह विनोद में परिणत हो जाता है, जहाँ व्यक्ति को खिलखिलाकर हँसने का अवकाश मिल जाता है, अर्थात् स्मित के क्षेत्र को लाँघकर जब उक्ति वैदग्ध्य-विनोद का सहारा ले लेती है, तभी वह उपहसित, अपहसित आदि में अतिक्रमण कर जाती है। साधर्म्य या विरोध-प्रदर्शन के उद्देश्य से विषय या असम्बद्ध कल्पनाओं को एक ही स्थान पर रखने का नाम है वैदग्ध्य। 'ह्यूमर' एक ऐसी कल्पना-शक्ति है, जिसकी सहायता

से विचार या कल्पना का रूप असम्बद्ध, विकृत अथवा इस प्रकार अद्‌भुत हो जाए कि उसका फल हास्य हो। किन्तु कल्पना के चमत्कार-मात्र से ही विदग्धता की प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती, क्योंकि वस्तु-सम्बन्ध के चमत्कारिक रहते हुए भी यदि वह केवल व्यवहारोपयोगी ही हुई, तो उससे हास्य की उत्पत्ति में बाधा अवश्य होगी। ऐसी दशा में वैदग्ध्य का वास्तविक फल चखने को न मिल सकेगा। इस प्रकार के विनोद-वचन हमारी दृष्टि को व्यापक बनाते हैं। हम अपने लक्ष्य की त्रुटियों अथवा उसकी हीनता या तुच्छता की ओर अपेक्षाकृत बहुत ही कम ध्यान देते हैं। इसके विपरीत उसके प्रति हमारी सहानुभूति या अनुकम्पा ही जाग्रत होती है। इस प्रकार की अद्‌भुत शब्दार्थ-योजना के मुख्यतः चार प्रकार : (१) पर्यायोक्ति, (२) अतिशयोक्ति, (३) अन्योक्ति, (४) साम्य-विरोध दर्शनोक्ति बताये गए हैं।

'जोक' हास का हलका रूप है, जिसे परिहास कह सकते हैं। मित्रों में प्रायः इस प्रकार का व्यवहार पाया जाता है। इसीको हम मसखरी कह सकते हैं। किसी को बिना हानि पहुँचाये हुए मूर्ख बनाना 'जोक' के अन्तर्गत ही आता है। अथवा स्वयं विरूपता प्रदर्शित करना भी 'जोक' ही है। जहाँ उपहास अगम्भीर तथा अर्थहीन रूप में उपस्थित हो और उसमें वास्तविकता के स्थान पर कृत्रिमता विशेष हो, किन्तु वह वास्तविकता का सन्देह उत्पन्न करती हो, उस स्थिति को हम 'जेस्ट', 'जोक' या 'फ़न' कहेंगे। साली-सलहजों से किए जाने वाले परिहास को 'प्रैक्टिकल जोक' कह सकते हैं।

'आइरॉनी', 'सरकाज़्म' और 'सैटायर' लगभग एक ही सीमा में बँध जाते हैं। 'जेस्ट', 'जोक', 'फ़न', 'विट', 'ह्यूमर' किसी में भी उपहास की वह कटु स्थिति नहीं रहती जो इन तीनों में होती है। 'आइरॉनी' वह वक्रोक्ति अथवा विद्रूप है जिसमें बात को सीधे या तीखेपन के साथ न कहकर इस उक्ति-गर्भत्व के साथ कहा जाता है कि ऊपर से बात सुनने में प्रतारणा-स्वरूप न लगे, किन्तु मूलतः उसमें घृणा का कुछ भाव सन्निविष्ट हो। इसमें लेखक की वाक्‌भंगी अथवा रचनाभंगी का विशेष महत्त्व है। जब मुख्य अर्थ या भाव की अपेक्षा गौण अर्थ विशेष स्पष्ट हो उठे तब उपहास 'सरकाज़्म' व्यंग्योक्ति या निन्दा कहलाता है। यह 'आइरॉनी' के समान बुद्धि-ग्राह्य नहीं होती। 'सैटायर' में अतिशयोक्ति तो होती है, किन्तु द्व्यर्थकता नहीं होती। लक्षित व्यक्ति, वस्तु या भाव का उपहास करने अथवा उसे क्षति पहुँचाने का उद्देश्य इससे सहज ही प्रकट हो जाता है। अरुचि और घृणा की आधार-भूमि पर 'सैटायर' पनपता है। इसका तीखापन विष-बुझे बाण की तरह होता है। यदि इसमें हँसाने के लिए पर्याप्त

सामग्री न हुई तो हास्य का रूप उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार इन तीनों में उपेक्षा का भाव विशेष मिला रहता है। ये तीनों उपेक्षा के कारण शुद्ध-हास्य में परिगणित नहीं हो सकते। इनका परिणाम जब-तब विश्लेषण और दुःखप्राप्ति हो सकता है। जिस व्यक्ति के प्रति इस प्रकार की उक्तियाँ कही जाती हैं, वह क्रोधित भी हो सकता है और यदि वह सामाजिक-मात्र के उपहास का लक्ष्य है, तब तो उसके प्रति की गई उपेक्षा से जनित उसका क्रोध उनमें हास्य को उभारेगा ही। किन्तु यदि सामाजिक उसके साथ किसी प्रकार की सहानुभूति रखते हैं, तो हास्य की सिद्धि न होगी। ये तीनों 'कटाक्ष' के पर्याय-से मालूम होते हैं। तुलसी ने लक्ष्मण से परशुराम के प्रति कथित 'द्विज देवता घरहिं के बाढ़े' आदि वाक्यावली के द्वारा इसी कटाक्ष की सिद्धि की है।

व्यंग, वक्रोक्ति, परिहास और उपहास में परस्पर बहुत अन्तर है। व्यंग घृणा की भूमि पर पनपता है और शत्रु-मित्र दोनों के प्रति प्रकट होता है। शत्रु के प्रति व्यंग में कठोरता घृणा-मिश्रित होती है और अधिक तीखी जान पड़ती है, किन्तु मित्र के प्रति कठोरता भी मैत्री और सौहार्दपूर्ण ढंग से व्यक्त की जाती है जिसमें प्रेम द्वारा सुधार की भावना ही अधिक रहती है। सहानुभूतिपूर्ण व्यंग व्यंगकर्त्ता, सामाजिक तथा व्यंग-विषय तीनों को हँसाता है और दयार्द्र करता है, किन्तु घृणापूर्ण व्यंग शत्रुता को बढ़ाने और चिढ़ाने वाला सिद्ध होता है। किसी कमी की ओर ध्यान आकर्षित कराने वाले व्यंग-चित्र (कारटून) इसीलिए विशेष महत्त्व प्राप्त करते जा रहे हैं, क्योंकि वे सहानुभूतिपूर्ण अनुलेप से व्यंग-विषय को सही मार्ग दिखाते हैं, चिढ़ाते या हीन सिद्ध नहीं करते। व्यंग किसी वर्ग-विशेष को लेकर कभी-कभी समाज तथा साहित्य में प्रचलित हो जाता है। बनिया, सूदखोर, पण्डित, जाति-पाँति मानने वाले तिलकधारी ब्राह्मण, राजनीतिज्ञ समय-समय पर व्यंग के आलम्बन बनते रहे हैं। व्यंग तीखा समाज-सुधारक है और वह समाज की कमजोरी पर हाथ रखता है, उसकी नब्ज पहचानकर उसका उपचार करता है। अत्यन्त तीखा हो जाने पर व्यंग हास्य का प्रसारक नहीं रह जाता। ऐसे स्थलों पर हास्य-भावना-समाविष्ट घटनाओं का सहारा लेकर ही लेखक हास्य उत्पन्न कर सकता है। वस्तुतः व्यंग-लेखक की सावधानी इस बात में है कि वह अपने व्यंग-विषय को अत्यन्त हीन प्रमाणित न कर दे, जिससे कि हम उसके प्रति हँसने की अपेक्षा उससे घृणा करने लगें। इस बात के लिए लेखक को विषय के गुणों का भी ध्यान रखकर चलना होगा और उपयुक्त स्थलों पर उसका समावेश करना होगा।

वक्रोक्ति का उद्देश्य रहस्योद्घाटन करके किसी का वास्तविक रूप प्रस्तुत करना होता है। यह सरल भी हो सकती है, जिसमें केवल आनन्द और उल्लास की भावना हो और सांकेतिक भी हो सकती है, जिसमें आनन्द के साथ-साथ गूढ़ संकेत भी समाविष्ट हो। सांकेतिक वक्रोक्ति किसी वर्ग या व्यक्ति को अपना लक्ष्य बनाकर चलती है। वक्रोक्ति का रूप शाब्दिक प्रयोगों पर निर्भर करता है, अतएव श्लेष का प्रयोग इसमें विशेष हितकर सिद्ध होता है। श्लेष के द्वारा कथन में संक्षिप्तता किन्तु मार्मिकता का प्रवेश होता है, उक्ति अर्थ-पूर्ण होकर प्रभावपूर्ण हो जाती है। शब्द-चित्र उपस्थित करने के लिए वक्रोक्ति सबसे सरल उपाय है। जिसमें आधारभूत परिस्थिति का ध्यान भी नहीं रह जाता। शब्दों के अनपेक्षित प्रयोग द्वारा सिद्ध होने वाली वक्रोक्ति इसीलिए विशेष चमत्कारक जान पड़ती है। यह परिहास के उपवर्ग के रूप में ही मान्य हो सकती है। बिना परिहास के वक्रोक्ति का स्वरूप नहीं खिलता। परिहास की भूमि पर पनपने के कारण इससे आनन्द-प्रियता, प्रेरणा और मानवीय दृष्टिकोण की सिद्धि होती है, केवल शब्द-चातुर्य तक सीमित नहीं रह जाती। मानवीय सहानुभूति इसका सद्गुण है। श्लेष का प्रयोग इसमें बौद्धिक दृष्टि का नियोजन करता है, जिससे लेखक स्वयं तटस्थ रहकर शर-सन्धान करता दीख पड़ता है। गम्भीरता बनाए रहकर भी वह दूसरों को घायल करता चलता है और विषय को अज्ञानी तथा मूर्ख सिद्ध करता है। इसका परिहास से यही विशेष अन्तर है। परिहास सहानुभूति, प्रेम और बन्धुत्व की भूमि पर विचरण करता है और वक्रोक्ति बुद्धिजन्य और घातक होती है। परिहास हमें स्फूर्तिपूर्ण आनन्द प्रदान करता है और वक्रोक्ति पीड़ा देती है। वह जीवन के छिद्रों को उघाड़कर सामने लाती है। परिहास में जितनी ही भावुकता और सरलता जान पड़ती है, वक्रोक्ति में उतना ही तीखापन। परिहास-प्रेमी परिहास-विषय को चोट न पहुँचाकर मृदुल थपकी देकर उसमें उदात्त भावनाएँ जाग्रत करता है। सहानुभूति और जीवन-प्रेम जगाता है। परिहास परिस्थितियों में मित्र की भाँति सुगमता उपस्थित करता है और मृत्यु के भय में भी हँसने की प्रवृत्ति जगाता है।

इन सबसे भिन्न उपहास क्रोध और विद्वेष की समन्वय-स्थली बनकर आता है। इसमें प्रतिशोध लेने की भावना प्रबल होती है और परिस्थिति के अनुसार यह व्यक्ति या समाज के प्रति प्रकाशित किया जाता है। उपहास किसी विषय पर आक्षेप करता हुआ उसे अग्राह्य और घृणित सिद्ध करता है, केवल परिहास के समान किसी दोष की हँसी उड़ाकर आनन्द का प्रसार नहीं करता, कटुता

बिखेरता है। व्यंग के समान यह अनैतिकता पर भी अपने बाण नहीं बरसाता। वह दोषों को देखकर व्यक्ति या वस्तु के प्रति अपमान और घृणा का प्रसार करता है। यह मानवीय सद्गुण के रूप में सहजात नहीं, परिस्थितिजनित और अर्जित है। अतिशयोक्ति, अपमानजनक उपमा तथा रूपक आदि से इसका रूप उपस्थित करने का प्रयत्न किया जाता है। परिहास में जिस सुरुचि का प्रदर्शन होता है, उसके ठीक विपरीत उपहास क्रूरता से काम लेता है। परिहास का क्षेत्र भावना-क्षेत्र है, और वक्रोक्ति या उपहास का क्षेत्र मानसिक। इस रूप में वक्रोक्ति या उपहास एक-दूसरे से कुछ सम्बन्धित जान पड़ेंगे। वक्रोक्ति में उपहास की भावना मिश्रित रहती है। यों काकु वक्रोक्ति परिहास से सम्पर्क स्थापित करती है। उपहास अन्य हास्य-भेदों के समान समाज-सुधार को भी अपना लक्ष्य नहीं बनाता। वस्तुतः कटुता की तीव्रता के कारण हास्य के अन्तर्गत उपहास को रखना विशेष उपयोगी नहीं।

'परोडी' या विडम्बन-काव्य साहित्यिकता-मिश्रित हास्य का रूप उपस्थित करता है। वैपरीत्य इसका विशेष आधार है। किसी अन्य कवि की कविता की एक पंक्ति लेकर उसी पर अपनी ओर से अनेक ऐसी पंक्तियाँ जोड़ देना, जिनके द्वारा केवल विषय का महत्त्व ही समाप्त न हो जाए, अपितु वह पूर्णतया बदल जाए, किन्तु शैली मूलपंक्ति के समान ही बनी रहे, तब 'पैरोडी' सिद्ध होती है। इसमें शैली का अनुकरण ही महत्त्व रखता है। वैमनस्य या विद्वेष इसके मूल में नहीं होता। यह बात दूसरी है कि विद्वेष रखकर भी 'पैरोडी' लिखी जा सकती है। हिन्दी में श्री हरिशंकर शर्मा की विद्वेषहीन पैरोडियाँ प्रसिद्ध हैं :

सब यानन तें श्रेष्ठ अति द्रुतगति गामिनि कार।
धनिक जनन के जिय बसी निसदिन करति बिहार॥
मंजुल मूर्ति सदा सुख दैनी, समुझि सिहावहिं स्वर्ग नसैनी।
उछरति, कूदति किलकति जाई, सब कहँ लागति परम सुहाई।
पौं-पौं करति सुहावति कैसे, मुनि मख शंख बजावहिं जैसे।
चारु चक्र धारिनि मन भावन, कलरव करति विमोद बढ़ावन।
छाँह करन हित छएउ बिताना, विचरति फिरति बरन धरि नाना।
पीवहिं तेल उड़ावहिं धूरी, पद-चारिन कहँ दुरगति पूरी।

जब कटुता-मिश्रित कृत्रिम हँसी हँसी जाती है जिसमें हठबन्दी, दूसरे के विनाश की इच्छा, स्वार्थ-साधन, आदि दुष्प्रवृत्तियाँ मिल जाती हैं तब कपट-हास्य प्रकट होता है। इसे अंग्रेजी में 'सैटैनिक लाफ़्टर' या 'सारडॉनिक स्माइल' कह सकते हैं। इस भेद को वस्तुतः हास्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करना

चाहिए। इसमें रोष ही प्रधान होता है। हृदय का कालुष्य ही ऐसे स्थानों पर प्रधान रूप से प्रकट किया जाता है। ऐसे समय कवि का लक्ष्य हास्य की सिद्धि कराना नहीं होता, अपितु उस व्यक्ति के प्रति सामाजिक की उपेक्षा, उसके प्रति घृणा आदि मनोभावों को जगाना ही उसका लक्ष्य होता है। अतः इसे रौद्र के अन्तर्गत भाव-मात्र मानकर रखा जा सकता है। उदाहरणतः तुलसी की निम्न पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

"यह सुनि गुनि सपथ बड़ि विहँसि उठी मतिमन्द।
भूषण सजत विलोकि मृग मनहुँ किरातिनि फन्द॥"

कैकेयी कोपभवन में पड़ी हुई है, किन्तु उसे शपथ के महत्त्व का ध्यान आते ही यह विश्वास हो जाता है कि भरत को राज्य दिलाने और राम को वन भेजने में उसे अवश्य सफलता मिलेगी। अपनी विजय की कल्पना के कारण वह विहँस उठती है, लेकिन यह हँसी शैतान की हँसी, राक्षसी हँसी है, इसीलिए तुलसी ने इस हँसी को हास्य का प्रवर्त्तक न मानकर इस सम्बन्ध में 'मतिमन्द' 'किरातिनि फन्द' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। जिनसे उसके प्रति घृणा की ही सृष्टि होती है।

हास्य के इन भेदों पर विचार करने पर इन्हें चार मुख्य भेदों में बाँटा जा सकता है। यह भेद प्रभाव की दृष्टि से किये जाएँगे। जिन हास्योक्तियों से किसी प्रकार की घृणा व्यक्त न हो और केवल आनन्द मिलता हो, चित्त में उल्लास की तरंग फैलती हो, वह हास्य शुद्ध या कोमल कहा जाएगा। इसमें हास्यकर्त्ता और हास्य का लक्ष्य दोनों ही प्रसन्न रहते हैं। 'रामचरितमानस' में शिव की बरात का वर्णन इसी विभाग के अन्तर्गत आता है। शिव की उस बेढंगी बरात को देखकर यदि किसी ने यह कह ही दिया कि

"वर लायक बरात नहिं भाई, हँसी करैहौ परपुर जाई।"

तो इससे किसी प्रकार की घृणा व्यक्त न होकर हलकी हँसी का दौर ही दौड़ गया, क्योंकि शिव स्वयं भी अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे। जिस स्थान पर व्यंग वक्रोक्ति के रूप में उपस्थित हो, चोट छिपे-छिपे हो, प्रभाव का पता आन्तरिक रूप में लगे, तब उदासीन हास्य माना जा सकता है। लक्ष्मण का परशुराम के प्रति निम्न कथन इसी उदासीन हास्य का उदाहरण है :

"बहु धनुहीं तोरेउ लरिकाई। कबहुँ न अस रिसि कीन्ह गुसाईं।"

इन दो भेदों के अतिरिक्त जब चिढ़ाने की प्रवृत्ति या क्षोभ उत्पन्न करने की इच्छा से कोई बात कही जाती है जो 'सर्काज़्म' के अन्तर्गत आए, जिसमें दीर्घकाल तक चुभन उत्पन्न करने की शक्ति हो, उसे कठोर हास्य की संज्ञा दी

जाएगी। उदाहरणतः "टूट चाप नहिं जुरय रिसाने, बैठिय होइहैं पाय पिराने" पंक्ति में परशुराम के प्रति यही हास्य व्यक्त हुआ है। हास्य की अन्तिम स्थिति निर्दय हास्य कही जा सकती है। इस हास्य में घृणा प्रधान हो जाती है। विपक्ष को हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति विशेष रूप से जाग उठती है, यही 'सैटायर' है। कबीर की उक्तियाँ इसी निर्दय हास्य के उदाहरण हैं। वे विपक्ष का खण्डन करने के लिए बिलकुल विचित्र उपमाओं से काम लेते हैं, जिनमें तत्कालीन चोट पहुँचाने की क्षमता बहुत अधिक होती है। यथा :

"मूड़ मुँड़ाये हरि मिलैं सब कोइ लेय मुड़ाय।
बार-बार के मूड़ते भेड़ न बैकुण्ठ जाय॥"

अथवा

"पाथर पूजे हरि मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते तो चाकी भली, पीस खाय संसार॥"

इन उक्तियों में वचनभंगी की विशेषता है। विपक्ष के किसी आचार-विचार का तिरस्कार करने के लिए अथवा उसका बेढंगापन प्रमाणित करने के लिए कबीर ने वैसी ही बेढंगी उपमा से काम लिया है। सोच-विचारकर, सब-कुछ त्यागकर मूड़ मुँडाने और वैराग्य धारण करने की तुलना भेड़ के मुँडने से करना किसी प्रकार भी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। व्यंग की तीव्रता के कारण इसे निर्दय हास्य कहेंगे।

रौद्र रस

रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है। क्रोधसहित सर्वेन्द्रिय का औद्धत्य ही संग्राम-हेतुक रौद्र रस है। इसका वर्ण लाल तथा देवता रुद्र है। रौद्र कर्म ही करुण रस का जनक होता है। राक्षस, दानव तथा उद्धत मनुष्य ही विशेषतः रौद्रकर्मा होते हैं। यों तो इनके समान कृत्य करने वाले अन्य व्यक्तियों में भी यह सम्भावित है, किन्तु राक्षसादि स्वभाव से ही रौद्र होते हैं। इनके अनेक बाहु और अनेक मुख, बिखरे बाल, रक्तमय आँखें, भीमकाय, असित रूपादि तथा इनकी आंगिकादि चेष्टाएँ सभी स्वभावतः रौद्र-व्यंजक होती हैं। अतएव इन्हींका विशेष उल्लेख किया गया है।[1]

लक्षण तथा विभावादि

घर्षण, अधिक्षेप, अपमान, असत्य कथन, कठोर वचन, द्रोह, मात्सर्य अथवा परदारा का अपहरण, किसी के देश, जाति अथवा सगे-सम्बन्धी की निन्दा,

१. ना० शा० चौ०। पृ० ७६।

किसी की विद्या अथवा उसके कर्मों पर आक्षेप, किसी का उपहास, विरोधी दल के व्यक्ति, भुलक्कड़ अथवा हमारी न सुनने वाले, समय पर सहायता न करने वाले, मतलबी, कृतघ्न, प्रतिकूलगामी व्यक्ति आदि रौद्र के अनेक विभाव हो सकते हैं। अनिष्ट, अपमान अथवा विरोध करने वाले व्यक्ति अथवा वस्तु सभी रौद्र के आलम्बन होने योग्य हैं। इनकी चेष्टाएँ, उक्तियाँ तथा अनिष्ट-कारी स्वरूप उद्दीपन होंगे।

आरक्त नेत्र, भृकुटि-भंग, दाँत अथवा ओंठ चबाना, हथेली मलना, निश्वास, स्तम्भ, रोमांच, स्वेद, हाथ पीटना, बाँहें ऊपर चढ़ाना, मूँछें ऐंठना, पुट्ठे पीटना ललकारना, प्रहार करना, पीड़ा देना, छेदना, हरण कर लेना आदि इसके अनुभावों में गिने जाते हैं। उन्माद, मद, गर्व, ईर्ष्या, असूया, श्रम, अवहित्थ, मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चपलता, उग्रता, विबोध आदि व्यभिचारी के रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार वागंगचेष्टायुक्त उग्र क्रियाकर्मादि रूप में व्यक्त होने पर क्रोध ही रौद्र रस कहलाता है।

क्रोध की व्यंजना प्रायः शत्रु आदि पूर्व-कथित विभावों अथवा मृत्यु, प्रिया एवं गुरुजनों के प्रति भी हो सकती है।[१] परन्तु प्रबल व्यंजना केवल शत्रु के प्रति ही सम्भव होने से अन्य के प्रति प्रदर्शित क्रोध या रोष को रौद्र का उप-कारक नहीं बताया गया है। शत्रु के प्रति क्रोध आक्रोश का रूप धारण कर लेता है; किन्तु भृत्य, प्रिया एवं गुरुजनों के प्रति रोष अनुपयुक्त एवं क्षीण माना जाता है। भृत्य के प्रति निर्भर्त्सनादि का प्रदर्शन तो सम्भव है, परन्तु उसके दीन पात्र होने के कारण वह रौद्र का आलम्बन नहीं बन सकता। इसी प्रकार प्रिया के प्रति रोष राग-युक्त होने के कारण मान-विप्रलंभ के अन्तर्गत रख लिया गया है। कभी-कभी स्त्रियों में आभूषणादि उतार फेंकने से लेकर कटु वचन कहने और पति की ताड़ना तक पहुँचे हुए लक्षण दीख पड़ते हैं, किन्तु स्त्रियों के लिए शोभाकारक न होने के कारण उन्हें रौद्र रस का प्रसारक नहीं माना गया है। गुरुजनों के प्रति रोष प्रकट करना अनम्रता का बोधक होने से उपेक्षणीय है। इसी कारण गुरुजनों के प्रति क्रोध की व्यंजना नम्रमुख, मौनावलम्बनादि से की जाती है। वाणी से उसे व्यक्त करना उचित नहीं। सारांश यह है कि क्रोध भृत्य, प्रिया या गुरुजन के प्रति हो तो सकता है परन्तु उक्त कारणों से उनसे रौद्र रस की सिद्धि सम्भव नहीं मानी जा सकती, अतः उन्हें किसी-न-किसी अन्य रस या भाव के अन्तर्गत मान लिया जाता है।

१. ना० शा० चौ०, पृ० ८२ तथा भा० प्र०, पृ० ७०–७१।

भरतमुनि[1] तथा शारदातनय[2] ने रौद्र के भी अंग, नेपथ्य और वाक् नामक तीन भेद किये हैं। नेपथ्य शब्द का प्रयोग भरत ने वेश-भूषा के लिए किया है।

रौद्र रस के भेद

भरत के अनुसार रुधिर में भीगी देह या मुख, सिर तथा हाथ नेपथ्य रौद्र का लक्षण है, शारदातनय ने कृष्णरक्त वस्त्र, कृष्णरक्तानुलेपन, कृष्णरक्त माला तथा आभूषणादि धारण को नेपथ्य रौद्र का लक्षण बताया है। इसी प्रकार भरत ने बहु बाहु, बहु मुख, नाना अस्त्रों से सुसज्जित, स्थूलकाय आदि को अंग-रौद्र का लक्षण बताया है और शारदातनय ने भी इन्हींका एकाध नया लक्षण स्वीकार कर लिया है। स्वभावज-रौद्र का लक्षण देते हुए भरत ने रक्त-नेत्र, पिंगल केश, विकृत स्वर, रूक्ष-व्यवहार, निर्भर्त्सन आदि का उल्लेख किया है और शारदातनय ने विशेष क्रियाओं का ही उल्लेख करते हुए वाचिक रौद्र का लक्षण प्रस्तुत किया है। यथा छेद दो, भेद दो, इसे बाँध लो, खा जाओ, मारो, पीटो, इसका रक्त पी जाऊँगा, कुचल दूँगा आदि कथन वाचिक रौद्र को प्रकट करते हैं। इनसे क्रोध पूर्णतया व्यक्त होता है।

यद्यपि अलग-अलग रूप में भी यह भेद प्रभावशाली सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु इनका सामूहिक प्रदर्शन ही अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। नेपथ्य रौद्र, वाचिक रौद्र के बिना सूना-सूना-सा लगेगा, क्योंकि रौद्र और भयानक में क्रिया का ही विशेष अन्तर है, क्रिया रौद्र में सप्राणता ला देगी अन्यथा विकृत आकार और वेश-भूषा से तो भय भी उत्पन्न हो सकता है। केवल रक्ताक्त होने से बीभत्स भी व्यक्त हो सकता है। क्रियोपहित क्रोध से ही रौद्र अभिव्यक्त होता है। ऐसी दशा में इन भेदों की सत्ता व्यर्थ जान पड़ती है।

कतिपय उदाहरण : 'रस रत्नाकर' में श्री हरिशंकर शर्मा ने कविराज शंकर का निम्न छन्द रौद्र के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है :

ताकत ही तेज न रहैगो तेज धारिन में,
मंगल मयंक मन्द मन्द पड़ जायंगे।
मीन बिन मोर मर जायँगे तड़ागन में,
डूब-डूब शंकर सरोज सड़ जायँगे॥
खायगो कराल काल-केहरी कुरंगन कों,
सारे खंजरीटन के पंख भड़ जायँगे॥

1. ना० शा० चौ०, ६।७७।
2. भा० प्र०, ३। पृ० ६४, पंक्ति ८।

तेरी अँखियान से लड़ेंगे अब और कौन,
केवल अड़ीले दृग मेरे अड़ जायँगे ।।

इस सम्बन्ध में हमारा विचार है कि यह रौद्र रस का उदाहरण नहीं है। शृंगार तथा रौद्र, दोनों विरोधी रस हैं। अतएव उन्हें एक साथ रखकर रौद्र का प्रभाव न जमाया जा सकेगा। यहाँ रौद्र के साथ शृंगार रखा गया है। दूसरी बात यह कि नेत्र न तो रौद्र के उपयुक्त आश्रय हैं, और न आलम्बन। तीसरी बात यह कि नेत्र किसी क्रोधी पात्र के क्रोध-रक्त नेत्रों से नहीं लड़े हैं, अपितु यौवनोन्मत्त नायिका के नेत्रों से जा अड़े हैं। सब जानते हैं कि इन नेत्रों का प्रभाव कैसा मारक होता है। यह जानते हुए कोई भला शृंगार को छोड़कर रौद्र को कैसे अपना लेगा। हाँ, यह माना जा सकता है कि शृंगार के प्रेमी नेत्रों की इस उछल-कूद के वर्णन के चमत्कार पर वाहवाही अवश्य करेंगे। पर वह चमत्कार ही होगा, रौद्र की सुघर व्यंजना कदापि नहीं।

इसी प्रकार श्री पोद्दारजी ने निम्न छन्द के सम्बन्ध में उचित ही कहा है कि—ऐसे उदाहरण रौद्र रस के नहीं हो सकते। यद्यपि यहाँ क्रोध के आलम्बन श्री रघुनाथजी हैं, धनुष का भंग होना उद्दीपन है, होंठों का फरकना आदि अनुभाव और पितृ-वध की स्मृति, गर्व, उग्रतादि व्यभिचारी भाव इत्यादि रौद्र की सभी सामग्री विद्यमान है, पर ये सब मुनि-विषयक रतिभाव के अंग हो गए हैं—प्रधान नहीं हैं। यहाँ कवि का अभीष्ट परशुराम के प्रभाव के वर्णन द्वारा उनकी वन्दना करने का है, अतः वही प्रधान है। क्रोध स्थायी उसका अंग होकर गौण हो गया है।[1]

छन्द इस प्रकार हैं :—

सत्रुन के कुल-कान सुनी, धनु-भंग-धुनी उठि बेगि सिधाये।
याद कियो पितु के बध कों, फरकें अधरा दृग रक्त बनाये ।।
आगे परे धनु-खंड विलोकि, प्रचण्ड भए भृकुटीन चढ़ाये।
देखत श्री रघुनायक कों भृगुनायक वंदत हौं सिर नाये ।।

करुण रस

करुण रस का स्थायी भाव शोक है, वर्ण कपोत तथा देवता यमराज माने गए हैं। हिन्दी के आचार्यों ने प्रायः वरुण को इसका देवता बताया है। यह

करुण रस का लक्षण

शोक, क्लेश, विनिपात, इष्टजन-विप्रयोग, विभव-नाश, वध, बन्धन, उपद्रव, उपघात आदि विभावों से उत्पन्न

१. 'रस-मंजरी,' पृ० २०६।

होता है। इनमें इष्ट-जन-विप्रयोग के अन्तर्गत पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र अथवा पुत्री, भाई-भाई अथवा भाई-बहन आदि अनेकानेक सम्बन्धों का ग्रहण करना चाहिए। ऐसे सम्बन्ध जब दीर्घकालिक विप्रयोग के रूप में उपस्थित होते हैं और मिलन की आशा नहीं रहती, तब शोक विभावादि संयोग के कारण करुण रस में परिवर्तित हो जाता है। इसी कारण धनंजय ने कहा है कि करुण रस या तो इष्ट-नाश से होता है अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से।[1] अनिष्ट की प्राप्ति का अर्थ यह नहीं है कि इष्ट वस्तु या व्यक्ति का सर्वथा नाश हो जाए अथवा केवल इष्ट वस्तु या व्यक्ति का ही अनिष्ट हो, अपितु उस वस्तु या व्यक्ति की हानि होने से भी करुण रस की उपस्थिति हो सकती है और उसके सम्बन्धी के स्वयं अनिष्टग्रस्त होने से भी। यही कारण है कि इष्ट-नाश की बात पृथक् रूप से कही गई है। अनिष्ट की प्राप्ति में शाप, बन्धन आदि आते हैं। यहाँ तक कि क्लेश, अर्थ-हानि, राज्य अथवा देश-परिभ्रंश के फल-स्वरूप भी करुण का विधान हो सकता है। तात्पर्य यह कि मोटे रूप में इष्ट-नाश और अनिष्ट-प्राप्ति ही करुण का लक्षण है; और इन दोनों भेदों के अन्तर्गत अन्य अनेक भेद समा जाते हैं।

इसमें अश्रुपतन, परिदेवन, मुख-शोषण, वैवर्ण्य, निःश्वास आदि अनुभाव प्रकट होते हैं तथा निर्वेद, ग्लानि चिन्ता, औत्सुक्य, आवेग, मोह, श्रम, भय, विषाद, दैन्य, व्याधि, जड़ता, उन्माद, अपस्मार, त्रास, आलस्य, मरण, स्तम्भ, वेपथु, वैवर्ण्य, स्वर-भेदादि व्यभिचारी तथा सात्विक प्रकट होते हैं। उद्दीपन के रूप में प्रियजन की हानि का स्वरूप, मरणान्तर किसी का शव-दर्शन, उनकी प्रिय वस्तुओं का दर्शन, मृतक का गुण-श्रवण, कष्ट की कल्पना, दुखित दशा आदि आते हैं।

शोक का प्रभाव भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार भिन्न रूपों में सहन करते हैं। उत्तम व्यक्ति विवेक और धैर्य से शोक सहन कर लेता है, मध्यम व्यक्ति मूर्च्छा तक पहुँच जाता है अथवा रुदन करता है और स्त्री तथा नीच-पुरुष या तो मृत्यु को प्राप्त होते हैं अथवा हाहाकार मचा देते हैं। जितना ही अधिक विवेक जाग्रत रहता है उतना ही शोक का कष्ट सहन कर लिया जाता है।

करुण रस के कई प्रकार के भेदों का उल्लेख शास्त्रों में हुआ है। देखने, सुनने अथवा स्मरण करने से करुण का स्थायी शोक उद्बुद्ध हो जाता है। किसी प्रियजन के शव को देखकर अथवा उससे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं के

१. इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुनम्। द० रू०, पृ० १८४।

करुण के भेद

कारण उसका स्मरण करके अथवा किसी व्यक्ति-विशेष से उसका दुःखद समाचार सुनकर शोक का भाव उमड़ने लगता है। अतः इस साधन-भेद की दृष्टि से करुण को इष्ट वस्तु-जन्य, स्मृत वस्तु-अनिष्टजन्य, श्रुत अनिष्टजन्य इन तीन भेदों में बाँट सकते हैं। यों जितने विभाव लक्षण के अन्तर्गत गिनाये गए हैं, उन्हें भी करुण का भेद माना जा सकता है; और स्थूल रूप से उसे अनिष्टजन्य तथा इष्ट नाश-जन्य कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त भानुदत्त आदि ने उसके स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ नामक दो भेद और बताये हैं। अपने शाप, बन्धन, क्लेश आदि जनित होने पर करुण स्वनिष्ठ तथा दूसरे के नाशादि होने पर परनिष्ठ माना जाता है।[1] भरतमुनि ने करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव, शोककृत नामक तीन भेदों का नाम लिया है।[2] इन्हींको दूसरे शब्दों में धर्म, अर्थ तथा शोक-करुण माना जा सकता है। जहाँ धर्म के अनिष्ट का भय उत्पन्न हो जाए, वहाँ धर्म-करुण, जहाँ अर्थ-हानिजन्य भय हो, वहाँ अर्थ-करुण तथा सम्बन्धी-विनाश के कारण शोक-करुण माना जाता है। इनमें शोक-करुण ही प्रधान और विशेष प्रभावशाली होता है, शेष संचारी के रूप में ग्रहण किए जा सकते हैं।

भावप्रकाशकार ने करुण के मानस, वाचिक तथा कर्म नामक भेद माने हैं।[3] मानस-करुण में वाक्यार्थ का अनुसन्धान, निःश्वासोच्छ्वास की दीर्घता, अनुभूत के प्रति अनभिज्ञत्व, अनवस्थित चित्तता, विरक्ति, केश, वस्त्र, अंग, संस्कारादि में दीनता आदि लक्षण होते हैं। व्यक्ति शून्य में ताकता है और स्निग्ध के प्रति भी उसकी अनिच्छा बनी रहती है। वाचिक में हा-हा करके रोना, प्रलाप, दीर्घ भाषण आदि पाए जाते हैं। इसी प्रकार कर्म-करुण में भी अनेक अनुभाव गिनाए जा सकते हैं।

मात्रा-भेद से भी करुण के कई भेदों की चर्चा की जाती है। यथा; करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण तथा सुख-करुण। इनमें से करुण, अतिकरुण तथा महाकरुण को तो करुण की उच्च, उच्चतर और उच्चतम दशा माना जा सकता है, किन्तु यह सुख-करुण सुनने में बिलकुल विचित्र-सा लगता है।

१. स्वशापबन्धनक्लेशानिष्टैर्विभावैः स्वनिष्ठः।
परेष्टनाश शापबन्धनक्लेशादीनांदर्शन स्मरणैर्विभावैः परनिष्ठः।
र० त०, पृ० १४६।

२. ना० शा०, चौ०, पृ० ७६, अ० ६–७८।

३. भा० प्र०, पृ० ६४, पंक्ति ६।

गुलाबरायजी का कथन है कि लघुकरुण में करुणा की मात्रा प्रथम तीन से कुछ कम हो जाती है। वहाँ, वह केवल चिन्ता के रूप में रहती है। अनिष्ट का नाम रहता है, किन्तु आशा नहीं छूटती। चित्त दुविधा में रहता है। अनिष्ट-निवारण का पूरी तरह से प्रयत्न होता रहता है। सुख-करुण वह करुण है, जो हर्ष में बदलने वाला हो, किन्तु वहाँ पिछले वियोगजन्य करुण का प्रबल आवेग हर्ष को प्रभावित करके मनुष्य को रुला देता है। हर्ष के आँसू इसी प्रकार के होते हैं।[1]

पूर्वोक्त भेदों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि साधन-भेद से माने जाने वाले भेदों से करुण-रस की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता, अतः उनके मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। विभावादि के अनुसार करुण के भेद करने में एक कठिनाई है और वह यह कि इस प्रकार के भेदों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती। अतएव सरल और सत्य मार्ग यही है कि स्थूल रूप से इष्ट-नाश तथा अनिष्ट-प्राप्ति नामक दो भेद स्वीकार कर लिए जाएँ। स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ भेदों को हम क्रमशः करुणाजनक तथा करुणाजनित भी कह सकते हैं। स्वनिष्ठ में आश्रय स्वयं अपने कष्ट का बखान करता पाया जाएगा, जो शोकोद्गार-मात्र होगा, दूसरे व्यक्ति में अपने प्रति करुणा उत्पन्न करेगा, किन्तु स्वयं करुणाजनित न होगा। 'प्रिय प्रवास' में कृष्ण के सम्बन्ध में यशोदा का **'प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है'** आदि शोकोद्गार इसीका उदाहरण है। इसके विपरीत परनिष्ठ शोक किसी व्यक्ति या वस्तु की दुर्दशा आदि के कारण आश्रय के मन में उत्पन्न शोक या करुणा से ही उद्भूत होगा। इनमें एक शोक की स्थिति है और दूसरी करुणा की। किन्तु काव्य में इनका प्रयोग सहृदय को द्रवित करेगा वहाँ यह करुणरस के रूप में ही आयंगे।

भावप्रकाशकार द्वारा दिये गए भेद केवल अनुभाव-भेद से हैं, उन्हें महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं। लघुकरुण आदि भेद भी हमारी दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। रस के स्तर-भेद के रूप में इन्हें स्वीकार तो किया जा सकता है किन्तु रस-ग्रन्थों में जिन उदाहरणों को अतिकरुणादि कहा गया है, उनका अन्तर्भाव या तो अन्य रसों में हो जाता है या वे रस की अवस्था तक न पहुँचकर भाव-कोटि तक ही रह जाते हैं। उदाहरण के लिए 'महाकरुण' का उदाहरण करुण रस का नहीं उपालम्भमय वियोग का है।

हास हुलास हिए के लिए सु निरास उसास हमैं दिए बोये।
'देव' लुन्यौ सुख रूपन को बनु यामन में विष बीजु सो बोए॥

1. 'नवरस' पृ० ४४१।

प्यास निगोड़ी रही गड़ि नैननि उज्जल सों निचुरै नित कोए।
आपुनो जागिबो सौंपि हमैं अब नींद हमारी लै यों सुख सोए॥

छन्द की तीसरी पंक्ति पर ध्यान दीजिए तो स्पष्ट हो जाएगा कि नैनों में निगोड़ी प्यास, अर्थात् दर्शनाशा भरी है और नित्य ही अश्रु-विमोचन हो रहा है। यह सब क्या निरुद्देश्य कहा गया है ? क्या 'सुख सोए' का अर्थ उपालम्भ रूप में यह न होकर कि वहाँ बैठे अपने-आप चैन कर रहे हैं और हमारी उपेक्षा कर दी है, यह है कि वे सुख की सेज पर सो गए अर्थात् मर गए ? कथमपि नहीं। यह तो उपालम्भ है सीधा।

सुख-करुण के अन्तर्गत दिया गया निम्न उदाहरण भी हमारे विचार से भावोदय का उदाहरण है। इस छन्द में कौशल्या का शोक-भाव और उसके संचारी तो शान्त हो चुके हैं, उनके स्थान पर हर्ष तथा पुलक आदि प्रधान हो गए हैं :

भाग की भूमि सुहाग को भूषन राजसिरी निधि लाज निवासू।
आइए मेरी दुहू कुल दीपक धन्य पतिव्रत प्रेम प्रकासू॥
लंक ते आइ विसंक लिए सुख सर्वसु वारति कौसिला आपू।
पायन पै ते उठाई सिये हिय लाय बुलाय लै पौंछति आँसू॥

सारांश यह है कि करुण के केवल इष्टनाश तथा अनिष्ट-प्राप्ति नामक दो ही भेद मानने चाहिएँ। इष्टनाश तो मृत्यु से सम्बन्ध रखता है और अनिष्ट-प्राप्ति के अन्तर्गत अनेकानेक भेदों का समावेश हो सकता है। इष्टनाश का उदाहरण शैव्या-विलाप हो सकता है, अथवा दशरथ-मरण पर किया गया विलाप भी उसी का उदाहरण है। लक्ष्मण के आहत होने पर राम का विलाप बड़ा ही मर्म-व्यंजक और करुण है। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनमें कहीं किसी नेता या महान् व्यक्ति की अथवा मित्रादि की मृत्यु पर आँसू बहाये गए होंगे। अथवा दुर्भिक्ष-पीड़ित, शोषित व्यक्ति अथवा नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य, देश अथवा स्थान-विशेष के कारण करुण का निर्वाह पाया जाएगा।

करुण, वात्सल्य और विप्रलम्भ शृंगार

इस प्रकार विचार करने से करुण रस के भेदों के ज्ञान के साथ-साथ करुण और विप्रलम्भ के पारस्परिक अन्तर पर भी प्रकाश पड़ जाता है। इस सम्बन्ध में हमारे विचार, संक्षेप में इस प्रकार हैं : करुण रस का स्थायी भाव रत्यना-लिंगित शोक है और शृंगार का स्थायी है रति। यह शोक निम्नांकित दो कारणों से उत्पन्न हो सकता है।

(१) इष्ट-नाश के द्वारा, तथा (२) अनिष्ट-प्राप्ति के द्वारा। इष्टनाश में प्रिय

वस्तु या व्यक्ति का पूर्णतया नाश हो जाता है, किन्तु अनिष्ट-प्राप्ति में प्रिय व्यक्ति या वस्तु का नाश न होने पर भी उस पर अत्यन्त अनिष्टकारक कष्ट आया हुआ देखकर, सुनकर या अनुमान करके भी करुण उत्पन्न हो जाता है। उदाहरणतः, कालियनाग से ग्रस्त बालकृष्ण को देखकर गोप-गोपी, नन्द-यशोदा का वैकल्यपूर्ण विलाप अथवा चिन्ता का प्रकटीकरण इष्टनाश न होने पर भी केवल अनिष्ट-प्राप्ति के कारण उपस्थित करुणरस माना जाएगा। इसी प्रकार कैकेयी की कुटिलता के कारण वनवास के लिए जाते हुए राम को देखकर दशरथ का यह चिन्तन कि जिसे राजतिलक से मण्डित होना था वही राम वनवासी हो रहे हैं और यह परिवेदन कि मैंने वचन देकर यह क्या किया, अथवा मेरे जीवन में राम अब मिल भी सकेंगे या नहीं आदि बातों के कारण दशरथ के परिताप का वर्णन करुणरस कहलाएगा। यहाँ राजतिलक न होने से इष्टनाश और वनवासी हो जाने से अनिष्ट-प्राप्ति दोनों ही हैं। फिर भी यहाँ एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए। वह यह कि अनिष्ट की संभावना जितनी ही तीव्र होती जाएगी उसी मात्रा में करुण की स्थिति दृढ़तर होती जाएगी, अन्यथा वह करुण का सहारा पाकर भी दूसरे रसों में परिणत हो सकती है। जैसे, यदि प्रिया प्रवास में गये हुए पति के सम्बन्ध में कोई कष्टकर अनिष्ट समाचार सुनकर शंकाकुल और चिन्ता-व्यस्त होने लगे कि अब क्या होगा, तो वह करुण का लक्षण कुछ-कुछ व्यक्त करता हुआ भी रति-सम्पर्क के साथ पूर्ण अनिष्ट के अनिश्चय के कारण केवल करुण-विप्रलम्भ का उदाहरण होगा और जब तक रति-शून्य अनिष्ट-निश्चयजनित शोक उपस्थित न हो जाएगा तब तक उसे शुद्ध करुण न कहा जा सकेगा। इसी प्रकार कृष्ण के मथुरा में ही रह जाने पर यशोदा की निम्न उक्ति चिन्ता तथा शंका से व्याकुल वात्सल्यमूर्त्ति माता का रूप उपस्थित करती है, जिसके कारण हम इसे करुण-वात्सल्य का उदाहरण मानते हैं :

> प्रिय पति वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है।
> दुःख-जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है।
> अब तक जिसको मैं देखके जी सकी हूँ।
> वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है॥

—'प्रियप्रवास', सप्तम सर्ग।

यही प्रसंग आगे चलकर कृष्ण के फिर न मिलने के निश्चय हो जाने पर वात्सल्य को निराशाजनित करुण रस में परिवर्तित कर देता है। निम्न पंक्तियों में करुण रस का परिपाक सहज ही देखा जा सकता है :

विधु मुख अवलोके मुग्ध होगा न कोई।
न सुखित ब्रजवासी कान्ति को देख होंगे।
यह अवगत होता है सुनी बात द्वारा।
अब बह न सकेगी शान्ति-पीयूष धारा।
—'प्रियप्रवास', सप्तम सर्ग।

तथा— हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे।
हा ! प्राणों के परमप्रिय हा ! एक मेरे दुलारे।
हा ! शोभा के सदन सम हा ! रूप लावण्य वाले।
हा ! बेटा हा ! हृदय-धन हा ! नेत्र-तारे हमारे।—वही

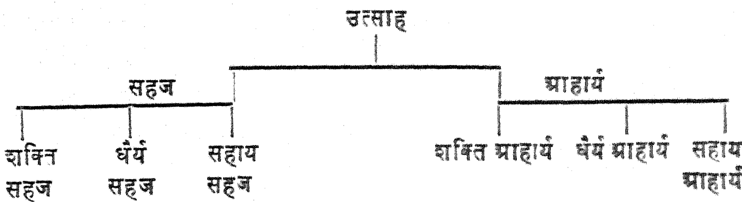
इसी प्रकार शकुन्तला के विदा होने पर कण्व ऋषि का पितृ-वात्सल्य से भरकर द्रवित होते हुए 'यास्यत्यद्य शकुन्तले····'इत्यादि श्लोक द्वारा अपने भाव व्यक्त करना भी हमारे विचार से वियोग-वात्सल्य-मात्र का उदाहरण है, करुण का नहीं। इसके कई कारण हैं। शकुन्तला समस्त मंगल-कामनाओं के साथ पति-गृह भेजी जा रही है, अतः पिता के लिए प्रसन्नता का अवसर है, दूसरे किसी प्रकार की शंका यहाँ नहीं है कि शकुन्तला का अनिष्ट होगा। स्पष्ट ही कहा भी गया है **'विश्लेषदुःखैर्नवै।'**

अभिप्राय यह है कि निराशा की तीव्रता और उसके अनुकूल रति का उसी मात्रा में अभाव रसों के भिन्न-भिन्न रूप उपस्थित करता है। जहाँ निराशा पूर्णता को पहुँच गई है, वहाँ चाहे इष्ट-नाश हो चुका है अथवा अनिष्ट होने का निश्चय हो चुका है और सम्बन्धित व्यक्ति निराशा में डूबता दिखाया गया है, वहाँ करुण रस मानना चाहिए, किन्तु जहाँ तनिक भी आशा की लौ जगमगा रही हो, जहाँ इष्टनाश अथवा अनिष्ट का निश्चय न हो किन्तु अवस्था फिर भी व्यग्रतापूर्ण हो, वहाँ अवसर के अनुकूल वियोग या करुण-वात्सल्य हो सकता है। अतः जहाँ रति अप्रधान तथा शोक प्रधान हो वहाँ करुण और जहाँ इसके विपरीत स्थिति हो वहाँ विप्रलंभ शृंगार, करुण-वात्सल्य अथवा वियोग-वात्सल्य में से कोई होगा। संक्षेप में हमारी स्थापना यह है कि (१) भावी इष्टसाधनता के अभाव में रति केवल संचारी रूप में उपस्थित होता है, अतएव ऐसे स्थल पर करुण रस मानना चाहिए। (२) किसी व्यक्ति से सम्बन्ध न रखने पर भी आलम्बन का दारुण कष्ट देखकर शोक-जन्य करुण रस व्यक्त हो सकता है, जैसे निरालाजी की 'विधवा' शीर्षक कविता द्वारा। (३) जहाँ अपने प्रिय पुत्रादि के अनिष्ट की आशंका और उसके अपने से वियुक्त होने की रति-युत व्याकुलता रहती है, वहाँ करुण-वात्सल्य या वियोग-वात्सल्य होता है।

वीर रस

विभावादि वर्णन

वीर रस का स्थायी भाव उत्तम प्राकृतिक उत्साह होता है।[1] किसी कार्य के सम्पन्न करने के हेतु हमारे मानस में एक विशेष प्रकार की सत्वर क्रिया सजग रहती है। वही उत्साह है।[2] भानुदत्त के विचार से पूर्णतया परिस्फुट 'उत्साह' या संपूर्ण इन्द्रियों का प्रहर्ष ही वीर रस है। यह उत्साह शक्ति-संभूत होता है।[3] जिस व्यक्ति में शक्ति ही नहीं है, जिसमें बल नहीं है, वह उत्साहहीन, निराश, दुर्बल एवं निष्क्रिय हो जाता है। धैर्य तथा साहाय्य उत्साह के दो प्रमुख सहायक हैं। जो व्यक्ति धैर्यपूर्वक काम नहीं कर सकता, वह बहुत काल तक उत्साही नहीं रह सकता। इसी प्रकार गिरते हुए व्यक्ति, हारते हुए योद्धा को अपनी सहायता के लिए आये हुए व्यक्ति या सैनिक को देखकर नवीन बल का अनुभव होने लगता है, उसमें नवीन शक्ति का संचार हो जाता है। साहाय्य के अभाव में कभी-कभी धैर्य तथा उत्साह भी काम नहीं कर पाते। यथा, महाराणा प्रताप में स्वशक्ति की कमी न रहने पर भी असहाय दशा ने उन्हें अकबर के सम्मुख विनम्र होने के लिए विवश कर दिया था। वस्तुतः शक्ति के दो रूप हैं। वह आन्तरिक भी है और बाह्य भी। आन्तरिक शक्ति मनोबल है, आत्मबल है; और बाह्य शक्ति का दूसरा नाम साहाय्य है। सहायता का अर्थ है, एक व्यक्ति के लिए दूसरे की शक्ति का प्रदान। आत्म-शक्ति के रहने पर भी कभी-कभी बाह्यशक्ति का अभाव मनुष्य को हतोत्साह कर दिया करता है। किन्तु उसे पाते ही उत्साह की लौ पुनः जाग उठती है। अतः विद्वानों ने उत्साह के सहज तथा आहार्य नामक दो भेद माने हैं। शिंगभूपाल ने तो उन दोनों के भी शक्ति, धैर्य तथा सहाय के नाम से तीन-तीन भेद किये हैं।[4] इस प्रकार उत्साह के भेदों को निम्न रूप में दरशाया जा सकता है :



१. उत्साहीनाम् उत्तमप्रकृतिः। ना० शा०, पृ० ८३।

२. उत्साह सर्वकृत्येषु सत्वरा मानसी क्रिया। भा० प्र०, पृ० ३५।

३. उत्साहः शक्तिसम्भूता वृत्तिरोन्नत्यनामिका। सा० सार, पृ० ४।

४. भा० प्र०, पृ० ३५, श्लोक ३, तथा र० सु०, पृ० १५६, श्लोक १२६।

कुछ आधुनिक विद्वान् 'अमर्ष' अथवा 'साहस' को ही इसका स्थायी भाव मानने के पक्ष में हैं, परन्तु निन्दा, अपमान, आक्षेप आदि के कारण उत्पन्न चित्ताभिनिवेश अमर्ष और आनन्दशून्य केवल निर्भीकतापूर्ण धैर्य-रूप साहस को 'उत्साह' का समकक्ष नहीं ठहराया जा सकता।

भरतमुनि ने अविषाद, शक्ति, धैर्य, शौर्य तथा त्यागादि को इसके विभाव के अन्तर्गत रखा है।[1] हेमचन्द्र ने नयादि को विभाव, स्थैर्यादि को अनुभाव तथा धृत्यादि को व्यभिचारी भाव माना है। नयादि से उनका तात्पर्य प्रतिनायक के प्रति नीति, विनय, असंमोह, अध्यवसाय, बल, शक्ति, प्रताप, प्रभाव, विक्रम, अधिक्षेपादि से है। अनुभाव के अन्तर्गत स्थैर्य, धैर्य, शौर्य, गाम्भीर्य तथा त्याग एवं वैशारद्य आदि आते हैं और धृति, स्मृति, औग्र्य, गर्व, मति आवेग हर्षादि को संचारी माना है।[2] उनकी इस तालिका में विद्वानों द्वारा कथित लगभग सभी विभावादि को रख लिया गया है। नाट्यदर्पणकार ने वीर के अभिनय की दृष्टि से बल, पराक्रम, न्याय, यश तथा तत्त्वविनिश्चय को प्रमुख माध्यम माना है। पराक्रम से उनका तात्पर्य शत्रु के मण्डलादि पर आक्रमण की सामर्थ्य से है। बल के द्वारा उन्होंने सैन्य, धन-धान्य तथा सम्पत्ति का बोध कराया है। अथवा शारीरिक शक्ति भी बल ही है। न्याय का अर्थ सामादि का सम्यग्प्रयोग अर्थात् इन्द्रियजय है। यश सार्वत्रिक शौर्यादि गुणख्याति है। इससे शत्रु-सन्तापकारी प्रताप का ही बोध होता है। तत्त्व का तात्पर्य यथातथ्य का निश्चय है।[3]

भरतमुनि ने शृंगार, रौद्र और बीभत्स के साथ वीर को भी मूल रसों में परिगणित किया है। इससे अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है। वर्ण स्वर्ण या गौर तथा देवता इन्द्र हैं। उत्साह से सम्बन्ध रखने वाले संचारी आदि की दीर्घ संख्या है। तथा उनके भेद भी अनेक हैं। परिणामस्वरूप वीर रस का विभाजन करने में भी विद्वानों ने स्वतन्त्रता बरती है। वीर के अनेकानेक भेदों में से सभी के आलम्बन भिन्न हैं।

भरत ने युद्ध, दान तथा धर्मवीर नामक तीन भेदों का ही वर्णन किया है। भानुदत्त तथा भोजराज ने धर्मवीर के स्थान पर दयावीर का वर्णन किया है

वीर रस के भेद

(स०क०)। विश्वनाथ ने इस संख्या में धर्मवीर को भी मिलाकर वीर रस के युद्धवीर, दानवीर, दयावीर तथा धर्मवीर नामक चार भेद मान लिये हैं। किन्तु

---

१. ना० शा०, पृ० ८३।

२. काव्यानु०, अ० २, सू० १४, पृ० ११७।

३. ना० द०, श्लोक ११८।

उत्साह को सभी कार्यों का मूल कारण मानकर कुछ लेखकों ने वीर के अनेकानेक भेद प्रस्तुत किए हैं। यों तो महाभारत में यज्ञशूर, दमशूर, सत्यशूर युद्धशूर, दानशूर, बुद्धिशूर, क्षमाशूर, सांख्यशूर, योगशूर, अरण्यशूर, गृहवासशूर, त्यागशूर, आर्जवशूर, शमःशूर, नियमशूर, वेदाध्ययनशूर, अध्यापनशूर, गुरुशुश्रूषाशूर, पितृशुश्रूषाशूर, मातृशुश्रूषाशूर, भैक्ष्यशूर तथा अतिथिपूजनशूर-जैसे अटपटे भेदों का वर्णन है,[1] किन्तु यह ग्रन्थ न तो लक्षण-ग्रन्थ है और न इसकी तालिका का किसी विद्वान् ने समर्थन ही किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने पाण्डित्यवीर [जिसे शुक्लजी 'बुद्धिवीर' कहते हैं], सत्यवीर, क्षमावीर, कर्मवीर, तथा बलवीर नामक भेदों की चर्चा अवश्य की है। आगे चलकर 'साहित्यसार' के लेखक श्री मदच्युताचार्य ने महाभारत के सत्यशूर, दानशूर, क्षमाशूर, योगशूर, त्यागशूर भेदों के साथ दयावीर, धर्मवीर, तपोवीर, यत्नवीर, विद्यावीर, संपद्वीर, रूपवीर, कलावीर, गानवीर, अहिंसावीर, ऐश्वर्यवीर, कवित्ववीर, श्रद्धावीर, तथा भक्तिवीर का भी संग्रह कर लिया है।[2] हिन्दी के नवीन विचारकों ने कर्मवीर, विरहवीर, सत्याग्रहवीर, अनशनवीर, दार्शनिकवीर, लेखकवीर, सेवावीर जैसे अनोखे-अनोखे वीर भेद निकाल लिये हैं। श्री वियोगी हरि ने 'वीर सतसई' में विरहवीर का उल्लेख करके नवीन बात कह डाली है। अभिप्राय यह है कि वीर रस के सम्बन्ध में 'जितने मुँह उतनी बातें' मुहावरा पूर्णतया सिद्ध होता है।

इस प्रकार अनेक भेदों की स्वीकृति के मूल में यह भावना काम कर रही है कि मनुष्य के धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोधादि जितने गुण हैं, मनुष्य के जितने परोपकार, दान दया, धर्म आदि सुकर्म हैं और ऐसे ही जितने अन्यान्य विषय हैं, सभी में वीरता दिखलाई जा सकती है। किसी विषय में संलग्नता, अतिशयता, साहसिकता का होना भी एक प्रकार का उत्साह है। किसी की किसी विषय में असाधारण योग्यता की शक्ति हो तो वह उस विषय में वीर है।[3]

किन्तु वस्तुतः केवल किसी विषय में संलग्नता को ही उत्साह कहना उचित नहीं है। संलग्न तो व्यक्ति रति में भी रहता है, और अन्याय कामों में भी। संलग्नता के विचार से विरहिणी गोपिकाओं से कौन जीत सकेगा ? किन्तु उन्हें वियोगी हरिजी के समान सब तो 'विरहवीर' न मान लेंगे। इसी प्रकार यदि वीर मान लिया जाता तो सभी रस वीर में ही समा जाते। इसी प्रकार

१. न० ऑफ र०, पृ० ७६–७७।

२. सा० सा०, पृ० ११८–१२७।

३. का० द०, पृ० २४५।

योग्य लेखक के लिए 'लेखकवीर' की संज्ञा देना भी उचित नहीं। यह तो सत्य है कि लेखक को भी रचना करने का उत्साह होता है और राजाश्रय के दिनों में कवियों के संघर्ष की घटनाएँ भी अनेक हुई हैं, तथापि हम उसे कविवीर या लेखकवीर न कह सकेंगे। वीर रस के लिए वर्णित व्यक्ति में उत्साह का होना ही पर्याप्त नहीं है। अपितु यह आवश्यक है कि काव्य-रसास्वादयिता उससे प्रभावित हो। सहृदय में भी उत्साह का संचार हो। विरहवीर लेखकवीर, अध्यापनवीर, अध्ययनवीरादि भेदों में से अधिकांश में इस प्रकार की प्रभावशालिता का अभाव है। विरहवीर से तो प्रेक्षक, पाठक या श्रोता में किसी प्रकार का उत्साह जाग्रत न होकर इसके विपरीत भावों की ही अनुभूति होगी। इसी प्रकार अध्यापनवीर आदि भेदों से सहृदय को केवल कवि द्वारा वर्णित चरित्रों के परिचय का अवसर-मात्र मिलेगा। गानवीर, कलावीर, ऐश्वर्यवीर, श्रद्धावीर तथा भक्तिवीर भेद भी इसी प्रकार अवहेलनीय हैं। इनसे सहृदय के हृदय में उत्साह का प्रसार न होकर उसका परिणाम आनन्द ही प्रसारित होता है। इसी प्रकार श्रद्धा तथा भक्तिवीर में वीरता नहीं, रति ही प्रधान है। पूज्य के प्रति श्रद्धा अथवा भक्ति में उत्साह तो अवश्य होता है, किन्तु वह पूज्यबुद्धि से प्रभावित होता है। आत्म-शक्ति का ज्ञान नहीं रहता। वस्तुतः रस-भेद का विचार आश्रय तथा भाव के प्राधान्य के विचार से करना चाहिए। यदि इसी प्रकार वीरों की संख्या बढ़ाते चले जाएँ तो अन्ततः शौच-वीर, रति-वीर, हिंसा-वीर, चौर-वीर, असत्य-वीर, विनय-वीर आदि अन्यान्य अनावश्यक भेदों को भी मानना पड़ जाएगा। हमारे विचार में धर्मवीर और युद्धवीर ही प्रमुख रूप से माने जाने चाहिएँ। सत्य-वीर की पृथक्ता आवश्यक नहीं है, क्योंकि सत्यभाषण में धर्मबुद्धि प्रधान रहती है। यही कारण है कि सत्यवीर होते हुए भी युधिष्ठिर धर्मराज ही कहलाए। सत्य के लिए त्याग भी किया जा सकता है। यथा; 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में हरिश्चन्द्र का चित्रण किया गया है। इस सत्यता के पीछे साहस और दृढ़ता काम करते दिखाई पड़ते हैं। सत्य पर अटल रहना साहस या निर्भयता का ही द्योतक है। उसके पालनकर्ता को हम धर्म का पालनकर्ता मानते हैं। अतएव सत्यवीर को धर्मवीर के ही अन्तर्गत ले लेना चाहिए। किन्तु जिस प्रकार सत्यवीर और युद्धवीर में साहस और दृढ़ता का पालन होता है, उस प्रकार विरहवीर में दृढ़ता प्रधान रूप से नहीं पाई जाती, अपितु विकलता ही प्रधान होती है। यह ठीक है कि जिसके प्रति विरह-निवेदन होता है उसके लिए विरही हज़ार कष्ट उठाने के लिए भी तैयार रहता है, किन्तु उसमें मिलन की उत्कण्ठा, प्रियदर्शन की व्याकुलता ही प्रधान बनी

रहती है और वही हमें प्रभावित भी करती है। विरह के प्रति स्वाभाविक रूप से किसी का वैसा आकर्षण नहीं होता, जैसा युद्ध के लिए होता है। जब तक कोई भाव इस गहनता से हमारे मन में न जमा हुआ हो कि वह सहज स्वाभाविक लगे और उसे आश्रय किसी भी समय अपनाने के लिए तैयार रहे, तब तक उसमें स्थायी भाव होने की सामर्थ्य नहीं मानी जा सकती। अन्यथा विप्रलम्भ शृंगार को शृंगार न मानकर आज तक विद्वान् कभी का वीर रस मान चुके होते। क्षमा-वीर, अहिंसा-वीर अथवा दयावीर ही है। यह अहिंसा आज युद्ध का ही एक अस्त्र हो गई है। इसमें प्राचीन काल के समान धर्मबुद्धि के साथ-साथ आज शत्रु की पराजय की भावना का सम्मिश्रण हो गया है। अतएव प्राचीन अहिंसा-वीर को यदि हम धर्मवीर कहते, तो आज के अहिंसावीर को युद्धवीर कहेंगे। अहिंसा आज एक आन्दोलन के रूप में स्वीकृत है। अतएव इसे युद्धवीर के अन्तर्गत रखना अनुचित न होगा। जहाँ क्षमा सहन-शक्ति और अहिंसा के रूप में सामने नहीं आती, वहाँ वह दयावीर के अन्तर्गत रखी जाएगी। बल, शौर्य, शक्ति या प्रभाव के प्रदर्शन से सम्बन्ध रखता है और मुख्यतः युद्ध में प्रयोजनीय है या शत्रु पक्ष पर आतंक जमाने में काम आता है, अतः बलवीर को युद्धवीर के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार यत्नवीर उद्देश्य के विचार से धर्मवीर अथवा युद्धवीर के अन्तर्गत आ सकता है। जहाँ किसी दया, दान, धर्म आदि कृत्य के लिए यत्न प्रदर्शित किया गया हो वहाँ इसे धर्मवीर कहेंगे और जहाँ शत्रु-विजय आदि के लिए यत्न हो वहाँ युद्धवीर मानेंगे। ये दोनों—बलवीर तथा यत्नवीर—पृथक्-पृथक् प्रयोज्य हो सकते हैं, किन्तु युद्धवीर के प्रसंग में इनका सम्मिलन ही देखा जाता है। उदाहरणतः, तुलसीकृत 'गीतावली' के निम्न छन्द में हनुमान में बल और यत्न दोनों का मिश्रण है :

जो हौं तव अनुसासन पावौं।
तो चन्द्रमहिं निचोरि चैल ज्यों आनि सुधासिर नावौं।

सारांश यह कि युद्ध और धर्मवीर वीर रस के दो भेद ही मुख्य हैं और दया, दान आदि भेदों को इन्हींके अन्तर्गत रखा जा सकता है तथा बिरह-वीर, पाण्डित्यवीर, रूपवीर, कलावीर, गानवीर, ऐश्वर्यवीर, कवित्ववीर, श्रद्धा-वीर, भक्तिवीर, स्नेहवीर आदि अनेक भेदों की सहज ही उपेक्षा की जा सकती है। भरत ने वीर रस के तीन भेदों का उल्लेख करते हुए युद्धवीर को ही मुख्य रूप से ध्यान में रखा है। यह बात उत्साह-दृष्टि, वीर रस-दृष्टि और गति प्रचार-सम्बन्धी उनके वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। इन सबका वर्णन करते हुए उन्होंने

उन्हीं अनुभावादि का वर्णन किया है, जो युद्धवीर के अन्तर्गत आते हैं।[1]

यहाँ आचार्य शुक्ल द्वारा प्रतिपादित एक नवीनता की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। शुक्लजी ने 'उत्साह' शीर्षक के अन्तर्गत उत्साह की परिभाषा देते हुए समझाया है कि "उत्साह में कष्ट या हानि सहने की दृढ़ता के साथ-साथ कर्म में प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहस-पूर्ण आनन्द की उमंग का नाम उत्साह है।" किन्तु "केवल कष्ट या पीड़ा सहन करने के साहस में ही उत्साह का स्वरूप स्फुरित नहीं होता। उसके साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोड़ा चिराने को तैयार होना साहस कहा जाएगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जाएगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अन्तर्गत तभी कर सकते हैं जब साहसी या धीर उस काम को आनन्द के साथ करता चला जाएगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह कि आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही उत्साह का दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।" इस दृष्टि से शुक्लजी ने युद्धवीर के साथ-साथ दानवीर का भी समर्थन किया है, किन्तु हम उसे धर्म का एक लक्षण मानकर उसी व्यापक रूप के अन्तर्गत रखना उचित समझते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इस प्रकार के वीर-भेदों के अतिरिक्त शुक्लजी 'कर्मवीर', 'बुद्धिवीर' तथा 'वाग्वीर' का भी समर्थन करते हैं। शुक्लजी का यह कथन निश्चय ही माननीय है कि "युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं, जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की सम्भावना रहती है। अनुसन्धान के लिए तुषार-मण्डित अभ्रभेदी, अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव देश या सहारा के रेगिस्तान का सफ़र क्रूर बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर

१. (अ) तथा दीप्ता विकसिता क्षुब्धा गम्भीरा समतारका।
उत्फुल्लमध्या दृष्टिस्तु वीरावीररसाश्रया॥
ना० शा० चौ०, अ० ८।५०।

(ब) तथावीरे प्रकर्त्तव्या पदविक्षेपसंयुता।
द्रुता प्रहरणाविद्धानानाचारीसमाकुला॥ ५६।
पार्श्वक्रान्तेस्तथाविद्धैःसूत्रीविद्धैस्तथैव च।
कालाकालगतैःपादैरावेगे योजयेद्गतिम्॥ ५७। वही, पृ० १४९।

जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कार्य हैं। इनमें जिस आनन्दपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं, वह भी उत्साह ही है।" इस प्रकार के साहसमिश्रित उत्साह के अतिरिक्त कर्म-मात्र के सम्पादन में होने वाले तत्परतापूर्ण आनन्द को भी उत्साह ही कहा जाएगा। ऐसे उत्साह को 'कर्मवीर' का प्रसारक कहना उपयुक्त होगा। किन्तु शुक्लजी ने 'मुद्राराक्षस' नाटक के अन्तर्गत चाणक्य तथा राक्षस की बौद्धिक चोटों का उल्लेख करके उनमें उद्योग की तत्परता के आधार पर उसे केवल कर्मवीर का उदाहरण मानते हुए भी शास्त्रार्थी युवक या आजकल के नेताओं का उदाहरण देकर उन्हें क्रमशः बुद्धिवीर तथा वाग्वीर की संज्ञा दी है। हमें युद्धवीर तथा धर्मवीर के साथ कर्मवीर तो स्वीकार्य प्रतीत होता है किन्तु ये दोनों नहीं, कारण कि हम वीर की वास्तविक स्थिति तभी मानते हैं जब शारीर वीरता की उपस्थिति भी हो। दानवीर आदि मान्य भेदों में यह वर्तमान रहती है, किन्तु वाग्वीर आदि में नहीं। इसी प्रकार मानें तो कलावीर, गानवीर, संपद्वीर भी मानने पड़ेंगे, जो हमारी दृष्टि में 'कुशलता' के अन्तर्गत आते हैं—वीर रस के अन्तर्गत नहीं। वीरता में जब तक त्याग, कष्ट-सहिष्णुता और संघर्ष का आनन्द न मिला हो तब तक वह वीरता ही क्या ?

अनुयोग द्वार सूत्र के टीकाकार मलधारी हेमचन्द्र ने त्यागवीर तथा तपोवीर नामक भेदों को युद्धवीर से उत्कृष्ट बताया है। उनका कथन है कि ये दोनों प्रकार के वीर तथा प्रशान्त नामक रस किसी सूत्र-दोष अर्थात् अनृत, परहिंसा के सहारे व्यंजित नहीं होते, जबकि युद्धवीर में परोपघात अर्थात् पर-हिंसा रहती है और अद्भुत में अतिशयोक्ति की स्थिति है। अतिशयोक्ति भी एक प्रकार का अनृत ही है। अतएव त्यागवीर तथा तपोवीर नामक वीर रस के भेदों को ही प्रमुख मानना चाहिए।[१] इसके विपरीत हमारा विचार है कि

२. अत्र तु त्यागतपोगुणो वीररसे वर्तते। त्यागतपसी च त्यागोगुणो गुणशता दधिको मतो मे परं लोकातिगं धाम तपः श्रुतमिति द्वयम् इत्यादि वचनात् समस्तगुणप्रधान इत्यनया विवक्षया वीररसस्य आदावुपन्यासः।
तथा कश्चिद्रसः उपघातलक्षणेन सूत्रदोषेण निर्वर्त्यते, यथा—

स एव प्राणिति प्राणी प्रीतेन कुपितेन च।
वित्तैर्विपक्षरक्तैश्च प्रीणिता येन मार्मणाः॥

इत्यादि प्रकारं सूत्रं परोपघातलक्षणदोषदुष्टम्, वीररसश्चायम्। ततोऽनेन उपघातलक्षणेन सूत्रदोषेण वीररसोऽत्र निर्वृत्तः।...तपोदानविषयस्य वीर-रसस्य प्रशान्तादिरसानां क्वचिदनृतादिदोषान्तरेणापि निष्पत्तेरिति।
नम्बर ऑफ़ रसेज, पृ॰ १५२-१५३।

युद्ध अथवा आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति मनुष्य में वासनारूप में संस्थित है और त्याग, तप और तितिक्षा आदि तो अर्जित-मात्र हैं; इसीलिए यह सबको उतनी ही मात्रा में प्रभावित न कर सकेंगे जितनी कि युद्धवीर कर सकता है। प्रश्न सूत्र-दोष का नहीं, बल्कि वासनात्मकता और प्रभावात्मकता का है। इसके विचार से युद्धवीर ही प्रधान माना जाना चाहिए। इसीलिए किसी-किसी ने तो दान-वीर तथा धर्मवीर को केवल भाव-मात्र मानना ही उचित समझा है और किसी ने उसको नायक के गुण औदार्य धार्मिकत्व आदि में समाविष्ट मान लिया है।

वीर, करुण और रौद्र

भानुदत्त ने दयावीर के सम्बन्ध में इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि उसका अन्तर्भाव करुण में क्यों नहीं मान लिया गया? बिना किसी के दुःख के प्रति हृदय में करुणा उत्पन्न हुए दया उत्पन्न नहीं हो सकती। अतएव दया का आधार करुणा ही है, तथापि करुणा और करुण रस दोनों भिन्न हैं। करुण रस का स्थायीभाव शोक है और दयावीर का स्थायी उत्साह है। अतएव दोनों में सम्बन्ध मानना उचित नहीं है।[1]

इसी प्रकार रौद्र तथा वीर रस में भी आलम्बन, उद्दीपन तथा संचारी भावों की समानता होते हुए भी कुछ ऐसी असमानताएँ हैं जिनके आधार पर दोनों को पृथक् ही मानना पड़ेगा। दोनों के आलम्बन शत्रु हैं, शत्रु की चेष्टाएँ दोनों के उद्दीपन हैं और उग्रता, अमर्ष, आवेग आदि संचारी दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं। किन्तु एक का स्थायी भाव उत्साह है और दूसरे का क्रोध। उत्साह स्थायी भी होता है और प्रायः सभी रसों में अन्तर्निविष्ट रहने के कारण संचारी भी माना जा सकता है (उत्साहविस्मयौसर्वरसेषु व्यभिचारिणौ)। क्रोध यद्यपि युद्धवीर के मूल में हलके रूप में अवश्य विद्यमान रहता है, किन्तु उसके अन्य भेदों अथवा वीरेतर अन्य रसों में क्रोध की अवस्थिति नहीं दिखाई देती। धनंजय[2] तथा

१. ननु दयावीरः कथं करुण एव नान्तर्भवति, निरूपाधिपरदुःखप्रहरणेच्छा-दया। सा च करुणया विना न सम्भवतीतिचेन्न। करुणस्य स्थायिभावः शोकः दयावीरस्य स्थायिभाव उत्साह इति स्थायिभावभेदेन भेदात्। ननु दयावीर करुणरस प्रतीतेः का गतिरितिचेत्। सत्यम्। करुणया विना दया-वीरस्याऽनुभवादिति करुणायास्तत्रानुभावकत्यादिति ॥

र० त०, पृ० ४०-४१।

२. प्रस्वेदरक्तवदननयनादि क्रोधानुभावरहितोयुद्धवीरोऽन्यथारौद्रः।'

द० रू०, पृ० १८०।

विश्वनाथ[1] ने अनुभावों के आधार पर भी इन दोनों के भेद का प्रदर्शन किया है। रौद्र में स्वेद, वदन-नयनादि की रक्तता आदि अनुभाव प्रकट रहते हैं, किन्तु युद्धवीर में इनका प्रस्फुटन नहीं होता। वीर धैर्य के समीप पहुँचा हुआ होता है और रौद्र व्यग्रता अमर्ष आदि के। दोनों दो विपरीत अवस्थाएँ हैं। युद्धवीर में अमर्ष की झलक पाई जाती है, किन्तु क्रोध जिस प्रकार पाशविक भावात्मक तथा बौद्धिक तीन प्रकार का हो सकता है, उसके समान उत्साह पाशविक नहीं होता। युद्धवीर में भी उदारता, धर्मधुरीणता आदि को आवश्यक माना गया है। इसके अतिरिक्त रौद्र रस में क्रोध सात्विक रूप में प्रकट नहीं होता और वीर रस में युद्धवीर को छोड़कर अन्य भेदों में अमर्ष की उपस्थिति भी नहीं रहती। क्रोध की आधार-शिला प्रतिक्रिया की भावना है। किन्तु वीर रस के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उत्साह केवल प्रतिक्रिया रूप में उत्पन्न हो। क्रोध अनुदारता का पक्षपाती है और अन्यान्य गुणों का लोपकर्त्ता भी, जब कि उत्साह गुणों का सर्वथा ग्राहक। क्रोध में मनुष्य बावला हो जाता है, किन्तु उत्साह में विवेक का त्याग नहीं करता। तात्पर्य यह कि रौद्र और वीर दोनों कुछ समानताओं के रखते हुए भी पूर्णतया पृथक् ही हैं।

अद्‌भुत रस

विभावादि संयोग से विस्मय नामक स्थायी भाव ही अद्‌भुत रस के रूप में व्यक्त होता है। लोकोत्तर वस्तु अथवा घटना इसका प्रधान विभाव है। वह अनेक प्रकार का हो सकता है। यथा, दिव्य व्यक्ति अथवा वस्तु का देखना, उसके सम्बन्ध में सुनना, जिस ईप्सित मनोरथ की इच्छा तो तीव्र हो, परन्तु जिसकी प्राप्ति की विशेष संभावना न हो, उसका तुरन्त या अकस्मात् प्राप्त हो जाना, गृह-विशेष का दर्शन, विमानादि अथवा इन्द्रजाल-जैसी कुतूहलप्रद वस्तुओं को देखना, यह सब अद्‌भुत के विभाव के अन्तर्गत माने जाते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में विमान तो एक साधारण-सी वस्तु हो गई है, अतएव अब वह कुछ लोगों के लिए विस्मयोत्पादक विभाव के रूप में भले ही गृहीत न हो सके, किन्तु नवीन आविष्कार अभी बहुत हो रहे हैं, उन्हें हम विभाव के अन्तर्गत ग्रहण कर सकते हैं। एटम तथा हाइड्रोजन बम आज के सर्वाधिक विस्मित करने वाले विभाव हैं। इस प्रकार की अन्य वस्तुओं को भी हम अद्‌भुत विभाव के अन्तर्गत ग्रहण कर सकते हैं।

लक्षण, विभावादि

१. रक्तास्यनेत्रताचात्रभेदिनीयुद्धवीरतः॥ सा० द०, परि० ३, पृ० २३१।

विस्मयकारी वस्तु अथवा घटना को देख-सुनकर हमारे होश-हवास गुम हो जाते हैं, आँखें फटी रह जाती हैं, स्तम्भित और चकित रह जाना तो साधारण बात है। ऐसी वस्तुओं को देखकर हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, आँसू निकल पड़ते हैं, वाह-वाह कहकर हम साधुवाद करने लगते हैं, कभी-कभी अप्रत्याशित रूप में हुई घटना के कारण हाहाकार कर उठते हैं और कभी हाथ-पैर अथवा अंगुलियों को इधर-उधर घुमाने लगते हैं। इस प्रकार नयन-विस्तार, अनिमिष दृष्टि, रोमांच, अश्रु, स्वेद, स्तम्भ, वेपथु, साधुवाद, हाहाकार, कर-चरण-अंगुलि-भ्रमणादि को अद्भुत रस में प्रकट होने वाले अनुभाव कहा जाएगा। आवेग, संभ्रम, जड़ता, हर्ष, गर्व, स्मृति, मति, श्रम, धृति, भय, तर्क, विबोध, चिन्ता, प्रलयादि उसके व्यभिचारी माने जाते हैं। इन सबके सयोग से चमत्कारमय चित्तविस्तारात्मा विस्मय स्थायी भाव अद्भुत रस के रूप में व्यक्त होता है।[1] चमत्कार को विशेष महत्त्व देते हुए विश्वनाथ ने नारायण पण्डित की पंक्तियाँ उद्धृत करके सब रसों का उसीमें अन्तर्भाव मान लिया है। वह रस में चमत्कार को ही सार मानते हैं।[2]

लोकोत्तर घटना, वस्तु अथवा व्यक्ति के अतिरिक्त आलंकारिकों ने अत्युक्ति, भ्रमोक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास प्रभृति को भी अद्भुत की व्यजंना में सहायक माना है।[3] कबीर जैसे व्यक्तियों की उलटवासियाँ एवं कूट-पद या उपमानों का विचित्र संग्रह भी विस्मयोत्पादक होते हैं और उनसे अद्भुत की सिद्धि हो सकती है।

भरतमुनि ने अद्भुत को दिव्य तथा आनन्दज, केवल दो प्रकार का बताया है। दिव्य दर्शन से दिव्य तथा हर्षमय विस्मय से आनन्दज की सिद्धि होती है।[4]

अद्भुत के भेद

यह दोनों भेद परिणाम के अनुसार किये गए हैं और इनसे यह प्रकट होता है कि भरत की दृष्टि दिव्य-दर्शन तथा इष्ट-प्राप्ति नामक विभावों पर ही विशेष केन्द्रित थी। उनकी दृष्टि अलंकारों तक नहीं गई थी। इसका विशेष कारण यही था कि उनके समय तक चार से अधिक अलंकारों की कल्पना ही नहीं की गई। जिनकी

१. भा० प्र०, पृ० ४७।१६।

२. सा० द०, ३।३ वृ०।

३. अत्युक्तिभ्रमोक्तिचित्रोक्तिविरोधाभासप्रभृतयो अद्भुता एव।
र० त०, पृ० १५८।

४. दिव्यश्चानन्दजश्चैव द्विधा ख्यातोऽद्भुतो रसः।
दिव्यदर्शनजो दिव्यो हर्षानन्दश्च स्मृतः॥ ना० शा० चौ०, ६।८२।

कल्पना की गई थी, उन उपमादि के अन्तर्गत यह परवर्ती अलंकार नहीं आये; अतः उन पर विचार न करना ही स्वाभाविक था। भरतकृत इस भेद-वर्णन का विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि दिव्य दर्शन के द्वारा भी हर्ष हो सकता है। इस प्रकार हर्ष को एक पृथक् लक्षण नहीं माना जा सकता।

शारदातनय ने अन्य रसों के समान ही अद्भुत के भी वाचिक, आंगिक तथा मानस नामक तीन भेद स्वीकार किए हैं। मानस अद्भुत के अन्तर्गत ध्यान, नयनविस्तार, प्रसादपूर्ण मुख तथा दृष्टि, आनन्दाश्रु, रोमांच, अनिमेष दृष्टि, मनः चांचल्य; आंगिक के अन्तर्गत चेलांगुलि भ्रमण, उठ-उठ पड़ना, वलगन, नटन, परस्पर आश्लेष, एक-दूसरे का हथेलियों का स्पर्श तथा वाचिक के अन्तर्गत हाहाकार, साधुवाद, कपोल-आस्फालन-ध्वनि, उच्च हास, हर्ष-घोष, गीत तथा उच्च वचन आदि विकार प्रदर्शित किए जाते हैं।[1] शारदातनय के भेदों में कोई असंगति नहीं है। अतएव वे विकार के विचार से स्वीकरणीय हैं। उन्होंने त्रिगुण के आधार पर भी इसके तीन भेद माने हैं।[2]

अद्भुत के सर्वाधिक औचित्यपूर्ण भेद वैष्णवाचार्यों ने किये हैं। बाबू गुलाबराय ने इनके दृष्ट, श्रुत, संकीर्तित तथा अनुमित नामों का उल्लेख किया है।[3] देखने पर आश्चर्य प्रकट किया जाने वाला अद्भुत दृष्ट, लोकोत्तर कार्य सुनने पर होने वाला विस्मय श्रुत, आश्चर्यवत् प्रशंसित विस्मय संकीर्तित तथा अलौकिक घटना के अनुमान द्वारा किया जाने वाला विस्मय अनुमित कहलाता है।

कतिपय उदाहरण

दिव्य घटना देखने के कारण दृष्ट मानस-अद्भुत का उदाहरण निम्न उद्धरण के रूप में दिया जा सकता है :

घन बरसत कर पर धर्‌यो, गिरि गिरिधर निःशंक।
अजब गोप सुत चरित लखि, सुरपति भयौ सशंक॥

यहाँ सुरपति आश्रय, गोपसुत कृष्ण आलम्बन, उनका चरित और उनकी निःशंकता तथा गिरि को धारण करना उद्दीपन एवं शंका व्यभिचारी हैं। विस्मय स्थायी भाव है। सशंक शब्द के सहारे मानस-अनुभाव का आक्षेप सरलता से हो सकता है। इस प्रकार यहाँ विभावादि संयोग से अद्भुत रस की निष्पत्ति हुई है।

कूटपद के रूप में अद्भुत का संचार करने वाला निम्न दोहा उल्लेखनीय है। निम्न प्रकार के वर्णन भी काव्य में बड़े चमत्कारक होते हैं, किन्तु उनका प्रभाव

१. भा० प्र०, पृ० ६५।
२. भा० प्र०, पृ० ३५, पंक्ति ४।
३. नवरस, पृ० ५१४।

क्षणस्थायी होता है। यह प्रभाव केवल उतनी देर के लिए होता है, जब तक कूट का अर्थ समझ में न आए :

देखो दधि सुत में दधि जात।
एक अचम्भो सुनि री सजनी, रिपु में रिपू समात ॥

श्रीकृष्ण दही खा रहे हैं। उनका मुख दधि-सुत अथवा उदधि-सुत चन्द्रमा के समान है, उसीमें वे दही रख रहे हैं। दही मुँह में हाथ से रखी जा रही है। हाथ की उपमा कमल से दी जाती है। कमल चन्द्रमा का शत्रु होता है। अतः हाथ का मुँह में जाना मानो रिपु-का-रिपु में समा जाना है। अर्थ समझ लेने पर यहाँ आश्चर्य का कोई कारण नहीं रहता, फिर भी उसका सम्पूर्ण प्रभाव बड़ा ही सुखद होता है।

बिहारीकृत निम्न दोहे से विरोधाभासमूलक विस्मय का संचार होता है :

तन्त्री नाद कवित्त रस, सरस, राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ॥

इसी प्रकार नीचे क्रमशः श्रुत, संकीर्तित तथा अनुमित अद्भुत के उदाहरण दिए जाते हैं :

श्रुत—**अमित वीर गज रथ तुरग, राम पलक में मार।**
सुन विस्मित बानर निकर, तंभित तन न सम्हार ॥

संकीर्तित—**खगपति रघुपति उदर मह, देखेहु भुवन अपार।**
अजहु कहत विस्मित हृदय, अंगन जड़ता धार ॥

अनुमित—**सिंधु सेतु लखि देव रिषि, प्रभु महिमा अनुमानि।**
तंभित तन विस्मय विवस, अति अचरज उर आनि ॥

अद्भुत तथा अन्य रस

विश्वनाथ ने धर्मदत्त द्वारा उद्धृत नारायण कवि का यह विचार 'साहित्य दर्पण' में उद्धृत किया है कि अद्भुत रस ही सब रसों के मूल में अवस्थित है, क्योंकि रस का सार 'चमत्कार' है और अद्भुत रस में चमत्कार की जैसी अनन्य सिद्धि होती है, वैसी दूसरे किसी रस में नहीं।[1] सत्रहवीं शताब्दी के महा-

---

१. चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपः विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वं च अस्मात्पितामहसहृदय गोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृति नारायणो रसम्। इति।' सा०द०, काणे, पृ० ३।१।

देव नामक लेखक ने 'अद्भुत दर्पण' में राम के मुख से इसी विचार का उद्घाटन कराया है।[1] भानुदत्त भी शृंगार में अद्भुत को अंगरूप में स्वीकार करते हुए मानो इसी विचार को स्वीकृति देते हैं।[2] रस को लोकोत्तर अथवा ब्रह्मानन्द सहोदर मानने में भी कुछ-कुछ इसी बात का संकेत पाया गया है। इसी प्रकार वीर से अद्भुत की उत्पत्ति मानकर मानो इस बात को स्वीकार कर लिया गया है कि वीर में भी अद्भुत का मिश्रण रहता है। हास्य के साथ भी इसका थोड़ा-बहुत सम्बन्ध अवश्य दिखाया जा सकता है। हास्य भी विपरीतता के आधार पर आधारित है और अद्भुत भी। यह बात दूसरी है कि अद्भुत में हास्य की अपेक्षा विपरीतता कहीं अधिक होती है और हास्य के समान उसके कारण का संकेत नहीं मिलता। अद्भुत अघटनीय घटनाओं और लोकोत्तरता पर आधारित रहता है, किन्तु हास्य में अद्भुत लोकोत्तर अथवा अघटनीय बनकर उपस्थित नहीं होता। हास्य और अद्भुत में यह भी अन्तर है कि पहले में बुद्धि और विवेक का त्याग नहीं होता, जबकि दूसरे में घटना की अघटनीयता भय को उत्पन्न करने के साथ-साथ विवेक का भी क्षण-भर के लिए हरण कर लेती है। अद्भुत में विवेक की कड़ी कुछ देर से जुड़ती है और हास्य आरम्भ से ही उसका सहारा लेकर चलता है। इस प्रकार अन्य रसों से अद्भुत का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध तो घटित होता ही है, किन्तु अन्य रसों में लोकोत्तरता की अनुभूति बहुत क्षीण मात्रा में ही रहती है। फिर भी अद्भुत के महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति आदि के मूल में इसको ही मानना पड़ेगा और भरत का यह सिद्धान्त भी स्वीकार करना होगा कि कथा का प्रवाह गोपुच्छ के समान होना चाहिए, जो अन्त में आश्चर्य का उद्घाटन करे। रहस्य का पल्लवन और उसका अन्त में उद्घाटन ही कथा का प्राण है। अतः अद्भुत का महत्त्व भरत को भी स्वीकार है।[3]

१. यत्सत्यमार्भतः स्तब्धैः इन्द्रियैरिन्द्रजालवत् ।
अद्भुतैकरसावृत्तिः अन्तर्मीलयतीवमाम् ॥
'काव्यमाला'। उद्धृत न० आ० रसेज पृ० १७५।

२. शृंगारादौ चमत्कारदर्शनाद्यत्रमनोविकृतिरंगतया भासते तत्र शृङ्गारादय एव रसाः। प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्भुत एव रसः। रसतरंगिणी, पृ० २८।

३. कार्यं गोपुच्छाग्रं कर्तव्यंकाव्यबन्धनमासाद्य ।
ये चोदात्ता भावाः ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः ॥
सर्वेषां काव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम् ।
निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसो द्भुतस्तज्ञैः ॥ 'नाट्यशास्त्र', २०-४६-४७।

तथापि प्रभाकर भट्ट का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि अद्भुत की विलक्षणता अनुभव-सिद्धि पर आधारित रहती है। व्यक्ति-भेद से विस्मय की अनुभूति में अन्तर हो सकता है। साथ ही शोकादि में विस्मय की अनुभूति नहीं होती। अतएव विस्मय को सार्वत्रिक न मानना ही उपयुक्त होगा।[1]

बीभत्स रस

लक्षण तथा विभावादि

बीभत्स का स्थायी भाव जुगुप्सा है जो किसी अनभिमत, गर्हणीय अथवा उद्वेजक वस्तु को देख या सुनकर अथवा गन्ध, रस तथा स्पर्श-दोष के कारण उत्पन्न होती है। कहीं किसी ऐसी वस्तु की गन्ध सूँघ-कर जो महा सड़ी-गली और दुर्गन्धिपूर्ण हो, किसी ऐसी वस्तु को चखकर जो स्वाद में विचित्र और तुरन्त त्यागने की इच्छा उत्पन्न करने वाली हो अथवा कहीं ऐसी वस्तु का स्पर्श जो छूने में गन्दी प्रतीत हो, जिससे चित्त विकृत होने लगे, ऐसे सब पदार्थ जुगुप्सा उत्पन्न कर सकते हैं और यह जुगुप्सा विभावादि से परिपुष्ट होकर बीभत्स रस के रूप में व्यक्त हो सकती है। अतएव आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि अहृद्य, अप्रिय वस्तु को देखकर, अनिष्ट के सम्बन्ध में सुन, देख अथवा स्मरण करके बीभत्स व्यक्त होता है। अतः यही इसके विभाव हैं। जिन-जिन वस्तुओं से घृणा उत्पन्न होती है, वे सब बीभत्स के विभाव हैं। यहाँ तक कि किसी के दुष्टतापूर्ण कार्य भी विभाव का काम कर सकते हैं। किसी की शारीरिक मानसिक कुरूपता को भी विभाव माना जा सकता है। शारीरिक कुरूपता तो बाह्य आधार के रूप में प्रकट ही है, किन्तु मानसिक कुरूपता का पता किसी के कार्य-कलाप से ही चल सकता है। अश्लील वर्णन भी जुगुप्साजनक होता है। बीभत्स रस में मुख तथा नेत्र का सिकुड़ना, उनको उस दृश्य की ओर से फिरा लेना, आँख, नाक आदि को ढक लेना आदि उद्वेगमय अनुभव होते हैं और अपस्मार, आवेग, व्याधि, मोह तथा मरण जैसे व्यभिचारी भाव प्रकट होते हैं। इसका वर्ण नील तथा देवता महाकाल हैं।

बीभत्स के भेद

भरत तथा धनंजय ने बीभत्स के क्षोभज, शुद्ध तथा उद्वेगी नाम से तीन भेद किये हैं। शारदातनय ने शुद्ध को त्यागकर केवल दो भेदों का उल्लेख किया है। भानुदत्त ने इस रस के भी

१. तन्न साधु। वैलक्षण्यस्य अनुभवसिद्धत्वात्। प्रकृतिभेदाच्च। नापिव्यभिचारिषु स्थायिन् इव रत्यादिषु विस्मयानुगमः। शोकादिषु तथाननुगमात्। र० प्र०, पृ० ४०।

स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ नामक भेद किये हैं।

भरत तथा शारदातनय ने विष्ठा तथा कृमि विभाव वाले बीभत्स को उद्वेगी, रुधिरादिजन्य को क्षोभज माना तथा शुद्ध का लक्षण नहीं दिया है। इन दोनों भेदों के लक्षणों से मिलते-जुलते लक्षण धनंजय ने भी दिये हैं। साथ ही शुद्ध बीभत्स का लक्षण भी दिया है। उनका विचार है कि रमणी के स्तन, जघनादि जैसी रमणीय वस्तुओं में भी वैराग्य के कारण घृणा दिखाई जाने पर शुद्ध बीभत्स व्यक्त होता है। शान्त से इसका अन्तर इतना ही है कि वहाँ घृणा का नाम नहीं होता और बीभत्स का कोई भी भेद, शुद्ध ही क्या, घृणाहीन नहीं हो सकता।

क्षोभजन्मा बीभत्स को मानस तथा उद्वेगी को लक्षणों के अनुसार आंगिक कहा जा सकता है। मानस बीभत्स में भय, म्लानता, मोह, विबोध, क्रन्दन, विषाद, निन्दा, त्रास, चुप रहना, छिपना आदि लक्षण प्रकट होते हैं और उद्वेगज में वस्त्राच्छादन, नेत्रों को बन्द कर लेना, अस्पष्ट रूप से पैर पीटना, लौट जाना, मुँह फिरा लेना, शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ जाना आदि लक्षण रहते हैं। मानसिक जुगुप्सा के कारण हम दुष्टों की दुष्टता से घृणा करते हैं, उनकी भर्त्सना करते हैं। अन्यायी की अनीति पर उसका तिरस्कार करते हैं। दुर्गुणों से दूर रहने, अकार्य न करने, दुस्संग त्यागने, अस्थान में न बैठने आदि में भी यही जुगुप्सा काम करती है। इसी प्रकार शुद्ध में तिरस्कार पूर्वक वर्णन करना, वर्जन करना, नाक-भौंह सिकोड़ना आदि लक्षणों की सत्ता पाई जाती है। ये तीनों भेद पृथक्-पृथक् रूप में बीभत्स को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं। यह असंभव नहीं है कि एक प्रकार के बीभत्स में दूसरे प्रकार के लक्षण भी पाये जाएँ।

इस प्रकार आश्रय की दृष्टि से बीभत्स से स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ एवं भावानुभाव की दृष्टि से क्षोभज, उद्वेगी तथा शुद्ध नामक तीन भेद किए जा सकते हैं। साथ ही श्रवण, स्मरण, दर्शन कल्पना के आधार पर इन तीनों में तीन-तीन भेद किए जा सकते हैं। जुगुप्सा के विवेकजा तथा प्रायिकी नामक दो भेदों के आधार पर भी बीभत्स के दो भेद किए जा सकते हैं और शुद्ध बीभत्स को विवेकज तथा अन्य दो को प्रायिक कहा जा सकता है।

अपने क्रूर कर्म के स्मरण के कारण व्यक्त होने वाले बीभत्स रस के उदाहरणस्वरूप निम्न छन्द प्रस्तुत किया जा सकता है। 'दशरूपक' में 'वीर चरित' से उद्धृत इस छंद में ताड़का का रूप तथा उसका घृणित कृत्य वर्णित

बीभत्स रस के उदाहरण

है।[1] आँतों में बड़े-बड़े कपाल पिरोए, नाड़ियों के के कारण कंकण की-सी ध्वनि करती हुई तथा पिये हुए को उगलती हुई ताड़का लोलस्तनों के भार के कारण रक्त की कीचड़ में रुक-रुककर और कभी-कभी उद्धततापूर्वक दौड़ रही है :

> **आन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलकक्रूरक्वणत्कंकण—**
> **प्रायप्रेंखितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।**
> **पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लस—**
> **द्व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धतं धावति ॥**

शुद्ध बीभत्स के उदाहरणस्वरूप दशरूपककार ने निम्न छन्द दिया है[2]—

> **लालां वक्रासवं वेत्ति मांसपिण्डौ पयोधरौ ।**
> **मांसास्थिकूटं जघनं जनः कामग्रहातुरः ॥**

अर्थात् कामातुर जन राल और थूक को मुख का आसव, मांसपिण्ड को पयोधर, मांस तथा अस्थि-समूह को जघन मानते हैं।

ऐसा कहकर शरीरांगों को घृणित बताया गया है, जिससे जुगुप्सा का पोषण होकर बीभत्स का संचार होता है। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ शान्त रस नहीं है। शान्त की स्थिति वैराग्य के अनन्तर आती है। यहाँ बीभत्स के सहारे वैराग्य का संकेत तो मिल रहा है, किन्तु वह सम्पन्न नहीं है। अतएव इस छंद को शान्त का उदाहरण न माना जायगा। किन्तु निम्न छन्द में बीभत्स का संकेत होते हुए भी वैराग्य ही प्रधान है ; यहाँ जुगुप्सा केवल संचारी का काम कर रही है :

> **हृढ़ कावरि है अघ-ओघन को सब दोषन को यह गागरि है ।**
> **अस तुच्छ कलेवर कों सुक-चन्दन भूषन साजि कहा करिहै ॥**
> **मलमूतन कीच गलीच जहाँ कृमि आकुल पीब अंतावरि है ।**
> **किन वे दिन याद करै ? घिन कै जब कूकर-सूकर हू फिरि है ॥**

उद्वेगज बीभत्स का सुन्दर वर्णन शंकरजी का निम्न छन्द है जिसमें फूहड़ स्त्री आलम्बन, लार बहना, कीचड़ निकलना, रेटा सिनककर भीत पर डालना, सिर को खर्र-खर्र खुजाना आदि उद्दीपन के चित्र द्वारा ही बीभत्स की व्यंजना की गई है :

---

१. 'दशरूपक', पृ० १०७।

२. वही, पृ० १०७।

भौंड़े मुख लार बहै आँखिन में ढीड़ राधि,
कान में सिनक रेंट भीतिन पै डारि देत।
खर्र-खर्र खुरचि खुजावै मटका सो पेट,
ढूँड़ी लौ लटकते कुचन कौ उघारि देत॥
लौटि-लौटि चीन घाँघरे की बार-बार फिरि,
बीनि-बीनि डींगर नखन धरि मारि देत।
लूंगरा गंधात चढ़ी चीकट-सो गात मुख,
धौवे ना अन्हात प्यारी फूहड़ बहार देत॥

किन्तु 'रस-रत्नाकर' में क्रमश: पृष्ठ ५८० एवं ५८३ पर उद्धृत निम्न दोनों छन्द बीभत्स के न होकर राज-विषयक रति के उदाहरण हैं। प्रथम में तलवार का वर्णन प्रधान है, बीभत्स का नहीं; और तलवार के पीछे उसका संचालक ही कवि का लक्ष्य है। दूसरे में भी राजा के प्रताप का वर्णन ही उद्देश्य है —

१—रहत अछक पै मिटै न धक पीवन की,
निपट जो नाँगी-डर काहू के डरै नहीं।
भोजन बनावै नित चोखे खान-खानन के,
सोनित पचावै तऊ उदर भरै नहीं॥
उगिलत आसौ तऊ सुकल समर बीच,
राजै राव बुद्ध-कर विमुख परै नहीं।
तेग या तिहारी मतवारी है अछक तौ लौं,
जौं लौं गजराजन की गजक करै नहीं॥—भूषण

तथा २—भूप शिवराज कोप करि रनमण्डल में,
खग्ग गहि कूद्यौ चकत्ता के दरबारे में।
काटे भट बिकट गजन के सुण्ड काटे,
पाटै डारि भूमि काटे दुवन सितारे में॥
'भूषन' भनत चैन उपजै शिवा के चित्त,
चौसट नचाई जबै रेवा के किनारे में।
आँतन की ताँत बाजी, खाल की मृदंग बाजी,
खोपरी की ताल पसुपाल के अखारे में॥

बीभत्स और भयानक में कुछ आलम्बनों में समानता के कारण व्यक्ति-भेद से बीभत्स की सिद्धि के स्थान पर भयानक रस की सिद्धि भी हो सकती है।

बीभत्स और अन्य रस

उदाहरणतः, श्मशान को देखकर कोई भयशील व्यक्ति उसी दृश्य से आतंकित हो सकता है और साहसी व्यक्ति संसार की नश्वरता पर विचार करके शान्त की ओर झुक सकता है अथवा उस दृश्य को सामान्यतः जुगुप्साजनक-मात्र मानकर बीभत्स का अनुभव कर सकता है। बीभत्स और भयानक दोनों में ही आत्म-रक्षा और विकर्षण का भाव विद्यमान रहता है, किन्तु भयानक रस में आसन्न आपत्ति का बोध प्रधान होता है और बीभत्स में आपत्ति का प्रश्न नहीं उठता। वहाँ किसी पदार्थ अथवा कृत्य को देखकर उस वस्तु के घिनौनेपन से बचने के लिए आँखें बन्द करके अथवा दूसरी ओर देखकर भी काम चलाया जा सकता है। भागने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु भयानक की सिद्धि तभी हो सकती है जबकि भयप्रद स्थिति से बचने के लिए पलायन दिखाया जाए। भयानक मनुष्य की शक्ति को एक स्थान पर केन्द्रित कर देता है। यही कारण है कि भयभीत व्यक्ति अपनी साधारण अवस्था से अधिक काम कर जाता है। जैसे, भय में अचानक दीवार लाँघना, नदी में कूद पड़ना आदि। भयानक की यह स्थिति उसे वीर के समीप पहुँचा देती है, किन्तु उत्साह पर भय की प्रबलता भयभीत के ऐसे दुस्साहसी कार्यों के प्रदर्शन पर भी उसे वीर से पृथक् बनाए रखती है। इसके विपरीत बीभत्स, घृणा का उत्पादन करके हमें असामाजिकता की ओर खींचता है। हमारी शक्ति और हमारे स्वास्थ्य का ह्रास करता है। तथापि बीभत्स वीर का सहकारी या पोषक बनकर उपस्थित होता है। युद्ध की भयंकरता अथवा प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति घृणा उत्पन्न करने में यह रस अत्यन्त सहायक है। भयानक में धैर्य का अभाव रहता है, किन्तु बीभत्स में इस अभाव की आवश्यकता नहीं। हाँ, दोनों में मनुष्य अपनी महत्ता को प्रकट करता है। बीभत्स में अपनी महत्ता की मात्रा बढ़ी हुई होती है और भयानक में भयप्रद वस्तु की महत्ता की मात्रा अधिक होती है। इसके साथ ही बीभत्स का कुछ मेल करुण के साथ भी बैठता है। अपने किसी सम्बन्धी को मोटर के नीचे दबा हुआ देखकर अथवा उसके शव का श्मशान में दाह-कर्म देखकर हमारी करुणा और भी अधिक जाग्रत हो जाती है, शोक और भी अधिक बढ़ जाता है। इसी प्रकार शत्रु द्वारा अपने प्रिय के कटे हुए छिन्न-भिन्न अंगों को रण-स्थल में पड़े हुए देखकर या तो हमारा मन शत्रु से बदला लेने के लिए तैयार हो जाता है या हम क्रोध से उबल पड़ते हैं, अथवा शोक से पिघलकर रोने लगते हैं। इस प्रकार यह रस एक ओर यदि वीर और रौद्र का सहायक है, तो दूसरी

और करुण का भी। साथ ही बीभत्स दृश्यों को देखने पर हमारे हृदय में जो आत्म-ज्ञान की ज्योति जागती है वह सांसारिक पदार्थों से विरक्त होकर हमारे हृदय में शान्त की अनुभूति जगाती दीखती है। अभिप्राय यह कि बीभत्स का स्थायी भाव जुगुप्सा, वीर, रौद्र, करुण तथा शान्त रस में सहायक ही जान पड़ता है।

भयानक रस

भय परिपुष्ट समस्तेन्द्रिय विक्षोभ को भयानक कहते हैं। इसका वर्ण श्याम और देवता कालदेव हैं। इसे बीभत्स रस से उत्पन्न माना गया है। किन्तु सर्वत्र बीभत्स दृश्यों से भय उत्पन्न नहीं होता। भय भी जुगुप्सा के समान एक आदिम वृत्ति है। स्वयं भरत द्वारा वर्णित भयानक के विभावों में जुगुप्साजनक विभावों का वणन नहीं है। इसके विभाव जड़ से लेकर चेतन तक फैले हुए हैं। व्यक्ति अथवा प्राणी-विशेष के साथ-साथ वस्तु-विशेष भी भयानक विभाव के रूप में उपस्थित की जा सकती है। किसी विकृत रव को सुनकर, किसी अपने से बलशाली व्यक्ति अथवा हिंस्र पशुओं को देखकर, अपशकुनी उलूक आदि को देखकर, शून्य आगार अथवा अरण्य में प्रवेश करके, किसी व्यक्ति का निर्दयतापूर्वक वध देखकर, दण्डरूप में किसी को बन्धनग्रस्त देखकर, अस्त्र-शस्त्रों की झनकार सुनकर अथवा उन्हें सजाये हुए सैनिकों को देखकर, तथा इसी प्रकार की अन्य स्थितियों में भय उत्पन्न हो जाता है। यही भयानक रस के विभाव-स्वरूप प्रयुक्त होते हैं। भयानक की अवस्थिति में कर-चरणादि का कम्प, नेत्र-विस्फार, वैवर्ण्य, स्वर-भेद, स्तम्भ, रोमांच, स्वेद, वेपथु, मरण, त्रास, गद्गद्-स्वरादि अनुभाव तथा शंका, मोह, दैन्य, आवेग, चपलता, अपस्मार, स्मरणादि व्यभिचारी भाव उत्पन्न होते हैं। अवस्था के अनुसार भय हम पर प्रभाव डालता है। बाल्यावस्था में जिन बातों से डर लगता है, उन्हीं से प्रौढ़ता में निर्भयता रहती है। क्योंकि विवेक का संसर्ग हो जाता है। इस प्रकार भय का क्रमिक विकास संभव है। इसे जीता जा सकता है, किन्तु यह वासना-रूप में अवश्य बना रहता है।

लक्षण तथा विभावादि

भयानक का स्थायी भाव है, भय। भय तीन प्रकार का हो सकता है। या तो हमारे भय का वास्तविक कारण हो या हम भ्रमवश भयभीत हो जाएँ। अँधेरे में पैर लटकाने पर रस्सी को साँप मानकर चिल्लाना और उछल पड़ना भय का भ्रमपूर्ण कारण

भयानक के भेद

है। भय किसी काल्पनिक कारण से भी उत्पन्न हो सकता है। राजा अथवा गुरुजनादि के प्रति किये गए अपराध के कारण अपराधी को यह सोचकर कि अब न जाने कैसा दण्ड मिलेगा, भय लगने लगता है। इनमें से भ्रमजनित भय तो क्षीण होने के कारण रसोद्‌बोध में सफल नहीं हो सकता। वह केवल भय की क्षीण अनुभूति जाग्रत कर सकता है, जिसका काव्य में कोई उपयोग नहीं हो सकता। शेष दो में भी वास्तविक कारणजन्य भय ही प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है, किन्तु द्वितीय का उपयोग भी सरलता से किया जा सकता है। अतएव साधन के विचार से भय के दो ही प्रकार स्वीकार किए जा सकते हैं। भरतमुनि ने व्याज-जन्य, अपराध-जन्य तथा वित्रासितक इन तीन भेदों का उल्लेख किया है।[1] इनमें व्याज-जन्य को भ्रमजनित, अपराध-जन्य को काल्पनिक तथा वित्रासितक को वास्तविक कहा जा सकता है।

व्यक्ति-सम्बन्ध के विचार से भयानक का स्व तथा परनिष्ठ के रूप में भी विभाजन किया जा सकता है। अपराध के स्वनिष्ठ होने पर भयानक स्वनिष्ठ कहलाता है और किसी अन्य व्यक्ति आदि की क्रूरता के कारण उत्पन्न भय को परनिष्ठ कहते हैं। परनिष्ठ कभी भयंकर नाद के सुनने-मात्र से और कभी क्रूर कर्म के देखने से उत्पन्न होता है।

भावप्रकाशकार ने भयानक के आंगिक अथा मानस नामक दो भेद किये हैं। आंगिक के लक्षणों में दिग्भ्रम, सहायान्वेषण, अगल-बगल देखना, हाथ-पैर काँपना, अंगुलि काटना, अभय याचना करना, दाँत दिखाना आदि अनुभाव आते हैं और मानस के अन्तर्गत ऊरुस्तम्भ, हृतकम्प, स्वेद, आँख और पुतली का चंचलतापूर्वक संचालन, ओठ सूखना, मुख-शोष, गद्‌गद् स्वर, वैवर्ण्य, विषय के प्रति अज्ञानता, कथनीय-अकथनीय अथवा कथित-अकथित की ज्ञान-शून्यता आदि की परिगणना की गई है। इन्हें शारदातनय ने स्वाभाविक भी कहा है, जिनसे इस बात का बोध होता है कि वह इनके अन्तर्गत विशेषतः उन अनुभावों की गणना करता है, जिन्हें शास्त्र में सात्विक का अभिधान दिया गया है। हमारे विचार से इस प्रकार का विभाजन उपयोगी नहीं है, और न तर्क-संगत ही। क्योंकि भयानक की प्रत्येक स्थिति में ये दोनों प्रकार के अनुभाव प्रकट होते हैं या हो सकते हैं।

एक उदाहरण तुलसी का निम्न छन्द भयानक रस का उत्कृष्ट उदाहरण है :

---

१. ना० शा०, चौ०, पृ० ७६, श्लोक ८०।

लागि-लागि आगि भागि-भागि चले जहाँ-तहाँ,
धीय को न माँय बाप पूत न सँभारहीं ॥
छूटे बार बसन उघारे धूम धुंध अंध।
कहैं बारे बूढ़े बारि बारि बार बारहीं ॥
हय हिहिनात भागे जात घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि रौंदि डारहीं ॥
नाम लैं चिलात बिललात अकुलात अति,
तात तात तौंसियत झौंसियत झारहीं ॥ 'कवितावली'

इसमें हनुमान आलम्बन हैं। उनके द्वारा आग लगाने का घोर कृत्य उद्दीपन तथा उनका इधर-उधर भागना, चिल्लाना, रोना आदि अनुभाव तथा त्रास, दैन्य, मोह, आवेग आदि संचारी हैं। इनसे भय स्थायी भाव भयानक रस के रूप में व्यक्त होता है।

बीभत्स रस के वर्णन में भयानक के साथ उसके सम्बन्ध का विचार किया जा चुका है। इसी प्रकार भयानक रस का अन्य रसों से भी सम्बन्ध दिखाया जा सकता है। जैसे, भयानक और करुण दोनों अनिष्ट के आधार पर उत्पन्न होते हैं, किन्तु भयानक में अनिष्ट की प्रबल आशंका अथवा शीघ्र ही सम्पन्न होने की सम्भावना बनी रहती है और करुण में अनिष्ट घटित हो ही जाता है। अतएव दोनों में आधार का साम्य होकर भी भिन्नता है। इसी प्रकार भयानक और रौद्र का सम्बन्ध भी है, किन्तु भयानक नाशकारी के त्रास से पलायन की प्रवृत्ति को जगाता है और रौद्र शक्ति आज-माने और उसका सामना करने की ओर प्रवृत्त करता है। रौद्र आत्म-शक्ति का द्योतक है और भयानक अन्तःहीनता का। यों, इन दोनों में ही विवेक की हानि पाई जाती है। रौद्र में भी अपनी हानि ही मूल प्रेरक होती है, किन्तु रौद्र में हानि करने वाले से प्रतिकार लेने की चेष्टा का महत्व है, भयानक में प्रतिकार का विचार भी नहीं उठता। अद्भुत तथा भयानक में भी अनिष्ट के आधार पर कुछ समानता अवश्य है। किन्तु, अद्भुत में वस्तु के प्रति प्रशंसा-भाव की प्रधानता रहती है, प्रतिकार करने अथवा भागने की नहीं। अनिष्ट की सम्भावना ही समाप्त हो जाए तो उसका परिणाम प्रसन्नता ही होता है। अद्भुत में अनिष्ट का कारण कोई असाधारण कार्य या वस्तु ही हो सकती है। इसमें भयानक के समान आत्म-रक्षण का भाव जाग्रत नहीं होता। हाँ, विवेक की हानि दोनों में होती है। सारांश यह कि अन्य रसों से भयानक का किंचित्

भयानक और अन्य रस

सम्बन्ध तो अवश्य माना जा सकता है, किन्तु उनमें भेद ही प्रधान है। वीर-रस के काव्यों में शत्रुपक्ष की हीनता दिखाने के लिए इस रस का अच्छा उपयोग किया जाता है।

भानुदत्त ने रस के दो प्रकार के भेद और प्रदर्शित किए हैं। एक स्थान पर वे रस को लौकिक तथा अलौकिक भेद से दो प्रकार का मानते हैं। लौकिक के अन्तर्गत तो पूर्वकथित शृंगारादि को स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु अलौकिक के अन्तर्गत सर्वथा नवीन तीन भेदों का वर्णन किया गया है। ये तीन भेद हैं: (१) स्वाप्निक, (२) मानोरथिक, तथा (३) औपनयिक।[1] इन सभी लौकिकालौकिक भेदों को 'साहित्य-सार' के लेखक ने भी स्वीकार किया है।[2] इन भेदों का आधार लौकिक तथा अलौकिक-सन्निकर्ष माना गया है। शृंगारादि में लौकिक सन्निकर्ष रहता है, अतः उन्हें लौकिक की संज्ञा दी गई है तथा स्वाप्निकादि में लौकिक सन्निकर्ष गौण होकर आता है, अतः उन्हें अलौकिक कहा गया है। स्वाप्निक स्थिति में हमारे लौकिक अनुभव किसी-न-किसी प्रकार व्यक्त होते हैं, यह बात आज के विज्ञान से सिद्ध हो चुकी है। किन्तु उसका लौकिक मूर्त्त आधार न होकर उपचेतन में नयी कल्पनाएँ जागती हैं। इसीलिए इसे अलौकिक कहा गया है। इसी प्रकार मानोरथिक में भावक या व्यक्ति-मात्र के हृदय में नवीन मनोरथों की उत्पत्ति होती रहती है, अतः उसे मानोरथिक कहा है। औपनयिक में भिन्न अनुभवों की इच्छा-निरपेक्ष भावना की जाती है, अतः अनुभवों के उपनय करने के कारण इसे औपनयिक कहा है। यह सभी लौकिक प्रत्यक्ष आधार से अधिक कल्पना-व्यापार से सम्बन्ध रखते हैं, इस कारण इन्हें अलौकिक कहा गया है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि श्रीमद्रूपगोस्वामी ने ह० भ० र० में भक्ति रस के भेदों को अलौकिक तथा परिनिष्ठित रसों को लौकिक ही माना है।

अन्य भेद

इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन यह है कि भानुदत्तकृत ये भेद वस्तुतः रस के भेद नहीं हैं। कारण यह है कि : (१) रस को लौकिक कहकर हम पूर्वाचार्यों द्वारा कथित रस के अलौकिक प्रभाव तथा उसकी ब्रह्मानन्द-सहोदरता का तिरस्कार करेंगे। (२) स्वाप्निक अनुभव केवल लौकिक अनुभव हैं, उन्हें रस इस कारण नहीं कहना चाहिए कि उनमें स्वार्थ अथवा व्यक्तित्व का बोध लगा हुआ है। स्वप्न के टूट जाने पर हम कभी-कभी यह जानकर अत्यन्त कष्ट पाते

१. र० त०, पृ० १२१ से १२४।

२. सा० सा०, पृ० १२६, श्लोक १३०-१३२।

हैं कि हम एक ही क्षण में राजा से रंक हो गए हैं। स्वप्न सत्य नहीं हो सका है। दूसरे स्वाप्निक में हमें यह चेतना पहले से नहीं रहती कि हम ऐसा दृश्य अथवा अमुक घटना आज देखेंगे, काव्य में—विशेषत: दृश्य काव्य में—यह चेतना बनी रहती है कि हम अमुक चित्र देखने जा रहे हैं। तथापि काव्य की अलौकिकता यह है कि हम उसे देखते या सुनते समय अपने व्यक्तित्व को भूल जाते हैं और बाद में उसे स्वप्न के समान असत्य नहीं कहते, न कुछ खोया या अनुपलब्ध जानकर स्वप्न के समान कष्ट का अनुभव करते हैं। इस प्रकार स्वाप्निक केवल लौकिक अनुभव-मात्र है, रस नहीं। (३) शेष दोनों भेद केवल कल्पना-व्यापार के अन्य नाम-मात्र हैं। मनोरथ में अथवा भावन में तल्लीनता हो सकती है, किन्तु वह लौकिक स्वार्थ-मात्र है अथवा व्यक्ति की कल्पना-मात्र है। मानोरथिक भेद तो लौल्य आदि भेदों के समान है और इसमें इस संसार के सुख-वैभव की भावना रहती है। अथवा यदि मोक्षादि की कामना हो तो विभावादि के अनुसार इसे शान्त या भक्ति में से एक कहा जा सकता है। इसी प्रकार काव्य के अर्थ अथवा शब्द-शक्ति आदि के आधार पर जो भावन-व्यापार उपस्थित होता है, उसकी परिणति किसी-न-किसी पूर्वकथित रस के रूप में ही कही जायगी। तात्पर्य यह है कि रस को लौकिक कहने से उसके सम्बन्ध में भ्रम फैलने का भय है, अतएव यह भेद व्यर्थ है। स्वाप्निक को रस नहीं, लौकिक अनुभूति या मिथ्यानुभव-मात्र कहेंगे। हाँ, मानोरथिक तथा औपनयिक भेदों को कल्पना-व्यापार मानकर भी उनके अन्तर्गत आने वाले रसों के कारण उन्हें स्वीकार कर लेने में विशेष हानि नहीं। किन्तु ये स्वयं रस नहीं हैं। रस-भेदों के प्रधान नाम-मात्र हैं। अतएव इनकी स्वीकृति के झंझट में न पड़ने से भी कोई हानि नहीं होती। इनके स्थान पर हम कल्पना-व्यापार को स्वीकार करें तो स्पष्टता की अधिक सम्भावना है।

दूसरे स्थान पर भानुदत्त ने रस के, (१) अभिमुख (२) विमुख तथा (३) परमुख नाम से तीन भेद किये हैं।[१] ये भेद भी हमारे विचार से व्यर्थ हैं। इनमें अभिमुख तो स्पष्टतः रस-दशा ही है, क्योंकि उसमें विभावादि को व्यक्त माना गया है। किन्तु विमुख नामक भेद को हम रस न कहकर इतिवृत्त की संज्ञा देना अधिक उपयुक्त मानते हैं। भानुदत्त ने विमुख वहाँ माना है, जहाँ स्पष्ट रूप से विभावादि का पता न चलता हो। उदाहरणतः—

मैथिली लक्ष्मणो रामः सुग्रीवः पवनात्मजः।
लंकापुरं परित्यज्य पारं वारिनिधेर्ययुः॥

१. र० त०, पृ० १८१।

इन पंक्तियों में भानुदत्त के विचार से यह अद्भुत रस कष्ट से ही जाना जाता है कि इतने संकटों को पार करके वे लोग आये[१], अतएव यहाँ विमुख नामक भेद मानना चाहिए। हमारा विचार है कि यहाँ रस-भेद मानने पर काव्य में इतिवृत्त नाम की कोई वस्तु ही न रहेगी, अतः यह भेद हमें अस्वीकार्य है। इसी प्रकार परमुख भेद के जो भावमुख तथा अलंकारमुख भेद बताये गए हैं, उनको रस की श्रेणी में न रखकर काव्य-भेद-मात्र मानना चाहिए। इस प्रकार भानुदत्त द्वारा कल्पित नवीन रस या उनके भेदों को युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

रस-गणना और डॉ० वाटवे एवं कालेलकर

रसों के सम्बन्ध में डॉ० वाटवे तथा काका कालेलकर आदि ने कुछ विचित्र विचारों का प्रतिपादन किया है, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है। डॉ० वाटवे ने प्राचीन रसों में से बीभत्स तथा रौद्र को बहिष्कृत कर दिया है। साथ ही वीर रस के स्थायी भाव 'उत्साह' से भी उन्हें चिढ़ है। वे 'अमर्ष' को ही उसका स्थायी मानते हैं।[२] इसी प्रकार की कुछ और आपत्तियाँ उन्होंने की हैं। बीभत्स को बहिष्कृत करने की बात काका साहब को मान्य है। वह कहते हैं : "खून के कीचड़ और उसमें उतराते हुए नर-मुण्डों के वर्णन से वीर रस को किस तरह पोषण मिलता है, यह अब तक मेरी समझ में नहीं आया है। युद्ध में जो प्रसंग अनिवार्य हैं मनुष्य उनमें से भले ही गुज़रे, किन्तु, जुगुप्सित घटनाओं का रसपूर्ण वर्णन करके उसीमें आनन्द मनाने वाले लोगों की वृत्ति को तो विकृत ही कहना चाहिए।[३]" श्री द० के० केलकर ने बीभत्स की रसात्मकता पर तीन आपत्तियाँ की हैं। (१) यह रस वीर के सहायक के रूप में संचारी-मात्र बनकर आता है। (२) इस रस का क्षेत्र संकुचित है, साहित्य में इसे न तो प्रधान स्थान मिला है न बीभत्स का विशेष साहित्य ही उपलब्ध होता है। (३) यह स्वतन्त्र रूप से आस्वाद्य नहीं है।[४]

बीभत्स के सम्बन्ध में किये गए उक्त आरोपों का संक्षेप में हमारी ओर से यह उत्तर है कि (१) काका कालेलकर रसास्वाद के स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं समझ सके हैं। रसास्वाद प्रकरण में हमने यह स्पष्ट कहा है कि रसास्वादन को ब्रह्मा-

१. र० त०, पृ० १८२।
२. र० वि०, पृ० २४७।
३. सा० शि०, पृ० ११८।
४. 'काव्यालोचन', पृ० १३५।

नन्द कहने से इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए कि रस चाहे करुण हो, चाहे रौद्र या भयानक, उससे आनन्द अर्थात् सुख ही मिलता है। अपितु इसका अभिप्राय केवल इतना है कि उस समय हम संसार के अनुभव के समान जुगुप्सित दृश्य देखकर भाग नहीं खड़े होते, उसको भी सहज ही ग्रहण कर लेते हैं। यही विश्रान्ति है, और विश्रान्ति ही आनन्द है। अतः रस, कोई भी हो, आनन्दात्मक ही कहा जाएगा। इस विचार को ध्यान में रखने से काका साहब की आपत्ति व्यर्थ सिद्ध हो जाती हैं। (२) बीभत्स वीर का सहायक बनता है, यह ठीक है किन्तु इस अर्थ में कि वह उसका शत्रु नहीं हो जाता। अतएव जब तक हमें जुगुप्सा प्रधान जँचेगी तब तक काव्य में बीभत्स को प्रधान मानना होगा, संचारी नहीं; किन्तु जब वह समस्त विभावादि के साथ न आये तो उसे संचारी ही मानेंगे, पर बीभत्स रस को नहीं, जुगुप्सा को संचारी कहेंगे। यथा, किसी के तलवार चलाने से रक्त की धार उबल पड़ने या आँतें निकल आने की सूचना-मात्र देना संचारित्व का लक्षण होगा, किन्तु एक पूरा जुगुप्साजनक दृश्य उपस्थित करने से बीभत्स की ही सिद्धि होगी। (३)किसी रस का क्षेत्र संकुचित हो जाने-मात्र से वह रस पदवी से नहीं गिर सकता। फिर बीभत्स रस ऐसा नहीं है कि उससे व्यापक प्रभाव दृग्गोचर न होता हो। हाँ, उसका प्रयोग वीर-काव्य तक ही सीमित है, और इसी अर्थ में वह पराश्रयी भी है। तथापि इस गौणत्व से यदि कुछ योग ही मिले, तो इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। सारांश यह कि बीभत्स को रस मानना ही उत्तम होगा। आगे चलकर यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी।

डॉ० वाटवे ने वीर रस का स्थायी 'अमर्ष' मानकर नवीनता का प्रमाण भले ही दिया हो, विचार-प्रौढ़ता का प्रमाण नहीं दिया। आचार्यों ने जो वीर रस का स्थायी 'उत्साह' को माना है, उसका कारण यह है कि उत्साह के मूल में विजय-कामना निवास करती है। इसीलिए उसका लक्षण है **'कार्यारंभेषु संरंभः स्थेयानुत्साह उच्यते।'** इसके विपरीत 'अमर्ष' केवल सहन न करने की वृत्ति है। विजय-कामना का अमर्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह तो केवल दूसरों के द्वारा की गई निन्दा, अपमान तथा आज्ञा-भंग को न सहन कर सकने की वृत्ति-भर है। अतः उत्साह-प्रधान वीर रस का स्थायी उसे नहीं माना जा सकता।

रौद्र का वीर में अन्तर्भाव करते हुए डॉ० वाटवे कहते हैं कि दोनों का मूल कारण क्रोध है। एक ही प्रतिकार-भावना से हम दोनों ओर प्रवृत्त होते हैं, अन्तर केवल इतना है कि वीर रस में क्रोध विवेक से संयमित होता है और हम अपनी तथा शत्रु की शक्ति की तुलना करके अपने को शक्तिशाली पाकर दीर्घकाल से संयमित अपने क्रोध को व्यक्त कर देते हैं और क्रोध केवल अविवेकज होने पर

रौद्र का रूप धारण कर लेता है। उन्हें यह मान्य नहीं हैं कि रौद्र को वीर का आभास बताया जाए, क्योंकि यदि वीर के आभास को स्वीकार किया जाएगा, तो अन्य रसों के आभासों से भी अन्य रसों की कल्पना करनी पड़ेगी।[1]

डॉ० वाटवे के इस मत में प्रधान त्रुटि यह है कि वे क्रोध के रूप को भली प्रकार ग्रहण नहीं कर सके हैं। क्रोध, शुक्लजी के शब्दों में, वैर का अचार या मुरब्बा तैयार करता है। अर्थात् क्रोध ही वैर-रूप में परिणत हो जाता है। किन्तु, उत्साह वैर को उत्पन्न नहीं करता और न उससे उत्पन्न होता है। शत्रु को अकस्मात् आया जानकर भी वीर पुरुष में उसका सामना करने का उत्साह हो सकता है और उसके चले जाने पर उसके प्रति कोई भी भाव नहीं होगा। उत्साह विनाश रोकने के लिए प्रवृत्त करता है और क्रोध विनाश देखकर जागता है। दोनों में अन्तर है। दूसरी बात यह कि क्रोध में मनुष्य अपने को भूल जाता है और यदा-कदा अपने को हानि पहुँचाने वाला काम कर बैठता है, किन्तु उत्साह में ऐसा कभी नहीं होता। वीर दया और करुणा का भी वाहक है और शत्रु का भी सम्मान कराना सिखाता है तथा संकटों को देखकर वह और बढ़ता है। इसके विपरीत क्रोध बाधा पाकर शान्त होने लगता है। उत्साह में दूसरे की हानि पहुँचाने की भावना नहीं रहती, किन्तु क्रोध में दूसरे पक्ष का पूर्ण विनाश ही काम्य है। स्पष्ट है कि केवल विवेक तथा अविवेक का ही नहीं, प्रभाव तथा प्रवृत्ति का भी इन दोनों में अन्तर होने से इन्हें एक नहीं मानना चाहिए। दूसरी बात यह है कि वीर का आभास रूप रौद्र नहीं है। वीर में धैर्य की प्रधानता है। अतः उसका आभास वहीं होगा जहाँ अनुपयुक्त स्थान पर उत्साह दिखाया जाए। इसके आभास के समान ही अन्य रसों के आभास उत्पन्न होते हैं और वे हास्योत्पादक होते हैं, यह रसाभास प्रकरण में हमने स्पष्ट कर दिया है।

डॉ० वाटवे ने दयावीर, दानवीर तथा धर्मवीर नामक भेदों का करुण आदि में अन्तर्भाव माना है।[2] यह भी उचित नहीं है, क्योंकि करुण तथा वीर में प्रवृत्ति तथा अप्रवृत्ति का भेद है। करुण अप्रवृत्तिकारक है और वीर प्रवृत्ति-प्रधान है। किसी पर दया करते समय यदि हमारे मन में उसके कष्ट को दूर कर देने की प्रवृत्ति जागकर हमें किसी उपाय में प्रवृत्त करती है, तो वहाँ दयावीर होगा और यदि हम हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाएँ, तो करुण होगा। अतः दोनों को एक में नहीं मिलाना चाहिए। इसी प्रकार धर्मवीर को भक्ति रस कहना भी युक्तियुक्त

१. र० वि०, पृ० २४८।

२. वही।

नहीं है, क्योंकि धर्म भक्ति से व्यापक है अर्थात् भक्ति, धर्म का ही एक रूप है। धर्म केवल भक्ति तक सीमित नहीं है, अपितु उसके और भी अंग हैं। इस प्रकार अंगी को अंग में अन्तर्भूत करना उचित न होगा। दूसरी बात यह कि धर्मवीर में धर्म कर्त्ता, प्रधान होता है, आलम्बन नहीं; और भक्ति में भक्त ध्येय से अपने को हीन समझता है। दोनों में लक्ष्य का भेद है। इस प्रकार केवल सहानुभूति के आधार पर इन पृथक् रसों को एक कर देने की चेष्टा उपहासास्पद है।

सारांश यह कि डॉ० वाटवे का यह निष्कर्ष कि भय, क्रोध, जुगुप्सा तथा विस्मय और इनमें भी प्रधानतः क्रोध एवं जुगुप्सा संचारी माने जा सकते[1] हैं, शास्त्रीय दृष्टि से मान्य नहीं ठहरता। उनका यह मत भी शास्त्रानुकूल और तर्कानुमोदित नहीं है कि कुछ रसों का, जिनका अभी उल्लेख किया गया है, दूसरे रसों में अन्तर्भाव किया जा सकता है।

रसों की परस्पराश्रयिता

भरत ने आठ रसों का वर्णन करके भी उनमें गौण-प्रधान भाव की प्रतिष्ठा की है। उनका मत है कि क्रमशः शृंगार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स रसों से शेष चार अर्थात् क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक की उत्पत्ति होती है। कारण यह है कि शृंगार की अनुकृति ही हास्य में परिवर्तित हो जाती है, रौद्र का कर्म ही करुण, और वीर का कर्म ही अद्भुत का परिणामी होता है। बीभत्स दिखाई देने वाली वस्तु से ही भयानक का उत्पादन होता है।[2]

भरत ने इस प्रकार रसों को एक-दूसरे पर आश्रित बताकर एक प्रकार से चार रसों की गौणता का प्रतिपादन किया है। इस विचार को लेकर उनके परवर्ती विचारकों ने इस सम्बन्ध में अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। शारदा-

1. र० वि०, पृ० २४८।
2. तेषामुत्पत्तिहेतवः चत्वारो रसाः। तद्यथा—शृंगारो, रौद्रो, वीरो, बीभत्से इति। अत्र—

    शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यः रौद्राच्च करुणो रसः।
    वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः बीभत्साच्च भयानकः॥
    शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
    रौद्रस्य चैव यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
    वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
    बीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः स तु भयानकः॥

    ना० शा० चौ०, पृ० ७२।

तनय ने स्पष्ट ही इनकी प्रधानता तथा गौणता का वर्णन किया है।[1] इस प्रधानतादि के विषय में दशरूपककार का विचित्र मत है। वे चित्त की विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप नामक चार अवस्थाओं से इनका सम्बन्ध मानकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार शृंगारादि रसों में प्रमुखतः इन्हीं चार वृत्तियों की सत्ता मानकर संभेद के विचार से केवल चार को मुख्य बताकर शेष को उन्हींके समान बता दिया गया है, ऐसा दशरूपककार का मत है। उनके विचार से इनमें कार्यकारणभाव नहीं मानना चाहिए।[2] इस रूप में शृंगार तथा हास्य विकास-व्यवस्था वाले हैं, वीर तथा अद्‌भुत का विस्तार से सम्बन्ध है, बीभत्स और भयानक का क्षोभ से और रौद्र एवं करुण का सम्बन्ध विक्षेप से है। इससे एक बात तो निश्चित ज्ञात हो जाती है कि भरत ने इन रसों को एक-दूसरे का कार्यकारण नहीं माना है। इनमें यह अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है कि इनके अतिरिक्त वह और किसी से सम्बन्ध ही न रखते हों और उस-उस रस से केवल वही-वही रस उत्पन्न होते हों। इस बात की पुष्टि इस बात से होती जान पड़ती है कि भट्टनायक तथा अभिनवगुप्तादि जिन विद्वानों ने केवल तीन मानसिक अवस्थाएँ स्वीकार की हैं, उनके अनुसार इन चार का सम्बन्ध अर्थात् दो रसों का एक साथ गठ-बन्धन कैसे उसी रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मानसिक अवस्थाएँ, मान लें कि, द्रुति, विस्तार तथा विकास नाम से केवल तीन ही हैं, तब इनका विभाजन ठीक उसी रूप में न हो सकेगा, क्योंकि शृंगार तथा हास्य तो विकास हैं, वीर तथा अद्‌भुत विस्तार, किन्तु भय बीभत्स के समान ही क्षोभ नहीं है। इसी प्रकार रौद्र अद्‌भुत के विस्तार के समान द्रुति है, विक्षेप नहीं। करुण आनन्दवर्धन के अनुसार द्रुति की चरमावस्था है। स्पष्ट है कि इस विचार को मान लेने से भरत के विचार का कोई महत्त्व नहीं रहेगा।

इस आपत्ति के साथ-साथ कुछ और भी आपत्तियाँ दिखाई देती हैं। यथा, हास्य की उत्पत्ति केवल शृंगार से ही नहीं, अन्य रसों के आभास से भी अभिनव ने स्वीकार की है। अतः उसकी सीमा निश्चित नहीं की जानी चाहिए। इसी प्रकार विप्रलम्भ से भी करुण की उत्पत्ति संभव है, रौद्र मात्र से ही नहीं। न रौद्र की समस्त स्थितियों से करुण की उत्पत्ति अनिवार्य कही जा सकती है। रौद्र से भयानक की उत्पत्ति भी उसी प्रकार संभव है। अद्‌भुत की उत्पत्ति शृंगार तथा वीर दोनों से ही हो सकती है। इसी प्रकार करुण रौद्र के अतिरिक्त अन्य रसों से भी उत्पन्न हो सकता है, जैसे, वीर और भयानक से। वीर

१. भा० प्र०, पृ० ५५।
२. द० रू०, पृ० १६३।

रस से जिस प्रकार अद्‌भुत की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार शत्रु के पक्ष के लिए भयानक की सृष्टि होती है। स्वयं हास्य शृंगार का उपकारक बनकर उपस्थित है, और नायक-नायका में इसी प्रकार अन्य रसों का सम्बन्ध भी कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। अतः भरत का अभिलषित केवल उस दिशा में संकेत करना होगा, ऐसा प्रतीत होता है।

भरत का कोई अन्य विचार था तो वह क्या था, इस सम्बन्ध में अनुमान करने के लिए नाट्य-शास्त्र का ही सहारा लेना होगा। नाट्य-शास्त्र में आरम्भ में ही दो बातें कही गई हैं। एक यह कि नाट्य के उपकरण वेदों से लिये गए हैं, और दूसरी यह कि सबसे पूर्व जब प्रथम नाट्य को रंगमंच पर प्रदर्शित करने का समय आया, तो उसे देखने वाले सुर तथा असुर दोनों ही थे। उस प्रदर्शन में सुरों की विजय और असुरों की पराजय दिखाई गई थी। परिणाम यह हुआ कि असुरों ने आक्रमण करके सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। बहुत समझाने-बुझाने पर कहीं वे यह मान पाए कि यह नाट्य था, वास्तविक नहीं थी, अतः उससे झुँझलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी।[१] इस कथा से और जो कुछ भी भाव प्रकट होता हो, वह तो है ही, परन्तु इतना अवश्य प्रकट होता है कि नाट्य की योजना दो प्रमुख प्रवृत्तियों, दो संस्कृतियों, सुर और असुर भावों के प्रदर्शन के हेतु की गई थी। इसी बात के प्रमाण हमारे महाकाव्यों से उपलब्ध हो जाते हैं, जिनमें सदैव दो विरोधी भावों का प्रदर्शन रहा है। इस विरोध और संघर्ष में से शान्ति और सुख का मार्ग निकाला गया है। हाँ, मुक्तक काव्यों में, जहाँ किसी एक भाव के छींटे ही प्रायः उड़ते हैं, इस बात का प्रबन्ध नहीं हो पाया है, और न वह संभव ही था। हो सकता है इसी द्वैत को प्रदर्शित करने के लिए भरत ने रसों का गठबन्धन किया हो। ऐसा मान लें तो आपसे यह आपत्ति व्यर्थ हो जाएगी कि कौन रस प्रधान है, और कौन अप्रधान। इस विचार में सत्यता कितनी है, यहाँ इस बात का विचार किया जाय।

शृंगार तथा वीर एवं बीभत्स तथा रौद्र का पृथक्-पृथक् द्वन्द्व सुर और असुर प्रवृत्तियों का द्योतक प्रतीत होता है। नाट्य अथवा महाकाव्य की सफलता के लिए यदि एक को दिखाया जायगा, तो उसका महत्त्व तब तक प्रकट न होगा, जब तक कि उसके विपरीत दूसरे को न दिखा दिया जायगा। शृंगार यदि 'गुर्वाचारसिद्धो हृद्योज्वलवेषात्मकः' कहा गया है और उसे 'स्त्री पुंसहेतुक उत्तम युवतिप्रकृतिः' बताया है, तो बीभत्स उसके पूर्णतया विपरीत अहृद्य, अप्रिय और अनिष्टदर्शन आदि कहा गया है। शृंगार के देवता विष्णु माने गए हैं

१. ना० शा०, चौ०, १।१०१-१०२।

और उसका वर्ण अवतारी पुरुषों का श्याम वर्ण बताया गया है, जबकि बीभत्स का देवता महाकाल तथा वर्ण नील माना गया है। महाकाल से सम्बन्धित इस रस को राक्षसी वृत्ति का प्रतिनिधि मानना अनुचित नहीं, क्योंकि महाकाल शंकर का एक रूप है और शंकर राक्षसों के आराध्यदेवता हैं।

बीभत्स और शृंगार के इस विरोध के स्थान पर वीर और शृंगार का स्वरूप देखें तो दोनों में परस्पर-मैत्री ज्ञात होती है। शृंगार की उत्तमता के समान वीर हमारे धैर्यादि गुणों और उत्तम प्रकृति से सम्बन्ध रखता है। वीर-रस का नायक धीरोदात्त बताया गया है, जो समस्त वीर्य, शौर्य, नय-विनय आदि गुणों से सम्पन्न होने के साथ-साथ स्वरूप में शृंगार के अन्तर्गत आने वाले शोभाढ्य गुणों से परिपूरित या मण्डित होता है। इसका देवता इन्द्र तथा वर्ण गौर है। गौर और श्याम की जैसी जोड़ी हमारे यहाँ बलराम और कृष्ण या लक्ष्मण और राम की है, वैसी ही शृंगार तथा वीर की है। दोनों एक-दूसरे के उपकारक हैं।

इसी प्रकार रौद्र और बीभत्स का जोड़ा है। रौद्र का अधिकारी भरत ने स्पष्ट ही राक्षस को माना है और उनका वेश-विन्यास उन्हींके अनुकूल बताया गया है। उसका देवता महाकाल का साथी होने योग्य रुद्र है, जो शंकर का ही दूसरा रूप है। इसका रंग लाल है जो देखने में बीभत्स-दर्शन ज्ञात हो। इस प्रकार यह स्पष्ट दिखाई देता है कि नाट्य में स्वीकृत यह रस असुर-सुर दो प्रवृत्तियों में द्वन्द्व दिखाने के विचार से रखे गए हैं।

इसी आधार पर विचार करें तो शेष चार रसों का इन चार से भरत-कथित सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा। शृंगार रस की सुखदता ही हास्य में भी वर्त्तमान है। विकृत वेश-भूषा प्रणय को मृदुल व्यापार वाला बना देती है। साथ ही इस प्रकार की वेश-भूषा वाले विदूषक को देखकर मनःमोद बढ़ जाता है, आनन्द की एक रेखा खिंच जाती है। प्रसन्नता आमोद-प्रमोद और भोग-विलास की ओर प्रवृत्त करती है। इसी प्रकार अद्भुत रस वीर रस का अनुगामी बनकर अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है, वीर का उपकार करता है। भयानक का सम्बन्ध बीभत्स से है और करुण का मेल रौद्र से है। राक्षसी वृत्ति से हम भय ही खाते हैं और उसके द्वारा उत्पन्न विस्मय भय से दबा रहता है, किन्तु वीर व्यक्ति के उत्साह और साहसपूर्ण अद्भुत कृत्य को देखकर हमें एक प्रकार की प्रफुल्लता का अनुभव होता है, ऐसी अवस्था में उत्साह का पोषण होता है, उसका विनाश नहीं होता। रौद्र तथा करुण का सम्बन्ध इसलिए है कि रौद्र कर्म का परिणाम है अनिष्ट। अनिष्ट शोक उत्पन्न करके करुण

को सबल बनाता है। साथ ही जितना ही करुण दृश्य उपस्थित होता है, वह उतना ही अनिष्टकारक कर्म की रुद्रता को प्रकट करता है। अतः करुण रौद्र का उपकारक है। सारांश यह है कि भरत ने, सम्भवतः, दो वृत्तियों को ध्यान में रखकर चार मूल रसों की कल्पना की है, किन्तु उनमें वे परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं मानते हैं। किन्तु, आज भी इसी वर्गीकरण से चिपटे रहकर नवीन रसों के लिए मार्ग न खोलना उपयोगी न होगा। वस्तुतः, भरत के समय जिन प्रधान अर्थात् मोटी-मोटी स्पष्ट रेखाओं पर दृष्टि जम सकी, उनका वर्णन कर दिया गया और उसीके आधार पर रसों की संख्या निश्चित कर दी गई। परिस्थितियों के विकास के साथ सम्बन्ध की जटिलता बढ़ती गई है, अतः भावों का भिन्न-मुखी विकास दृष्टिगोचर हो रहा है। इस विचार से हमने नवीन रसों का भी विचार किया है और उचित-अनुचित का विचार रखते हुए उन्हें स्वीकृति या अस्वीकृति दी है। उन सबको इस कोष्ठक में एक साथ इसी सुर-असुर-प्रवृत्ति के अनुसार न रखा जा सकेगा। अतएव इसके सम्बन्ध में केवल इतना विचार रखना चाहिए कि अमुक-अमुक रस से अमुक रस के पोषण में सहायता मिलती है, अथवा अमुक उसका विरोधी दिखाई पड़ता है।

रस एक है

रसों की अनेकता का प्रतिपादन और उनकी परस्पराश्रयिता का विचार करते हुए भी सभी लेखक इस विषय में प्रायः एकमत हैं कि रसों की भिन्नता केवल औपचारिक या औपाधिक है। रस को मूलतः आस्वाद-रूप मान कर केवल अखण्ड एक-मात्र अनुभूति मानना यौक्तिक होगा। भरत ने भी 'रस' शब्द का प्रयोग **'न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते'** पंक्ति में एक वचन में किया है। इस बात को लक्षित करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि पारमार्थिक रूप से तो रस एक ही है, किन्तु प्रयोजन-सिद्धि के लिए उसके विभाग कर लिए जाते हैं।[1] श्रृंगार के प्रकरण में हम बता आए हैं कि भोजराज ने अहंकार-श्रृंगार को सभी रसों के मूल तत्त्व के रूप में ग्रहण करके प्रकारान्तर से रसों की एकता प्रतिपादित की थी। उन्होंने भरत तथा अन्य आचार्यों द्वारा कथित नव या नवेतर अन्यान्य रसों को केवल व्यावहारिकता की दृष्टि से स्वीकार किया है। यही कारण है कि उन्होंने अनेकानेक रसों की कल्पना की और एक प्रकार

१. पूर्वत्र बहुवचनमत्र चैकवचनं प्रयुञ्जानस्यायमाशयः। एक एव तावत्पर-मार्थतो रसः सूत्रस्थानत्वेन रूपके प्रतिभाति। तस्यैव पुनर्भागदृशा विभागः।
अ० भा०, १, पृ० २७३

से स्थायीभावाश्रित रसत्व का उपहास-सा कर दिया है। रसों के परस्पर अन्तर्भाव का प्रयत्न इसी एकता की स्थापना की दिशा में किया गया प्रयत्न है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने रस को जो 'आत्मविश्रान्ति' की स्थिति कहा है, उससे उनका यही अभिप्राय जान पड़ता है कि वह अखण्ड अनुभूति मात्र है। ब्रह्मानन्द-सहोदर रस को और बताया भी क्या जा सकता है ? ब्रह्मास्वाद स्वयं एकरूप है, अप्रापंचिक है, अतः उसका सहोदर कहलाने वाला रस निश्चय ही एक होना चाहिए। आस्वाद का रूप आनन्दात्मक है जो सभी कथित रसों में विद्यमान माना जाता है। अतएव रस का मूल स्वरूप एक ही है। केवल व्यवहार-दृष्टि से रस का विभाजन किया जाता है। रस की वास्तविक अवस्था तन्मयीभवन की अवस्था है, जहाँ हम अपने और अपने से सम्बन्धित विषय-ज्ञान को एक-मात्र एक अनुभूति में लय कर देते हैं। भावनापथ तक बने रहने पर बहुविधता का ज्ञान होता है, अन्यथा एक अनुभूति रस के रूप में अवशिष्ट रह जाती है।[1] भट्ट नृसिंह ने उसे 'कूटस्थ' और 'स्वादात्मा' कहा है। वह स्पष्ट कहते हैं कि यह कूटस्थ स्वादात्मा रस एक ही होता है।[2] कविकर्णपूर गोस्वामी ने रज तथा तम से हीन शुद्ध सत्त्वमय मनःस्थिति में ही आस्वाद की सत्ता मानी है। अभिनव या भट्टनायक से उनका यही अन्तर है कि वह सीधे-सीधे 'आनन्द' या 'अस्वादांकुरकंद' को स्थायी और रस मानते हैं। केवल विभावादि-सम्पर्क से उसे भिन्न-भिन्न नाम दे दिया जाता है।[3] अभिप्राय यह है कि रस आस्वाद और आनन्द के रूप में एक और अखण्ड अनुभूति-मात्र है, उसके भेद औपाधिक-मात्र हैं।

रस-विरोध

रसों के परस्पर विरोध की चिन्ता प्राचीन लेखकों ने भी की है। इस शत्रुता अथवा मैत्री का दिग्दर्शन निम्न रूप में कराया जा सकता है :

---

१. आभावनोदयमनन्यधिया जनेन, यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः ।
यो भावनापथमतीत्य विवर्त्तमानः, साहंकृते हृदि परं स्वदते रसोऽसौ ।।

२. अष्टावेव स्थायिन इति कुतः ? तावतामेव स्वादात्मकत्वादिति चेत्, निमेतेष्वनुस्यूत एकःस्वादात्मा ? तर्ह्यनक्षरमिदमुक्तम् एतेषा कूटस्थ एक एव स्वादात्मा, एते च तद्विशेषा इति—

अत्रे (अतः) सर्वेषां कूटस्था (स्थ) एक एव स्वादात्मा ।

न० आ० र० में उद्धृत, पृ० १७७

३. आस्वादांकुरकन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः ।
रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्वतया सतः ।। अ० कौ०, पृ० १२१

संख्या	रस	मित्र	शत्रु
१	शृंगार	हास्य	बीभत्स
२	हास्य	शृंगार	करुण
३	करुण	रौद्र	हास्य
४	रौद्र	करुण	अद्भुत
५	वीर	अद्भुत	भयानक
६	भयानक	करुण	वीर
७	अद्भुत	वीर	रौद्र
८	बीभत्स	भयानक	शृंगार

आनन्दवर्धन ने रस-व्याघात के पाँच कारण बताए हैं।[1] यथा,

१. विरोधी रस के सम्बन्धी विभावादि का ग्रहण।

२. रस से सम्बन्ध रखने पर भी अन्य वस्तु का विस्तार से कथन।

३. असमय रस को सम करना या अनवसर उसे प्रकट करना।

४. रस का पूर्ण पोषण होने पर भी उसका पुनः-पुनः उद्दीपन करना।

५. व्यवहार का अनौचित्य।

ये पाँच बातें रस में व्याघात-उपस्थिति-कारिणी हैं। इसी प्रकार स्वयं रसों में परस्पर विरोध उपस्थित हो जाता है, उसके भी तीन कारण हैं।[2]

१. आलम्बन की एकता के कारण। यथा, वीर और शृंगार का आलम्बन एक ही हो या हास्य, रौद्र एवं बीभत्स का आलम्बन एक हो।

२. आश्रय-ऐक्य के कारण। यथा, जो वीर हो उसीमें भय का प्रदर्शन हो।

३. नैरन्तर्य तथा विभावैक्य के कारण, जैसे, शान्त और शृंगार एक साथ दिखाने का प्रयत्न हो या दोनों के विभाव एक ही हों।

विरोधी रसों से सम्बन्ध रखने वाले विभावादि भी परस्पर उतने काल के लिए विरोधी होते हैं। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि विरोधियों का एक साथ कहीं किसी प्रकार भी वर्णन नहीं हो सकता। आनन्दवर्धन ने इस प्रयोग का मार्ग निर्दिष्ट कर दिया है कि जब प्रधान रस परिपुष्ट हो जाए, उस समय यदि इन रसों का वर्णन किया जाएगा, जो उसके अंग के समान होंगे, तो कोई हानि नहीं है।[3] अपितु बाध्यभाव से आये हुए वे रस उस समय उस प्रधान

१. ध्व०. ३।१८-१९।

२. ध्व०, ३६१।पृ०।

३. वही ३।२०।

रस के पोषक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए आनन्दवर्धन ने निम्न श्लोक प्रस्तुत किया है, जिसमें एक साथ विषम, व्यभिचारी, वितर्क, मति, शंका, धृति शान्त रस के लिए और औत्सुक्य, स्मरण, दैन्य, चिन्ता आदि सम व्यभिचारी शृंगार के पोषक होते हुए भी एक साथ उपस्थित हुए हैं।[१]

> **क्वकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोपि दृश्येत सा।**
> **दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।**
> **किं वक्षन्त्वपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा।**
> **चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्यो धरं पास्यति॥**

विरोध के दो प्रकार बताए जाते हैं। (१) सहानवस्थान विरोध तथा (२) बाध्यबाधक भाव विरोध।[२] पहले प्रकार के अन्तर्गत दो पदार्थ समान रूप से बराबर दशा में एक साथ नहीं रह सकते। दूसरे में बाधक का नाश करने वाले के उदय होने तक दोष बना रहता है। उसके उदय होने पर कोई दोष नहीं रहता। इनमें दूसरा विरोध ही मुख्य है। प्रथम विरोध के अन्तर्गत आने वाले रसों में तो अंगांगिभाव सम्पन्न होने में विशेष कठिनाई नहीं है। दूसरे, प्रकार के विरोध को नष्ट करने के लिए यह ध्यान रखना चाहिए कि अन्य प्रधान रस के अविरोधी अथवा विरोधी रस का परिपोष नहीं करना चाहिए।[३] इसी प्रकार अंगिरस के विरुद्ध व्यभिचारियों का अधिक वर्णन करना हितकर नहीं, अतएव उन्हें किसी-न-किसी प्रकार अंगिरस से सम्बन्धित करने का यत्न करना चाहिए। इसके साथ अंगभूत रस का परिपोष करके भी किसी-न-किसी प्रकार के उल्लेख द्वारा उसके अंगभूत होने का भाव बनाए रखना चाहिए। वैसे तो सुगम मार्ग यही है कि अंगी रस की अपेक्षा अंग रस का वर्णन कम किया जाय। रसों के विरोध दो प्रकार के होते हैं। (१) ऐकाधिकरण्यविरोधित्व तथा (२) नैरन्तर्य विरोध। इनमें से प्रथम का विरोध रसों को विभिन्नाश्रयी करके किया जा सकता है। दूसरे प्रकार के विरोध का परिहार दोनों विरोधियों के बीच एक अविरोधी के बैठाने से किया जा सकता है। जैसे, किसी नाटक में शान्त और शृंगार का नैरन्तर्य हो तो बीच में अद्भुत का समावेश करने से वह विरोध पुष्ट नहीं होगा। सारांश यह कि काव्य में वर्णन के अनुसार रस-परिपाक करने में बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता होती है। इन रसों में विभावादि के आधार पर अथवा आस्वाद के कारण

१. वही पृ० ३६७।

२. द० रू० पृ० १४३।

३. ध्व०, पृ० ३६९-३८८।

परस्पर-विरोध पड़ जाता है। किसी एक का पोषण दूसरे के लिए हानिकर हो सकता है। अतएव उनके विरोध परिहार का सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिए।

रस के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह बात भी बार-बार उठाई गई है कि अमुक रस रसराज है या अमुक रस। प्राचीन काल से शृंगार को रस-राजत्व मिला है, किन्तु जब-तब उसके विरोध में करुण, हास्य तथा वीर या शान्त को बैठाया जाता रहा हैं। इन रसों को प्रधान मानने के भिन्न कारण हैं, भिन्न दृष्टियाँ हैं। यथा, कोई शृंगार को इसलिए प्रधान मानता है कि वह व्यापक होने के साथ-साथ प्रायः सभी कामों का मूलाधार जान पड़ता है, कोई वीर की प्रतिष्ठा इसलिए करता है कि उससे जगत् का उपकार होता है, सहानुभूति, सेवा तथा आत्म-त्याग का मार्ग मिलता है, दूसरा करुण को ही भिन्न-भिन्न भावों का मूल आधार तो मानता ही है, उसका सम्बन्ध करुणापति भगवान् से जोड़कर उसे श्रेष्ठ ठहराता है और कोई शान्त को मोक्ष का मार्ग खोलने वाला समझकर उसे ही परम रस मानता है तथा कोई हास्य को स्वास्थ्य-कर, सुखकर, व्यापक, पशु-पक्षियों में भी व्याप्त तथा सुधारक मानकर उसे सर्वोत्तम मानता है और शृंगार को काम के द्वारा वासना और विकार का आश्रय मानकर उसकी हीनता का प्रतिपादन करता है। हमारा इस विषय में यह दृढ़ विचार है कि रसों में आस्वाद्यता के विचार से किसी को रसराज और किसी को उससे हीन कह देना उचित नहीं है। आस्वाद के समय सभी एक हैं और विस्तृत अर्थ में आस्वाद्यता ही रस है, अथवा रस और आस्वाद्यता पर्याय मात्र हैं। अतः यदि रस को एक ही मान लिया जाय तो वही तर्कसंगत है। किन्तु उपाधि-भेद से उनका वर्णन अलग ही किया जाता है, ऐसी दशा में उनमें मुख्य और गौण का भाव भी ढूँढ लिया जाता है। इस दृष्टि से हम शृंगार को ही रसराज कहेंगे। इसके कई कारण हैं :

रसराज कौन ?

१. यह पशु-पक्षी तथा मानव में एक समान पाया जाता है।

२. यह सार्वत्रिक है।

३. इसके अनेक भेद और इसके अन्तर्गत अनेक चेष्टाएँ हैं, जिनका सूक्ष्मता से विचार करने पर भी गणन नहीं किया जा सकता।

४. यह वियोग तथा संयोग दो पक्षों वाला है, जो और रस नहीं हैं।

५. यह अत्यन्त सुकुमार भावनाओं वाला है।

६. इसके अन्तर्गत अनेक संचारी आते हैं, जो अन्य के अन्तर्गत नहीं

आ सकते ।

इसके अन्य गुणों का वर्णन भी साहित्य-शास्त्रों में हुआ है। यहाँ हम उनका उल्लेख किए देते हैं।

भरत ने इसे हृद्य, उज्ज्वल आदि विशेषणों से विभूषित किया है और इसके मूल में काम-पुरुषार्थ बताया है। यह काम अत्यन्त व्यापक है, इसका संकेत इस बात से मिल जाता है कि वे अर्थ-काम, धर्म-काम तथा मोक्ष-काम का भी उल्लेख करते हैं। भानुदत्त ने इसीसे कहा है कि **'सकलाकांक्षाविषयत्वेनाराध्यतया च प्रथमं शृंगारोपन्यासः।'**[1] काम ही तो जगत् के मूल में है। औपनिषदिक साखी तो यही है : **सोऽकामयत्।'** अथवा बृहदारण्यक का यह वचन स्मरणीय ही है **'काममय एवायं पुरुषः।'** (४।५) इसी काम की महिमा गाते हुए 'शिवपुराण' की धर्मसहिता में कहा गया है : **'कामः सर्वमयः पुंसां स्वसंकल्पसमुद्भवः'** अथवा **'आनन्दममृतं दिव्यं परं ब्रह्म तदुच्यते। परमात्मेति चाप्युक्तं विकाराः काम संज्ञिताः।'** ८। यहाँ तक कि मोक्ष भी रति के संस्पर्श से नहीं बचा है। इसी विचार से विचारकों ने शान्तरस का स्थायी मोक्षरति को माना था। इसकी व्यापकता के सम्बन्ध में रुद्रट का यह वाक्य स्मरणीय ही है : **'अनुसरति रसानां रस्यतामस्यनान्यः। सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।'**[2] कविबर केशव की बुढ़ापे की इस उक्ति में कि 'चन्द्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि-कहि जाय' इस भाव के प्रति कितना स्वारस्य है, कितनी व्यग्रता से बुढ़ापे को रोककर केशव यौवन में पैर रखना चाहते हैं। भोज ने संभवतः यह सब सोचकर **'रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते'**[3] कहा है। उन्होंने इस बात को स्पष्ट समझ लिया था कि अन्य रसों का आस्वाद सभी नहीं कर पाते, निश्चय ही इसीलिए करुण की आस्वाद्यता का झगड़ा उठता रहा है, रामचन्द्र गुणचन्द्र को इसी कारण रसों को सुखदुःखावस्था वाला मानने की इच्छा हुई थी और आज भी डॉ० वाटवे आदि रौद्र या बीभत्स को अर्द्धचन्द्र दे देना चाहते हैं। भोज ने स्पष्ट कहा है कि शृंगार-जैसी प्रधानता दूसरे रसों में नहीं पाई जाती। इसी बात की पुष्टि में 'साहित्यरत्नाकर' के लेखक श्री धर्मसूरि ने भी योग दिया है।[4] आनन्दवर्धन ने इसकी ओर विशेष स्नेह से देखा है। वह इसे सुकुमारतर मानकर इसे रस-

---

१. र० त०, पृ० १२४।

२. काव्यालंकार, १४।३८।

३. स० कं०, ५।१-२।

४. सा० र०, पृ० ३३८।

विरोध से विशेष रूप से बचाए रखने का आग्रह करते हैं।[1] उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शृंगार रस समस्त सांसारिक पुरुषों के अनुभव का विषय अवश्य होता है। अतः सौन्दर्य की दृष्टि से यह प्रधानतम है।[2] उन्होंने यह भी कहा है कि शृंगार के सब लोगों के मन को हरण करने वाला और सुन्दर होने से उसके अंगों का समावेश काव्य में सौन्दर्य का अतिशय वर्द्धन करने वाला होता है।[3] अभिप्राय यह है कि शृंगार को प्रधान मानने वाली लम्बी नामावली प्रकाशित की जा सकती है और उन संतों और भक्तों की साक्षी भी दी जा सकती है, जो भक्त होकर भी मधुर रस का आग्रह कर गए, निर्गुणिए होकर भी अपने को 'राम की बहुरिया' समझते रहे। जो भक्ति की रचना करके भी शृंगार-कवि कहलाने से न बच सके, ऐसे कवियों, सन्तों तथा भक्तों की लम्बी तालिका है। अन्ततः इतने लोगों का इस रस के प्रति पक्षपात क्या झूठा है, निस्सार है ? केवल इतना कह देने से कि शृंगार वासना और विकार के प्रदेश में ले जाता है, हमें हीनता और आडम्बर की ओर घसीटता है, हमारे हृदय की करुणा को दबाकर व्यक्तिगत भोग-विलास में लगाता है, शृंगार के दोषों का निरूपण नहीं किया जा सकता। शृंगार का जो रूप शास्त्रों में प्रतिष्ठित है, उसको देखते हुए यह आरोप ठीक नहीं हैं। यह बात दूसरी है कि इस प्रकार की रचनाएँ साहित्य के क्षेत्र में निरन्तर आती रही हैं, किन्तु एक-मात्र इसी दोष के कारण की जाने वाली इसकी उपेक्षा स्वयं उपेक्षणीय है।

१. ध्व०, ३।२८।
२. वही, पृ० ३९७।
३. वही, पृ० ३९८।

उपसंहार

नवीन समीक्षा-शैलियाँ, नयी कविता और रस-सिद्धान्त

आधुनिक काल में व्यापक सम्पर्क के परिणाम-स्वरूप भारतीय चिन्तन पर विदेशी चिन्ता का प्रभाव भी दिखाई देता है। यह प्रभाव पर्याप्त गम्भीर है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। इसके फलस्वरूप हमारे यहाँ अन्य देशों में प्रचलित-समीक्षा-शैलियों का प्रचलन दैनन्दिन अधिक होता जा रहा है। इस बढ़ते हुए प्रभाव के कारण वर्तमान भारतीय लेखक प्राचीन भारतीय समीक्षा-सिद्धातों की प्रायः जाने या अनजाने अवहेलना कर जाते हैं। इस उपेक्षा का एक विशेष कारण संस्कृत भाषा से अपरिचित होना तो है ही, प्रायः भारतीय समीक्षा-शास्त्र के ज्ञान के लिए अपेक्षित परिश्रम और समय का अभाव भी है। ऐसी दशा में हमारे लिए यह उपयोगी होगा कि हम यहाँ पाश्चात्य शैलियों का आलोचनात्मक परिचय देते हुए रस-सिद्धान्त का उसके प्रकाश में पुनः परीक्षण कर देखें। इसी दृष्टि से हम इस प्रकरण में अपने विचार प्रकट करेंगे।

संस्कृत के शास्त्रीय आलोचना-मार्ग से हटकर हिन्दी में कई नवीन समीक्षा-शैलियों का प्रचलन हुआ है। जैसे, मार्क्सवादी, मनोविश्लेषणवादी, अभिव्यंजनावादी, प्रभाववादी, ऐतिहासिक तथा जीवनचरितमूलक समीक्षा-शैली आदि। इन सभी शैलियों ने प्रायः किसी-न-किसी दर्शन या मतवाद का पल्ला पकड़ा है।

मार्क्सवादी समीक्षा-शैली

आचार्य शुक्ल की समीक्षा के बाद हिन्दी ने जिस शैली को विशेषतया ग्रहण किया और जिसका व्यापक प्रभाव दिखाई दिया वह है मार्क्सवादी समीक्षा-शैली। प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ मार्क्स के नाम पर इसे मार्क्सवादी कहते हैं और आधारभूत दर्शन के आधार पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी अथवा ऐतिहासिक भौतिकवादी समीक्षा के नाम से इसका प्रचलन दिखाई पड़ता है। हिन्दी में इसे प्रगतिवादी समीक्षा-शैली भी कहा जाता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल ने विचार-जगत् के बीच सत्यासत्य का निर्णय करते हुए पहले को सत्य और दूसरे को असत्य स्वीकार किया है। वे इस भौतिक जगत् को विचार-जगत् की ही बाह्य अभिव्यक्ति मानते हैं, किन्तु उनकी

इस धारणा के विरुद्ध मार्क्स तथा एंजिल्स दोनों ही भौतिक जगत् को विचार-जगत् का प्रेरक और रूपदाता मानते हैं। एंजिल्स इन्द्रियातीत चेतन-सत्ता को इसी भौतिक जगत् का परिणाम मानते हैं, उसे भौतिक तत्त्वों का विकसित रूप-मात्र मानते हैं और मार्क्स वस्तु को चरम सत्य मानते हुए बुद्धि, विचार या आत्मा को उसीका प्रतिबिम्ब मानकर चले हैं। इस प्रकार हमारे विचार सदैव इस भौतिक जगत् से सापेक्ष स्थिति में बनते-बिगड़ते रहते हैं। संसार की सभी वस्तुएँ मार्क्स के अनुसार एक-दूसरे पर निर्भर हैं, स्वयं स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं। अतएव यदि हम विचारों का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें भौतिक विकास का मुँह ताकना पड़ेगा। शेष जगत् का ज्ञान प्राप्त करके हम विचार-जगत् का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु इस जगत् की जानकारी किसी स्थायी रूप में केवल एक बार कर लेने से सदा के लिए नहीं हो जाती। यह इसलिए कि यह जगत् स्वयं परिवर्तनशील है और यहाँ किसी भी पदार्थ को शाश्वत कहकर सन्तोष नहीं किया जा सकता, मन को झुठलाया नहीं जा सकता। यदि इस जगत् को परिवर्तनशील मानें और विचार को इसीका प्रतिबिम्ब, तो सहज ही विचार को भी परिवर्तनशील मानना पड़ेगा। यदि बिम्ब अस्थायी है तो प्रतिबिम्ब के स्थायी होने का अर्थ क्या रह जायगा? दूसरे शब्दों में यह परिवर्तन एक ऐतिहासिक क्रम से इस जगत् को विकास की दिशा में ले चलता है, अथवा इस परिवर्तन-क्रम से जो गति जगत् को मिलती है वही उसका विकास है और उसकी एक ऐतिहासिक परम्परा है। इसी कारण इस दर्शन और समीक्षा-शैली का नाम ऐतिहासिक भौतिकवादी या प्रगतिवादी समीक्षा-शैली है। इसे द्वन्द्वात्मक कहने का कारण यह है कि मार्क्स यह मानते हैं कि संसार की प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी तत्त्व रहा करते हैं, जिनमें शाश्वत संघर्ष चला करता है। नाश और विकास दोनों तत्त्व वस्तु में विद्यमान रहते हैं। यही तत्त्व अवस्थाव तथा प्रत्यवस्थान से होते हुए साम्यावस्थान या सन्तुलन दशा पर आकर पुनः विघटित हो जाते हैं और फिर वही अवस्थान, प्रत्यवस्थान तथा साम्यावस्थान की कथा दुहराई जाने लगती है और इसी प्रकार थीसिस, ऐण्टीथीसिस तथा सिन्थीसिस की क्रिया से जगत् का विकास होता रहता है। विकास के मूल में यह द्वन्द्व वर्तमान रहता है अतएव यह प्रणाली द्वन्द्वात्मक कही जाती है। इस प्रकार परिवर्तन ही विकास का चिह्न है। विकास का चिह्न मानें तो कहेंगे कि इस प्रकार वस्तु सदैव उन्नति की ओर धावित होती है। उसमें क्रमशः अधिकाधिक प्रौढ़ता और उत्तमता आती जाती है। यही कारण है कि इसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी जाती है।

इस प्रकार जब हम समाज को इतिहास-सापेक्ष दृष्टि से देखकर व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्धों पर विचार करते हैं, तभी ऐतिहासिक भौतिकवाद की स्थापना होती है। इस अध्ययन से हम यह बता सकते हैं कि मनुष्य की प्रगति समाज की प्रगति के साथ-साथ होती है, क्योंकि समाज ही उसके वैचारिक जगत् का निर्माण करता है, उसमें परिवर्तन या विकास के चिह्न लाता है। समाज भौतिक जीवन से निरपेक्ष नहीं रह सकता। समकालीन भौतिक परिस्थितियाँ समाज और उसके विचार-जगत् को प्रभावित करती रहती हैं और यह प्रभाव एक सहज-स्वाभाविक गति से होता है। अतएव इस विकास को उतने समय के लिए असत्य नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक परिस्थिति का अपना महत्त्व है और वह अपने-आपमें सत्य है। ऐसी दशा में हम वैचारिक आधार पर पनपने वाली सामग्री, राजनीति, नीति, आचार-शास्त्र, साहित्य आदि का विचार भौतिक-जगत् की तत्कालीन अवस्था से निरपेक्ष दशा में नहीं कर सकते। परिणाम यह है कि मार्क्सवादी विचार-धारा किसी शाश्वत मूल्य की स्वीकृति में विश्वास नहीं रखती। समयानुकूल मूल्यों में परिवर्तन आता है, यही उसे स्वीकार है। इस प्रकार वह एक काल की मान्यताओं और विचारों को उस युग का सत्य मानकर तो ग्रहण कर सकता है, किन्तु उसे किसी अनन्त-युगीन सत्य में विश्वास नहीं है। एक युग में प्रगतिवादी कहलाने वाले तत्त्व उसके विचार से इस विकासमान जगत् में कालान्तर में प्रतिगामी बनकर रह जाते हैं और फिर नये तत्त्व जन्म लेते हैं जो स्वयं भी आगे जाकर मिट जाते और नये तत्त्वों के लिए राह छोड़कर चल बसते हैं। मार्क्स का विश्वास था कि या तो जीवन की सभी परिस्थितियाँ व्यक्ति और उसके विचार को प्रभावित करती हैं, किन्तु उनमें सर्वाधिक प्रभावशालिनी हैं अर्थ और उत्पादनजनित परिस्थितियाँ। जीवन-धारण करने के लिए ही इनका महत्त्व है और जीवन-धारण करने के लिए ही सारे जागतिक प्रपंचों का भी महत्त्व है। ऐसी दशा में अर्थ और उत्पादन हमारे जीवन-विकास को नियन्त्रित करते हैं। इन्हीके आधार पर समाज का रूप बनता और बिगड़ता रहता है। उत्पादन और उपार्जन-पद्धति पर निर्भर मानवीय पारस्परिक सम्बन्धों, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक मान्यताओं के समान साहित्य भी इसी उत्पादन और उपार्जन पर निर्भर करता है। अर्थ-व्यवस्था ही संस्कृति को रूप देती है। इस अर्थ-व्यवस्था में स्थिरता न होने के कारण साहित्य आदि में भी स्थिरता नहीं आती। यही कारण है कि आदिकाल से अब तक हमारा साहित्य भी देश-काल की परिस्थितियों और अर्थ-व्यवस्थाओं से नियन्त्रित होकर भिन्न-

रूपात्मक होता गया है और होता जाता है। सारांश यह कि जीवन की विविध नीतियों के साथ-साथ साहित्य भी इसी व्यवस्था की उपज कहा जायगा। अर्थ-व्यवस्था उसे परोक्ष रूप में प्रभावित करती रहती है।

उत्पादन तथा उपार्जन के इस नियन्त्रण के परिणाम-स्वरूप समाज में वर्गों की स्थापना होती है और उनमें से एक शोषक और दूसरा शोषित बन जाता है। शोषक-वर्ग ही उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण रखता है और उसीका शासन प्रचलित हो जाता है। शासन की बागडोर अपने हाथ में बनाये रखने की प्रभुत्व-कामना का शिकार यह वर्ग दूसरे वर्ग को अपने स्वामित्व में रखता है और उसीका शोषण करता है। अपने स्वार्थों के अनुकूल ही इस शोषक-वर्ग की नीति और आचार-शास्त्र निर्धारित होते हैं और प्रभुत्व के कारण इनकी विचार-धारा समाज में प्रचलित हो जाती है। कृतिकार इसीसे प्रभावित होकर उसे अपनी रचना में स्थान देता है और इस प्रकार साहित्य का वर्ग और युग के द्वारा नियन्त्रण होता रहता है। फिर भी केवल इतना मानना कि कृतिकार युग से प्रभावित होकर केवल उसे अभिव्यक्ति देता है, सम्पूर्णतया स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता। कलाकार उसकी प्रतिक्रिया को भी वाणी दे सकता है। वह केवल रचित का उपस्थापक नहीं होता, स्वयं स्रष्टा भी होता है। किन्तु इतना फिर भी मानना पड़ेगा कि उसकी यह प्रतिक्रिया और विरोध उसे नितान्त दूसरे युग में नहीं ले जा पाते और वह अपने युग के दायरे से मुक्त होकर नितान्त नवीन विचार प्रस्तुत नहीं कर पाता। इस रूप में उसका साहित्य वर्ग-साहित्य कहला ही सकता है। वर्गहीन साहित्य की रचना तो वर्गहीन समाज में संभव हो सकती है। पूंजीपति साहित्य को भी व्यक्तिगत सम्पत्ति बना लेता है। वह अर्थ की मोहर लगाकर कलाकार का मुँह बन्द कर देता है। इस प्रकार कला और काव्य उसके भोग-विलास के लिए सामग्री जुटाने में व्यस्त होकर ह्रासोन्मुख हो जाते हैं। कला या काव्य का काम किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति होना नहीं है, उनकी सत्ता समाज के लिए होनी चाहिए। समूह के लिए होनी चाहिए और इसीलिए उसमें सामूहिक और सामाजिक भावों के परिवहन की सामर्थ्य होनी चाहिए। काव्य तथा कला को आनन्द की उपलब्धि का साधन मानना पूंजीवादी, ह्रासोन्मुखी और प्रतिक्रियावादी प्रवृति है। जो साहित्य अपने युग के सत्य को प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता वह साहित्य कहलाने के योग्य नहीं है। समाज में रहकर भी यदि उसका निर्माता युग-सत्य को साहित्य में नहीं उतार पाता, तो वह अपने युग से पलायन करता है। उसके प्रति कृतघ्न बनता है। चिरन्तन साहित्य वही है जो सामूहिक भावों को

अभिव्यक्ति देता है और यहाँ तक कि प्रकृति का भी मानव-सापेक्ष वर्णन करता है केवल सुन्दर और मृदुल की अभिव्यक्ति सच्चे साहित्य का काम नहीं है। उससे केवल शासक को तृप्ति मिलती है। नवीन क्रान्ति और नवीन विचारों के परिवर्तन में ही साहित्य का लक्ष्य पूरा होता है, मात्र आनन्ददायी होने में नहीं। साहित्य मानवीय-सामाजिक विकास के लिए होना चाहिए। वह समष्टि को समर्पित होना चाहिए।

प्रगतिवादी समीक्षा के समर्थक श्री क्रिस्टोफर कॉडवेल ने—इस ध्येय को ध्यान में रखकर ही काव्य के साथ सामूहिक भावना या 'कलैक्टिव इमोशन' को जोड़ दिया है। वह काव्य को समूह-विशेष के विचारों का प्रकाशनकर्त्ता मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य मनुष्यों की उद्भिद्यमान आत्म-चेतना है, किन्तु व्यक्ति रूप में नहीं अपितु अन्यान्य व्यक्तियों के साधारण भावों के साझीदार के रूप में है।"[1] उनकी धारणा है कि उत्पादन के साधन मानव-समाज के विकास के मूलाधार हैं। ये आर्थिक होते हैं। अतएव साहित्य का आधार भी अन्ततः आर्थिक होता है।[2] अर्थ और उत्पादन प्रत्येक युग में परिवर्तित रूप में उपस्थित होते रहे हैं। अतः इस विकास या परिवर्तन को ध्यान में रखकर समाज की परिवर्तनशीलता के साथ आगे क़दम बढ़ाने वाला साहित्य सामूहिक भाव को प्रकट करता हुआ चलता है। कॉडवेल की इस धारणा को प्रगतिवादी लेखक श्री अमृतराय ने निम्न रूप में समझाया है—

सामूहिक भाव और साधारणीकरण

"सामूहिक भाव से कॉडवेल का अभिप्राय उस भाव-कोष से है, जो परिस्थितियों तथा संस्कारों के कारण किसी देश-काल में विशाल जन-समाज के हृदय में अपनी स्थिति बना लेता है। सामूहिक भावों की स्थिति लोक-हृदय में होती है। इतना ही नहीं, जिस प्रकार पुष्प का गुण उसकी सुगन्ध है और पानी का गुण उसकी तरलता, उसी प्रकार लोक-हृदय का गुण उसके सामूहिक भाव होते हैं। इन्हीं सामूहिक भावों की समष्टि है लोक-हृदय। इसलिए सच्चे कलाकार को लोक-हृदय की पहचान होनी चाहिए और सच्चे कलाकार को जनता के सामूहिक भावों की पहचान होनी चाहिए, ये दोनों कथन एक-से हैं।[3]"

सामूहिक भाव के इस विवेचन से श्री अमृतराय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं

१. 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी,' पृ० ३१।
२. वही, पृ० ४४।
३. 'नयी समीक्षा,' पृ० २२।

कि हमारे यहाँ का साधारणीकरण-सिद्धान्त और सामूहिक भाव दोनों एक-दूसरे के पर्याय हो सकते हैं। वे सामूहिक भाव के मूल में 'संवेदनीयता' का दर्शन करते हैं। संवेदनीयता ही किसी काव्य का या कला-कृति को युग-युग तक स्थायी बनाती है, और वह संवेदनीयता सामूहिक भाव से मिलती है, इस विचार से सामूहिक भाव भारतीय विचार-पद्धति के अनुकूल हो सकता है। यही उनकी धारणा का सार है। संवेदनीयता, साधारणीकरण और सामूहिक भाव को एक-साथ बाँधते हुए वे कहते हैं: "हमें सामूहिक भाव और साधारणीकरण में परस्पर कोई विरोध नहीं दिखाई देता। हमारी समझ में यह विरोध तभी परिलक्षित होता है जबकि साधारणीकरण को या सम्पूर्ण रस-सिद्धान्त को मानव-सुलभ विचार और अनुभूति की सीमा से परे हटाकर किसी लोकोत्तर जगत् की चीज़ बना दिया जाता है।[1]

अमृतराय ने जिस सामूहिक भाव को लोक-हृदय से सम्बद्ध करके उसे साधारणीकरण के ढाँचे में बैठाने का प्रयत्न किया है, उसका वास्तविक स्वरूप समझने के लिए हमें पुनः कॉडवेल की शरण में जाना पड़ेगा। कॉडवेल द्वारा प्रतिपादित सामूहिक भाव लोक-हृदय का पर्याय नहीं है, क्योंकि उसकी आधार-भूमि वस्तुतः वर्गचेतना है। कॉडवेल साहित्य का सर्जन वर्ग-हित के लिए मानते हैं। इस वर्ग-धारणा को उन्होंने कई बार 'एसोसियेटेड मैन' कहकर प्रकट किया है।[2] वह आन्तर-धर्म के रूप में किसी शाश्वतता पर विश्वास नहीं रखते, अपितु सामूहिक भाव को निरन्तर परिवर्त्तमान मानते हैं।[3] समाज की स्थिति के परिवर्तन के साथ साहित्य का स्वरूप भी परिवर्तित होता है। यही कारण है कि पुराने साहित्य में रुचि लेकर भी लोग नये साहित्य की माँग करते रहते हैं। यह साहित्य युगानुरूप भावनाओं को प्रकट करता है। एक काल के साहित्य से दूसरे काल के लोगों को सन्तोष नहीं होता, यही कॉडवेल के सिद्धान्त का मूल मन्त्र है।[4] इन विचारों को अमृतराय के शब्दों में क्रमशः इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है। कि: "जन-मन पर सतत पड़ने वाले इन छोटे-बड़े प्रभावों के राशिभूत रूप को उस युग अथवा समाज-विशेष का सामूहिक भाव कहा जायगा। आज हमारे देश का सामूहिकभाव राष्ट्रीयता है। हमारे साहित्य में, राजनीति में सब जगह इसीका समावेश है। यह सामूहिक भाव शाश्वत नहीं

१. 'नयी समीक्षा,' पृ० २४।

२. 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी,' पृ० ६६ तथा १३५।

३. वही, पृ० २६।

४. वही, पृ० ३४।

है ।[४] अथवा सामूहिक भाव का सिद्धान्त निपीड़ित शोषित जनता से तादात्म्य स्थापित करने की बात कहता है, जो कि साधारणीकरण का सिद्धान्त नहीं कहता; लेकिन उसके कारण दोनों में कोई अन्तर नहीं आता । क्योंकि लोक-हृदय की बात कहते समय भी समीक्षक की दृष्टि विशाल जन-समुदाय पर ही रहती है । तीक्ष्ण वर्ग-संघर्ष के युग में उत्पन्न होने के कारण सामूहिक भाव का सिद्धान्त 'लोक' की परिभाषा तीक्ष्ण रूप में करने पर बाध्य होता है, क्योंकि आज पराधीन और निपीड़ित मानव ही सच्चे अर्थों में मानव है और अपने ऊपर शासन करने वाले मुट्ठी-भर साम्राज्य-लोभी, पूंजीलोभी दस्युओं को समाप्त करके स्वतन्त्र मानव-समाज की स्थापना करने की क्षमता रखता है ।"[५]

अमृतराय के उद्धृत विचारों को सार-रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करें तो क्रमशः यों कहना होगा :—

१—सामूहिक भाव युग तथा समाज-विशेष की परिस्थितियों पर आधारित है ।

२—सामूहिक भाव समाज-सापेक्ष होने के कारण परिवर्तनशील है ।

३—शोषित जनता ही आज का जन-मन है, समूह है या 'लोक' है । अतः उसके भावों का वर्णन लोक-हृदय का ही वर्णन है ।

४—लोक-हृदय में मुट्ठी-भर लोगों के भावों की कोई गिनती नहीं है ।

स्पष्ट है कि अमृतराय के ये विचार कॉडवेल के विचारों की भारतीय अभिव्यक्ति हैं । यह भी स्पष्ट है कि सामूहिक भाव समाज के एक अंग के प्रति विशेष स्नेह रखता है, उसके प्रति उसे विशेष आग्रह है । और दूसरे को वह उपेक्षणीय अथवा गला हुआ कुष्ठ-पीड़ित अंग मानकर तिरस्कार की दृष्टि से देखता है । इस विचार से अमृतराय को 'लोक' शब्द के साथ कुछ खींच-तान करने की आवश्यकता हुई, यह भी उनकी पंक्तियों से स्पष्ट है । साधारणीकरण और सामूहिक भाव में परस्पर भेद की स्वीकृति देते हुए भी उन्होंने उनकी समानता का आग्रह किया है ।

'लोक' का जो अर्थ अमृतराय ने लिया है, वह एक सीमा तक ग्राह्य होते हुए भी सम्पूर्णतः साधारणीकरण की सीमा में नहीं अँटता । यह ठीक है कि 'लोक' की स्थिति परिवर्तित होती रहती है, उसके उपादान भी परिवर्तित होते रहते हैं, तब भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि मानव-मात्र के भाव केवल अर्थ और उत्पादन की समस्या से ही सीमित रहते हैं । न यही कहा जा

४. 'नयी समीक्षा,' पृ० १६ ।

५. वही, पृ० २८ ।

सकता है कि एक काल में एक ही सामूहिक भाव की रचनाएँ हुआ करती हैं, होनी चाहिए या होंगी। पहली बात तो यह कि आज यदि राष्ट्रीयता सामूहिक भाव है तो भी ऐसी रचनाओं की कमी नहीं है, और न उसमें संवेदनीयता की कमी है, जिसमें अन्य भावों का प्रकाशन न हुआ हो। राष्ट्रीयता के इस युग में भी बच्चन की कविताएँ जन-मन को प्रभावित करती हैं। स्वयं श्रमिक भी उनमें आनन्द लेता है और राष्ट्र-प्रेमी भी। माखनलाल चतुर्वेदी ने यदि राष्ट्रीय कविताएँ लिखी हैं, तो उसी कवि ने छायावादी रचनाएँ भी साहित्य-जगत् को प्रदान की हैं। पंत, नवीन, निराला, प्रसाद, अंचल, दिनकर, शम्भूनाथसिंह आदि किसी की भी रचनाओं का नाम लीजिए उनमें मिश्रित भाव-खण्डों का परिचय मिल जायगा। मिश्रित भाव-खण्डों से हमारा तात्पर्य यह है कि उनमें से किसी ने भी एक ही लीक पर चलने का प्रयत्न नहीं किया है। दूसरी ओर एक ही भाव का या एक ही विचार-पद्धति का आग्रह जिन लेखकों के साथ रहा है, उनमें से कितने सहज ही परास्त नहीं हो गए? कितने ही देदीप्यमान तारक इसी संकुचित भाव क्षेत्र में टिमटिमाकर आलोकहीन हो चुके हैं, हतप्रभ हो गए हैं। युग की माँग को पूरा करने वाला कवि 'भूषण' उस समय आदर पाकर भी आज कितने हृदयों को प्रभावित कर पाता है? राष्ट्रीयता या वर्ग-भेद के इस युग में भी रीतिकालीन कविता हमारे हृदय को राग-रंजित क्यों कर जाती है?

इस विचार से प्रगतिवादी के तथाकथित 'लोक-हृदय' की परीक्षा करें, तो ज्ञात होगा कि साधारणीकरण-सम्बन्धी लोक-हृदय तथा सामूहिक भाव-सम्बन्धी लोक-हृदय, दोनों में अन्तर है। एक मानव की मूल भावनाओं के प्रकाशन से सम्बन्ध रखता है, तो दूसरा सीमित वर्ग की भावनाओं से। सीमित वर्ग के अपने सीमित राग-द्वेष होंगे अर्थात् उसके पीछे सीमित विचार-पद्धति काम करेगी, इतना निश्चित है। यह सीमित दृष्टिकोण दूसरी भावनाओं को वर्ज्य बनाकर निश्चित रूप से गतिमान साहित्य के पैरों में सिद्धान्त के आग्रह की बेड़ियाँ डालकर उसकी गति को कुण्ठित कर देता है।

परिवर्तमान सामूहिक भाव को ही मानदण्ड मान लेने पर सबसे बड़ी आपत्ति तो यह उपस्थिति होती है कि फिर एक युग का साहित्य दूसरे युग को क्यों स्वीकार होता है? सामयिक समस्याओं की पूर्ति करने वाला साहित्य दूसरे युग की समस्याओं के अनुकूल न होने पर भी उस काल में ग्राह्य हो सकता है कि नहीं? क्या वर्तमान साहित्य ही हमारे हृदय को प्रभावित करता है, शेष नहीं? यह प्रश्न सामूहिक भाव के संदर्भ में उपस्थित होते हैं। इन

प्रश्नों का उत्तर देने के लिए प्रगतिवादी को पुनः मानव-भावों का ग्राश्रय ग्रहण करना होगा, क्योंकि कोई भी साहित्य उस समय तक किसी दूसरे काल को प्रभावित नहीं कर सकता जब तक उसमें सामान्य मानव-भावों को प्रकट नहीं किया जाता।

ऊपरी तौर पर देखने से सामूहिक भाव तथा साधारणीकरण-सिद्धान्त में परस्पर बहुत समानता जान पड़ती है। सामूहिक भाव का सम्बन्ध किसी युग की जनता में प्रचलित मान्यताग्रों, विश्वासों ग्रौर संस्कारों से है, जिनसे उस काल की परिस्थितियाँ ग्रौर समस्याग्रों का सर्जन होता है। इन्हींके ग्रनुसार प्रत्येक युग में कलाकार ग्रपनी रचना के लिए विभाव ग्रहण करता चलता है ग्रौर उन सामूहिक भावों की ग्रधिक-से-ग्रधिक गहराई के साथ ग्रपने में ग्रनुभूति जागृत करने का प्रयत्न करता है। ग्रनुभूति की सचाई से उसकी रचनाएँ संवेदनीय बनती हैं, सर्वग्राह्य होती हैं। इसीसे उसकी रचना में लोकप्रियता का सद्‌गुण उपस्थित होता है ग्रौर इस प्रकार वह कलाकार व्यक्तिनिष्ठता ग्रौर कल्पना-जागत् के ग्रति-रमण से बच जाता है। साधारणीकरण ग्रौर सामूहिक भाव में यही समानता है कि सामूहिक भाव युग में प्रचलित ग्रौर ग्रधिकांशतः मान्य विषयों को ग्रहण करना सिखाता है जिससे कि रचना-विशेष की सार्वजनीनता बढ़ सके ग्रौर साधारणीकरण काव्य में प्रयुक्त भावों, विभावों को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि वे सार्वजनीन हो सकें। साधारणीकरण विभावों के साथ-साथ भावों के साधारण होने पर भी ध्यान देता है ग्रौर इस भाँति वह सामूहिक भाव से कुछ ग्रौर ग्रागे जा पड़ता है। सामूहिक भाव ग्रपने युग तक सीमित दृष्टि का परिचय देता है ग्रौर किसी चिरन्तन तत्त्व में विश्वास नहीं करता। वह विभाव-मात्र पर दृष्टि जमाये रहता है। इसके विपरीत साधारणीकरण युगानुरूप परिवर्तित होते हुए विभाव के स्वरूप को तो ग्रहण कर ही लेता है। मनुष्य के मन में छिपे प्राकृत भावों की एकता पर भी बल देता है ग्रौर उनकी चिरन्तनता में विश्वास प्रकट करता हुग्रा लोक-सामान्य में उन्हींको जगाता है। भावों की इस चिरन्तनता पर ध्यान न देने कारण केवल परिवर्तित विभाव के ग्राग्रह के परिणाम-स्वरूप प्रगतिवादी रचनाएँ प्रायः प्रचारात्मक तथा दलगत रूप धारण करके संकुचित हो जाती हैं। साधारणीकरण का सिद्धान्त ग्रौचित्य के साथ मिलकर उपस्थित होता है ग्रौर ग्रौचित्य हमारे देश की संस्कृति, दर्शन ग्रौर ग्राचार-शास्त्र की पृष्ठभूमि पर पनपता है, जो कुछ विशेष सद्‌गुणों ग्रौर कुछ विशेष ग्रवगुणों को धर्म-ग्रधर्म के नाम से शाश्वत मानकर ग्रहण करता है। धर्म ग्रधर्म के इस मानदण्ड के कारण भारतीय दृष्टिकोण

शाश्वत मंगल की रचना में प्रवृत्त होता है, किन्तु परिवर्तन का विश्वासी मार्क्स-वादी भौतिक मंगल की ओर आकृष्ट होकर क्षणवादी, युग-सीमित और यथार्थ-वादी हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय दृष्टि साधारणीकरण पर आधारित जिन रचनाओं को युग-युग तक पठनीय मानती है, मार्क्सवादी दृष्टि सामूहिक भाव पर आधारित रचनाओं को स्वयं ही दूसरे युग में व्यर्थ घोषित कर देती है।

प्रगतिवादी आलोचना-पद्धति केवल एक दार्शनिक विचार को साहित्य का मापदण्ड मानकर रूढ़िवादिनी हो चुकी है। वह साहित्य में उसी दार्शनिक-सरणि का अवतरण देखना चाहती है और साहित्य के वास्तविक स्वरूप को भुला देती है। साहित्य यदि केवल कतिपय सिद्धान्तों का निरूपण हो, यदि उसमें हर समय एक ही सिद्धान्त को आधार मानकर उसी पर ध्यान जमाकर चलने की वृत्ति दिखाई दे और वह कोरा उपदेशात्मक बन जाय या उनका लेखक सिद्धान्तों के व्याख्यान झाड़ता दिखाई पड़े, तो उससे साहित्य के सौष्ठव को, उसके लालित्य को, उसके कान्तासंमित लक्ष्य को ठेस पहुँचती है। उसका लक्ष्य पराजित हो जाता है। प्रगतिवादी समीक्षा-शैली आँकड़ा बनाकर देश-विदेश के साहित्य को उसी पैमाने से नापती-जोखती है, मानव-मनोभावों की प्रतिष्ठा पर ध्यान न देकर राजनीति के सूत्र खोजती है। वस्तुतः यह एक सामयिक उद्देश्य की पूर्ति करने वाली विचार-पद्धति है। साँचे में फि़ट न बैठने वाले साहित्य को यह प्रतिक्रियावादी, पूँजी-वादी आदि-आदि नामों से पुकारती है। साहित्य को राजनीति का अखाड़ा बनाना या साहित्यिक रूप में राजनीतिक मोर्चे स्थापित करना वास्तविक साहित्य का लक्ष्य नहीं है, नहीं हो सकता। साहित्य केवल् रटे-रटाए सूत्रों का प्रकाशन ही नहीं है, केवल सामाजिकता ही सब-कुछ नहीं है। अन्ततः लेखक का व्यक्तित्व, उसकी अपनी सत्ता भी महत्त्वपूर्ण है। कितना भी कोई समाज-शास्त्री हो, कितना भी राजनीति का अगुआ, सभी अपने-अपने घर में अपने एकान्त में अपना एक व्यक्तिगत रूप भी प्रकट करते हैं। यही कारण है कि घोर शृंगार की रचना करने वाले कवि भी जब तक भक्ति के पद लिखते रहे हैं और उनके सम्बन्ध में यह भ्रम उत्पन्न होता रहा है कि वे भक्त थे अथवा शृंगारी। यहाँ इस सम्बन्ध में विचार करना हमारा उद्देश्य नहीं है, तथापि इतना निवेदन करना अनावश्यक न होगा कि शृंगारी कवियों की भक्ति की रचनाएँ भी उनके अन्तरंग पर ही प्रकाश डालती हैं। साहित्य में प्रश्न इस बात का नहीं होना चाहिए कि अमुक रचना हमारे राजनीतिक विश्वासों को इस सीमा तक स्वीकार करती हैं और प्रतिपक्षी के विचारों का इस सीमा तक

तिरस्कार करती हैं। साहित्य को परखने का यह कोई मानदण्ड नहीं है। उस मानदण्ड में स्थिरता और सत्यता होनी चाहिए। दुर्भाग्य से प्रगतिवादी समीक्षा इन दोनों ही विशेषताओं से हीन है। काव्य या साहित्य यदि हमारी अनुभूतियों का प्रकाशन है, उसमें यदि हमारे मनोभावों को स्वर मिलता है, उसमें यदि सबको प्रभावित करने की शक्ति स्वीकार की जाती है तो प्रगतिवादी पैमाना तथा उसके द्वारा किया हुआ मूल्यांकन काम नहीं दे सकता। प्रगतिवादी दृष्टि हमें केवल काव्य की पृष्ठभूमि समझने के लिए निमन्त्रित करती है, उससे बहुत होगा तो हम किसी लेखक को समाजवादी, जनवादी या कुत्सित व्यक्तिवादी-जैसी निरर्थक संज्ञाएँ तो दे सकते हैं, किन्तु काव्य के अन्तःकरण को, उसकी आत्मा को न समझ सकेंगे। इससे हम केवल कवि की प्रतिक्रिया का बोध कर सकते हैं, किन्तु काव्य के सौन्दर्य, उसके निगूढ़ रहस्य को समझने में इस दृष्टि से हमें कोई सहायता नहीं मिलती। केवल प्रेरक परिस्थितियों को समझना ही काव्य के अन्तरंग को समझना नहीं है। समाज और जनवाद की रट लगाकर प्रगतिवादी समीक्षक साहित्य में भाषा के प्रश्न पर भी इसी प्रकार की विचित्र धारणाएँ प्रस्तुत करते हैं उनके विचार से समाज-हित की कोई बात कहने और समाज तक उसे ले जाने के लिए यह आवश्यक है कि भाषा के अलंकरण, उसके विशुद्धिकरण या परिमार्जन पर ध्यान न दिया जाय। मुँह में जो बात जैसी आती है, उसे वैसा प्रकट कर देना साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए। इस प्रकार यह समीक्षक साहित्य की अच्छाई के लिए केवल प्रगतिवादी लेबिल लगा लेना पर्याप्त मानते हैं। भाषा का परिमार्जन इनके लिए प्रौढ़ता का, विकास का, चिन्तन और मनन का परिणाम नहीं है, उससे इन्हें साहित्य की उन्नति होती नहीं दिखाई देती। हमारे विचार से यह एक शुद्ध भ्रम है। विचारों और भावों की प्रौढ़ता तथा प्रबलता के अनुरूप ही भाषा रूप धारण करती है। विचारों के अनुकूल भाषा का न होना लेखक की असामर्थ्य का द्योतक है। यह सही है कि भाषा के परिष्कार का प्रयत्न या उसके अलंकरण की चिन्ता उपयोगी या हितकर नहीं, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि भाषा का अनगढ़पन, विचार की अपरिपक्वता, अभिव्यक्ति की अशक्ति और मानसिक अनगढ़पन को द्योतित कराता है। यह लक्षण उत्कृष्ट साहित्य और साहित्य-रचयिता दोनों के लिए उपयोगी नहीं है। तात्पर्य यह है कि प्रगतिवादी समीक्षा-शैली स्वयं एक वर्ग-केन्द्रित, रूढ़िवादी और राजनीतिक मोर्चेबन्दी से प्रभावित शैली है, जो केवल एक रंगीन चश्मा लगाकर सबको रंगीन देखने में व्यस्त दीख पड़ती है। आग्रह और विद्रोह से बल पाकर कोई भी समीक्षा-शैली नहीं पनप सकती। यही दशा

इस शैली की भी है और यही इसकी सबसे बड़ी निर्बलता, इसकी अशक्तता और इसकी अप्रामाणिकता का प्रमाण भी है कि आज तक प्रगतिवादी समीक्षक एकमत नहीं हो सके है। हिन्दी के कोई दो समीक्षक ऐसे नहीं कहे जा सकते जो प्रगतिवादी शैली को समान रूप से प्रस्तुत कर सके हों या एक-सी विचार-धारा प्रकट कर सकते हों। इससे बढ़कर इस शैली की व्यक्तिकेन्द्रिकता और साहित्य को समझने में निरुपयोगिता का और क्या प्रमाण हो सकता है? इस पद्धति ने हमें नवीन जीवन-दर्शन दिया है, कवि और उसके सामाजिक परिवेष्टन को समझने का नया मापदण्ड दिया है, यह ठीक है, किन्तु काव्य के अन्तरंग की आलोचना करने के लिए यह शैली कदाचित् ओछी और अव्यवहार्य होने के साथ-साथ रूढ़ और राजनीतिक है।

फ्रायड, युंग तथा एडलर नामक पाश्चात्य मनोविज्ञान-वेत्ताओं के विचारों को भूमिका मानकर प्रचलन पाने वाली दूसरी समीक्षा-शैली भी इन दिनों हमारे यहाँ प्रचलित है। इसे हम मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति कहते हैं। यह प्रणाली समाज-सापेक्ष रूप में कवि या लेखक के अन्तरंग का विचार करती है। प्रगतिवादी शैली या मनोविश्लेषणवादी शैली, दोनों इस बात में समान दीख पड़ती हैं। किन्तु फिर भी दोनों में महान् अन्तर है। मार्क्सीय कसौटी जीवन के परिवर्तन में विश्वास रखते हुए उसकी गतिशीलता या विकास में विश्वास प्रकट करती है, किन्तु मनोविश्लेषणवादी प्रवृत्ति जीवन को काम-कुण्ठाओं और दमित वासनाओं से सम्बद्ध मानती है। उनका निष्कर्ष यह है कि एक दिन इन कुण्ठाओं और वासनाओं के दमन के परिणाम-स्वरूप मनुष्य विक्षिप्त हो जायगा। दोनों दो सीमाओं की, दो नितान्त भिन्न छोरों की बात कहते हैं। उक्त तीन विद्वानों ने पृथक्-पृथक् विचारों का प्रतिपादन दिया है। उसके सम्बन्ध में यहाँ संक्षिप्त परिचय देकर इस शैली की उपयोगिता पर विचार करना उचित होगा।

मनोवैज्ञानिक पद्धति

फ्रायड का विश्वास था कि हमारे मन के क्रमशः १. चेतन २. अर्द्धचेतन तथा ३ अवचेतन नामक तीन स्तर हैं। चेतन मन ही जागतिक व्यवहार में क्रियाशील जान पड़ता है, किन्तु अन्य दो स्तरों के रहस्य को हम जान नहीं पाते हैं। ये दोनों स्तर हमारी उन वासनाओं को छिपाए रहते हैं, जिनका व्यवहार-जगत् में प्रदर्शन वर्ज्य मानकर त्याग दिया जाता है या जिन्हें दबा लिया जाता है। इन्हीं दमित वासनाओं को उदात्तीकरण का अवसर साहित्य द्वारा मिलता है। हमारे अन्तःकरण में दबी काम-वासना को प्रवाह के लिए साहित्य के पठन या सर्जन द्वारा एक मार्ग मिल जाता है और हम जिस अस्वास्थ्य से

पीड़ित थे, उससे मुक्ति मिल जाती है। साहित्य इन्हें उदात्त रूप देने का एक माध्यम मात्र है। वह उन्नयन का साधन है। फ्रायड कला-सर्जन के क्षणों को स्वप्न के क्षण मानता है। इन स्तरों और कला-सर्जन के क्षणों को समझाने के लिए उस शिला-खण्ड का उदाहरण दिया जा सकता है, लो पानी में तैर रहा हो और उसका केवल चौथाई भाग पानी के बाहर दिखाई देता है। इसीके समान केवल एक चौथाई भाग चेतन मन के द्वारा प्रकाशित हो पाता है और शेष के अधिकांश वासना-भाग हमारे लिए अज्ञात और रहस्यमय बना रहता है। अवचेतन में पड़ी इन वासनाओं को अर्द्धचेतन के मार्ग से स्वप्न में बाहर निकलने का अवसर मिलता है। साहित्य उन्हीं क्षणों की वाणी है।

एडलर महोदय ने हीनता-ग्रंथि-सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होंने बताया कि साहित्य या कला का सर्जन अभाव-पूर्ति के लिए होता है। व्यक्ति किसी प्रकार के अभाव के कारण अन्दर-ही-अन्दर उसके प्रति विशेष सजग बना रहता है और उसे निरन्तर यह चिन्ता लगी रहती है कि अपनी अमुक कमी या अमुक अभाव को वह कैसे पूरा करे। परिणामतः वह कला या काव्य आदि के निर्माण में लगता है। अतएव काव्य आदि अभाव की पूर्ति की इच्छा से प्रेरित होते हैं। क्षति-पूर्ति के इस प्रयत्न के फलस्वरूप व्यक्तिवाद और अहंकार का आरम्भ हो जाता है। वैयक्तिक स्वार्थ की प्रधानता हो जाती है। साथ ही हीनता-ग्रंथि एक प्रकार का भय और प्रभुत्व-कामना इन दो भावों को जगा देती है। इस हीनता-ग्रंथि से प्रभावित कलाकार या साहित्य-निर्माता के अन्दर भी यही बातें घर किये रहती हैं और वह अहंकेन्द्रित व्यक्तित्व वाला हो जाता है। वह समाज से अपने को भिन्न मानने लगता है। अपनी दमित कुण्ठाओं अर्थात् अस्वस्थ भावनाओं को वह साहित्य का रूप देने लगता है।

तीसरे व्यक्ति हैं युंग, जो जीवनेच्छा को ही प्रधान मानते हैं। वे लोकैषणा, वित्तैषणा तथा पुत्रैषणा के रूप में इस जीवन की इच्छा का विस्तार मानते हैं। मनुष्य अपने बाद भी अपना नाम छोड़ जाने के लिए ही यह सब चाहता है और इन्हें उपलब्ध करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार युंग सबसे आगे बढ़कर फ्रायड की काम-वासना और एडलर की प्रभुत्व-भावना दोनों को जीवनेच्छा के क्षेत्र में ले आते हैं।

कुण्ठा, स्वप्न, विद्रोह तथा इच्छा-तृप्ति के सम्मिलित आधार पर ही मनोविश्लेषण-शैली व्यक्ति-मन के अज्ञात रहस्यों के प्रकाशन को साहित्य में अवतीर्ण होता हुआ मानती है। वह व्यक्ति के दो भेद करती है—(१) अन्तर्मुख या इंट्रोवर्ट तथा (२) बहिर्मुख या एक्सट्रोवर्ट। पहला व्यक्ति प्रभुत्वकामी,

अतः शासक वृत्ति का होता है और उसकी रचनाओं में व्यक्ति-प्रधानता होती है। दूसरे प्रकार का व्यक्ति काम-प्रताड़ित, अतः शासित प्रवृत्ति का होने के कारण विषय-प्रधान रचनाओं का प्रस्तुतकर्ता होता है। इस प्रकार विषय-प्रधान तथा व्यक्ति-प्रधान दोनों प्रकार की रचनाओं में चेतन से लेकर अवचेतन मन के स्तरों तक की ही विभूति प्रकट होती है, ऐसा मनोविश्लेषण-शैली के समीक्षक का विश्वास है। इसी आधार पर वह प्रत्येक कृति में कृतिकार का हृदय खोजने की चेष्टा करता है।

इन समीक्षकों का यह विश्वास समालोचना की दृष्टि से तो अपर्याप्त है ही, क्योंकि काव्य के स्वरूप-विश्लेषण या उसके भाव एवं कला-पक्ष से कहीं अधिक यह कवि की दमित वासनाओं की खोज करता है, साथ ही यह हेय और घातक पद्धति भी है। हेय और घातक इसलिए कि इस सिद्धान्त के अनुसार चाहे साहित्य के द्वारा हमारी दमित वासनाओं का उदात्तीकरण ही होता हो, किन्तु वह असामाजिकता और अहंकेन्द्रिकता की देन है, इसे मानने से हमारी सारी परम्परा, उसकी शुचिता और आदर्शवादिता को ठेस पहुँचती है। इस सिद्धान्त को निर्ममता के साथ सभी पर लागू करने से हमें साहित्य में केवल कुत्सितता को ही स्वीकृति देनी होगी। आत्म-संस्कार के छद्मवेश में यह प्रवृत्ति आत्म-हनन और हीनता की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति है। साहित्य का पथ आनन्द का पथ है। उसकी स्थापना और परिणति दोनों ही आनन्द की साधिका हैं। हम रसास्वाद आदि के प्रकरण में इस बात को बता आए हैं कि आनन्द ही से सब जगत् का विस्तार हुआ है। व्यक्ति कुण्ठा की दशा में भावनाओं को साहित्यिक रूप नहीं देता, अपितु प्रभु के समान आनन्द स्थिति में भी उसकी वाणी मुखरित होती है। किसी कवि में यदि यह कुण्ठा ही प्रेरक दीख पड़े, तो भी हम दूसरे प्रमाणों के रहते हुए इस एकांगी दृष्टिकोण को एक-मात्र दृष्टिकोण मानने में असमर्थ हैं। अतृप्ति और निराशा ही काव्य की जननी नहीं हैं। इस प्रकार कवि के जीवन में अतृप्त, निराशा और काम को खोजने से एक अलग मनोविश्लेषण-शास्त्र तैयार हो सकता है, किन्तु उससे साहित्य और काव्य के स्वरूप को समझने में सहायता मिलने की कोई आशा नहीं की जा सकती। प्रेरणा को जानकर हम कृति की अन्तरात्मा को नहीं समझ सकते। इसके आधार पर हम एक आचार-शास्त्र या दुराचार-शास्त्र की कल्पना तो कर सकते हैं, किन्तु काव्य की अभिव्यक्ति की सफलता पर उचित प्रकाश नहीं पड़ सकेगा। काव्य का रसास्वादन करके हम उसके कृति का जीवन-मात्र जान सकेंगे। काव्य के उत्कर्षापकर्ष का निर्णय इस पद्धति का अनुसरण करके नहीं

किया जा सकेगा। काव्य के अन्तरंग से असम्बद्ध इस पद्धति का साहित्य-परीक्षण में पूर्ण उपयोग सिद्ध नहीं होगा।

इस पद्धति के आधार पर पुरानी रचनाओं पर विचार करें तो प्रश्न उपस्थित होगा कि क्या कालिदास के काव्य उनकी दमित वासनाओं के प्रकाशन-मात्र हैं ? क्या उनका 'मेघदूत' काव्य उनकी काम-वासना का प्रतीक-मात्र है ? यदि यह मान लिया जाय कि 'मेघदूत' या 'शाकुन्तल' में उनकी दमित वासनाएँ ही व्यक्त हुई हैं तो भी इस प्रश्न का उत्तर कैसे मिलेगा कि एक ही कवि जब अनेक रचनाएँ प्रस्तुत करता है, तो उनके पृथक् भावों में उसकी किस दमित वृत्ति का प्रकाशन होता है। इस पद्धति की सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि यह स्वभावों को स्थिर मानकर चलती है। यह नहीं मानती कि स्वभावों में परिवर्तन भी होता है और एक ही व्यक्ति में दूसरे प्रकार का स्वभाव भी देखा जा सकता है। यदि हम शरीर और मन के सम्बन्ध पर ध्यान दें तो पायँगे कि शारीरिक अवस्थाएँ संवेदना-शक्ति के अतिरिक्त अंतरव-बोधात्मक ग्रहण, भावात्मक मूल्यांकन और प्राज्ञ-निर्णय में भी अन्तर उपस्थित करती या कर सकती हैं। हमारी समस्त प्रतिक्रियाएँ शरीर और मन से सम्बन्ध रखने वाली होती हैं, जिसके कारण एक ही व्यक्ति अन्तर्मुख भी हो सकता है और बहिर्मुख भी। अतएव यह विभाजन आत्यन्तिक नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त इस पद्धति की एक बड़ी कठिनाई यह भी है कि जीवित लेखक के मनोविश्लेषण को सम्भाव्य मान लेने पर भी मृत पुरुषों के मनोविश्लेषण की समस्या बनी रहेगी, उन्हें जानने के सारे प्रयत्न फीके पड़ जायँगे। इसके लिए जिस संश्लेषण-विश्लेषण का सहारा लेकर लेखक की रचनाओं के आधार पर उसके मन के पुनर्गठन का प्रयत्न किया जा सकता है, वह भी बहुत सरल नहीं है। साथ ही उसे निर्विवाद और निश्शंक भी नहीं कह सकते। इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्य आदर्शवादी और विश्वासवादी साहित्य हैं। नाना भावों के व्यक्त करने वाले प्रबन्ध-काव्यों तक में एक ही वृत्ति का दर्शन करना उचित नहीं जान पड़ता। यह दृष्टि काव्य और कला को समाज-निरपेक्ष रचना मानती जान पड़ती है। समाज से उसका इतना ही सम्बन्ध जान पड़ता है कि वह कवि के मनोभावों का दमन करता है। उन्नयन स्वयं कवि के हाथ ही है। कदाचित् जिन प्रवृत्तियों का सामाजिक धरातल पर विकास नहीं होता, जिन्हें समाज की स्वीकृति नहीं मिलती, वे बातें साहित्य में स्थान पाकर समाज की आँखों से बची नहीं रह जायँगी, अपितु वह उनके मोह में पड़कर तृप्ति-लाभ करेगा, इससे अधिक भ्रमात्मक सिद्धान्त और क्या होगा ? हाँ, एक सीमा में

व्यक्ति के भावों का प्रभाव साहित्य पर अवश्य पड़ता है। परन्तु वह स्वयं समाज से अप्रभावित नहीं रहता। अतः सापेक्ष-रूप में विचार करें, तो भी यह सिद्धान्त अनुपयोगी सिद्ध होता है। आदर्शवादी भारतीय समाज साहित्य में प्रकट किये जाने वाले समस्त असामाजिक तथा अनैतिक तत्त्वों का तिरस्कार करता रहा है। अतएव यह कहना कि साहित्य में उन्हीं हीन भावनाओं को पाकर हम उनका आनन्द लेते हैं और तृप्ति-लाभ करते हैं, समाज को अन्धा बताना है, छल-छद्म को साहित्य का सिद्धान्त मानना है। इस प्रकार की आलोचनात्मक प्रवृत्ति समाज में हीनता और पुंसत्वहीनता या निराशा की प्रचारक होगी, लाभप्रद और उपयोगी नहीं।

प्रभाववादी आलोचना

कुछ विद्वानों का विश्वास है कि काव्य की परख के लिए हमें किसी नीति-नियम का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं है। कवि अपने व्यक्तित्व और विचारों को जैसा काव्य में उतारता है, उसमें हमें यही देखना चाहिए कि उसमें हमारे हृदय को प्रभावित करने की क्षमता कहाँ तक आ पाई है? वह जिस भाव को व्यक्त कर रहा है, वह भाव हमारे मन पर वैसा ही प्रभाव डालता है कि नहीं, जैसा कि अपेक्षित है? कवि की वाणी में हमें अपने साथ बहा ले जाने की कितनी सामर्थ्य है? आदि-आदि प्रश्नों को ध्यान में रखकर कुछ आलोचक केवल कवि और भावक के परस्पर संवाद को प्रभुता देते हैं।

इस प्रकार की शैली प्रभाववादी कहलाती है। निःसन्देह काव्य का लक्ष्य भावक को प्रभावित करना होता है और किसी कृति का महत्त्व इसी बात में है भी कि उसमें व्यक्त भाव हमें अर्थात् सहृदय को प्रभावित करें। यह प्रभाव यदि अपेक्षित सीमा तक नहीं पड़ता, तो इसमें कवि की अभिव्यंजना-पद्धति में कोई त्रुटि ही कारण-स्वरूप हो सकती है। काव्य का गुण प्रेषणीयता होना चाहिए, अवश्य। किन्तु, इस सिद्धान्त में जिस प्रेषणीयता का वर्णन किया गया है, वह भारतीय सिद्धान्त की तुलना में नहीं बैठाई जा सकती। प्रभाववादी आलोचना का यह सबसे बड़ा दुर्गुण है कि वह व्यक्तिगत रुचि को प्रश्रय देती है। भावक किस स्तर का है, उसकी बौद्धिक पृष्ठभूमि क्या है आदि का विचार वह नहीं करती। इस प्रणाली में भावक और कवि को एक साथ बैठाने की चेष्टा करते हुए भी दोनों की श्रेणियाँ क्या हैं, इसका ध्यान नहीं रखा गया है। परिणाम यह होगा कि जो पंक्ति एक व्यक्ति को अच्छी लगती है, वह दूसरे को वैसा प्रभावित न करने के कारण उसके लिए निकम्मी बनी रह जायगी। यदि इस प्रकार रुचि-वैचित्र्य के प्रदर्शन को साहित्यिक आलोचना

का मापदण्ड स्वीकार कर लिया जायगा, तो साहित्य के क्षेत्र में वितण्डा खड़ा हो जायगा और यह किसी एक सिद्धान्त का आधार न लेकर व्यक्तिगत रुचि का लेखा-जोखा हो जायगा। दूसरे शब्दों में इस प्रणाली में कवि स्वयं गौण हो जाता है और भावक ही प्रधान स्थान ग्रहण कर लेता है। इस आलोचना द्वारा हमें कवि और काव्य की अन्तरात्मा का ज्ञान उतना नहीं होता, जितना भावक की सूझ-बूझ का होता है। इस प्रणाली का अनुगमन करने से काव्य की आलोचना का कोई स्थिर और सार्वजनीन मापदण्ड उपस्थित नहीं होता। किसी स्थिर मापदण्ड के अभाव में एक ही कृति के सम्बन्ध में भिन्न लेखकों की ओर से अनेक प्रकार की धारणाओं का प्रकाशन होगा और सामान्य पाठक किसी कृति की अच्छाई-बुराई को न परख सकेगा। अतः यह प्रणाली ग्राह्य नहीं जान पड़ती।

प्रभाववादी आलोचना केवल एक क्षण से सन्तुष्ट हो जाती है अर्थात् वह सम्पूर्ण कृति की किसी संयोजित और सम्बद्ध रूप में आलोचना नहीं करती, बल्कि ग्राह्य के मन पर अंकित होने वाले क्षणिक प्रभाव के आधार पर उसकी श्रेष्ठता आदि घोषित करती है। ऐसा आलोचक क्षणिक अनुभव को बहुमूल्य मानता है और उन विषयों और रचनाओं को महत्त्व देता है जो मनुष्य के लिए विशेष संवेदनात्मक होती हैं। प्रभाववादी कलाकार और समीक्षक दोनों के व्यक्तित्व सीमित हो उठते हैं और वे आत्म-संस्कृति को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। क्षणिकवादी होने के कारण इनकी भावगतियों में स्थिरता नहीं दिखाई पड़ती। वह अपनी उर्वर कल्पना के सहारे, अपने मानसिक चैतन्य के बल पर सूक्ष्मतम प्रभावों को सहज ही ग्रहण तो कर लेता है, परन्तु स्तर-भेद के कारण इनका साहित्य में व्यापक मूल्य कदाचित् ही मान्य हो सकता है। यह आलोचक साहित्य को केवल आनन्द का स्रोत मानता है, जिसके परिणाम-स्वरूप वह साहित्य का उपयोग केवल अपनी चेतना को विस्तृत करने के लिए करता है और इस प्रकार सामाजिक लक्ष्य से विच्छिन्न रह जाता है। इस प्रकार इस आलोचना से हमारे सामने एक दूसरे व्यक्ति की व्यक्तिगत भावनाओं का संग्रह तो उपस्थित होता है, उसकी आत्म-संस्कृति तो उपस्थित होती है, किन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आनन्दमय क्षणों की इस अनुभूति से किसी एक स्थिर मानदण्ड की उपस्थिति नहीं होती। इस प्रकार की आलोचना से किसी कृति के सम्बन्ध में पाठक की अनुभूति का बोध तो होता है किन्तु उससे किसी निर्णय में सहायता नहीं मिलती या मिल सकती। इस प्रकार की आलोचनाओं से हम किसी कृति के अनन्त सन्देश-मात्र ही ग्रहण कर सकते हैं। विज्ञान के समान

किसी एक सन्देश पर नहीं पहुँच पाते। यह सही है कि विज्ञान तथा कला में मूलतः इस प्रकार का अन्तर है भी कि कला या साहित्य से अनेक की अनुकूलता सिद्ध होती है, विज्ञान से स्थिरता। अतः प्रभाववादी आलोचना से इसी अनेकानुकूलता का सिद्धान्त अवश्य प्रतिपादित होता है, किन्तु कोई स्थिर सिद्धान्त उपस्थित नहीं होता। उसमें साहित्य का मूल्यांकन या साहित्य के आधारभूत सिद्धान्तों के मूल्यांकन का प्रयत्न नहीं रहता। हम इस आलोचना के द्वारा केवल साहित्य से प्राप्त होने वाले मानसिक प्रभाव का प्रकट रूप देखते हैं जो एक प्रकार से हमारे मन की ही छाया है। उद्वेलित भावों के रूप में हमारे सामने प्रभाववादी आलोचक अपने मन को स्पष्ट करता जान पड़ता है। मूल्यांकन-हीन होने के कारण यह आलोचना-शैली प्रायः भ्रमात्मक रूप धारण कर लेती है, अतएव साहित्य के लिए विशेष हितकर नहीं है।

प्रभाववादी समीक्षक इस बात का दावा कर सकता है कि वह साहित्यिक अध्ययन के द्वारा एक नवीन साहित्य का सर्जन करता है। यह समीक्षा-शैली एक-मात्र ऐसी शैली है, जो आलोचना को भावात्मक बनाकर रोचक और सरलतया ग्राह्य बना देती है। यह भी कहा जा सकता है कि अन्य समीक्षा-शैलियाँ भी हमें किसी एक विशिष्ट दृष्टिकोण को अपनाने के लिए बाध्य करती हैं और किसी से नए समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण की स्थापना होती है, किसी से मनोविश्लेषण को प्रसार और प्रचार मिलता है, अतः यदि इसके द्वारा भावात्मकता का और व्यक्तिगत रुचि का प्रदर्शन होता ही है, तो भी यह अन्य समीक्षा-शैलियों के समान तो है ही। अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण इसे भी महत्त्व मिलना चाहिए। निःसन्देह, प्रभाववादी के ये उत्तर हो सकते हैं। किन्तु, किसी दूसरी शैली में त्रुटि है, इसलिए हमारी त्रुटिपूर्ण शैली का भी महत्त्व मानना चाहिए, यह कहना कोई महत्त्व नहीं रखता। इसी प्रकार इससे भावात्मक साहित्य का निर्माण होता हो, तो भी आलोचना को गति न मिलने के कारण इसको आलोचना-क्षेत्र में ग्रहण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह समीक्षा-शैली अन्य शैलियों से भी अधिक गई-बीती शैली है।

इन समीक्षा-प्रणालियों के अतिरिक्त ऐतिहासिक समीक्षा-प्रणाली, चरित-मूलक प्रणाली अथवा अभिव्यंजनावादी प्रणाली या 'कला कला के लिए' सिद्धान्त भी प्रचलित हैं। इनमें ऐतिहासिक समीक्षा-शैली सबसे प्रौढ़ ज्ञात होती है, क्योंकि इस शैली में कवि के परिवेष्टन और उसके प्रकाशन दोनों पर ध्यान रखा जाता है।

अन्य पद्धतियाँ

इस शैली का समीक्षक इस बात की खोज करता है कि अमुक लेखक किस

परिवार, किस परिस्थिति और किस वातावरण में पला और जीवित रहा है। उस सबका प्रभाव उसकी कृति में किसी-न-किसी रूप में अवश्य उपस्थित हुआ होगा। कवि को समाज से अपनी कृति के लिए विषय-वस्तु और प्रेरणा मिलती है, वह जिस परिस्थिति में पलता है, उसका प्रभाव किसी-न-किसी रूप में उसके भाव-जगत् के निर्माण में सहायक होता है। अतः काव्य में व्यक्तित्व की खोज के लिए उसकी समकालीन परिस्थितियों तथा उसके पारिवारिक जीवन को ध्यान में रखना उपयोगी सिद्ध होगा। इस प्रकार यह सिद्धान्त अपने-आपमें चरितमूलक आलोचना को भी समेट लेता है, जिसमें कवि के जीवन में घटित घटनाओं, उसकी जीवन-चर्या की खोज की जाती है। दूसरी ओर इसमें समाज और समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक परिस्थितियों की आधार-भूमि का भी ग्रहण हो जाता है अर्थात् कवि की कृति को समाज-सापेक्ष ढंग से परखने का अवसर मिल जाता है। तथापि इस शैली को भी काव्य की आलोचना के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस प्रकार की सामग्री सभी कवियों के जीवन के सम्बन्ध में नहीं मिल पाती। आज भी कितने ही कवियों के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। तुलसीदासजी के सम्बन्ध में उनके जन्म-स्थान आदि को लेकर कितना वाद-विवाद है, इससे सभी परिचित हैं। हमारे यहाँ के कितने कवियों ने अपने जीवन के सम्बन्ध में कुछ संकेत दिए हैं ? विशेष रूप से प्राचीन कवियों अथवा कलाकारों के सम्बन्ध में पूर्ण सामग्री का अभाव होने के कारण हम उनके निर्माण में सजग रहने वाली प्रवृत्तियों की छान-बीन में सफल नहीं हो सकते। कालिदास के सम्बन्ध में आज तक विद्वानों के बीच ऐकमत्य नहीं दिखाई देता कि उनका काल कौन-सा निर्धारित किया जाय। इस प्रकार न तो हमारे सामने सभी के चरित्रों का लेखा है और न सबके जीवन की अन्यान्य तत्कालीन समस्याओं का ही इतिहास इकट्ठा है। ऐसी दशा में ऐसी शैली भी सर्वव्यापक नहीं कही जा सकती। एक ही मापदण्ड से काम नहीं चल सकता, क्योंकि उस स्थिर मापदण्ड के लिए हमारे पास ऐतिहासिक सामग्री का अभाव है। इसी प्रकार चरितमूलक शैली भी अपूर्ण है, क्योंकि कवि या कलाकार की समस्त वैयक्तिक भावनाओं का प्रकाशन सदैव काव्य में होता हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। कवि रचना के समय अपने को पात्रों के रूप में ढाल देता है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उसकी भावनाएँ भी सामाजिक, नैतिक, आदर्शात्मक आदि दृष्टिकोणों से प्रभावित होती हैं और अपना रूप परिवर्तित करती चलती हैं। हाँ, इस शैली को व्यक्तिपरक काव्य की समीक्षा के लिए अवश्य उपयोगी स्वीकार किया जा

सकता है। मुक्तक रचनाओं में कवि अपने भावों को मुक्त होकर प्रकाशित कर सकता है, अतः उसमें उसके व्यक्तित्व के अंश अधिक सफलता से मिल सकते हैं, किन्तु वह काव्य भी सदैव व्यक्तित्व का ही प्रकाशक नहीं होता, समाज उसे भी संयमित करता चलता है अथवा मुक्तक काव्यों में भी अनेकविध समस्याओं का प्रकाशन होता है, जो सदैव व्यक्तिगत रुचि-अरुचि पर अवलम्बित नहीं होतीं। अतएव चरितमूलक शैली भी सर्वत्र उपयोगी सिद्ध नहीं होगी।

अभिव्यंजनावादी शैली के जन्मदाता क्रोसे काव्य में अभिव्यंजना को प्रमुख मानते हुए उसका सम्बन्ध लौकिक शक्ति 'स्वयंप्रकाश ज्ञान' से जोड़ते हैं। उनके लिए यह शक्ति एक साँचे का काम करती है, जिसमें वस्तु आकर ढल जाती है और विविध रूपों में (जो रूप मूल-वस्तु से भिन्न होते हैं) प्रकट होती है। क्रोसे के विचार से अभिव्यक्ति आन्तरिक होती है। यह अभिव्यक्ति किसी प्रकार भी असुन्दर नहीं होती। सौन्दर्य के प्रकाशन के अतिरिक्त काव्य का और कोई ध्येय नहीं है। नीति, उपयोगिता, मंगल-अमंगल से काव्य या कला का कोई सम्बन्ध नहीं, वह इन सबसे निरपेक्ष रहकर अन्तरात्मा के सौन्दर्य का उद्घाटन करते हैं। अतएव काव्य की समीक्षा करते समय यह पद्धति केवल सौन्दर्य-दर्शन या अभिव्यक्ति की पूर्णता को ही ध्यान में रखती है, विषय-वस्तु की आलोचना करना इसका ध्येय नहीं होता। इस सौन्दर्य में क्रोसे आह्लाद का अंश भी सम्मिश्रित मानते हैं। क्रोसे काव्य या कला को सहज ज्ञान से प्रेरित मानकर उसे तर्क की भूमि से दूर रखते हैं। तर्क की भूमि का इस सहज ज्ञान की भूमि तक प्रवेश नहीं है, वह सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता है। इस प्रकार यह शैली समाज-निरपेक्ष रूप में काव्य का विचार करती है। उसे काव्य की सामाजिक उपादेयता से कोई मतलब नहीं है। यदि इस प्रकार काव्य को समाज-निरपेक्ष मान लिया जाय, तो वह केवल कल्पना का क्षेत्र-मात्र रह जाता है। साथ ही उससे यह प्रश्न भी हल नहीं होता कि बिना किसी सामाजिक उपयोगिता के कोई किसी कृति का अध्ययन करने के लिए कैसे प्रवृत्त होगा? इस प्रकार काव्य में सौन्दर्य का अधिष्ठान स्वीकार करके भी उसे समाज-निरपेक्ष अवस्था में छोड़कर क्रोसे ने उसे संकुचित कर दिया है। एक प्रकार से वह अभिव्यक्ति को पूर्ण सौन्दर्य मानकर आलोचना को अनपेक्षित घोषित करता है। वह कृति को सम्पूर्ण महत्त्व देकर भावक के संस्कारों, उसकी जीवन-प्रेरणाओं आदि पर कोई ध्यान नहीं देता, यही उसके सिद्धान्त की बड़ी भारी त्रुटि है। इसी प्रकार 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का प्रतिपादन

अभिव्यंजनावादी पद्धति

करते हुए भी सामाजिक उपयोगिता का विचार नहीं किया जाता। कला किसी हित या किसी प्रयोजन से आबद्ध नहीं है। सौन्दर्य स्वतः उपयोगी होता है; यही दृष्टिकोण लेकर यह शैली आरम्भ हुई है, अतएव यह शैली सौन्दर्य के तत्त्वों का विवेचन नहीं करती। इस प्रकार ये तीनों दृष्टियाँ—सौन्दर्यवादी, प्रभाववादी तथा अभिव्यंजनावादी—प्रायः एक-दूसरे से मिलती-जुलती-सी हैं। ये तीनों ही अतिवादी दृष्टिकोण हैं। सौन्दर्यवादी काव्य या कला में मंगल-अमंगल की खोज न करके केवल सौन्दर्य की खोज करता है, प्रभाववादी अपने ऊपर पड़े किसी रचना के प्रभाव को ध्यान में रखता है और उसके कारणों की खोज नहीं करता। अभिव्यंजनावादी काव्य की अभिव्यक्ति में सफलता-असफलता का निर्देश करता है। इन शैलियों में अभिव्यंजनावादी शैली ही अधिक उचित शैली है, यद्यपि इसमें भी वस्तु को महत्त्वहीन मानकर एकपक्षीयता का सहारा लिया गया है।

नयी कविता और रस-सिद्धान्त

यह ठीक है कि पूर्वोक्त सभी आलोचना-मार्ग कंटकाकीर्ण हैं, ऊबड़-खाबड़ धरती वाले हैं, परन्तु पुरानी प्रणाली को एक ही साथ धक्का मारकर धराशायी कर देने का दुस्साहस लेकर आज नयी कविता के साथ एक नयी मूल्यांकन-पद्धति पनप रही है। वह नये काव्य के स्फुरण के साथ-साथ नये मापदण्डों का निर्माण और प्रस्थापन करती हुई प्राचीन मूल्यांकन-पद्धति को अपूर्ण निर्धारित करती है। नवीन परिधान, नवीन अभिव्यंजना-शैली, नये उपमान, नये अलंकरण की प्रणाली और नवीन भाषा-विन्यास के साथ इस कविता का आगमन हुआ है जो पुराने विश्वासों पर आघात करती है। 'तार सप्तक' से 'दूसरा सप्तक' की राह पर चलकर आज हम नयी कविता के उस स्थान पर खड़े हैं, जहाँ वह आज के प्रबुद्ध पाठक का ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहती। इस कविता-भूमि पर उगे हुए अंकुरों में जो हरियाली है, जो नवीन जीवन-शक्ति है, उसके सम्बन्ध में निःसन्देह दो मत हैं और इन दो मतों की स्थिति इसलिए आवश्यक एवं अनिवार्य थी कि नवीन रूप में उपस्थित होने वाली प्रत्येक वस्तु सदैव मनुष्य को चौकन्ना बनाती है, उसे सशंक करती है। 'नयी कविता' के पहले अंक में श्री सुमित्रानंदन पंत ने नयी कविता के सम्बन्ध में लिखा है :

"नयी कविता ने मानव-भावना को छायावादी सौन्दर्य के धड़कते हुए पलने से बलपूर्वक उठाकर उसे जीवन-समुद्र की उत्ताल लहरों में पेंग भरने को छोड़ दिया है, जहाँ वह साहस के साथ सुख-दुःख, आशा-निराशा के घात-

प्रतिघातों में बढ़ती हुई युग-जीवन के आँधी-तूफानों का सामना कर सके, अन्तर्वेदना से मुक्त होकर सामाजिक व्यथा के अनुभवों से परिपक्व बन सके। नयी कविता विश्व-वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पट को अपने मुक्त छन्दों के संकेतों की तीव्र-मन्द गति-लय में अभिव्यक्त करके, युग-मानव के लिए नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है।"[1] "नयी कविता अपनी शैली तथा रूप-विधान में जहाँ अधिक मौलिक, वैचित्र्यपूर्ण तथा वैयक्तिक हो गई है, वहाँ अपनी भावना में अधिक रागात्मक तथा मानववादी बन गई है।"[2]

इस कविता को समझने के लिए किस प्रकार का भावक चाहिए, इसका डॉ० जगदीश गुप्त के निम्न शब्दों से परिचय मिल जायगा :

"वह उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है, जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नये कवि के समान है। अर्थात् जो उसके समानधर्मा हैं, एक ओर जो पुरानी कविता की अभिव्यंजना-प्रणालियों, शक्तियों और सीमाओं से परिचित हैं और जिनकी परितृप्ति परम्परागत वस्तु और अभिव्यक्ति से नहीं होती, या होती है तो सम्पूर्ण रूप में नहीं।"[3]

इन दोनों व्यक्तियों के उद्धरणों को यहाँ केवल इसलिए देने की आवश्यकता हुई कि इससे नयी कविता के स्वरूप और उसके विश्वासियों और पृष्ठपोषकों के विचारों पर कुछ प्रकाश पड़ सके। यहाँ सभी के विचार उद्धृत करने का न तो स्थान ही है, और न आवश्यकता। प्रश्न है, इस रचना-प्रणाली की आलोचना के लिए प्राचीन सिद्धान्तों का प्रयोग किया जा सकता है कि नहीं ? रसवादी समीक्षक की दृष्टि से इन रचनाओं की आलोचना हो सकती हैं कि नहीं ? यह प्रश्न नयी कविता के लिए नया नहीं है। 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में प्रयोगशील कविता से आद्याचार्य श्री 'अज्ञेय' ने इस प्रश्न को उपस्थित किया है कि नयी कविता पर साधारणीकरण का सिद्धान्त लागू किया जा सकता है अथवा नहीं ? 'अज्ञेय' का विचार है कि :

(१)—सभ्यता के विकास के साथ हमारी अनुभूतियों का विकास हो गया है।

(२)—अनुभूतियों को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते

१. 'नयी कविता', अंक १, पृ० ३।

२. वही, पृ० ४।

३. वही, पृ० ६-७।

गए हैं।

(३) विशेष ज्ञानों के इस युग में भाषा एक रहते हुए भी उसके मुहावरे अनेक हो गए हैं।

(४) ऐसी स्थिति में जो कवि एक क्षेत्र का सीमित सत्य—तथ्य नहीं, सत्य अर्थात् उस सीमित क्षेत्र में जिस तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध है वह—उसी क्षेत्र में नहीं, उसके बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उसके सामने बड़ी समस्या है। या तो वह यह प्रश्न ही छोड़ दे, सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र में सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे—यानी साधारणीकरण तो करे, पर साधारण का क्षेत्र सीमित कर दे, अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले, या फिर वह वृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोड़े और इसलिए क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रहकर उसके बाहर जाकर राह खोजने की जोखिम उठाए। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक संकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोड़ने को बाध्य होगा, अर्थात् एक दूसरे अन्तर्विरोध की शरण लेगा।"[1]

(५) जब चमत्कारिक अर्थ भर जाता है और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता, कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है, जिससे पुन: राग का संचार हो, पुन: रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है। नहीं तो अगर भाव भी वही पुराने हैं, रस भी और संचारी-व्यभिचारी सबकी तालिकाएँ बन चुकी हैं, तो कवि के लिए नया कहने को रह क्या गया ?[2]

(६) साधारणीकरण उसने—नयी कविता के लेखक ने—छोड़ नहीं दिया है, पर वह जितनों तक पहुँच सके, उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको छोड़कर नहीं।[3]

'अज्ञेय' जी की इन धारणाओं का सार यही है कि प्रयोगशील कवि भी साधारणीकरण को ही अपना लक्ष्य मानता है। किन्तु, उसके लिए कठिनाई यह है कि आज रूढ़ अर्थ-व्यापारों आदि को छोड़कर वह अकुण्ठित गति से आगे बढ़ना चाहता है, नये उपमानों, नये अर्थों और शब्दों को अपनाना चाहता है। इसके लिए आरम्भ में उसे कुछ विशिष्ट जन ही मिलेंगे, जो उसकी बात को

१. 'दूसरा सप्तक', भूमिका, पृ० १०।
२. वही, पृ० १२।
३. वही, पृ० १३।

समझ सकेंगे। अर्थात् साधारणीकरण को आज कुछ समय तक सीमित क्षेत्र में रखना होगा।

इस विवाद पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि प्रयोगशील काव्य के सम्मुख प्रधान प्रश्न अभिव्यंजना का है। शैली का है। उसकी नवीन शैली उसे सीमित बना रही है, जो समय की विवशता से ही है। निःसन्देह इस विचार से रसवादी को सहज सहानुभूति हो सकती है कि प्रयोगवादी साधारणीकरण सिद्धान्त को स्वीकार करता है। किन्तु, कठिनाई यह है कि नये उपमानों और नई वचन-भंगी का सम्मान करते हुए भी उसमें प्राप्त होने वाले ऐसे उपमानों, प्रतीकों और पदावलियों को वह स्वीकार नहीं करना चाहता, जिनमें भावोद्-बोधन की सामर्थ्य न हो। रसवादी आलोचक ने आज तक कभी भी उन उप-मानों को स्वीकार नहीं किया है, उन अलंकारों से उसे कोई सहानुभूति नहीं रही है, जो भाव की अभिव्यक्ति में सहायक नहीं बन सके हैं। उसे दर्शन की गुत्थियों का साहित्य में प्रवेश भी कभी अच्छा नहीं लगा, उसका उसने विरोध ही किया है।

इस भाव या रस-निवेश के प्रसंग में मूलतया बाधक जान पड़ता है, नये कवि का बौद्धिकता के प्रति आग्रह। डॉ० जगदीश गुप्त ने 'नयी कविता में रस और बौद्धिकता' शीर्षक लेख के अन्तर्गत कहा है कि बीसवीं सदी के मनुष्य की मनःस्थिति, जीवन के प्रति दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन आ जाने के कारण इतनी दूर तक बदल चुकी है कि वह अपने रागात्मक सम्बन्धों को न तो 'फ़िलास-फाइज़' करके सन्तुष्ट हो पाता है, न किसी देवता के चरणों पर आत्म-समर्पण करके मुक्ति-लाभ कर पाता है। एक गहरा असन्तोष, सहज अनास्था और 'फ्रस्ट्रेशन' उसके हृदय में व्याप्त हो गया है, जिसके कारण विश्वास ठहर नहीं पाते। बुद्धि और तर्क उन्हें टिकने नहीं देते। एक ओर भौतिकता की जड़ उपा-सना से उसकी चेतना विद्रोह करती है, दूसरी ओर आत्मा की अतीन्द्रिय सत्ता और अखण्ड अनाहत आनन्द की उसे अनुभूति नहीं हो पाती। अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के संघर्ष तथा उनकी महत्ता के पोषक सिद्धान्तों के द्वन्द्व ने जीवन में एक विचित्र गतिरोध ला दिया है। आदर्शों में शताब्दियों से प्रतिष्ठित भारी अराजकता आ गई है, तथा आदर्श और यथार्थ का पारस्परिक संघात घनीभूत हो गया है। यह मनोदशा व्यक्ति की न होकर युग की है और साहित्य के क्षेत्र में आने वाली नयी कृतियाँ स्पष्ट रूप से इसको व्यक्त कर रही हैं। केवल वर्तमान आर्थिक कारणों से ही यह असंतोष और अनास्था उपजी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनका सम्बन्ध नैतिक मूल्यों और संस्कारों में आई हुई संक्रान्ति से भी

है, जिस पर वैज्ञानिक युगीन बौद्धिकता की गहरी छाया है। बुद्धि भावों को स्थायी नहीं होने देती और फलतः आलम्बन स्थिर नहीं रहते। रस एक विशेष मनःस्थिति में विशेष प्रक्रिया से निष्पन्न होता है। इस विषण्ण युग के कवि की दृष्टि रस-निष्पत्ति की ओर नहीं जाती और अधिकांश नयी कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है, ऐसा मुझे लगता है।"[1] परिणामतः "नयी कविता बौद्धिकता की छाया में विकस रही है, अतः उसमें एक अन्तर्निहित आलोचनात्मकता मिलती है, यथार्थ चित्रण का आग्रह, सूक्ष्म व्यंग तथा शैलीगत वैचित्र्य एवं नये-नये अर्थों को ध्वनित करने वाला अभिनव प्रतीक-विधान, आदि जिन्हें नयी कविता की प्रमुख विशेषताएँ कहा जा सकता है, सभी के पीछे प्रेरणा का बुद्धिगत रूप स्पष्ट झलकता है।"[2] इसी बुद्धिगत रूप के कारण दोनों में आधार की भिन्नता के अतिरिक्ति प्रभाव-प्रक्रिया में भी सूक्ष्म अन्तर आ गया है और परस्पर दोनों में वैपरीत्य और विरोध भी दिखाई देता है। "नयी कविता आकर्षण को नहीं विकर्षण को भी टटोलती है। व्यंग करना, चोट करना, झकझोर देना, ध्यान में डूबे हुए को जैसे टोक देना और कुछ सोचने पर मजबूर करना उसका स्वभाव है। वह रिझाती कम है, सताती अधिक है।...कभी-कभी वह जीवन के भयानक तथ्यों की ओर संकेत करके हमें सहमा देती है—उन तथ्यों की ओर जिनको हम सहज रूप में शायद कभी नहीं देख पाते। रसानुभूति भावों को एक गहरे सामंजस्य में लेकर चलती है, नयी कविता प्रायः पाठक को असमंजस में डाल देती है। यदि कोई कलाकृति हमें स्पर्शहीन छोड़ दे तो हम उसे कुछ भी नहीं मानेंगे, पर नयी कविता हमें स्पर्श करती है, ऐसा मैं स्वानुभव के आधार पर बलपूर्वक कह सकता हूँ। हाँ, उसके स्पर्श की प्रणाली अवश्य भिन्न है...।"[3] अर्थात् वह भावात्मक न होकर बौद्धिक है। और बौद्धिकता की आवश्यकता केवल इसलिए ही नहीं है कि नयी चेतना और नयी परिस्थिति ने कवि को बाध्य कर दिया है, बल्कि तर्क यह भी है कि "अगर ज्ञान-प्रसार के भीतर भाव-प्रसार होता है तो यह कहना भी असत्य नहीं है कि भाव-प्रसार के भीतर ज्ञान-प्रसार होता है। भावों की संकीर्ण दीवारें मनुष्य के ज्ञान को संकुचित बनाए रखती हैं। बुद्धि-प्रसूत कभी कोई सशक्त विचार भाव-धारा को छिन्न-भिन्न कर देता है और कभी किसी भाव का वेग विचारों की शृंखला को

१. 'आलोचना', त्रैमासिक, वर्ष २, अंक ३, पृ० ५६।

२. वही, पृ० ५७।

३. वही, पृ० ५७।

विच्छिन्न कर देता है।"[1] अतएव "भावों और विचारों के परस्पर उलझे सूत्रों में वह विचारों के सूत्र खींचकर भावों के सूत्रों को छेड़ने का यत्न करती है। बुद्धि से हृदय तक विचारों और रागों के मिले-जुले अनन्त स्तर हैं। आज की कविता इनमें से किसी को भी छू लेने में अपनी सार्थकता मानती है।"[2] इसी के परिणामस्वरूप उसमें लाक्षणिकता, वक्र अभिव्यंजना, मूर्त्त कल्पना को उभारकर उसका अमूर्त्त पर आरोप करने की विचित्र कलात्मकता और प्रतीकात्मकता का सन्निवेश हो गया है। "यही क्या, रसवादी कविता के प्रायः सभी प्रमुख लक्षण नयी कविता में नहीं मिलते, यहाँ तक कि भावुकता की भी कमी रहती है। तुकान्त, छन्द, गेयता तथा पुनरावृत्ति आदि का अभाव या इसके प्रति उदासीनता भी बौद्धिकता का ही सहज परिणाम है। आलाप, प्रलाप और विलाप से कविता अब काफी दूर हट गई है। उसके सौन्दर्य-बोध में अन्तर आ गया है। अनगढ़पन में ही वह निखरती है। सजाने-सँवारने, खराद पर चढ़ाने और माँजने से उसकी सहजता नष्ट होती है।"[3]

इसके विरोध में आलोचक कहता है "काव्य की सार्थकता इसीमें है कि वह राग को संवेदनीय बनाये, बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना काव्य का काम नहीं है।···प्रयोगवादी कवि ने नवीनता की झोंक में इसी मूल सिद्धान्त का तिरस्कार करके काव्य के मर्म पर चोट की है, और इसका परिणाम यह हुआ है कि उसकी रचना प्रायः काव्य नहीं रह गई है, उसमें मन को स्पर्श अथवा चित्त को द्रवित करने की शक्ति नहीं रही। दूसरे शब्दों में रस का अभाव है। पहले तो उसका अर्थ ही हाथ नहीं पड़ता और यदि दिमाग़ को खुरचकर उसका अर्थ निकाल भी लिया जाय तो पाठक के मन का प्रसादन नहीं होता, और उसे एक प्रकार की खीझ-सी होती है।"[4] और यह कि "साधारणीकरण शैली का प्रयोग न होकर एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसका मूल आधार है—मानव-सुलभ सह-अनुभूति। इसमें सन्देह नहीं कि आज का जीवन विगत जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक उलझा और पेचीदा हो गया है और मानव-मन की प्रवृत्तियाँ भी उसी अनुपात से निविड़ एवं जटिल हो गई हैं। फिर भी साधारणीकरण के सिद्धान्त में इससे कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि कवि-मन की निविड़ता के साथ सहृदय के मन

१. 'आलोचना', त्रैमासिक, वर्ष २, अंक ३, पृ० ५७।
२. वही, पृ० ५८।
३. वही, पृ० ५८।
४. 'काव्यधारा', पृ० ५१।

की निविड़ता भी तो उसी अनुपात से बढ़ गई है।"[१] साथ ही "कवि की अनुभूति में ही इतनी शक्ति नहीं होती कि वह संवेद्य को बिम्ब-रूप में ग्रहण और प्रस्तुत कर सके।"[२]

हम समझते हैं कि नयी कविता के पक्षपाती उसे नितान्त रूप से सभी स्थलों पर रस-सिद्धान्त से अछूता सिद्ध नहीं कर सकते और न इसी तरह उनका आलोचक केवल रागात्मकता की छाँह में विश्राम लेकर नयी कविता पर दोषारोपण कर सकता है। पहले आलोचक की बात कह लें। जैसा डॉ० जगदीश गुप्त ने बहुत ईमानदारी के साथ स्वयं भी उसी निबन्ध के अन्त में स्वीकार किया है कि रस-सिद्धान्त के अतिरिक्त हमारे यहाँ और काव्य-परीक्षा-सिद्धान्त भी चालू हैं और केवल चालू ही नहीं हैं, मान्य हैं। काव्य की उत्तम, मध्यम और अधम कोटियाँ भी हमारे यहाँ स्वीकृत हैं; यह बात और है कि रस-काव्य ही उत्तम काव्य है। स्वयं विश्वनाथ ने रसेतर सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है और प्राचीन संस्कृत-काव्य इस बात का साक्षी है कि केवल मुक्तक में ही चमत्कार या उक्ति-वैचित्र्य को स्थान नहीं था, अपितु जटिलता के अभिमानी हर्ष जैसे लेखक का 'नैषधचरित' भी मान्यता-प्राप्त महाकाव्य है और 'राघवपाण्डवीयम्' की जटिलता और द्व्यर्थकता भी उसे सम्मानित होने से नहीं रोक सकी है। इतना ही क्यों, आचार्य आनन्दवर्धन-जैसे विद्वान् ने भी मान लिया है कि मुक्तक के लिए रस अनिवार्य नहीं है, उसका प्रयोग कोई विरला ही मुक्तक में कर सकता है, जैसे अमरुक ने किया है।[३] तब फिर मुक्तक रूप नयी कविता के इन विषण्ण कवियों पर हम इतनी भी सहानुभूति, जो वस्तुतः उनका अधिकार है, क्यों न प्रकट होने दें? स्वयं जगदीशजी तो मानते हैं कि नयी कविता स्पर्श अवश्य करती है। यों यदि उर्दू-काव्य पर भी दृष्टिपात करें और उसे जान-पूछकर अनर्थक न कहें तो स्पष्ट ही प्रकट हो जायगा कि यदि उक्ति-चातुर्य, विदग्धता और बौद्धिक चमत्कार उन पंक्तियों को कविता कहला सकता है तो नयी कविता की ऐसी ही पंक्तियाँ कविता क्यों कही जायँ। जहाँ तक साधारणीकरण और सह-अनुभूति का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में केवल इतना निवेदन है कि शब्दों का प्रयोग और उनकी सार्थकता भी साधारणीकरण का माध्यम हैं, केवल सह-अनुभूति ही नहीं। और यह आवश्यक नहीं है कि कवि

१. काव्यधारा, पृ० ५२।

२. वही, पृ० ५२।

३. मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते।

ध्व०, पृ० ३२५ तथा ३।१७ सं०

मानव-साधारण से एक क़दम आगे न बढ़ गया हो। बहुत दूर की बात नहीं है, छायावादी कविताएँ आज भी बहुत-से पढ़े-लिखों की समझ में नहीं आतीं और जब प्रचलित हो ही रही थीं तब के विरोध की कहानी तो अलग है ही। हाँ, यह ठीक है कि शब्दों और उपमानों में अर्थ-ग्रहण की सामर्थ्य होनी चाहिए, केवल नवीनता-प्रदर्शन की भावना नहीं। इस प्रकार सोचें तो न नयी कविता की ओर से यह कहना ही उचित होगा कि उसकी एक भी पंक्ति रसवादी कसौटी पर नहीं कसी जा सकती और न यही कहना उचित होगा कि वे सब रसहीन, अज्ञेय, असाधारणीकृत और अकविता हैं। अभिप्राय यह है कि नयी कविता के नाम पर प्रचलित रचनाओं में कुछ रसवादी भी हो सकती हैं या उनका उस दृष्टि से भी आनन्द उठाया जा सकता है, और कुछ बौद्धिक होकर भी स्पर्शमयी हो सकती हैं और एक प्रभाव छोड़ सकती हैं। और यह भी स्पष्टतया स्वीकार कर लेने में कोई हानि नहीं होगी कि जो पहले प्रकार के अन्तर्गत आने वाली रचनाएँ हैं, वे व्यापक रूप में आनन्ददायी होने के साथ-साथ अधिक आनन्ददायी भी हैं। उदाहरण लें तो निम्न रचनाएँ नयी कविता के पक्ष से जितनी मापी जा सकती हैं, उतनी ही रसवादी दृष्टि से भी। रसवादी इससे स्मृति संचारी के सहारे शृंगार रस का आनन्द-लाभ कर सकता है :

> एक सिल्क के कुरते की सिलवट में लिपटा
> गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा-सा टुकड़ा
> उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहने थीं
> रंग भरी उस मिलन-रात में
> दूज कोर से उस टुकड़े पर
> तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तस्वीरें
> कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना।
>
> —'चूड़ी का टुकड़ा', गिरिजाकुमार माथुर

इसी प्रकार श्री भवानीप्रसाद मिश्र की अतिपरिचित 'गीत फ़रोश' तथा 'कमल के फूल' शीर्षक रचनाएँ यद्यपि 'दूसरा सप्तक' में आने से प्रयोगवादी हो जाती हैं, किन्तु क्या कोई काव्य-शास्त्री इन दोनों कविताओं की व्यंजना से आँख मूँदे बिना इन्हें कविता कहने में हिचक सकता है ? पहली कविता की तिक्तता, अवसाद और व्यंग से घुली नितान्त प्रसादगुणमयी तथापि व्यंजना-पूर्ण पंक्तियाँ क्या अकविता हैं ? और हृदय से निकली हुई आवाज़ की भाँति जो अन्तरतम से कविता व्यक्त हो उठी है उसका परिचय देते हुए 'कमल के फूल' की निम्न पंक्तियाँ और उनमें आये हुए शब्द 'मानसर', 'बीच', 'तीर'

आदि क्या कम सार्थक, कम व्यंजक अथवा कविता के लिए कम सहायक हैं ?

फूल लाया हूँ कमल के।
क्या करूँ इनका ?
पसारें आप आँचल,
छोड़ दूँ,
हो जाय जी हल्का !
किन्तु होगा क्या कमल के फूल का ?
कुछ नहीं होता
किसी की भूल का—
मेरी कि तेरी हो —
ये कमल के फूल केवल भूल हैं।
भूल के आँचल भरूँ ना
गोद में इनका सँभाले
मैं वज़न इनके मरूँ—ना।
ये कमल के फूल,
लेकिन मानसर के हैं,
इन्हें हूँ बीच से लाया,
न समझो तीर पर के हैं।
भूल भी यदि है
अछूती भूल है !
मानसर वाले
कमल के फूल हैं।

इसी प्रकार 'दूसरा सप्तक' की 'समय देवता' शीर्षक नरेश मेहता की कविता को कोई रसवादी शायद ही कविता कहे, किन्तु क्या वह सचमुच किसी और कारण से, भले ही वह अलंकार हों या भाषा का चमत्कारक प्रयोग अथवा विराट् कल्पना, कविता न कहला सकेगी ? यों, छोटी कविताएँ लें तो धर्मवीर भारती की 'यह दर्द' शीर्षक रचना और 'धूप के धान' से गिरिजाकुमार माथुर की 'आटोग्राफ' शीर्षक कविता लें और बताएँ कि ये कविताएँ हैं कि नहीं ? हैं तो कौन-सा रस है ? कहना पड़ेगा, रस तो नहीं बताया जा सकता, किन्तु इतना है कि इन कविताओं में अनुभूति का प्रेषणीय स्पर्श अवश्य है। जैसे,

(१) ईश्वर न करे तुम कभी ये दर्द सहो !
दर्द, हाँ अगर चाहो तो इसे दर्द कहो,

मगर ये और भी बेदर्द सज़ा है ऐ दोस्त !
कि हाड़ हाड़ चिटख जाय मगर दर्द न हो !

—'यह दर्द', धर्मवीर भारती ।

(२) है यही ज़िन्दगी का दर्द
है संघर्ष यही ।
हर नया साल आता है,
पुराना बनकर ।

—'आटोग्राफ', गिरिजाकुमार माथुर

'अज्ञेय' की 'नयी कविता' के पहले अंक में प्रकाशित रचना 'यह दीप' से निम्न पंक्तियों को लें, तो पता चलेगा कि केवल आत्म-विश्वास, समर्पण-भावना, व्यापक मानवता, और उदात्तता के कारण ही ये पंक्तियाँ एक सघन प्रभाव डालने में समर्थ हैं और रसशून्य किन्तु अर्थमय होकर कविता कहलाने योग्य हैं :

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो ।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित
यह प्रकृत, स्वयम्भू ब्रह्म, अयुत :
इसको भी शक्ति को दे दो ।···
यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा
यह वह पीड़ा जिसकी गहराई को स्वयं उसीने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे तम में
यह सदा द्रवित, चिर जागरूक अनुरक्त नेत्र,
उल्लम्ब बाहु, यह चिर अखण्ड अपनापा ।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भक्ति को दे दो ।

छन्द की विचित्रता और लय की कहीं-कहीं गतिहीनता के रहते हुए भी यह कविता है। अब यदि उक्त सभी उदाहरणों पर ध्यान दें तो सहज ही कहा जा सकता है कि रस हो या न हो, किन्तु यदि किसी रचना में अनुभूति की सचाई है, अभिव्यक्ति की विशदता है, व्यंजना की शक्ति है और प्रतीकों में भाव-विस्तार की सामर्थ्य है तो वह कविता है और वह रसवादी के द्वारा भी तिरस्कार्य न होगी। माना कि रसवादी को रसमय कविता के द्वारा

ही असली परितृप्ति मिलती है, परन्तु उसमें यह भी उदारता है कि चाहे रस का पूरा बाँध किसी ने न भी बाँधा हो, केवल अपने अन्तरतम की चेतना को ही अनुभूति-रंजित करके रचना की हो तो वह उसे स्वीकार कर लेगा। न रसमय सही, भावमय या अनुभूतिमय तो हो। अनुभूति तो कोई-न-कोई भाव पाठक के मन में उठायगी ही, भले ही वह संचारियों की या स्थायी की निश्चित तालिका के बाहर हो। कौन कहता है कि तालिका पूरी हो चुकी है? बौद्धिकता के साथ अनुभूति का किंचित् मिश्रण भी आकर्षण हो जायगा। किन्तु 'नयी कविता' के पहले ही अंक में प्रकाशित अजितकुमार की निम्न कविता निश्चय ही निरा बौद्धिक व्यायाम बनकर एक प्रश्नचिह्न बनी रह जायगी :

चाँदनी चन्दन सदृश
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?
हम लिखेंगे :
चाँदनी उस रुपये सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक गायब है।

इसी तरह 'नाव के पाँव' में डॉ० जगदीश गुप्त की 'पुतली' शीर्षक रचना में बुद्धि के साथ एक जीवन-सत्य, अनुभूत-सत्य का वर्णन किया गया है और इसीलिए बुद्धि और सत्य के प्रकाशन में वह रचना कविता है और प्रभावशाली है, किन्तु उन्हींकी उसी पुस्तक में आई 'चेतना की पर्त' कविता नितान्त बौद्धिक, विश्लेषण-प्रधान और सन्देश-विहीन है, अतएव अपना प्रभाव कम-से-कम शास्त्रीय विवेचकों के लिए तो अवश्य ही खो बैठती है।

ऐसे ही 'नयी कविता' प्रथमांक की निम्न रचनाएँ भी काव्य-शास्त्री के लिए पहेली का ही काम करेंगी। पहली रचना में डाट और डैश के चिह्न उसके लिए अभिव्यक्ति की कचाई के द्योतक होंगे, क्योंकि वह काव्य को अभिव्यक्ति मानता है, अवरोध नहीं और साथ ही कविता उसके लिए पाठ्य होने के साथ ही श्रव्य भी है और दृश्य-काव्य से भिन्न है। इस पहली कविता को पाठक यदि विवशता, विशृंखलता का प्रतीक मान सकता है तो वह 'आह' लिखकर उसके सामने सैकड़ों छोटे-बड़े डाट-डैश और प्रश्नसूचक अथवा विस्मयसूचक चिह्न रखकर भी अपनी अभिव्यक्ति पर रीझ सकता है और उसे कविता कहने के भ्रम में सुखी रह सकता है। इसीके समान दूसरी कविता में हमें दैनिकी के गद्य के दर्शन भले ही होते हों, कविता के नहीं होते। कहने की चारुता भी तो इसमें नहीं। यों तो गद्य में भी भावुकता से काम लिया ही जा सकता है और उसे

काव्य कहा जा सकता है। कहा भी गया है, पर उसे गद्य-काव्य ही कह सकते हैं। यहाँ तो कविता के साथ पूरी बेरुखाई है, हो सकता है फिर भी प्रयोगवादी इस लेखक को यह कहकर भड़का दे कि इसमें भी नवीन उत्साह और उल्लास का स्वर छिपा है और यह कविता है और ऐ दोस्त तुम महाकवि हो! हो, हमें ये दोनों कविता नहीं जँचतीं।

(१) श्रीमान्
श्रीयुत······
श्री लक्ष्मीकान्त
···············
······कवि हो—?
छन्द नहीं लय नहीं···
केवल गति···
······पैराशूट —लक्ष्मीकान्त वर्मा

(२) आज फिर शुरू हुआ जीवन
आज मैंने एक छोटी-सी सरल-सी कविता पढ़ी।
आज मैंने सूरज को डूबते देर तक देखा।
आज मैंने शीतल जल से जी भर स्नान किया।
आज एक छोटी-सी बच्ची आयी
किलक मेरे कन्धे चढ़ी,
आज मैंने आदि से अन्त तक
एक पूरा गान किया। —रघुवीरसहाय

जहाँ नयी कविता के नाम पर अनगढ़पन को ही काव्य कहने का दंभ किया गया है, वह काव्य हमें स्वीकार न होगा। शब्दों में, जिन कविताओं में प्रयोगवादी नवीन उपमानों या भाषा के नवीन प्रयोगों के कारण साधारणीकरण को या रस-सिद्धान्त को लागू होता नहीं मानता, वहाँ भी रस-सिद्धान्त की दृष्टि से यदि कोई औचित्य दिखाई देता है, जिसके-सम्बन्ध में हमने अभी निर्देश किया है, तो वह रचना रस-सिद्धान्त के अनुकूल भी आनन्द-दान कर सकती है। जब तक किसी रचना में भावों की अभिव्यक्ति सुचारु रूप से होगी, अनुभूति की गहराई और सचाई व्यक्त होगी, तब तक वह कितने भी नये परिधान में क्यों न हो, रस-सिद्धान्त के अनुकूल ही समझी जायगी। रस-सिद्धान्त ऐसा अनुदार नहीं है कि वह पुराने का तिरस्कार करने वाले कतिपय नये वादियों के समान समस्त नये का तिरस्कार करने लगे। रस-सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशे-

षता उसकी उदारता ही है। वह भावों और अनुभूति का देश है। भावों की गिनती करते हुए भी रस-सिद्धान्त के समर्थकों ने सदैव नवीन ग्राह्य भाव को आदरपूर्वक स्थान दिया है। समय के साथ रसों की संख्या में वृद्धि हुई है। इसी प्रकार रस-सिद्धान्त की दूसरी विशेषता यह भी है कि उसने उदारतापूर्वक अन्य मतों को अपने में ही समा लिया है। किसी भी रसवादी ने यह आज तक नहीं कहा कि काव्य में अलंकार या रीति आदि का प्रवेश वर्ज्य है। हाँ, इस बात का आग्रह अवश्य किया गया है, जो किसी भी दशा में दुराग्रह नहीं कहा जा सकता, कि काव्य में उपमान आदि सदैव भाव के पोषण के लिए ही हों। किन्तु गद्य को भी काव्य कहा गया है, केवल इसीलिए बौद्धिकतापूर्ण निबन्धों को भी उस ललित काव्य की श्रेणी में रखने की चेष्टा उचित नहीं। जो काव्य केवल बौद्धिक चेतना को जगाता है, जो हमारे अन्तःकरण में प्रवेश न पाकर, अनुभूति का प्रभाव न दिखाकर केवल बुद्धि के कपाटों पर धक्का मारता है, वह रस-सिद्धान्त के अनुकूल काव्य नहीं है। यही कारण है कि हमारे यहाँ काव्य की कई श्रेणियाँ कर दी गईं। उसके उत्तमादि भेदों की स्वीकृति का यही रहस्य है। उपदेश और नीति का प्रचार काव्य के माध्यम से किया अवश्य जाता है, किन्तु सदैव ललित बनाकर हीं। काव्य में यथार्थ सत्य की पोशाक में ही अवतरित होता है। रमेश नाम का कोई व्यक्ति जब तक पूर्णतया वेश-भूषादि सभी में दिनेश की भूमिका में प्रस्तुत न होगा, तब तक उसे दिनेश कौन कहेगा ? इसी प्रकार काव्य को भी अपने रूप की रक्षा करनी होगी, अन्यथा वह किसी दिन गद्य के शिकंजे में पड़कर प्राण दे बैठेगा। इसी रूप की रक्षा के लिए रस-सिद्धान्त आग्रह करता है और काव्य के अन्तरंग को समझने-सँवारने के साथ-साथ उसके बाह्य सौन्दर्य को भी अनावश्यक नहीं मानता। हाँ, रस के समर्थक को ऐसी रचनाओं को काव्य कहने में अवश्य ही हिचक ज्ञात होती है, जिनमें बौद्धिक उपदेशात्मक या तर्क-प्रधान रचनाओं की शैली दीख पड़ती हो। पुरानी रचना से उदाहरण लें तो बात और भी स्पष्ट हो जायगी। श्री सुमित्रानंदन पंत की 'नौका विहार' शीर्षक रचना काव्य-सौष्ठव के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है, किन्तु यदि उसकी अन्तिम पंक्तियाँ 'शाश्वत जीवन-नौका विहार' आदि को ही अलग रखकर पूछा जाय, तो हम कहेंगे वह कविता नहीं है। क्यों? क्योंकि उन पंक्तियों में उपदेश-मात्र है, उनकी पृष्ठभूमि का संकेत पाठक को नहीं मिलता और यदि रूपक के सहारे कुछ मिलता भी है तो वह रूपक अपने-आपमें कुछ विशेष आकर्षक नहीं है, बुद्धि का प्रदर्शन वहाँ अधिक है। तथापि पूरी कविता में उन पंक्तियों की सार्थकता सभी को स्वीकार है। तात्पर्य यह कि रस-सिद्धान्त किसी एक विशेष

काल की रचना से या किसी एक वादगत रचना से अपना नाता नहीं जोड़ता, वह केवल हृदय की परख करता है। साथ ही भावक के हृदय की परितृप्ति भी चाहता है। वह पाठक और कवि को अलग स्तरों पर नहीं रखना चाहता, किसी का तिरस्कार नहीं करना चाहता, यह कहकर अपनी असमर्थता को नहीं झुठलाता कि 'तुममें इतनी बुद्धि कहाँ कि मेरी बात को समझ सको?' इस बात का न उसे दंभ है, न वह अपनी असमर्थता और सामर्थ्य से ही अपरिचित है। वह ऐसा जीवन्त सिद्धान्त है, जो नवीन-से-नवीन को अपने अंक में ही प्यार की मनुहार से अपना बना लेता है। रस-सिद्धान्त कोई ऐसी सीमा निर्धारित नहीं करता कि बिन भाव, विभाव आदि का पूरा बंधान बाँधे कोई काव्य काव्य ही नहीं हो सकता। भाव की हल्की फुहार भी रसवादी के हृदय को शीतलता प्रदान करती है। अतः आज की जिन कविताओं में कहीं अनुभूति-प्रवणता दिखाई देती है अथवा रीझ-खीझ या व्यंग की भी झलक दिखाई देती है, वहाँ भी हम सहर्ष काव्य की स्थिति स्वीकार करते हैं। पर कहने को कोई बात तो हो, कोई भाव मर्मस्पर्शी हो तो। जिस सिद्धान्त ने भाव से लेकर भावाभास, रसाभास, रस, भावशबलता, भावोदय, भावसन्धि आदि को स्वीकृति दी, उस पर यह दोषारोपण करना कि वह आज की कविता के मूल्यांकन के लिए खोटी कसौटी है, निश्चय ही उचित नहीं है। अन्य समीक्षा-सिद्धान्तों की अपेक्षा, जैसी प्राचीन काव्य को थी वैसी अब भी मानी जा सकती है। यदि कोई काव्य हमें झकझोर देता है, या उद्वेलित कर देता है, तो निश्चय ही प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित चित्त के विकास, विस्तार तथा द्रुति आदि में से कोई-न-कोई काम कर चुकता है। इस दृष्टि से भी आज की अधिकांश कविता रसवादी सिद्धान्त के निकष पर कसी जा सकती है। स्पर्श ही तो जगदीश जी को भी अभिप्रेत जान पड़ता है और वही रस-सिद्धान्त का भी अभिप्रेत है। फिर दोनों में विरोध कहाँ है? रसवादी केवल वहीं विरोध करता है जहाँ वह अनुभूति-स्पर्श नहीं पाता।

यह सिद्धान्त मानववादी सिद्धान्त है, जिसमें नैतिकता, सामाजिकता, भावुकता, बौद्धिकता और दर्शनादि का सम्यक् सम्मिश्रण पाया जाता है। रस-सिद्धान्त से अधिक व्यापक और उदार तथा नित्य समीक्षा-सिद्धान्त जो काव्य की अन्तरात्मा को पहचान सके, अभी तक प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। इस सिद्धान्त ने काव्य के बहिरंग की चिन्ता करने वाले सिद्धान्तों को भी अपने में समेटकर अपने को जो वैशद्य प्रदान किया है, वह अन्य सिद्धान्तों के लिए ईर्ष्या की वस्तु है। यह मानव-मन की गहन गुहा में प्रवेश करके संचित भावों के सौन्दर्य को पहचानना सिखाता है और साधारणीकरण जैसे अमूल्य सिद्धान्त

के द्वारा मानव-मात्र की एकता की घोषणा भी करता है। यह एकता इसकी अखण्डता की सूचक भी है और नित्यता की भी। मानव-मन के साथ भावों का नित्य सम्बन्ध है, अत: उनका विवेचक रस-सिद्धान्त भी नित्य ही है। यह सिद्धान्त युग-सत्य को नहीं युग-युग के सत्य को प्रस्तुत करता है, उनका सम्मान करता है। शाश्वत नियमों में इस सिद्धान्त का दृढ़ विश्वास है। किन्तु, यह युग-सत्य का तिरस्कार नहीं करता। शाश्वत सत्य की भूमिका पर ही युग-सत्य को परखकर प्रस्तुत करता, उनका तिरस्कार करता या उन्हें स्वीकृति देता है। ब्रह्मानन्द की अलौकिकता को लेकर जो लोग इसके सम्बन्ध में दो-चार जली-कटी सुना जाते हैं, उन्हें जानना चाहिए कि पौराणिक साधना में जिसे ब्रह्मानन्द कहा गया है वह दूसरों के लिए भी तिरस्कार्य नहीं रहा। ब्रह्म को न मानने वाले बौद्ध और जैन यदि ब्रह्मानन्द को स्वीकार न करें, तो आश्चर्य नहीं, किन्तु सत्य यह है कि काव्य का आनन्द उन्हें भी जागतिक सुखों से कुछ विलक्षण ही लगता था। भले ही वे रसवादी पद्धति में, अपने उस सुख को ब्रह्मानन्द न कहें; यदि रस-सिद्धान्त मानवीय भावों के आधार पर आधारित है, तो मानव का मूल्य समझने वाला कोई भी आलोचक और कोई भी सिद्धान्त उसका अपमान नहीं कर सकता। भाव-चित्रण या भाव-सम्पत्ति ही प्राचीनतम काव्यों को भी हमारे लिए सुगम बनाये हुए है। किसी भी भाषा का काव्य हो, किसी भी जाति के व्यक्ति के द्वारा लिखा गया हो, वह हमें इसीलिए ग्राह्य होता है कि उसमें भावोन्मेष की चिरन्तन, किन्तु नित-नूतन रहने वाली शक्ति है। भाव-भूमि को छोड़ देने वाला काव्य कुछ वर्गवादियों को भले ही परितृप्ति प्रदान करे, किन्तु भविष्य में वह दैनिकी और इतिहास से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध न होगा। रस-सिद्धान्त जन-समाज के लिए, काव्य की प्रेषणीयता के लिए, हित-कर सिद्धान्त है। इस व्यापक सिद्धान्त ने काव्य, काव्य-स्रष्टा तथा भावक तीनों के हृदय को परखा है और तीनों के लिए एक सम्मिलनपूर्ण वर्ग और भेद-भाव से हीन भूमि तैयार की है।

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

अंग्रेजी

१ आ० ए०	आर्ट एक्सपीरियंस	प्रो० हिरियण्णा
२ इ० ए०	इण्डियन एस्थेटिक्स	के० एस० रामास्वामी
३ इ० रि०	इल्यूज़न एण्ड रियलिटी	क्रिस्टोफर कॉडवेल
४ क० ए०	कम्परेटिव एस्थेटिक्स	डॉ० के० सी० पाण्डेय
५ को० इ०	कोलरिज आॅन इमेजिनेशन	आइ० ए० रिचर्ड्स
६ क्रि० इ०	क्रिएटिव इमेजिनेशन	जे० इ० डाउने
७ शृं० प्र०	भोज : शृंगार प्रकाश (शोध प्रबन्ध)	डॉ० वी० राघवन
८ ड्रामा	ड्रामा	ऐशले ड्यूक्स
९ ड्रामा० स०	ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर	आर० वी० जागीरदार
१० फि० ए०	द फिलोसोफी आॅफ एंस्थेटिक प्लेज़र	पंचापगेश शास्त्री
११ बे० सि०	द बेसिक राईटिंग्स आॅफ सिग्मंड फ्रायड	डा० ब्रिल सं०
१२ ट्रेजेडी	ट्रेजेडी	एफ० एल० ल्यूकस
१३ न० आॅफ र०	द नम्बर आॅफ रसाज़	डॉ० वी० राघवन
१४ मे० लि०	द मेकिंग आॅफ लिटरेचर	स्कॉट जेम्स
१५ थि० ड्रा०	द थियरी आॅफ ड्रामा	ए० निकोल
१६ रि० प्ले०	द रिपब्लिक आॅफ प्लेटो	जे० एल० डेविस सं०
१७ अ० द०	द मिरर आॅफ जेस्चर—अभिनय दर्पण	अनु० ए० के० कुमार-स्वामी
१८ पो०	पोइटिक्स एरिस्टाटल	जे० एम० डेण्ट
१९ प्रि० लि०	प्रिंसिपल्स आॅफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म	आइ० ए० रिचर्ड्स
२० लि० लि० क्रि०	लिटरेचर एण्ड लिटरेरी क्रिटिसिज़्म	एम० जी० भाटे
२१ सा० स्ट० र०	साइकोलोजीकल स्टडीज़ इन रस	डॉ० राकेश गुप्त
२२ सा० इ०	साइन्स आॅफ इमोशन्स	डॉ० भगवानदास
२३ सा० सा० सं०	साहित्य सार संग्रह	एम० आर० काले

२४ स्ट० सं० ए०	स्टडीज़ इन संस्कृत एस्थेटिक्स	ए० सी० शास्त्री
२५ स्ट० का०	स्टडीज़ ऑफ सम कान्सेप्ट्स ऑव अलंकार लिटरेचर	डॉ० वी राघवन
२६ स्ट० हि०	स्टडीज़ इन द हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स	एस० के० डे
२७ स० का० लि०	सम कान्सेप्ट्स आव लिटरेरी क्रिटिसिज़्म इन संस्कृत	डॉ० शंकरन
२८ व्हा० आ०	व्हॉट इज़ आर्ट	टॉल्सटाय
२९ हा० बा०	हाइवेज़ एण्ड बाइवेज़ ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म इन संस्कृत	कुप्पूस्वामी शास्त्री
३० हि० सं०	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोइटिक्स	पी० वी० काणे
३१ हि० इ० फि०	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी	डॉ० राधाकृष्णन
३२ हि० सं० लि०	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	डॉ० दासगुप्त
३३ हि० आ० इ० फि०	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी	डॉ० दासगुप्त

मराठी

१ भा०ना०ना०	भारतीय नाट्य-शास्त्र व नाट्य-कला	नारायण भवनराव
२ अ० का०	अभिनव काव्यप्रकाश	रा० श्री० जोग
३ काव्यालोचन	काव्यालोचन	द० के० केलकर
४ जी० सा०	जीवन आणि साहित्य	स० ज० भागवत
५ र० वि०	रस विमर्श	डॉ० वाटवे
६ वि० वि०	विचार विहार	वा० म० जोशी
७ वि० सौ०	विचार सौन्दर्य	वा० म० जोशी
८ सु० वि०	सुभाषित आणि विनोद	न० चिं० केलकर
९ सौ आ०	सौन्दर्यशोध आणि आनन्दबोध	रा० श्री० जोग

गुजराती

१ काव्यविवेचन	काव्य विवेचन	डो० रा० मनकद

बंगला

१ का० वि०	काव्यविचार	डॉ० सुरेन्द्रनाथ गुप्ता
२ साहित्य चिन्ता	साहित्य चिन्ता	पूर्णचन्द्र वसु

संस्कृत

१	अथर्व०	अथर्ववेद	—
२	अग्नि०	अग्निपुराण	—
३	अ० को०	अमर कोष	—
४	अ० स०	अलंकार सर्वस्व	रुय्यक
५	उ० नी०	उज्वलनीलमणि	रूपगोस्वामी
६	उ० रा०	उत्तररामचरितम्	भवभूति
७	औ० वि० च०	औचित्य विचार चर्चा	क्षेमेन्द्र
८	ऋग्वेद	ऋग्वेद	
९	का० प्रकाश	काव्य प्रकाश	मम्मट, बालबोधिनी टीका
१०	का० प्र०	काव्य प्रदीप	गोविन्द ठक्कुर
११	का० सा० स०	काव्यालंकारसार संग्रह	उद्भट
१२	काव्यानु०	काव्यानुशासन	हेमचन्द्र (सं० पारीख)
१३	काव्यादर्श	काव्यादर्श	दण्डी
१४	का० मी०	काव्य मीमांसा (गायकवाड़)	राजशेखर
१५	का० सू०	काव्यालंकर सूत्र	वामन
१६	काव्या०	काव्यालंकार	भामह
१७	क० क०	कविकण्ठाभरणम्	क्षेमेन्द्र
१८	चन्द्रा०	चन्द्रालोक	जयदेव
१९	छान्दो०	छान्दोग्य उपनिषद्	—
२०	पा० यो० द०	पातंजल योग दर्शनम् (हिन्दी)	गौतम (डॉ० भगीरथ मिश्र)
२१	प्र० रु०	प्रतापरुद्रीयम (बाल मनोरमा)	विद्यानाथ
२२	बृहदा०	बृहदारण्यकोपनिषद्	—
२३	ब्र० सू०	ब्रह्म सूत्र	शांकर भाष्य
२४	भग०	भगवद्गीता	—
२५	भ० भ० र०	भगवद्भक्ति रसायन	जीवगोस्वामी
२६	भा० प्र०	भाव प्रकाशनम्	शारदातनय
२७	मृच्छ०	मृच्छकटिक	शूद्रक
२८	माण्डू०	माण्डूक्योपनिषद्	—
२९	तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्	—

३० तर्क सं०	तर्क संग्रह	अन्नम भट्ट
३१ द० रू०	दशरूपकम्	धनंजय
३२ ध्व०	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन
३३ ध्व० हि०	ध्वन्यालोक हिन्दी टीका	विश्वेश्वरी टीका
३४ ना०शा०चौ०	नाट्य शास्त्र—चौखम्बा सं०	भरतमुनि
३५ ना० शा० अ० भा०	नाट्य-शास्त्र—अभिनवभारती (नवीन संस्करण)	भरतमुनि
३६ ना० द०	नाट्य दर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र
३७ यजु०	यजुर्वेद	—
३८ र० त०	रस तरंगिणी	भानुदत्त
४० र० म०	रस मंजरी	भानुदत्त
३९ र० ग०	रस गंगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
४१ र० ग० हि०	रस गंगाधर हिन्दी	पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी
४२ र० वि०	रस विलास	भूदेव शुक्ल
४३ र० प्र०	रस प्रदीप	प्रभाकर भट्ट
४४ र० च०	रस चन्द्रिका	विश्वेश्वर पाण्डेय
४५ र० र० प्र०	रसरत्न प्रदीपिका	—
	(भा० वि० भवन)	अल्लराज
४६ र० सु०	रसार्णव सुधार	शिंगभूपाल
४७ व० जी०	वक्रोक्ति जीवित	कुन्तक
४८ व्य० वि०	व्यक्ति विवेक	महिमभट्ट
४९ विक्रमांक०	विक्रमांक देवं चरित	बिल्हण
५० विवेक चू०	विवेक चूड़ामणि	शंकराचार्य
५१ वि० ध० पु०	विष्णु धर्मोत्तर पुराण	—
५२ वे० सा०	वेदान्त सार	जेकब सम्पादित
५३ शृं० ति०	शृंगार तिलक	रुद्रट
५४ शा०	शाकुन्तल नाटक	कालिदास
५५ श्री भा०	श्रीमद्भागवत पुराण	व्यास
५६ स० क०	सरस्वती कण्ठाभरणम्	भोजराज
५७ सा० द०	साहित्यदर्पणम् (काणे तथा	विश्वनाथ
	विमला टीका)	—
५८ सा० सा०	साहित्यसारम्	श्रीमदच्युतराय

५९	सां० का०	सांख्यकारिका	ईश्वर कृष्ण
६०	ह० भ० र०	हरिभक्तरसामृत सिंधु	रूपगोस्वामी

हिन्दी

१	अ० ना० शा०	अभिनव नाट्य शास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी
२	अनामिका	अनामिका	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
३	आ० इ० सि०	आलोचना : इतिहास और सिद्धान्त	एस० पी० खत्री
४	आचार्य रा० शु०	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	शिवनाथ
५	आ० रा० शु०	आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	गुलाबराय
६	आ० क०	आधुनिक कवि : पंत	सुमित्रानंदन पंत
७	आ० अ०	आकुल अन्तर	बच्चन
८	आर्द्रा	आर्द्रा	सियारामशरण गुप्त
९	आर्य सं० मू०	आर्य संस्कृति के मूलाधार	बलदेव उपाध्याय
१०	उ० श०	उद्धवशतक	रत्नाकर
११	का० प्र०	काव्य प्रभाकर	भानु
१२	का० क०	काव्य कल्पद्रुम-प्र० भाग	कन्हैयालाल पोद्दार
१३	का० नि०	काव्य निर्णय	भिखारीदास
१४	काव्यालोक	काव्यालोक	रामदहिन मिश्र
१५	का० द०	काव्य दर्पण	रामदहिन मिश्र
१६	कला	कला	हंसकुमार तिवारी
१७	का० क०	काव्य और कल्पना	रामखेलावन पांडे
१८	का० सौ०	कामायनी सौन्दर्य	डॉ० फतहसिंह
१९	का० क० अ०	काव्यकला और अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद
२०	काव्यधारा	काव्यधारा	सं० शिवदानसिंह चौहान
२१	का० अ०	काव्य में अभिव्यंजनावाद	सुधांशु
२२	क० र०	कवि रहस्य	गंगानाथ झा
२३	कवि० सं०	कविताएँ १९५४ : संकलन	अजितकुमार
२४	का० र०	काव्य रसायन	देव
२५	की० ल०	कीर्त्तिलता	विद्यापति
२६	खा० फू०	खादी के फूल	बच्चन

२७	चि० चिन्ता	चिन्तामणि—दोनों भाग	रामचन्द्र शुक्ल
२८	जगद्विनोद	जगद्विनोद	पद्माकर
२९	जी० त० का० सि०	जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त	सुधांशु
३०	परिमल	परिमल	निराला
३१	प्रेमयोग	प्रेमयोग	वियोगी हरि
३२	प्रगतिवाद	प्रगतिवाद	विजयशंकर मल्ल
३३	पा० सा० सि०	पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त	लीलाधर गुप्त
३४	ब्र० भा० ना०	ब्रजभाषा साहित्य में नायिका-भेद	प्रभुदयाल मीतल
३५	बेलि	बेलि क्रिसन रुक्मणी री	प्रिथीराज
३६	बि० स०	बिहारी सतसई	रत्नाकर सम्पादित
३७	भा० सा० शा०	भारतीय साहित्य शास्त्र—दो भाग	बलदेव उपाध्याय
३८	भ० वि०	भवानी विलास	देव
३९	भग्नदूत	भग्नदूत	स० ही० वात्स्यायन, 'अज्ञेय'
४०	मि० वि०	मिश्रबन्धु विनोद	मिश्रबन्धु
४१	मि० ओ०	मिट्टी की ओर	दिनकर
४२	मीमांसिका	मीमांसिका	शिवनाथ
४३	द० दि०	दर्शन दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन
४४	दृष्टिकोण	दृष्टिकोण	विनयमोहन शर्मा
४५	दूसरा सप्तक	दूसरा सप्तक	'अज्ञेय'
४६	धूप के धान	धूप के धान	गिरिजाकुमार माथुर
४७	नव०	नवरस	गुलाबराय
४८	नयी समीक्षा	नयी समीक्षा	अमृतराय
४९	न०सा०न०प्र०	नया साहित्य : नये प्रश्न	नन्ददुलारे वाजपेयी
५०	नाव के पाँव	नाव के पाँव	डॉ० जगदीश गुप्त
५१	रा० च०	रामचरित मानस	तुलसीदास
५२	र० प्रि०	रसिक प्रिया	केशवदास
५३	र० क०	रसकलस	हरिऔध
५४	र० व०	रसवाटिका	गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

५५	र० रं०	रसज्ञ रंजन	महावीर प्रसाद द्विवेदी
५६	र० मो० ह०	रस मोदक हजारा	स्कन्दगिरि
५७	र० र०	रस रत्नाकर	हरिशंकर शर्मा
५८	र० तरंग	रंग तरंग	नवीन कवि
५९	र० मं०	रस मंजरी	नन्ददास
६०	र० मी०	रस मीमांसा	रामचन्द्र शुक्ल
६१	र० रा०	रसराज	मतिराम
६२	रसिक र०	रसिक रसाल	कुमारमणि शास्त्री
६३	री० का० भू०	रीतिकाव्य की भूमिका	नगेन्द्र
६४	री०क० शृं०	रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन	डॉ० राजेश्वर चतुर्वेदी
६५	लहर	लहर	प्रसाद
६६	वा० वि०	वांग्मय विमर्श	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
६७	व० अ०	वक्रोक्ति और अभिव्यंजना	रामनरेश वर्मा
६८	विश्लेषण	विश्लेषण	इलाचन्द्र जोशी
६९	वी० स०	वीर सतसई	वियोगी हरि
७०	स० शा०	समीक्षा शास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी
७१	सं० सा० इ०	संस्कृत साहित्य का इतिहास	कन्हैयालाल पोद्दार
७२	सि० अ०	सिद्धान्त और अध्ययन	गुलाबराय
७३	सा० म०	साहित्य का मर्म	हजारीप्रसाद द्विवेदी
७४	सा० चि०	साहित्य चिन्ता	डॉ० देवराज
७५	सा० प०	साहित्य की परख	शिवदानसिंह चौहान
७६	समीक्षायण	समीक्षायण	कन्हैयालाल सहल
७७	सा० सं०	साहित्य संदीपनी	चन्द्रबली पाण्डेय
७८	साहित्या०	साहित्यालोचन	श्यामसुन्दर दास
७९	सा० व० धा०	साहित्य की वर्तमान धारा	जगन्नाथ प्रसाद मिश्र
८०	साहित्य०	साहित्य के पथ पर	रवीन्द्र ठाकुर
८१	स० सा० ना०	समयसार नाटक	बनारसीदास
८२	सू० सा०	सूरसागर	सूरदास
८३	सू० सौ०	सूर सौरभ	पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
८४	साकेत	साकेत	डॉ० मुन्शीराम शर्मा

८५	सा० शि०	साहित्य शिक्षा	मैथिलीशरण गुप्त
८६	शृं० द०	शृंगार दर्पण	नन्दराम
८७	हि० त०	हित तरंगिणी	कृपाराम
८८	हि० प्रा० का०	हिन्दी की प्राचीन तथा नवीन काव्य-धारा	सूर्यबली सिंह
८९	हि० सा० सं०	हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव	सरनाम सिंह
९०	हि० आ० उ० वि०	हिन्दी आलोचना : उद्भव और विकास	भगवत्स्वरूप मिश्र
९१	हि० सा० वि०	हिन्दी साहित्य के विविध वाद	डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल
९२	हि० का० इ०	हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास	डा० भगीरथ मिश्र
९३	हि० सा० इ०	हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
९४	तु० ग्रं०	तुलसी ग्रंथावली	रामचन्द्र शुक्ल

पत्र-पत्रिकाएँ

अंग्रेजी

१ इण्डियन एंटीक्वेरी
२ एनल्स ऑफ भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट
३ जनरल ऑफ ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, मद्रास
४ जनरल ऑफ अन्नामलाई यूनिवर्सिटी
५ पूना ओरियण्टलिस्ट
६ प्रोसीडिंग्स ऑफ द आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस
७ इंडियन कल्चर
८ जनरल ऑफ गंगानाथ झा इंस्टीट्यूट
९ हिन्दुस्तान क्वार्टरली
१० न्यू इण्डियन एंटीक्वेरी

हिन्दी

१ आलोचना
२ अजन्ता
३ अवन्तिका
४ कल्याण
५ प्रतीक

६ नई धारा ।

७ नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका ।

८ साहित्य सन्देश ।

९ हिमालय ।

१० हिन्दी अनुशीलन ।

नामानुक्रमणिका

ज

ट

ड

त

थ

द

ध

न

म

श

स

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२६	घी-वर्ग	धी-वर्ग
३	२(उ)	तद्वत्सु	तद्वत्सु
३	४(उ)	जन्मे	जम्भे
३	७(उ)	ह्येवायंलब्दवा	ह्येवायंलब्ध्वा
४	१२	भारत	भरत
५	६	विस्तृत	विस्तृति
५	१(उ)	मल्थिं	मल्यिं
५	२(उ)	र्भावं	र्भावै
६	८	भिन्न	अभिन्न
१३	२(उ)	वस्तु	तस्तु
१३	२(उ)	श्रेयः चित्रपटवद्	श्रेयः तद्विचित्रम् चित्रपटवद्
१३	३(उ)	साफल्यात्	साकल्यात्
१३	३(उ)	तद्रू	तद्रूप
१३	४(उ)	जीवतेन्	जीवनेन
१४	२२	पादास्तभितो	पादास्तामभितो
१५	२०	कुछ	कुश
१६	२(उ)	चन्द्राया	चन्द्राद्या
१८	६	निशेष	विशेष
२१	४(उ)	विशेय	विज्ञेय
२३	१(उ)	उद्बुद्धः	उद्बुद्धं
२५	४	अतिदेश	अपदेश
२६	३(उ)	सहर्षादि	हर्षादि
३२	२	सत्त्य	सत्त्व

(उ)=उद्धरणांश पंक्ति

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२	८(उ)	व्यपिदेशापत्ते:	व्यपदेशायत्रे:
३२	१६(उ)	निवर्तने	निवर्तते
३५	४(उ)	न	हि
३६	४	चरन्तो	चरन्तीति
३८	१४(उ)	चित्ततत्ताजत्र —	चिन्तनात्ताव
४८	२(उ)	तत्रैषामग	तत्रैषामाग
४८	८(उ)	श्यश्यै	शमस्य
५०	५(उ)	सुधा:	बुधा:
५१	१७	चल	जल
६६	६	साधना-पर	साधन-पद
६६	७(उ)	बलातद्रस	बलाद्रस
८१	३१	क्रिया	प्रिया
८५	८-६(उ)	भोगकैकरण	भोगीकरण
८६	१(उ)	तच्च द्वभूत्यादि	तच्चभूत्यादि
८६	२(उ)	तद्वाक्योपापात्त	तद्वाक्योपात्त
९०	५(उ)	तैरेबोघान	तैरेवोद्यान
९०	७(उ)	भाभि:	भाग्भि:
९०	७(उ)	स्थापनाय	ख्यापनाय
९२	२(उ)	समापत्तिव्यय	समापत्तिलय
९६	२२	व्यापित	व्याप्ति
९६	५(उ)	संस्प्रेष्टुं	संस्पृष्टुं
९६	७(उ)	तृतीयस्तु	तृतीयस्यास्तु
१०४	१७	निर्देशक	निर्देश
१०८	८(उ)	कणि	काणे
११४	१(उ)	मयत्वे	मयत्व
११५	५(उ)	रूपत्वाभावद्	रूपत्वाभावाद्
११६	८(उ)	'असंबंधिनो सत्वम्'	'असंबंधिनोऽसत्वम्'
११७	२(उ)	विशीभूतश्च	विवशीभूतश्च
११७	२(उ)	वस्त्वनन्तरे	वस्त्वन्तरे
११७	४(उ)	विषयमयीमि	विषयमयीभि
११७	४(उ)	साहिष्णुभि:	सहिष्णुभि:

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११७	५(उ)	गणिकादिमि	गणिकादिभि
११६	७	न्ययक्वारी	न्यक्कारो
१२६	७	समान भी	समान सामाजिक भी
१३७	२१	आत्मतत्त्व	आत्मगतत्त्व
१३८	३	रसनाट्ये	रसा: नाट्ये
१६०	२४	Einpihulung	Eionfuhlung
१७०	२३	मात्रा	मात्र
१७४	३	संत्रस	संत्रास
१७५	६	दृश्य	हृदय
१७७	१(उ)	शीलनाभ्यास	शीलनाभ्यास
१८१	३(उ)	सन्निपाती	सन्निपातो
१८३	२७	सीखन	तीखन
१८५	४(उ)	उत्प्रेक्ष्यो	उत्प्रेक्ष्या
१८७	२३	विशेषादेश:	विशेषावेश:
१८७	२४	तथा संभावनाविरह	तथा स्फुटत्वाभाव
१८८	२(उ)	तिरीदवत्	तिरोदधत्
१६१	२(उ)	अन्योन्यामिमवा	अन्योन्याभिभवा
१६७	२	पदाचार्य	पादाचार्य
२०६	५(३)	ताच्चिन्त्यम्	तच्चिन्त्यम्
२०६	६(उ)	न० आ० २०	न० आ० र०
२०८	६(उ)	कविवट	कविनट
२१२	२(उ)	नखूदय	नखदूय
२२२		टिमोक्लीय	टिमोक्लीस
२२७	२०	आस्वाधते	आस्वाद्यते
२२८	२७	भक्तनायक	भट्टनायक
२३२	८	रसाभाव	रसाभास
२३६	१२	विभाग	विभाव
२३७	७	कामोस्य	कामोऽस्य
२३७	६	वनहट्टी	बनहट्टी
२३६	१८	तिढ	तिङ्
२५१	३(उ)	व्यवहारोश्वा	व्यवहारोऽश्वा

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५३	४(उ)	भावत्सामा	भावात्सामा
२५५	२	ते	मे
२६०	८ व ११	मुक्त-वियुक्त	युक्त-वियुक्त
२६०	१(उ)	वस्तुतस्या	वस्तुतस्तस्या
२६१	५(उ)	एवमाह् नास्तीति	एवमाह् सनास्तीति
२६१	७(उ)	रसाच्य	रसत्वाच्च्य
२६६	१८	विभाग	विभाव
२७४	१५	धुत	धृति
२७६	८	प्रीतम	प्रीत
२८८	१	तथा भक्ति	तथा अद्भुत रस
२९६	७	प्रेयक्	प्रेयस्
२९९	१२	राख	राखै
२९९	२७	बाबि	बाजि
३००	१६	मृग	मृग्य
३०३	२४	पाखस्य	पारवश्य
३०३	१(उ)	लक्ष्मणासया	लक्ष्मणासूया
३०७	१(उ)	स्थिरोत	स्थिरोक्त
३१०	८(उ)	रसाश्च तरङ्गा	रसाश्च भावाश्च तरङ्गा
३१८	८	'नरवस'	'नवरस'
३२८	३(उ)	पारर्म्येण सुखहतुनत्वाद्	पारम्पर्येण सुखहेतुत्वाद्
३२९	२	परकर्षता	परप्रकर्षता
३२९	२(उ)	रसव्यवदेशार्हयता	रसव्यवदेशार्हता
३२९	४(उ)	परिक्तौ	परिणतौ
३३२	१(उ)	प्रेक्षकणां	प्रेक्षकाणां
३३३	२२	मित्येन्न	मित्येतन्न
३४७	२७	घरिनाना	धरि नाना
३६०	१०	वैशारथ	वैशारद्य
३६१	२६	अन्याय	अन्यान्य
३६४	७(उ)	कालाकालगतैः	कालाकालागतैः
३६६	३(उ)	स्थायिभावमेदेन मेदात्	स्थायिभावभेदेन भेदात्
३६६	५(उ)	भावकत्या	भावकत्वा

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३७१	१(उ)	सत्यमार्भतः	सत्यमभितः
३७४	११	वक्रासवं	वक्त्रासवं
३७४	२३	सुक	स्रक
३७५	१४	घक	छक
३८५	७(उ)	रौद्रस्य चैव	रौद्रस्यैव च
३८६	२(उ)	सूत्रस्थानत्वेन	सूत्रस्थानीयत्वेन
३९०	१७	अस्वादांकुरकुंद	आस्वादांकुरकुंद
३९०	३(उ)	निमेते	किमेते
३९०	८(उ)	आस्वादां कुरकंदोऽति	आस्वादांकुरकन्दोऽस्ति
३९२	५	क्वकार्यं	क्वाकार्यं
३९२	७	वक्षन्त्व	बक्ष्यन्त्य
३९२	८	धन्यो धरं	धन्योऽधरं